

महर्षि दयानन्द : काल और कृतित्व

सौजन्य : आर्यसमाज पिंपरी : पुणे : महाराष्ट्र

प्रा० डॉ० कुशलदेव शास्त्री

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या



प्रा० कुशलदेव शास्त्री महाराष्ट्रीय ने महर्षि दयानन्द सरस्वती के संबंध में उपलब्ध सामग्री के अनुसंधान और प्रकाशन का प्रशंसनीय प्रयास किया है। महर्षि के जीवन-व्यक्तित्व एवं कृतित्व के विभिन्न अज्ञात अथवा सर्वथा लुप्त पहलुओं को उजागर करने में उनका उल्लेखनीय स्थान है।

महर्षि के अनेक नवीन पक्षों, अभिनव तथ्यों तथा अद्यतन अज्ञात सामग्री को उजागर करना वस्तुतः मरुस्थल में हरित शाद्वल तुल्य है। आशा है फिर भी वे महर्षि दयानन्द जैसे राष्ट्रविधाता युगपुरुष के व्यक्तित्व और कृतित्व के अनुसंधान में भविष्य में भी अपनी संपूर्ण शक्ति से लगे रहेंगे। उनमें शोधवृत्ति के प्रबल संस्कार हैं। उनका कार्य सर्वथा श्लाधनीय है।

डॉ० भवानीलाल 'भारतीय'
पूर्व अध्यक्ष : दयानन्द पीठ
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़।



ओ३म् ओ३म् ओ३म्

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्॥

ऋग्वेद
यजुर्वेद
सामवेद
अथर्ववेद

ओ३म्

ओ३म् ओ३म् ओ३म्

विश्वानि देव सवितर्-दुरितानि परासुव । यद्-भद्रं तन्न-आसुव

देव-यज्ञ

पितृयज्ञ

अतिथि-यज्ञ

बलिवैश्वदेव यज्ञ

ब्रह्म-यज्ञ

ओ३म्

ओ३म् ओ३म् ओ३म्



महर्षि दयानन्द : काल और कृतित्व

लेखक

प्रा० डॉ० कुशलदेव शास्त्री

सदस्य : हैदराबाद मुक्ति संग्राम अनुसंधान समिति
स्वामी रामानंद तीर्थ मराठवाड़ा विश्वविद्यालय : नांदेड़
कृतकार्य विभागाध्यक्ष एवं शोध निर्देशक
नेताजी सुभाषचन्द्र बोस महाविद्यालय : नांदेड़ (महाराष्ट्र)
पिन : ४३१ ६०२



प्रकाशक :

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी (राजस



प्रकाशन काल : स्वाधीनता दिवस : १५ अगस्त २००९

प्रकाशक : **श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास**
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी, (राज०) - ३२२ २३०
दूरभाष : ०९३५२६७०४४८
चलभाष : ०९४१४०३४०७२, ०९८८७४५२९५९

संस्करण : २००९ (पं० युधिष्ठिर मीमांसक जन्म शताब्दी वर्ष)

ISBN : 978-93-80209-03-6

मूल्य : ५००.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान : १. **हरिकिशन ओम्प्रकाश,** ३९९, गली मन्दिरवाली, नया बाँस, दिल्ली-६, चलभाष : ०९३५०९९३४५५

२. **श्री राजेन्द्रकुमार,** १८, विक्रमादित्य पुरी, स्टेट बैंक कॉलोनी, बरेली (उ०प्र०) चल० : ०९८९७८८०९३०

३. **श्री वैदिकानन्द,** श्री स्वामी दयानन्द ब्रह्मज्ञान आश्रम न्यास, वैदिक सदन, भँवरकुँआ, इन्दौर-४५२ ००१, चलभाष: ०९३०२३६७२००

४. **गणेशदास-गरिमा गोयल,** २७०४, प्रेममणि-निवास, नया बाजार दिल्ली-६, चलभाष : ०९८९९७५९००२

लेजर टाईपसेटिंग : आर्य लेजर प्रिंट्स, हिण्डौन सिटी, राजस्थान

मुद्रक : राधा प्रेस, कैलाशनगर, दिल्ली - ११० ०३१

समर्पण



मेरी इस रचना की प्रेरणा का श्रेय
महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक
को है।
केवल प्रेरणा ही नहीं,
आप समय-समय पर पत्रों द्वारा इस दिशा में
उत्साहवर्द्धन और मार्ग-दर्शन भी करते रहें हैं।
अतः यह श्रद्धा पुष्प
'महर्षि दयानन्द : काल और कृतित्व'
आपकी पुण्य स्मृति में
सश्रद्ध समर्पित

— **कुशलदेव**

अन्तरंग

प्रकाशकीय

इतिहास हमारे भूतकाल का वह काल है जो हमारे पूर्वजों के क्रिया-कलापों का विवरण प्रस्तुत करता है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति, समाज, वर्ग, देश व विश्व सभी आ जाते हैं। निष्पक्ष इतिहास लेखन जहाँ आनेवाली पीढ़ियों को अपने पूर्वजों के कार्यों पर गर्व करने का अवसर देता है, वहाँ उनकी दुर्बलताओं, भूलों से सबक सीखकर सुखद भविष्य के निर्माण का अवसर भी देता है। मानव जीवन उतार-चढ़ाव की कहानी है। यह नीरस व उबाऊ है, लेकिन बहुत आवश्यक है। यह जब पढ़ने में इतना कष्ट देता है तो इसकी खोजकर लेखन करना कितना कष्टकारी होता होगा? यह निष्पक्ष इतिहास लेखक ही समझ सकता है। किसी व्यक्ति विशेष या उद्देश्य विशेष के हितार्थ लिखना सरल है, क्योंकि वहाँ लेखक के लिए सब कुछ अच्छा ही है। वहाँ गुण-दोष पर चिन्तन करनेवाली बात ही नहीं। निष्पक्ष लेखन के लिए पड़ताल करनी पड़ती है और यही श्रम व साधना साध्य कार्य है। कई बार इसके लिए जीवन न्यून रह जाता है और इतिहास अधूरा।

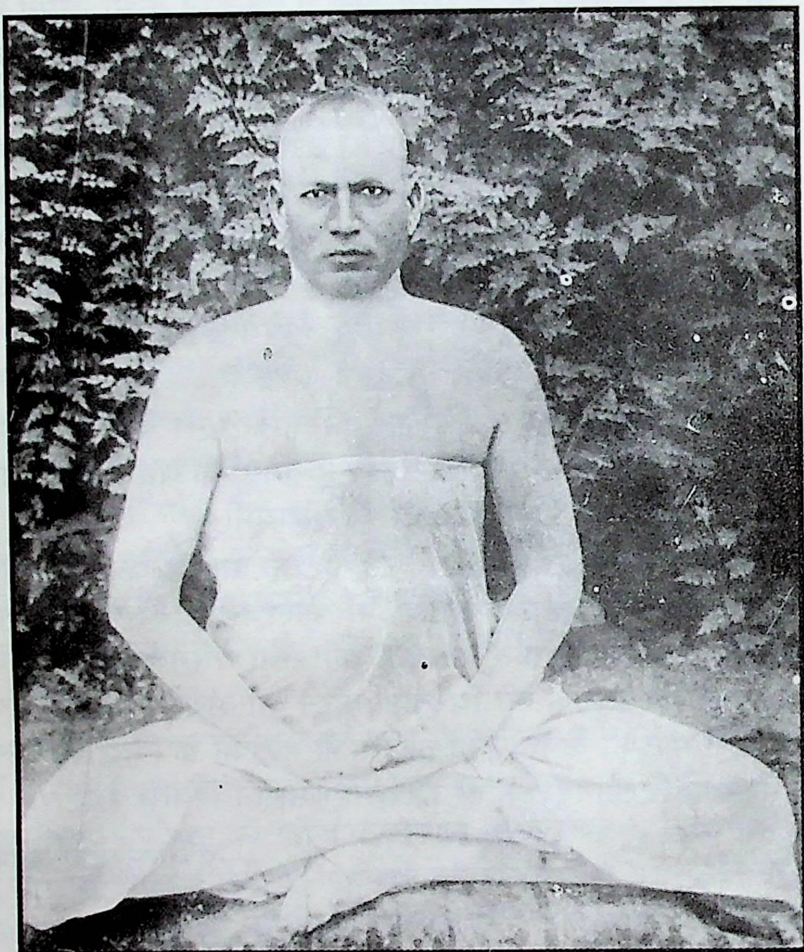
हमारे सम्मान्य श्री कुशलदेवजी ने जिनका इतिहास लेखन का कार्य प्रारम्भ किया है, उसके लिए धुन के धनी पं० लेखराम, सर्वस्व होमकर महर्षि जीवन की खोज करनेवाले श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय तथा पं० श्री लक्ष्मण सरीखे उद्यमियों के जीवन न्यून पड़ गये। पर वे एक आधार और आगे की बहुत-सी भूमिका तैयार कर गये, लेकिन फिर भी कालपुरुष देव दयानन्द के जीवन व कृतित्व का सम्पूर्ण आकलन नहीं कर पाये। इस ग्रन्थ के लेखक ने २८ वर्ष की साधना के पश्चात् यह लिखा, लेकिन साधना अभी चल रही है और हम समझते हैं कि बहुत कुछ अभी लिखा जायेगा। श्री कुशलदेवजी का लेखन व स्वयम् लेखक इसलिए आदरेय है, क्योंकि इन्होंने अपने चरितनायक को महिमा मण्डित करने के लिए नहीं, अपितु निष्पक्ष दृष्टि रखने का यत्न करते हुए लेखन किया है। अब लेखक क्या

विश्लेषण करे, क्योंकि चरितनायक अपने आप में पूर्ण तथा उसका चिन्तन, कृतित्व भी पूर्ण ही था। देव दयानन्द ने अपने लिए तो किया ही नहीं, क्योंकि वे जो कुछ करते थे वह मानव जाति के उत्थान के लिए ही करते थे, जिसके वे स्वयं अंग थे। उन्होंने कभी अपने को समाज व देश से पृथक् करके कुछ किया ही नहीं। समाधि सुख छोड़ जो व्यक्ति समाज हित में अपना जीवन गला दे उसके लिए क्या कहेंगे।

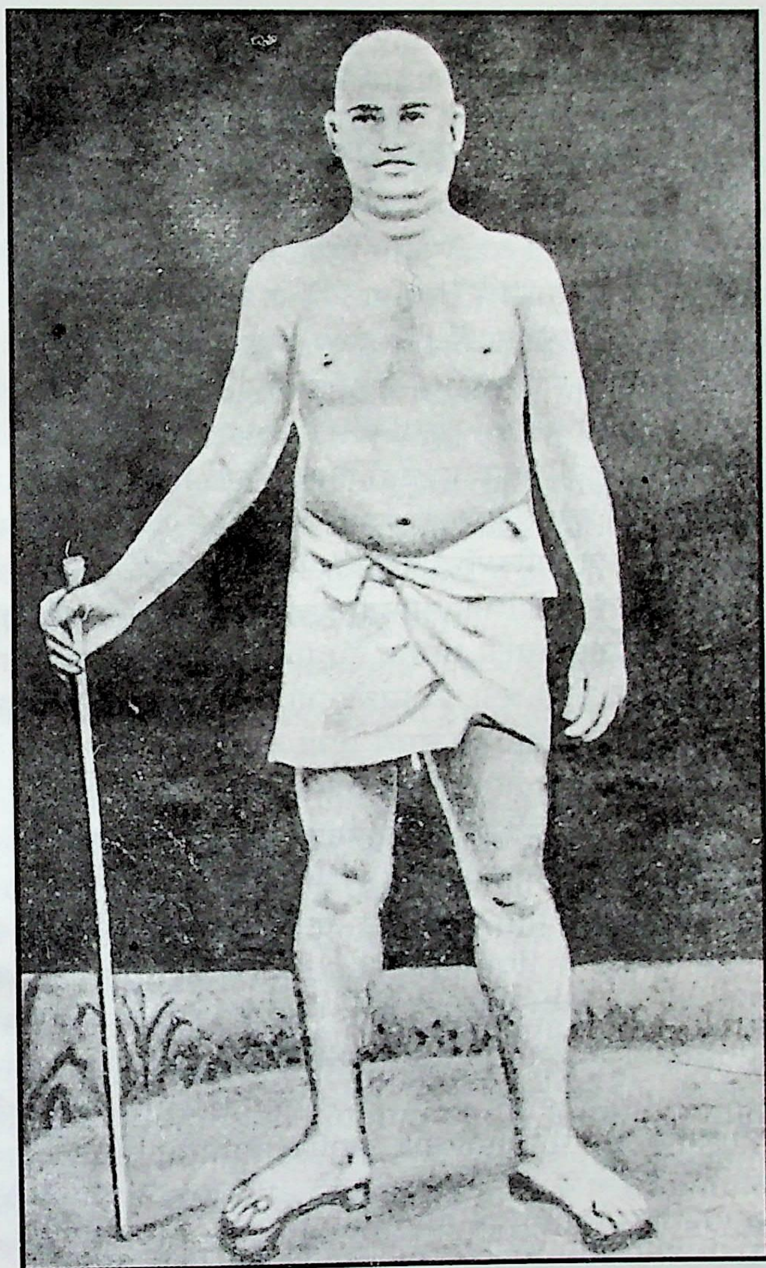
श्री कुशलदेवजी की तूलिका कैनवास पर रंगों का संयोजन बड़ी कुशलता के साथ करती है। इसमें पाठक में आगे पढ़ने की उत्कण्ठा जगाने का लालित्य व सहजता है। इतिहास जैसे विषय को सरस तथा तथ्ययुक्त बना देने की क्षमता आपमें है। यह इस ग्रन्थ के पढ़ने पर पता लगेगा। हम यह कामना करते हैं कि आपकी एतद् विषयक साधना का सुफल शीघ्र ही और एक ग्रन्थ के रूप में हमें मिलेगा तथा आपकी यह साधना महर्षि दयानन्द के बहाने उस काल की स्थितियों, व्यक्तियों का परिचय भी करायेगी।

हम लेखक का धन्यवाद करते हैं कि महर्षि दयानन्द जैसे कालपुरुष का आकलन करनेवाले इस कालजयी ग्रन्थ के प्रकाशन का अवसर हमें प्रदान कर मानवता की सेवा करनेवाले चरित के पावन, उज्जवल प्रकाश को विस्तीर्ण करने का अवसर प्रदान किया है। शोधार्थी पाठकों के लिए ही नहीं सभी पाठकों के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी तथा दिशानिर्देशक होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

—प्रभाकरदेव आर्य



महर्षि दयानन्द सरस्वती : फरवरी १८६७ : मेरठ



महर्षि दयानन्द सरस्वती : मई १८६७ : हरिद्वार

माननीय डॉ० कुशलदेवजी हैं। उपरोक्त तीनों विभूतियों ने जो कुछ किया भक्तिभाव से, सेवाभाव से व धर्मभाव से किया। किसी सभा संस्था से कुछ माँगा नहीं। पं० लेखराम सरीखा स्वाभिमानी आत्मा, देवेन्द्रबाबू जैसा समर्पित व्यक्तित्व व संन्त प्रवर लक्ष्मण सरीखा तपोधन भला हाथ कैसे पसार सकता है ? हमारे कुशलदेवजी ने भी इस महान् कार्य को करते हुए किसी के आगे अर्थ के लिये हाथ नहीं पंसारा। पूज्य पं० युधिष्ठिरजी जैसे विद्वान् का प्रोत्साहन-प्रेरणा व इस विनीत समाजसेवी की विनती आपको इस कार्य के लिये टॉनिक का काम करती रही।

इसे आप मेरी दुर्बलता ही मानिये कि यहाँ यह उल्लेख करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता कि सन् १९८२ में नांदेड़ (महाराष्ट्र) में कुशलदेवजी से अपनी प्रथम भेंट के समय ही मैंने यह कह दिया था कि यह युवक एक दिन कुछ बनकर दिखाएगा। यह अपनी योग्यता, गुण-सम्पन्नता व सेवा से आर्यसमाज में बहुत चमकेगा।

ऋषि जीवन में जिन नामों की चर्चा आती है, नासिक, मुम्बई, पूना, सातारा, वसई के उस काल के सब व्यक्तियों के बारे में श्री कुशलदेवजी ने बहुत ठोस व सप्रमाण जानकारी देने का ऐसा प्रशंसनीय कार्य कर दिखाया है जिसका लाभ ऋषि जीवन में रुचि रखनेवाले प्रबुद्ध पाठकों व विद्वानों को तो मिलेगा ही भारतीय नवजागरण के इतिहास पर कार्य करनेवाले गवेषकों व इतिहासकारों के लिये यह ग्रन्थ जानकारी का एक महत्त्वपूर्ण स्त्रोत माना जावेगा। इसके आधुनिक भारत के धार्मिक, सांस्कृतिक व राजनैतिक इतिहास के कई पहलुओं पर नया प्रकाश डाला गया है। कुछ तथ्यों के बारे में अब तक जो जानकारी थी, वह धुँधली थी। श्री कुशलदेवजी ने नासिक, मुम्बई, पूना, सातारा, वसई आदि के ऋषि के प्रवास काल के वृत्तान्त में ऐसी सब बातों को सुस्पष्ट कर दिया है। कुछ नामों व व्यक्तियों के बारे में किन्हीं कारणों से कुछ भ्रम फैल गये। इस ग्रन्थकार ने अब कोई संशय व भ्रम नहीं रहने दिया।

मुम्बई के आर्य विद्वान् स्मृतिशेष पं० दयाशंकरजी की प्रेरणा से मैंने सन् १९६३-६४ में लोकमान्य तिलक के गुरु श्री चिपलूणकर के ग्रन्थ निबन्धमाला को खोजकर ऋषि दयानन्द विषयक निबन्ध पढ़ा।

उसमें वर्णित 'रत्नागिरि के पाठक' की खोज में श्री दयाशंकरजी की प्रेरणा से कई स्थानों पर गया। अक्कलकोट (महाराष्ट्र) भी तब गया था। आर्यसमाजेतर अनेक साहित्यकारों, विद्वानों व इतिहासविद् सज्जनों से भी भेंट की, परन्तु मुझे कतई सफलता न मिली। श्रीमान् कुशलदेवजी अपनी ऊहा, श्रद्धा व लग्न से इस कार्य की सिद्धि में पूर्णरूपेण सफलता प्राप्त कर पाये। कुछ वर्ष पूर्व इस प्रसंग की चर्चा छिड़ने पर आपने जब अपनी खोज की कहानी व उसका निष्कर्ष मुझे सुनाया तो मैं भावविभोर हो झूम उठा।

स्वातन्त्र्यवीर सावरकरजी ने अपने मराठी ग्रन्थ 'तेजस्वी तारे' में श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा पर लिखते हुए एक मार्मिक वाक्य लिखा है कि—'मन्दिर के शिखर पर कलश को तो सब देखते हैं, परन्तु मन्दिर की नींव में पड़े पत्थर की ओर किसका ध्यान जाता है ?' मैं जानता हूँ कि पं० लेखराम, देवेन्द्रबाबूजी व महाशय लक्ष्मण आर्योपदेशक की परम्परा के एक तपस्वी विद्वान् कुशलदेवजी का यह ग्रन्थ स्वल्पकाल में आर्यों के घर-घर में पहुँच जावेगा, परन्तु इतने विशालकाय प्रमाणों से परिपूर्ण ग्रन्थ को देखकर कौन यह अनुमान लगा सकता है कि हमारे अभिन्न बन्धु कुशलदेवजी ने यह अत्युत्तम कार्य किसी सभा, संस्था, शासन व श्रीमन्त के सहयोग के बिना सम्पन्न कर दिखाया है। भक्तराज अमींचन्द के शब्दों में मैं तो यही कहूँगा—**तेरी हिम्मत पै बलिहारी!**

दयानन्द, फ़ादर नेहेम्या गोरे और ईसाई मत

फादर गोरे की महर्षि से भेंट की चर्चा करते हुए डॉ० कुशलदेवजी ने ऋषिवर के ख्रिस्त मत विषयक ज्ञान व अध्ययन पर भी कुछ विचार किया है। महर्षि प्रयाग से पूर्व हुगली (बंगाल) में १ अप्रैल १८७३ ई० को गए थे। देवेन्द्रबाबू ने बंग भूमि की ऋषि की प्रचार-यात्रा का संक्षिप्त, परन्तु प्रामाणिक विवरण दिया है। 'मॉडर्न रिव्यू' के एक अंक में कोलकाता के पूर्व न्यायाधीश श्री दत्त ने हुगली में ऋषि के आगमन का समय नवम्बर सन् १८७२ लिखा है। यह भूल स्मृतिदोष से हो गई।

श्री दत्त ने हुगली में प्रो० लालबिहारी डे के साथ ईसाई मत विषयक ऋषि के शास्त्रार्थ पर अपने संस्मरणात्मक लेख में कुछ

विस्तार से चर्चा की है। इस गर्मागर्म शास्त्रार्थ में रैवरेण्ड लालबिहारी डे के साथ और भी कई पादरी थे। और ऋषि अकेले थे। न्यायाधीश अपनी छोटी आयु के कारण इस शास्त्रार्थ को पूरा-पूरा तो न समझ सके, परन्तु वह लिखते हैं, "**परन्तु एक बात का हमें विश्वास था कि श्रोताओं पर पण्डित दयानन्द की अकाट्य युक्तियों एवं चमकते-दमकते तर्कों का जो सर्वथा मौलिक व सहज स्वाभाविक थे, अत्यन्त उत्तम प्रभाव पड़ा। लोग उनकी वक्तृत्वकला, बाइबल सम्बन्धी उनके विस्तृत ज्ञान से बड़े प्रभावित हुए। जब मैं एफ० ए० में पढ़ता था, तो पादरी लालबिहारी डे ने भी इस तथ्य की पुष्टि की थी।**" (इस लेख का उर्दू अनुवाद 'आर्य समाचार' मेरठ में छपा था। हमने यह वृत्तान्त 'तड़पवाले तड़पाती जिनकी कहानी' पहला भाग पृष्ठ १६४-१६७ तक दिया है। पाठक वहाँ यह प्रकरण देखें)।

यह अवतरण देने का हमारा प्रयोजन यह है कि प्रयाग में पादरी गोरे से भेंट करने से पर्याप्त समय पूर्व ऋषि ने बाइबल का गम्भीर अध्ययन करके उस पर अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया था।

पादरी खड़कसिंह बी० ए० के संन्यास लेने व ईसाई बनने की इसी अध्याय में चर्चा की गई है। मेरी आरम्भिक शिक्षा एक ईसाई स्कूल में ही हुई। मैंने तो कभी ऐसी चर्चा नहीं सुनी और न कभी इसके बारे कुछ पढ़ा। लगता है यह किस्सा मात्र प्रचार स्टण्ट है। यदि कोई बी० ए० पास संन्यासी बना तो आर्य पत्रों में कुछ तो चर्चा होनी चाहिए। आलाराम संन्यासी व अखिलानन्द आदि कुछ लोग आर्यसमाज छोड़ गये। जब उनकी चर्चा मिलती है तो खड़कसिंह संन्यासी भी बना, फिर भी उसका उल्लेख कहीं भी नहीं। महर्षि से अमृतसर में भेंट करनेवाले पादरी खड़कसिंह के आर्य बनने व पण्डित खड़कसिंह के रूप में वेद-प्रचार करने का इतिहास तो मिलता है। पं० खड़कसिंह की पुत्रियाँ अमृतसर के आर्य परिवारों में ब्याही गईं। ऐसा पं० लक्ष्मणजी आर्योपदेशक ने लिखा है।

मान्य कुशलदेवजी ने फादर गोरे के मन में ईसाई मत के बारे पैदा होनेवाले संशयों का भी उल्लेख किया है। यह दुर्भाग्यपूर्ण घटना ही तो थी कि किसी लेखराम, दर्शनानन्द व रामचन्द्र देहलवी के न

होने से नीलकण्ठ शास्त्री सरीखा प्रतिभा सम्पन्न ब्राह्मण धर्मच्युत होकर फादर गोरे बन गया। ईसाई मत गोरे को तो सन्तुष्ट भले ही न कर सका, परन्तु फिर भी वह अपने अनुज को ईसाई मत में दीक्षित करने के लिए जी जान से लगा रहा। यह आर्य जाति के लिए कितनी दुःखद घटना है। फादर गोरे ने भारतीय दर्शनों के खण्डन में हिन्दी में पुस्तक लिखी इसका Fite-Edward Hall ने अंग्रेज़ी में 'A Ration of Refu tation of the Hindu philosophical systems' नाम से अनुवाद किया। डिमाई आकार की २०६ पृष्ठों की यह पुस्तक हमारे पुस्तकालय में भी है।

यह एक स्मरणीय तथ्य है कि मरण पर्यन्त फादर गोरे ने वेद, ऋषि दयानन्द व आर्यसमाजिक सिद्धान्तों के खण्डन में न तो कोई लेख लिखा और न कोई पुस्तक लिखी। यह ठीक है कि आर्यसमाज से टकराने को ईसाई उसे लाहौर तक घसीट लाये। यह गोरों के जाल में फँसे फादर गोरे की विवशता ही जानिये। महर्षि ने वैदिक दर्शनों के समन्वय पर अपना मौलिक व तार्किक दृष्टिकोण सत्यार्थप्रकाश में प्रस्तुत किया है। फ़ादर गोरे ने अपने ग्रन्थों में शंकराचार्य के साहित्य व पुराणों तथा अन्य ग्रन्थों के प्रमाण देकर अपने मत की पुष्टि की है। जी भर कर खण्डन किया है, परन्तु **वैदिक धर्म और ऋषि दयानन्द के विरुद्ध कुछ नहीं लिखा।**

इस ग्रन्थ में ऋषिवर के शास्त्रार्थों व शास्त्रार्थ के नियमों पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। ऋषि जब पंजाब पधारे थे तो जालंधर में २४ सितम्बर सन् १८७७ के दिन आपका मौलवी अहमद हसन से 'पुनर्जन्म' व 'करामात' (चमत्कार) दो विषयों पर दो शास्त्रार्थ हुए। इन्हें मिर्ज़ा मुवहद साहेब सम्पादक व संचालक 'वज़ीर हिन्द' स्यालकोट ने प्रकाशित करवाया था।

इन शास्त्रार्थों के प्रकाशक उक्त मुसलमान बन्धु ने इसमें लिखा है कि स्वामीजी की ओर से घोषणा की गई थी कि कोई सज्जन इस विचार विमर्श (शास्त्रार्थ) की समाप्ति पर हार-जीत नहीं समझेगा। यदि कोई ऐसा करेगा तो वह जाहिल, अज्ञानी व मुतअस्सिब (पक्षपाती) समझा जावेगा। कारण ? ऐसे गम्भीर विषयों से सम्बन्धित प्रश्नों का समाधान एक दो बार के संवादों में होना सम्भव ही नहीं।

इस घटना से **''ऋषि की दृष्टि में शास्त्रार्थ का स्वरूप कितना ऊँचा और उदात्त था''** यह पता चलता है। (देखिये पं० चमूपतिजी कृत आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का सचित्र इतिहास पृष्ठ झ व ञ।) श्री डॉ० कुशलदेवजी ने इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

इसी की पुष्टि में हम रुड़की में मुसलमानों से शास्त्रार्थ के लिए मौलवी मुहम्मद कासिमजी से ऋषि के लम्बे पत्र व्यवहार को स्मरण करवाना चाहते हैं। अगस्त सन् १८७८ में महर्षिजी ने मुसलमानों से शास्त्रार्थ के लिए कुछ शर्तें रखी थीं। मुसलमान पहले तो ये शर्तें मान गये, परन्तु न जाने क्या विवशता रही कि वे इन शर्तों को स्वीकार करके फिर पीछे हट गये। मुख्य शर्तें दो थीं—

१. शास्त्रार्थ में गिने-चुने प्रबुद्ध लोग ही हों। इनकी संख्या ४०० से अधिक न हो। २. शास्त्रार्थ लिखित हो। ३. समझदार लोगों को ही शास्त्रार्थ सुनने के लिए टिकट वितरित किये जायें। ४. शास्त्रार्थ में शिष्ट भाषा का प्रयोग किया जावे। ५. दो व्यक्तियों के शास्त्रार्थ में कोई तीसरा हस्तक्षेप नहीं करेगा।

श्री मास्टर लक्ष्मणजी आर्योपदेशक ने महर्षिजी व मौलवी मुहम्मद कासिम के मध्य हुए पत्र व्यवहार का पूरा-पूरा वृत्तान्त अपने बृहद् ग्रन्थ में दिया है। (देखिये 'मुकम्मल जीवन चरित्र महर्षि दयानन्द' उर्दू पृष्ठ ५२०-५२९ तक। 'भारत सुदशा प्रवर्त्तक' के जुलाई १८८१ के अंक में पृष्ठ १४ पर दिये गए विवरण के अनुसार ऋषि ने अजेमर में भी शास्त्रार्थ के इसी प्रकार के नियम व शर्तें रखीं थीं।)

इस पत्र व्यवहार से यह सिद्ध होता है कि महर्षि द्वारा मदरसा देवबन्द व वहाँ की मस्जिद को दान दिए जाने की कहानी सर्वथा मनघड़न्त है। कल्पना के पंखों पर सवार होकर न जाने किस प्रयोजन से यह भ्रान्ति किसी ने प्रचारित-प्रसारित कर दी। (द्रष्टव्य—धर्मयुग साप्ताहिक)

प्रसिद्ध आर्य विद्वान् और इतिहासकार डॉ० बालकृष्णजी छत्रपति शिवाजी महाराज के जीवन की सामग्री की खोज में पश्चिमी देशों में पहुँचे। वीर शिवाजी तो देश से बाहर निकले ही नहीं तो फिर डॉ० बालकृष्णजी को यह क्या सूझी? शिवाजी के काल में भारत के पश्चिमी तट पर पश्चिमी गोरी जातियों की व्यापारिक कोठियाँ थीं।

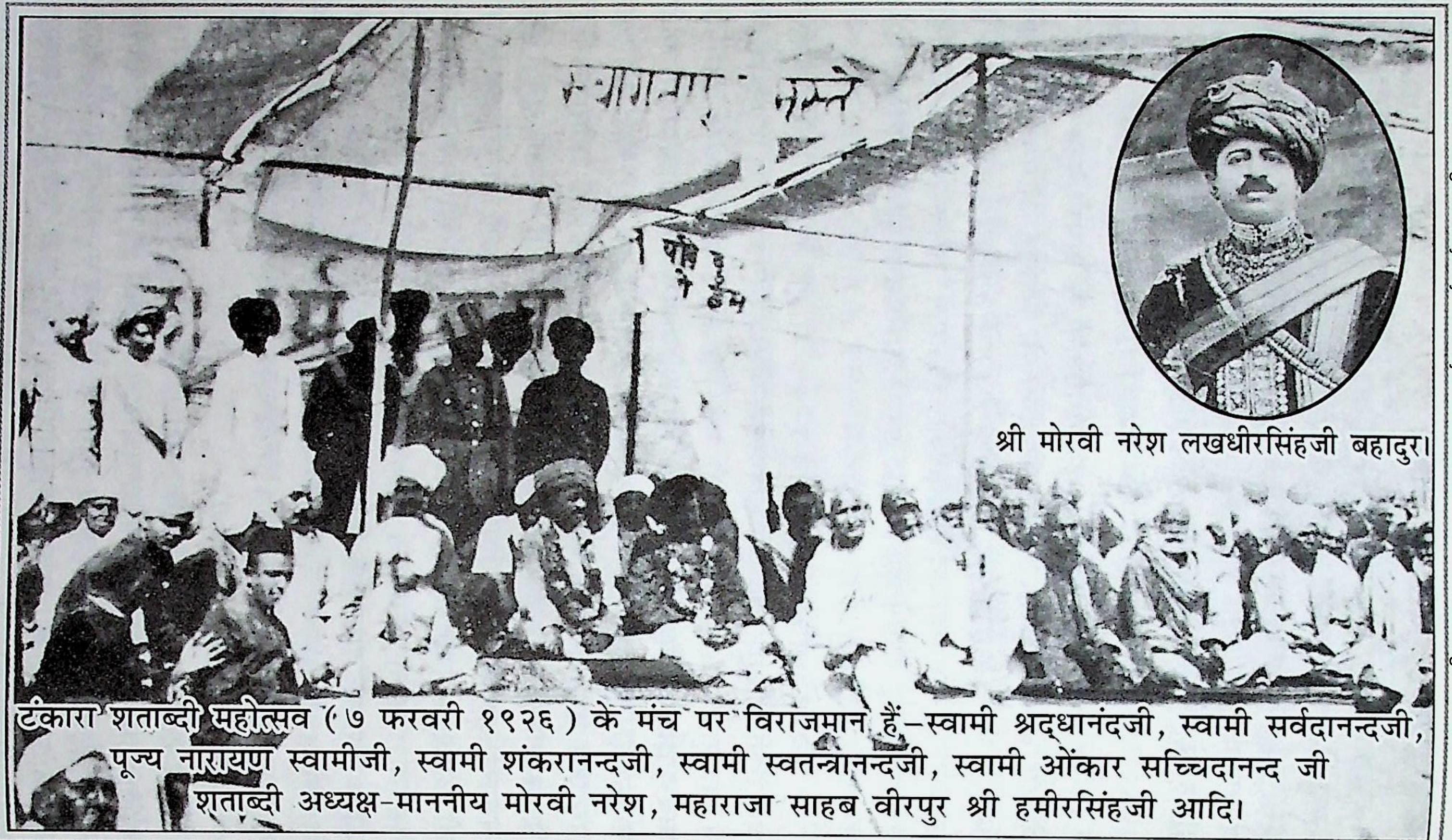
वे लोग जो यहाँ व्यापार के लिए आये, अपने घरों में पत्र भी भेजा करते थे। वहाँ उनके वंशजों का पता निकालकर डॉ० बालकृष्णजी ऐसे कई पत्र खोज लाये जिनमें छत्रपति शिवाजी महाराज की शूरता, वीरता व नीतिमत्ता की चर्चा है। डॉ० बालकृष्णजी की ऊहा से इतिहास की कई लुप्त-गुप्त कड़ियों का अनावरण हो गया।

मौरवी नरेश श्री लखधीरसिंह लाहौर में

श्रीमान् पं० लक्ष्मणजी आर्योपदेशक ने अपनी एक पुस्तक में मौरवी के महाराजा लखधीरसिंहजी के लाहौर आगमन की एक अधूरी, परन्तु महत्त्वपूर्ण घटना दी है। हमें आचार्य नन्दकिशोरजी के सत्प्रयास से फर्रुखाबाद से प्रकाशित होनेवाले 'भारत-सुदशा-प्रवर्त्तक' का एक अङ्क देखने को मिला। उसमें वह घटना पूरी-पूरी मिल गई। हम इसे यहाँ देते हैं।

जब महाराजा मौरवी सन् १९१० में लाहौर पधारे तो सनातन धर्म सभा का एक शिष्टमण्डल उनसे भेंट करने गया। इस शिष्टमण्डल ने महाराजाजी से यह विनती की कि आप सनातनधर्मी होने के कारण दयानन्द के मत से सनातन धर्म की रक्षा करें। इस पर महाराजाजी ने कहा, "आपका अभिप्राय किस दयानन्द से है? यदि आपका प्रयोजन उस दयानन्द से है जिसके जन्म स्थान का अभिमान मेरी रियासत को उपलब्ध है तो आपकी बड़ी भूल है। उसने डूबते हुए सनातन धर्म को बचा लिया, यदि इस महान् पुरुष का जन्म न होता तो आज समस्त हिन्दू, ईसाई और मुसलमान हो गए होते और आपकी वर्तमान सनातन धर्म सभा का नाम मात्र भी न रहता, मेरे हृदय में उस दयानन्द के लिए महती पूज्य बुद्धि है और मुझे अभिमान है कि उनके सम्बन्धी (कुटम्बी) इस समय तक मेरी रियासत में बड़े-बड़े पदों पर नियुक्त हैं।" (द्रष्टव्य 'भारत सुदशा प्रवर्त्तक' पृष्ठ ८ दिनांक मई सन् १९१०)।

इस प्रसंग से जुड़ा एक और अवतरण भी यहाँ देना उपयोगी रहेगा। ऋषिवर जब राजकोट पधारे थे तो वहाँ के राजकुमार कॉलेज में भी उनका व्याख्यान हुआ था। श्री मैकनाटन नाम के एक अंग्रेज़ उसके प्राचार्य थे। तब राजकुमारों से ऋषि का परिचय करवाया गया। महाराजा सर वाघजी सी० आई० ई०, के० सी० एस० तब



श्री मोरवी नरेश लखधीरसिंहजी बहादुर।

टंकारा शताब्दी महोत्सव (७ फरवरी १९२६) के मंच पर विराजमान हैं–स्वामी श्रद्धानंदजी, स्वामी सर्वदानन्दजी, पूज्य नारायण स्वामीजी, स्वामी शंकरानन्दजी, स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी, स्वामी ओंकार सच्चिदानन्द जी शताब्दी अध्यक्ष-माननीय मोरवी नरेश, महाराजा साहब वीरपुर श्री हमीरसिंहजी आदि।



जब भारतेंदु हरिश्चंद्रजी ने अपनी 'हरिश्चंद्र चन्द्रिका' के संपादक मंडल में स्वामी दयानन्द जी को समाविष्ट कर अपने आपको धन्य माना ।

युवराज के रूप में वहाँ पढ़ते थे। जब पं० लेखरामजी ऋषि के जन्म स्थान की खोज के लिए मौरवी गये तो आपने वहाँ के एक मुख्याध्यापक पं० श्री काशीराम सेवकराम एम० ए० द्वारा महाराजाजी से कुछ जानकारी प्राप्त की थी। तब महाराजा ने यह बतलाया था कि—"स्वामीजी राजकोट पधारे तो हमारे राजकुमार कॉलेज के प्राचार्य से मिले थे। मैं तब वहाँ पढ़ता था। वार्तालाप में मुझे पता चला था कि वे मौरवी के निवासी हैं।" (द्रष्टव्य 'मुकम्मिल जीवन चरित्र महर्षि दयानन्द' पृष्ठ ३७, लेखक–श्री लक्ष्मण आर्योपदेशक)।

१९२६ में जब टंकारा में ऋषि की जन्म शताब्दी मनाई गई थी तो उसकी अध्यक्षता महाराजा लखधीरसिंहजी ने ही की थी। आपने वहाँ भी यह मधुर प्रसंग सुनाया था। जब राजकुमार वाघजी का ऋषिजी को परिचय दिया गया तो जन्मभूमि का प्यार उनके हृदय से प्रस्फुटित हो गया। तब ऋषि ने स्वयं ही कहा था, "हम तो आपकी प्रजा हैं।" (द्रष्टव्य : 'दयानन्द जन्मस्थान निर्णय तथा टंकारा शताब्दी-महोत्सव'–प्रकाशक–विजयशंकर मूलशंकर–प्रथम संस्करण १९३०, पृ० ११-१२, ७१)।

दस वर्ष में इतना परिवर्तन

१६ नवम्बर १८६९ को ऋषिजी के ऐतिहासिक काशी शास्त्रार्थ ने धर्मनगरी समझी जानेवाली पोंगा पंथियों की राजधानी को कम्पाकर, हिलाकर रख दिया। तब ऋषि अकेले थे। विरोधी दो चार अथवा दस बीस नहीं, सैकड़ों थे। इन्हीं में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी एक थे। दस वर्ष भी न बीते कि ऋषि ने काशी को पलटकर रख दिया। पूना की 'सार्वजनिक सभा' के सभापति श्री गणेश वासुदेव जोशी सितम्बर मास से थोड़ा पहले काशी पधारे। उन्होंने महर्षि के तीन सूत्र ग्रहण करके एक देशव्यापी आन्दोलन छेड़ दिया।

१. एक सभा बनाकर भारतीय मुखर होकर सरकार से अपनी बात किया करें। २. विदेशी वस्तुओं का प्रयोग न करके स्वदेशी वस्तुओं का ही प्रयोग किया जावे। शिल्प, कला व उद्योग धन्धों को सर्वत्र उन्नत किया जाये। ३. राजकीय न्यायालयों में न जाकर पंचायतों में सब विवाद सुलझाये जावें।

'भारत सुदशा प्रवर्त्तक' ने अपने सितम्बर १८७९ के अंक में

जोशीजी की काशी में हुई सभा का विस्तार से वृत्तान्त प्रकाशित किया। ऋषि का इन्हें पूर्ण समर्थन प्राप्त था। यह स्पष्ट ही है।

काशी की सभा में बाबू हरिश्चन्द्रजी ने बहुत प्रभावशाली भाषण देते हुए काशी वालों को (पण्डित वर्ग) को ख़ूब लताड़ा। १८६९ में वे ऋषि के विरोधियों में एक अग्रणी व्यक्ति थे। अब वे काशी पण्डित मण्डली की भर्त्सना करनेवालों में अग्रणी थे। इसे एक परिवर्तन कहा जाये अथवा क्रान्ति ? बाबू हरिश्चन्द्र के ये शब्द महर्षि की दिग्विजय के सूचक हैं—

भारतेन्दुबाबू हरिश्चन्द्रजी ने श्री गणेश वासुदेव को धन्यवाद देते हुए कहा था, "जो लोग अपना घर-बार छोड़कर केवल देशोपकार के लिए इतनी दूर से आये हैं, उनकी जितनी प्रशंसा की जाये, सब थोड़ी है। ईश्वर सारे भारतवर्ष में ऐसे ही सौ-दो सौ मनुष्य उत्पन्न कर दे तो आज ही हिन्दोस्तान के दिन फिर जायें। मित्र गणेश वासुदेवजी ने जो चार बातें आज हम लोगों को सुनाईं, वे सब एक से एक बढ़कर गुणदायक हैं, परन्तु इनके प्रचार में सब लोगों का एक होना सबसे पहले आवश्यक है। हमको यह प्रकाश करने में अत्यन्त लज्जा और शोक होता है कि काशी के लोगों से हमको बहुत ही थोड़ी आशा है। यहाँ के लोग सब बातों को बड़े उत्साह और सुरीति से प्रारम्भ करते हैं, परन्तु उसका फल कुछ भी नहीं होता। जो लोग आज इस सभा में आये हैं, उनके चित्त में तब तक बड़ा उत्साह है, जब तक वे लोग यहाँ हैं, परन्तु जहाँ यहाँ से बाहर निकले और घर पहुँचे सब भूल जायेंगे। आरम्भ शूरता तो मानो इनका स्वभाव हो गया है। काम काम की तरह नहीं करते। यदि कुछ किया तो आरम्भ मात्र और दिखावे के वास्ते। यह समय ऐसा है कि संसार के लोग दिन-दिन वृद्धि करते हैं, परन्तु **यहाँ वालों की अब तक रात है**।"

इसके साथ ही आपने यह भी कहा था कि पंजाब व अवधवाले जो थोड़ा समय पहले अंग्रेज़ों के अधिकार में आये, उन्होंने "अपनी दशा बहुत सुधार ली, परन्तु बनारस................अब तक उसी अन्धकार में पड़ा है।" (देखिये 'भारत सुदशा प्रवर्त्तक' सितम्बर सन् १८७९ पृष्ठ २५-२६)।

श्री बाबू हरिश्चन्द्रजी की आँखें खुलीं तो आपने देश जाति के

सुधार-उपकार के लिये अपनी लेखनी उठा ली। उपरोक्त कथन में पंजाब में सुधार की लहर की प्रशंसा का स्पष्ट अर्थ यही है कि पंजाब में आर्यसमाज ने जागृति का शंख फूँक कर एक नया इतिहास रच दिया। 'कवि वचन सुधा' नामक अपने पत्र के ४ फरवरी सन् १८७८ के अंक में बाबूजी ने भारत की दुर्दशा पर एक नाटक प्रकाशित किया। 'भारत सुदशा प्रवर्त्तक' ने इसे अपने नवम्बर १८७९ के अंक में छापकर बाबूजी को और प्रोत्साहित किया।

मुम्बई से ऋषि के प्रचार के कुछ समाचार

पश्चिम भारत विशेष रूप से मुम्बई-पूना आदि में महर्षि दयानन्दजी की गतिविधियों व प्रचार के सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने अत्यन्त सूक्ष्म व व्यापक अध्ययन करके बहुत उपयोगी व ठोस सामग्री दी है। ऋषि के मुम्बई प्रवास का एक समाचार प्रसिद्ध सुधारक श्री कन्हैयालाल अलखधारी के उर्दू पत्र 'नीति प्रकाश' से यहाँ उद्धृत करते हैं—

''पता चला है कि यह महाराज बम्बई में उपदेश करते हैं कि (१) मूर्तियों को न पूजो। (२) वेदों व शास्त्रों के सामने पुराण कुछ भी नहीं। (३) विधवाओं का पुनर्विवाह करो। (४) जाति भेद मत रखो। (५) अवतारों को भी भगवान् के अन्य मनुष्यों के समान जानो। पुरुष ३५ वर्ष का व स्त्री २२ वर्ष की हो, तब विवाह हो। **ईश्वर का उपदेश देनेवाले इस भले पुरुष के विरोध के लिए दो सौ पण्डित एकत्र हुए ताकि उसके वचनों का वेद के आधार पर खण्डन करें।''** (यह उद्धरण 'नीति प्रकाश' के १८७५ के अंक में पृष्ठ २५ पर छपा। 'महर्षि दयानन्द का सर्वप्रथम जीवनवृत्त' पृष्ठ ७ भी देखें।)

यह नहीं भूलना चाहिए कि अलखधारीजी नास्तिक थे। उन्होंने स्वयं ऐसा लिखा है, परन्तु वे महर्षि के सुधारवादी व तार्किक विचारों के बहुत समर्थक व प्रशंसक थे। उन्होंने उस युग में जातिभेद, अस्पृश्यता, पाषाण पूजा, पीर पूजा, कबर पूजा, फलित ज्योतिष, भूत-प्रेत आदि अन्धविश्वासों का बड़ा कड़ा खण्डन किया। यदि वे आर्यसमाज में प्रविष्ट होकर धर्म रक्षा व जाति सेवा का कार्य हाथ में लेते तो भारत का इतिहास कुछ और ही होता। आश्चर्य व खेद का

विषय है कि ऋषि दयानन्द व आर्यसमाज का इतना बड़ा प्रेमी समाज से जुड़ न पाया।

डॉ० श्री कुशलदेवजी ने एक प्रसंग में मराठा व ब्राह्मण का भेद बताया है। उत्तर भारत में अब तो लोग यह भेद कुछ समझने लगे हैं, परन्तु पचास वर्ष पूर्व इसे कोई विरला ही जानता था। श्री भाई परमानन्दजी उच्च कोटि के इतिहासकार थे। आपने उर्दू में महाराष्ट्र के इतिहास पर एक बहुत बड़ा ग्रन्थ लिखा है। भाईजी ने इस ग्रन्थ में मराठा शब्द का प्रयोग सब महाराष्ट्र निवासियों के लिए ही किया है।

कभी आर्यसमाजी नेता व विख्यात साहित्यकार पं० श्री भीमसेनजी विद्यालंकार की पुस्तक 'वीर मराठे' अत्यन्त लोकप्रिय थी। इसमें भी मराठा शब्द का प्रयोग एक विशेष बिरादरी के लिये नहीं किया गया। पं० श्री चमूपतिजी की उर्दू मुसद्दस 'भारत की भेंट' में मराठा की बजाय 'मरहट्टा' शब्द का प्रयोग किया गया है। उर्दू लेखकों में यही शब्द प्रचलित रहा है। पण्डित चमूपतिजी ने ब्राह्मण व ब्राह्मणेतर के भेद की उपेक्षा करते हुए महाराष्ट्र के सब लोगों के लिये 'मरहट्टा' शब्द का प्रयोग किया है।

पण्डित ताराचरण से शास्त्रार्थ

हुगली में ऋषिवर का पं० ताराचरण से जो शास्त्रार्थ हुआ, उसकी चर्चा प्रायः सब जीवनी लेखकों ने थोड़ी बहुत की है। श्रीयुत मोहन दत्त भी इसके एक प्रत्यक्षदर्शी थे। पण्डित ताराचरण काशी के महाराजा ईश्वरनारायण सिंह के एक विशेष राज पण्डित थे।

हुगली के इस शास्त्रार्थ में ताराचरण अकेले ही तो नहीं थे। आपके साथ भाटपाड़ा (भट्टपल्ली) के और भी कई पण्डित थे। श्री दत्त लिखते हैं, "शास्त्रार्थ बराबर का नहीं था, कारण ताराचरण तर्करत्न में न तो ऋषि दयानन्द-जैसी योग्यता तथा विद्वत्ता थी और न ही महर्षि दयानन्द-जैसा वाणी का बल था। इस शास्त्रार्थ में बाबू भूदेवजी, श्री बाबू अक्षयचन्द सरकार तथा पादरी लालबिहारी डे सरीखे प्रतिष्ठित महानुभाव उपस्थित थे।" (देखिये 'तड़पवाले तड़पाती जिनकी कहानी' भाग पहला-लेखक राजेन्द्र 'जिज्ञासु' पृष्ठ १६४-१६७। 'मॉडर्न रिव्यू' में प्रकाशित लेख का अनुवाद)।

श्रीयुत दत्त ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि महर्षि दयानन्दजी

वेद, शास्त्र, स्मृतियों, रामायण व महाभारत के सब प्रमाण बिना पुस्तक देखे ही बता दिया करते थे। उन्हें पुस्तक देखने की आवश्यकता ही न थी। अपनी स्मरणशक्ति के भरोसे सब मन्त्र तथा श्लोक उद्धृत कर देते थे।

श्री मोहनदत्तजी ने यह भी लिखा है कि जिनको अपने शास्त्र ज्ञान का अथवा संस्कृतज्ञ होने का अभिमान था, उनमें से कोई भी उनसे शास्त्रार्थ करने का साहस नहीं कर पाता था। उनके सामने आने से सब डरते थे। सज्जन लोग उनके दर्शन को आते रहते थे। उनके दरबार में भीड़ लगी रहती थी।

हमारे मान्य कुशलदेवजी यह भूल गये कि रोग शय्या पर पड़े हुए पूज्य पण्डित युधिष्ठिरजी मीमांसक ने हमें 'रसाला एक आर्य' दिखाने को कहा। हमने कहा, ''वर्षों से जिसकी खोज में लगा हूँ जब मिल जायेगा तो पहले आप ही को उसके दर्शन करवाऊँगा।''

तब पण्डितजी ने सब कार्य बन्द करके इसे खोजने का आदेश अन्त समय में दिया। साथ ही कहा, ''आर्यों को बता दो कि यह पुस्तक ऋषि की लिखवाई हुई है। लाला साईंदास तो क्या कोई अच्छा विद्वान् भी इसमें लिखित प्रमाण व तर्क नहीं दे सकता। यह असाधारण योग्यता के व्यक्ति का काम है। इसके लेखक लाला साईंदासजी नहीं थे। पुस्तक की एक दुर्लभ प्रति हमारे पुस्तकालय में हैं। उस पर 'मुसन्निफ़' अर्थात् लेखक लाला साईंदास कहीं भी स्पष्ट लिखा नहीं मिलता। उनका नाम लेखक के रूप में कैसे प्रचारित हो गया, यह एक विचित्र कहानी है। एक स्थान पर 'मूअल्लफ़' शब्द तो मिलता है। इसका अर्थ है जो कुछ पुस्तकों अथवा अन्य स्रोतों से सामग्री संकलित करके पुस्तक बना दे। (देखिये 'फ़ीरोज़-उल-लुग़ात' भाग दूसरा पृष्ठ ४८५)। निश्चित रूप से यह ऋषिकृत है। (पूज्य मीमांसकजी पं० लेखराम कृत ऋषि जीवनी (हिन्दी) में इसकी सामग्री पढ़ चुके थे। श्री पं० लेखरामजी ने इसे अपने ग्रन्थ में नये क्रम से दिया है)। हमने बड़ी गहन खोज करके यह पता लगाया कि लाला साईंदास ने तो कभी भी एक पृष्ठ का लेख नहीं लिखा। वह तो प्रबन्धक थे। 'महर्षि का एक अलभ्य शास्त्रार्थ' नाम से हमने इसे अनूदित व प्रकाशित करवा दिया था। इसे ऋषि के साहित्य में

समझा जाना चाहिए, प्राक्कथन आदि को छोड़कर निश्चित रूप से यह ऋषि की कृति है।''

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में तिलकजी के बन्दी बनने पर 'सद्धर्म प्रचारक' में महात्मा मुंशीरामजी की सम्पादकीय टिप्पणी अत्यन्त साहसिक व देश भर में न्यारी थी। यह स्मरण रहे कि श्यामजी कृष्ण वर्मा भानुशाली थे और उनके श्वसुर श्री छबीलदास तो भाटिया थे।

यह ज्ञानकोश—लेखक महोदय ने श्रद्धेय पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक के आधार पर ऋषि के साहित्य की पठनीय जानकारी दी है। उन्होंने सन् १८८३ के आर्यसमाजों की संख्या का प्रश्न उठाया है। हमने सन् १९८३ में 'परोपकारी' के एक अंक में उस समय के आर्यसमाजों की एक सूची प्रकाशित करवाई थी। यह संख्या १३५ के लगभग बनती है। गुणी विद्वान् पाठक हमसे सहमत ही होंगे कि 'महर्षि दयानन्द : काल और कृतित्व' यह ग्रन्थ दयानन्द के जीवन तथा आर्यसमाज विषयक तथ्यों का एक ज्ञानकोश है। लेखक का परिश्रम वन्दनीय है।

महर्षि दयानन्द बलिदान पर्व
दीपमाला २००८

राजेन्द्र 'जिज्ञासु'
वेदसदन, नई सूरज नगरी,
अबोहर (पंजाब)-१५२ ११६



महर्षि दयानन्द सरस्वती : अक्टूबर १८७४ : जबलपुर

महर्षि दयानन्द सरस्वती : अक्टूबर १८७५ : मुंबई

डॉ. जे. एम. वाघमारे
एम.ए.,एलएल.एम.,पीएच.डी.
संसद् सदस्य (राज्य सभा)

Dr. J.M. WAGHMARE
M.A.,LL.M.,Ph.D.
MEMBER OF PARLIAMENT
(RAJYA SABHA)

प्रस्तावना

डॉ० कुशलदेव शास्त्री लेखक, विचारक एवं अनुसंधानकर्त्ता हैं। हिन्दी, मराठी और संस्कृत के जानकार होने के कारण वास्तव में वे एक भाषाविद् हैं और विद्यार्थी प्रिय प्राध्यापक रह चुके हैं। अनेक शोध पत्र-पत्रिकाओं में आपके लेख प्रकाशित होते रहे हैं।

'महर्षि दयानन्द : काल और कृतित्व' यह डॉ० कुशलदेवजी के संकलित इकतीस शोध निबन्धों का पाँच अध्यायों में विभाजित अनुसंधानात्मक ग्रन्थ है। ये सभी लेख महर्षि दयानन्द की विचार सरणी, आर्यसमाज की स्थापना एवं कार्य और महर्षि के महाराष्ट्रीय समाज-सुधारकों के सम्पर्क एवं सान्निध्य से सम्बन्धित हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती प्रखर मानवतावादी विचारक थे। वे भारतीय नवजागरण के उद्गाता थे। भारत के समकालीन और भविष्य को वे वैदिक आदर्शों में ढालना चाहते थे। वेद उनकी प्रेरणा के अनमोल स्रोत थे। उनकी यह धारणा थी कि चारों वर्णों का वेदों पर समान अधिकार है। इतना ही नहीं, पूरी मानव जाति का, शूद्रातिशूद्रों और स्त्रियों का वेदों के अध्ययन और अध्यापन पर भी पूर्णाधिकार है। स्वामीजी नारी समाज के उन्नायक और दलितोद्धारक थे।

महर्षि के साहित्य में मानवीय चिन्ता व्यक्त हुई है। उनका यह सन्देश था कि—मनुष्य को सही अर्थ में मनुष्य बनना चाहिए। "जो विचारपूर्वक किसी कार्य को करे उसीका नाम मनुष्य है।" यह उनके द्वारा की गई मनुष्य विषयक व्याख्या थी। सत्यासत्य के निर्णय करने की क्षमता मनुष्य के पास होनी चाहिए। और इसीलिए उनकी यह सीख थी कि—हर स्त्री-पुरुष को शिक्षा मिलनी चाहिए।

भारतीय नवजागरण को महर्षि दयानन्द ने राष्ट्रवाद के साथ जोड़ा। वस्तुतः यह उनकी भारतीय नवजागरण को दी गई विशेष देन है। ब्रह्मसमाज ने इस नवजागरण का शुभारंभ अवश्य किया। धर्म-

सुधार के माध्यम से उसने नवजागरण को गतिशील बनाया। ब्रह्मसमाज एक समन्वयवादी धार्मिक संगठन था। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज के माध्यम से जो धर्म-सुधार और समाज-सुधार का आन्दोलन शुरु किया, राष्ट्रवाद उसका अभिन्न अंग था।

आश्चर्य इस बात का है कि स्वामीजी को राष्ट्रवाद की प्रेरणा वेदों से मिली। राष्ट्रवाद (नेशनलिज्म) का जन्म १९वीं शताब्दी में यूरोप में हुआ। वह ज्वालाग्नि की तरह पूरे यूरोप और दुनिया के अन्य देशों में फैला। अँग्रेजी भाषा एवं साहित्य, विज्ञान और शिक्षा के द्वारा राष्ट्रवाद की आँधी भारत में भी आई। जो भारतीय आंग्लभाषा विशारद थे, जिन्होंने अँग्रेजी साहित्य पढ़ा था तथा अँग्रेजी शिक्षा पाई थी, उनका अनायास राष्ट्रवाद से सम्पर्क हुआ। लेकिन स्वामी दयानन्दजी अँग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ थे। आंग्ल एवं पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली से उनका किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं हो पाया था, फिर भी उन्होंने स्वधर्म, स्वदेश और स्वशासन की प्रेरणाएँ वेदों से प्राप्त की थीं। महर्षि ने न तो प्लेटो पढ़ा था और न रूसो पढ़ा था। इसका तात्पर्य यही है कि राष्ट्र और राष्ट्रवाद के बीज वेदों में हैं।

स्वतन्त्रता ही राष्ट्रवाद का मूल होता है। स्वधर्म, स्वदेश और स्वशासन के पीछे स्वतन्त्रता ही होती है। यूरोपीय नवजागरण के स्रोत ग्रीक और लैटिन साहित्य में थे। भारतीयों को यूरोपियन नवजागरण से प्रेरणा मिली थी। अँग्रेजी भाषा, साहित्य और पश्चिमी शिक्षाप्रणाली के माध्यम से नवजागरण प्रेरित हुआ था। राजा राममोहनराय, केशवचन्द्र सेन, महर्षि देवेन्द्रनाथ, न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे, दादाभाई नौरोजी आदि सुधारक और नेता आंग्ल विद्या विशारद थे, लेकिन **महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारों की गंगोत्री भारतवर्ष के अतीत में थी।** वे केवल धर्म-सुधारक ही नहीं, अपितु सामाजिक विचारक (सोशल थिंकर) भी थे। राजधर्म पर उनकी गहरी निष्ठा थी।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना सन् १८७५ में की। इसके दस वर्ष पश्चात् राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना १८८५ में की गई। **आर्यसमाज आगे चलकर राष्ट्रवाद का ब्रह्मास्त्र सिद्ध हुआ। धर्म-सुधार और समाज-सुधार का माध्यम तो वह था ही। उसने भारतीयों के कर-कमलों में राष्ट्रवाद का शास्त्र और शस्त्र**

भी रखा। कॉंग्रेस ने बंग-भंग के पश्चात्, अर्थात् बीसवीं सदी के प्रारम्भ में राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप धारण किया, पर **भारत में सबसे पहले स्वामीजी ने स्वराज्य का सुविचार अभिव्यक्त किया।**

महात्मा जोतिबा फुलेजी ने सत्यशोधक समाज की स्थापना सन् १८७३ में की थी। 'सत्यमेव जयते' यह सत्यशोधक समाज का नारा था। लेकिन महात्मा फुले राजकीय विचारधारा और आन्दोलन से दूर थे। सत्यशोधक आन्दोलन शूद्रातिशूद्रों की उन्नति का आन्दोलन था। वह वेद और वर्ण व्यवस्था के विरूद्ध था। सामाजिक स्वतन्त्रता और समता का वह हामी था। हालाँकि महात्मा फुलेजी ने स्वामी दयानन्द सरस्वती के व्याख्यान पूना में आयोजित करने में न्यायमूर्ति रानडे, म्हस्के वकील आदि के साथ अगुआई की थी। फिर भी वर्ण व्यवस्था के वे कट्टर विरोधी थे। उनका संघर्ष जातिवाद (तथाकथित ब्राह्मणवाद) के विरूद्ध था। स्वामीजी भी हर प्रकार के जातिवाद के प्रखर विरोधी थे। स्थूल रूप में वेद और वर्ण व्यवस्था को छोड़कर महर्षि दयानन्द सरस्वती और महात्मा फुले के विचारों में समानता थी। पर हमें यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि महर्षि की वैदिक वर्ण व्यवस्था जन्मना वर्ण व्यवस्था पर आधारित न होकर कर्मणा वर्ण व्यवस्था पर आधारित थी।

एक धर्म, एक भाषा और एक राष्ट्र ये महर्षि दयानन्द के राष्ट्रवाद के त्रिसूत्र थे। उनका जोर 'एक' पर अर्थात् 'एकता' पर था। भारत विभिन्न सांप्रदायिक-पन्थों में, कई भाषाओं में और अनेक राज-रजवाड़ों में बँट चुका था। उसे एकता की लड़ी में पिरोना आवश्यक था। भारतवर्ष के सभी लोगों को एक छत के नीचे लाना बहुत ही जरूरी था। वस्तुतः यह एक स्वप्न (यूटोपिया) था। जिसे साकार करने का प्रयास महर्षि के अनुयायियों ने किया।

स्वामीजी वैदिक धर्म की पुनः स्थापना करना चाहते थे। उनकी घोषणा थी—'वेदों की ओर लौटो'। जो लोगों के कानों में गूँज उठी। हिन्दी को उन्होंने राष्ट्रभाषा का सम्मान दिया। उनकी यह धारणा थी कि—हिन्दी ही भारतवर्ष को एकसूत्र में जोड़ सकती है। आर्यसमाज ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार में बहुत बड़ा योगदान दिया। हिन्दी के विकास में आर्यसमाजी लोगों का असाधारण योगदान रहा है। स्वयं

महर्षि दयानन्द सरस्वती हिन्दीतर भाषी थे। गुजराती उनकी मातृभाषा थी। उनका समग्र अध्ययन संस्कृत में हुआ था। आरम्भ में वे संस्कृत में ही प्रवचन और व्याख्यान देते थे। कालान्तर में जनभाषा हिन्दी का महत्त्व उन्होंने पहिचाना। **स्वामी दयानन्दजी द्वारा 'आर्यभाषा' में लिखा गया 'सत्यार्थप्रकाश' वास्तव में 'राष्ट्रोपनिषद्' है।** आर्यसमाज का प्रचार कार्य हिन्दी में ही होता रहा है। गुरुकुलों और आर्य महाविद्यालयों का माध्यम संस्कृत और हिन्दी रहा है। डी० ए० वी० कॉलेजों ने अँग्रेजी के साथ हिन्दी की महिमा को भी सुरक्षित रखने का प्रयास किया। 'भारत भारतीयों का' यह आर्यसमाज का नारा था। अखण्ड भारत का सपना आर्यसमाजियों ने देखा। महर्षि दयानन्द सरस्वती का सपना तो आर्यों के चक्रवर्त्ती सार्वभौम साम्राज्य का था।

आर्यसमाज ने शिक्षा के क्षेत्र में जो कार्य किया, वह राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत था। **देश जब एक सुर में गाता है और एक ही ताल में चलता है, तब वह 'राष्ट्र' कहलाता है।** आर्यसमाज की स्थापना कई प्रान्तों में हुई। विशेषकर पंजाब और उत्तर भारत में उसे बहुत बड़ी सफलता मिली। महाराष्ट्र में उसे उतनी सफलता नहीं मिली। बंगाल में ब्रह्मसमाज था, जो वहाँ के भद्रसमाज तक ही सीमित रहा। बंगाल में भी आर्यसमाज को उल्लेखनीय यश नहीं मिला। वस्तुतः देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि ब्रह्मसमाजी स्वामीजी के तेजोमय व्यक्तित्व के सम्पर्क में आए थे। बंगाल में स्वामीजी के अनेक प्रवचन हुए। उनका व्यक्तित्व और वक्तृत्व प्रभावशाली था। **महर्षि की वाणी में ओज और विचारों में अतीत की खोज थी।**

महाराष्ट्र में विशेषकर मुम्बई और पूना में स्वामीजी के कई प्रवचन हुए। आर्थिक नगरी मुम्बई और सांस्कृतिक नगरी पूना में आर्यसमाज की स्थापना भी हुई। न्यायमूर्ति रानडे और उनके प्रार्थनासमाजी सहयोगियों ने स्वामीजी के प्रवचनों का पूना नगरी में आयोजन किया। महाराष्ट्र का प्रार्थनासमाज बंगाल के ब्रह्मसमाज का नया संस्करण मात्र था। रानडे और लोकहितवादी स्वामीजी की 'परोपकारिणी सभा' के विश्वस्त थे। **परोपकार ही स्वामीजी के जीवन का लक्ष्य था।**

पूना के भिड़ेवाड़ा में स्वामीजी के पन्द्रह प्रवचन हुए। **स्वयं महात्मा फुलेजी ने स्वामीजी का एक व्याख्यान अपने मोमिनपुरा स्थित शूद्रों की पाठशाला में आयोजित किया था। भिड़ेवाड़ा में महात्मा फुलेजी को १८४८ में कन्या पाठशाला खोलने का श्रेय प्राप्त है।** स्वामीजी के प्रवचनों में काफी भीड़ रहती थी। जब उनके गौरव में पूना में शोभायात्रा का आयोजन किया गया था, तब रूढ़िवादी लोगों ने उनका अपमान और उपहास करने हेतु गर्दभानन्द की यात्रा का आयोजन किया था। महात्मा फुलेजी ने इस अवसर पर उपद्रव होने की आशंका को महसूस कर अपने नौजवान साथियों के साथ स्वामीजी की शोभायात्रा को संरक्षण प्रदान किया था। पूना सनातनियों का गढ़ था। प्रगतिशील विचारों का पूना में हमेशा ही विरोध हुआ। लोकमान्य तिलक भी प्रगतिशील विचारों के ख़िलाफ़ थे। स्वामीजी ने नासिक, मुम्बई, सातारा, वसई, ठाणे आदि स्थानों पर भी प्रवचन दिए। **महर्षि दयानन्द के विचारों के अश्व को रोक पाना मुश्किल था।**

महर्षि दयानन्द सरस्वती के सम्पर्क में कई प्रसिद्ध महाराष्ट्रीय व्यक्ति आ चुके थे। महाराष्ट्रीय संन्यासी स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती को उन्हें संन्यास की दीक्षा देने का श्रेय प्राप्त है। उन्होंने उनका नाम स्वामी दयानन्द सरस्वती रखा। पण्डिता रमाबाई अपने समय की एक महान् विदुषी थी। उनकी विद्वत्ता असाधारण थी। उनकी वाणी में गार्गी का ओज था और चेहरे पर मैत्रेयी का तेज था। पण्डिता रमाबाई संस्कृत में धाराप्रवाह व्याख्यान देती थी। स्वामीजी का इस विदुषी ने शिष्यत्व स्वीकार कर उनका अनमोल मार्गदर्शन भी प्राप्त किया था। एक बंगाली आंग्ल विद्या से विभूषित पर तथाकथित शूद्र युवक से विवाह करने का साहस भी इन्होंने दिखाया था। वास्तव में स्वामीजी स्त्री-उद्धारक थे। उनकी यह धारणा थी कि उपनयन संस्कार का, शिक्षा ग्रहण करने का, पुरुषों के समान महिलाओं को भी अधिकार है। वे समाज में नवजागरण लाने के लिए कटिबद्ध थे। **पण्डिता रमाबाई यदि स्वामीजी के समाज-सुधार कार्य की शृंखला में एक कड़ी बनती तो महाराष्ट्र में आर्यसमाज को बहुत अधिक सफलता मिलती।** स्वामीजी ने पण्डिता रमाबाई से काफी अपेक्षाएँ रखीं थीं, लेकिन कालान्तर में इस विदुषी ने ईसाई धर्म

स्वीकार कर लिया। अपने गृहस्थाश्रम प्रवेश विषयक या विवाह विषयक बातों को स्पष्ट रूप से कह सकने का अवसर आने पर भी पण्डिता ने उन सभी बातों को यथासमय निवेदित करने की अपेक्षा स्वामीजी से छिपाए रखा। डॉ० कुशलदेव शास्त्रीजी ने इस घटना पर यथास्थान प्रकाश डाला है।

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के सम्पर्क में कई महाराष्ट्रीय महानुभाव आ चुके थे। न्यायमूर्ति रानडे, महात्मा जोतिबा फुले, लोकहितवादी, गंगाराम भाऊ म्हस्के, बाबा पद्मनजी, महादेव मोरेश्वर कुंटे, गणेश जनार्दन आगाशे, रामचन्द्र धामणस्कर आदि। इन सभी व्यक्तियों को समाज-सुधार और समाज परिवर्तन के कार्य में गहरी रुचि थी। महर्षि दयानन्द के प्रति इनके मन में आदर की भावना थी। मुम्बई और पूना में सम्पन्न स्वामीजी के प्रवचनों ने इन्हें अन्तर्मुख बनाया था। स्वामीजी समाज में बदलाव लाना चाहते थे। **परिवर्तन के माध्यम से ही इतिहास को गति मिलती है।**

इतिहास कब और किस प्रकार से नया मोड़ लेगा इसे सुनिश्चित रूप से कह पाना कठिन ही नहीं, प्रायः असम्भव भी है। **महर्षि दयानन्द के विचार और आर्यसमाज का कार्य कई सुधारकों को प्रेरणा देता रहा है। उसने कोल्हापुर संस्थान के नरेश राजर्षि शाहू महाराज को बल प्रदान किया था। छत्रपति शाहू महाराज ने कोल्हापुर रियासत को आर्यसमाज के समाज-सुधार कार्यक्रम की प्रयोगशाला का रूप दे दिया था।** एक तरफ उन्होंने महात्मा फुले द्वारा स्थापित सत्यशोधक समाज को बल दिया तो दूसरी तरफ कोल्हापुर में आर्यसमाज की स्थापना की। इसकी पृष्ठभूमि का प्रमुख कारण वेदोक्त प्रकरण था। ब्राह्मणों की यह भूमिका थी कि शूद्रों को वेदों के पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनाने का अधिकार नहीं है। शाहू महाराज क्षत्रिय नहीं हैं। वेदोक्त पद्धति से उपासना करने का उन्हें अधिकार नहीं। इस भूमिका का लोकमान्य तिलक ने भी समर्थन किया था। इस संघर्ष में शाहू महाराज विजयी हुए।

'वेद किसी वर्ण विशेष या केवल किसी जाति विशेष की सम्पत्ति नहीं, अपितु मानव मात्र की सम्पत्ति है। उसे पढ़ने का और वेदोक्त पद्धति से उपासना करने का अधिकार समस्त मानव जाति को है।' इस विचार ने सुनिश्चित रूप से शाहू महाराज को ऊर्जा

प्रदान की। इसीलिए उन्होंने कोल्हापुर में आर्यसमाज की स्थापना की। पूना में जिस विचार को नकारा गया उसे कोल्हापुर में बल मिला। 'वेदोक्त विरूद्ध पुराणोक्त संघर्ष' महाराष्ट्र के इतिहास में काफी पुराना है। छत्रपति शिवाजी महाराज से लेकर कोल्हापुर नरेश छत्रपति शाहू महाराज तक इस संघर्ष ने उग्र रूप धारण कर लिया था। महाराष्ट्र का ब्राह्मण वर्ग न तो छत्रपति शिवाजी महाराज को क्षत्रिय मानने को तैयार था और न बडोदरा नरेश सयाजीराव गायकवाड़ को और न ही वह कोल्हापुर नरेश छत्रपति शाहू को भी क्षत्रिय मानता था। राजा नन्द के बाद क्षत्रिय वर्ण के अस्तित्व को ही समाप्त कर दिया गया था। गुण-कर्म-स्वभाव पर आधारित वर्ण व्यवस्था को ब्राह्मण वर्ग ने अमान्य कर दिया था। उन्होंने यह भूमिका स्वीकार कर ली थी कि कलियुग में बस दो ही वर्ण हैं—ब्राह्मण और शूद्र। **छत्रपति शिवाजी महाराज का राज्याभिषेक वैदिक पद्धति से करने में यहाँ के ब्राह्मणों ने अवरोध उत्पन्न किए थे। सयाजीराव महाराज और शाहू महाराज को अपनी-अपनी रियासतों के राजा होने के बावजूद भी वेदोक्त पद्धति से संस्कार करवाने में अनेक यातनाओं के जंगल से गुजरना पड़ा था।** स्वामी दयानन्दजी और आर्यसमाज द्वारा वेदाध्ययन का सब के लिए अधिकार प्रदान करना तथा गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्ण व्यवस्था विषयक विचारों ने शाहू महाराज को गजराज का बल दिया। परिणाम स्वरूप उन्होंने 'क्षात्र जगद्गुरु' का पद निर्माण किया और राजाराम कॉलेज का संचालन आर्यसमाज के हाथों में सौंप दिया।

आर्यसमाज ने सही मायनों में जौहर दिखलाए निजाम की हैदराबाद रियासत में—विशेषकर मराठवाड़ा में। हैदराबाद मुक्ति संग्राम में आर्यसमाजियों का बहुत बड़ा योगदान रहा। भाई बंसीलालजी, भाई श्यामलालजी, पं० नरेन्द्रजी, पं० विनायकरावजी विद्यालंकार, शेषरावजी वाघमारे आदि आर्यसमाजी नेताओं ने हैदराबाद मुक्ति संग्राम में भाग लिया। कई आर्यसमाजी शहीद हुए।

मराठवाड़ा के ग्रामीण अंचल में भी आर्यसमाज पहुँचा। **इस आर्यसमाजी आन्दोलन ने विशेष रूप से दो कार्य किए—एक राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार-प्रसार और दूसरा अस्पृश्यता का निर्मूलन या जाति व्यवस्था का हनन। कई आर्यसमाजियों ने**

हिन्दीतर भाषी होते हुए भी राष्ट्रभाषा को अपने परिवार की भाषा बनाया। शतशः आर्यसमाजी युवक युवतियों ने अन्तर्जातीय विवाह किए। आर्यसमाजी आन्दोलन का अन्तर्जातीय विवाह अभिन्न अंग बन गया। सवर्ण और दलितों में भी अन्तर्जातीय विवाह सम्पन्न हुए। इसके पीछे भी राष्ट्वाद की ही प्रेरणा सन्निहित थी। इस प्रकार के राष्ट्रवाद का आविष्कार न तो ब्रह्मसमाज ने किया और न किसी अन्य संगठन ने। फिर भी महाराष्ट्र में आर्यसमाज का विस्तार अपेक्षा और आवश्यकता के अनुसार नहीं हो पाया।

महर्षि दयानन्द का संचार और उनके विचारों का विस्तार अधिकतर उत्तर भारत में हुआ। स्वामीजी आर्यावर्त के नीचे सातारा से आगे दक्षिण भारत में संचार नहीं कर पाए। फिर भी हम यह कह सकते हैं कि **आर्यसमाज का विस्तार अन्य संगठनों से अधिक हुआ। ब्रह्मसमाज बंगाल तक ही सीमित रहा। प्रार्थनासमाज पूना और मुम्बई के बाहर नहीं जा सका। सत्यशोधक समाज महाराष्ट्र की सीमाओं में सीमित रहा। आर्यसमाज के कार्य की व्यापकता इन सबसे अधिक थी। वह पंजाब, हरियाणा, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रान्तों में फैला।** आर्यसमाज की कार्यशैली भी कुछ भिन्न थी। वह आक्रमक भी रही। स्त्री-शूद्रों को गले लगाने का काम आर्यसमाज ने किया। जिन्होंने हिन्दू धर्म छोड़ा था, उन्हें शुद्धि के माध्यम से उसने वापिस स्वधर्म में प्रवेश दिलाने की बुद्धिमत्ता एवं उदारता बतलाई। आर्यसमाज हिन्दू धर्म की ढाल साबित हुआ। उसने स्वामीजी के विचारों से सौर ऊर्जा हासिल की।

आर्यसमाज एक संगठन था और है। यह कोई धर्म या सम्प्रदाय, चर्च या मठ नहीं है। स्वामी दयानन्द सरस्वती धर्म-संस्थापक नहीं, अपितु धर्म-सुधारक थे। मार्टिन लूथर ने यूरोप में जैसा धर्म-सुधार का कार्य किया था, वैसा ही कार्य स्वामीजी ने भारतवर्ष में किया। **वे न तो मुसलमानों के विरोधी थे और न ईसाइयों के। जितने शास्त्रार्थ उन्होंने मुल्ला-मौलवी और पादरियों से किए उनसे अधिक शास्त्रार्थ हिन्दू पण्डितों और शास्त्रियों से किए। उनके दुश्मनों की संख्या हिन्दुओं में अधिक थी। उनकी लड़ाई पुराणमतवादियों के ख़िलाफ़ थी। वस्तुतः हिन्दू धर्म ही उनका कुरुक्षेत्र था। वे**

स्वयं योद्धा थे और सारथि भी। हिन्दू धर्म का वे शुद्धिकरण करना चाहते थे। वे अन्धश्रद्धा का निर्मूलन और पुराणमतवाद का उन्मूलन करना चाहते थे। प्रज्ञा और विवेक ही उनका शस्त्र और अस्त्र था। शास्त्रार्थ का विज्ञान उन्होंने विकसित किया था। डॉ० कुशलदेवजी शास्त्री ने 'महर्षि दयानन्द सरस्वती की शास्त्रार्थ प्रणाली' इस शोध निबन्ध में इस पर प्रकाश डाला है। **सत्य की खोज ही स्वामीजी के जीवन का लक्ष्य था।**

उन्नीसवीं सदी में जो नवजागरण का आन्दोलन हुआ, उसका एक महत्त्वपूर्ण भाग सत्य की खोज था। महात्मा फुलेजी ने अपने संगठन का नाम 'सत्यशोधक समाज' रखा। सत्य का अनुसंधान और अनुशीलन करना उनका उद्देश्य था। उनकी 'सार्वजनिक सत्य धर्म' पुस्तक सत्य की व्याख्या करती है। सत्य का सही अर्थ और व्याख्या यही है कि—सत्य ही धर्म है। महात्मा फुलेजी ने जो 'अखंड' लिखे, उनमें सत्य की ही महिमा गायी गई है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'सत्यार्थप्रकाश' इस ग्रन्थ की रचना इसी उद्देश्य से की। धर्म का सही अन्वयार्थ प्रस्तुत करना भी तो सत्य की ही खोज है। **सही अर्थ के अभाव में अर्थ का अनर्थ हो सकता है। सही अर्थ प्रकाश है। गलत अर्थ अन्धेरा है। सत्य सत्य ही होता है। हिन्दुओं और मुसलमानों का सत्य अलग-अलग नहीं होता। वह सत्य तो सम्पूर्ण मानव जाति का सत्य होता है।** इसीलिए वेदों पर पूरी मानव जाति का अधिकार है। वह केवल ब्राह्मणों की ही नहीं, अपितु स्त्रियों और शूद्रों की भी सम्पत्ति है। स्वामीजी की इस भूमिका को गहराई से समझने की आवश्यकता है।

स्वामीजी की यह धारणा थी कि—'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।' संस्कृत भाषा के वे प्रकाण्ड पण्डित थे। स्वामी विरजानन्दजी के चरणों में बैठकर उन्होंने वेदाङ्ग-व्याकरण का अध्ययन किया था। **व्याकरण केवल शब्दार्थों का अनुशीलन नहीं होता। वह एक भाषा विज्ञान है। व्युत्पत्ति शास्त्र है। शब्दों का सही अर्थ लगाने के लिए व्युत्पत्ति शास्त्र का आधार लिया जाता है। कालान्तर से शब्द के अर्थ बदलते हैं। सन्दर्भ लुप्त हो जाते हैं। बदले हुए सामाजिक परिवेश में शब्दों का मूल और सही अर्थ मिलना कठिन हो जाता है। अर्थ का सम्बन्ध अन्वय और आशय**

से भी होता है। इसलिए व्युत्पत्ति शास्त्र का अध्ययन जरूरी है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने प्रज्ञाचक्षु गुरु ब्रह्मर्षि विरजानन्द सरस्वती से यह शास्त्र सीखा। शब्दार्थों की कुंजी उनके हाथ लग गई। सायणाचार्य आदि ने जो वेदों के अर्थ लगाए थे, उसमें दोष थे। **शब्दों की असली जड़ों तक पहुँचना बड़ा कठिन काम है। स्वामीजी ने यह कार्य किया।**

पुरुष सूक्त का उदाहरण लीजिए। हिन्दू समाज के इतिहास में इस सूक्त के मनमाने अर्थ लगाकर बड़ा अनर्थ किया गया। उससे सदियों तक हिन्दू समाज में बहुत बड़ा बवाल मचा रहा। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह कहा जाने लगा कि—"ब्राह्मण परमेश्वर के मुख से उत्पन्न हुए, क्षत्रिय भुजा से, वैश्य जाँघ से और शूद्र पैरों से।" महर्षि दयानन्द ने इसका खण्डन किया है। उन्होंने इसका सही अन्वयार्थ लगाते हुए लिखा—"ब्राह्मण मुख के समान है, क्षत्रिय भुजा के समान है......।" ब्राह्मण मुख से उत्पन्न हुआ यह गलत अर्थ है, उसका सही अर्थ तो यह है कि ब्राह्मण मुख के समान है। **ब्राह्मण समाज की वाणी है, क्षत्रिय समाज का बल है, वैश्य समाज की सम्पत्ति है और शूद्र समाज की सेवा है।** परन्तु यह अर्थ जन सामान्य में प्रचलित नहीं हो सका।

महर्षि को जन्मना वर्ण व्यवस्था मान्य नहीं थी। गुण-कर्म-स्वभाव पर आधारित कर्मणा वर्ण व्यवस्था के वे पक्षधर थे। जन्म से न कोई ब्राह्मण होता है, न क्षत्रिय, न वैश्य और न ही कोई शूद्र होता है। जन्मना वर्ण व्यवस्था की तरह वे जातिवाद के भी प्रखर विरोधी थे। जाति व्यवस्था उच्च-नीचता की नींव पर खड़ी है। जन्म उसका आधार है। जन्मना वर्ण व्यवस्था ब्राह्मणों के लिए वरदान रही है और शूद्रों के लिए अभिशाप। यह ऊँची जातियों के लिए हितकारक रही और शूद्रों के लिए बहुत ही हानिकारक। क्योंकि जन्म ही उच्च-नीचता का आधार बना है। जाति व्यवस्था की नींव पर आधारित समाज या राष्ट्र किसी भी हालत में मजबूत नहीं हो सकता। गुण-कर्म-स्वभाव पर आधारित वर्ण व्यवस्था एक प्रकार का मिथक ही है। वह कब अस्तित्व में थी? इतिहास में उसकी स्पष्ट साक्षी उपलब्ध नहीं है। सम्प्रति जन्मना जाति व्यवस्था यह वास्तविकता है और गुण-कर्म पर आधारित जाति व्यवस्था केवल एक संकल्पना या

सिद्धान्त। आज जाति व्यव्यस्था पूरी तरह से स्वतन्त्र और स्वायत्त बन चुकी है। वर्ण चार हैं और जातियाँ चार हजार से अधिक। उनका हनन करना कठिन है। वह जन्मना होने के कारण अपरिवर्तनीय और उच्च-नीचता की सीढ़ी बन चुकी है। गुण-कर्म और योग्यता उसका आधार नहीं है। कर्म बदलना मनुष्य के बस की बात है, पर वह किस जाति में जन्म ले, यह उसके वश की बात नहीं। ऊँची जातियों में पैदा होनेवाले नीच कर्म करने पर भी ऊँचे ही माने जाते हैं। जन्म से निम्न जाति में उत्पन्न होनेवाले ऊँचे कर्म करने पर भी निम्न ही माने जा रहे हैं। जन्मना जाति व्यवस्था की यह त्रासदी है। ऊँचा होना या निम्न होना केवल गुण-कर्म या योग्यता पर निर्भर होना चाहिए, जन्म पर नहीं।

जन्मना जाति व्यवस्था कई अनर्थों का मूल है। **जिस दिन गुण-कर्म-स्वभाव पर आधारित वर्ण व्यवस्था जन्मना जाति व्यवस्था बनी, उसी दिन से हिन्दू समाज का अधःपतन प्रारम्भ हुआ।** उसी दिन से भारत की त्रासदी शुरु हो गई। हिन्दू समाज का विभाजन अटल बन गया। हर प्रान्त की अलग-अलग जातियाँ हैं। उनके नाम अलग-अलग हैं। उनमें रोटी-बेटी व्यवहार नहीं होता। रोटी व्यवहार हो सकेगा, लेकिन बेटी व्यवहार प्रायः असम्भव-सा ही है।

चार वर्णों का रूपान्तरण कई जातियों में हो गया है। ब्राह्मण वर्ण ब्राह्मण जाति में बदल गया। उसका नाम वही रहा। ब्राह्मण वर्ण की जो प्रतिष्ठा थी, जो अधिकार थे, वे ब्राह्मण जाति को भी मिलते रहे। ब्राह्मण जाति को विद्या ग्रहण करने का अधिकार है। ब्राह्मण द्विज है। उपनयन संस्कार का उन्हें अधिकार है। ब्राह्मण जाति में जन्म लेनेवाले सभी ब्राह्मण हैं। गुण-कर्म का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं। उनकी प्रतिष्ठा और अधिकारों का आधार केवल जन्म ही है।

क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीनों वर्ण कई जातियों में रूपान्तरित हो गए। क्षत्रिय वर्ण तो गायब कर दिया गया। अतिशूद्र वर्ण की सृष्टि की गई। वस्तुतः अतिशूद्र गुलाम ही थे। कलियुग में केवल दो वर्ण रहे—ब्राह्मण और शूद्र। शूद्रों को विद्या का अधिकार नहीं। वे द्विज नहीं बन सकते। उनका कर्तव्य केवल ऊँची जातियों की सेवा

करना था। **जाति व्यवस्था की नींव विषमता पर आधारित है। विषमता का अर्थ अन्याय, उत्पीड़न और शोषण है।** इस व्यवस्था के समर्थन में कई ग्रन्थ और स्मृतियाँ लिखी गई हैं। कई ग्रन्थ प्रक्षिप्त किये गए। तथाकथित कर्म सिद्धान्त के आधार यह धारणा फैलायी गई कि कर्म के अनुसार ऊँच या नीच जाति में जन्म होता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती इस समाज को बदलना चाहते थे। ज्ञान के प्रवेश द्वार उन्होंने मानव मात्र के लिए खोल दिए। वेदों पर सबका अधिकार है। हर कोई द्विज हो सकता है। वह सभी का जन्मसिद्ध अधिकार है। वास्तव में ये क्रान्तिकारी विचार थे। रूढ़िवादी-प्रतिगामी-कठमुल्ला ब्राह्मणों ने इसका विरोध किया। स्वामीजी जन्मना जाति व्यवस्था का हनन करना चाहते थे। **आज की सबसे बड़ी चुनौती है—जाति व्यवस्था का हनन और निर्मूलन। गुण-कर्म-स्वभाव पर आधारित वर्णव्यवस्था के समर्थन में समय खर्च करने की अपेक्षा उसे व्यावहारिक धरातल पर आचरण में लाने की आवश्यकता है। जाति व्यवस्था का एकमात्र आधार केवल स्व-जाति की संकुचित सीमा में विवाह करना है। अन्तर्जातीय विवाह का आन्दोलन आवश्यक है।** आर्यसमाज ने यह काम कुछ हद तक किया है। डॉ० बाबासाहब अम्बेडकर का भी यही मानना था—जाति व्यवस्था का निर्मूलन हो। आर्यसमाज को यह कार्य और अधिक तीव्रगति से करना चाहिए। यह उसका 'मिशन' साबित होना चाहिए।

हमारी समाज व्यवस्था में व्यक्ति स्वातन्त्र्य का अभाव ही रहा है। व्यक्ति किसी भी वर्ण या जाति का हो, उसे व्यक्ति होने के नाते स्वतन्त्रता चाहिए। हमारी समाज व्यवस्था में वर्ण का मूल्य है, व्यक्ति का नहीं। व्यक्ति का स्थान या उसकी प्रतिष्ठा उसके वर्ण पर निर्भर रहती है। व्यक्ति का 'मनुष्य' होना ही अपने आप में एक श्रेष्ठता है। स्वामीजी आग्रहपूर्वक हरेक व्यक्ति को शिक्षा का मूलभूत अधिकार दिलाना चाहते थे।

स्वामीजी मूर्तिपूजा के ख़िलाफ़ थे। तार्किक धरातल पर उन्होंने मूर्तिपूजा को अवैज्ञानिक सिद्ध किया। मूर्तिपूजा विषयक भ्रमजाल का भञ्जन किया। ईश्वर एक है और वह निराकार है। उसके नाम

अनेक हैं। वह सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् है। वह निर्विकार है। बहुदेवतावाद ने हिन्दू समाज को कमजोर बनाया है। मूर्तिपूजा का वेदों में कोई स्थान नहीं है। महर्षि ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया। मूर्तिपूजा का मण्डन करनेवाले पण्डितों और विद्वानों से उन्होंने शास्त्रार्थ किए। उन्हें स्वामीजी ने परास्त किया। हर प्रकार के पाखण्ड का उन्होंने बौद्धिक शक्ति के आधार पर ही प्रखर विरोध किया। मिस्टर एच० डी० ग्रिसवोल्ड ने स्वामीजी को प्रॉटेस्टेंट हिन्दू कहा है।

आज देश और समाज की कैसी अवस्था है ? किस दौर से वह गुज़र रहा है ? किस मोड़ पर वह खड़ा है ? महर्षि दयानन्द सरस्वती अन्धश्रद्धा और अन्धविश्वासों के ख़िलाफ़ संघर्ष करते रहे। लेकिन आज अन्धश्रद्धा कई गुना बढ़ गई है। अन्धविश्वासों ने समाज को घेरकर खोखला कर दिया है। विज्ञान और तन्त्रज्ञान के युग में भी वह अपनी काली चादर फैला रहा है। स्वामीजी ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया, लेकिन वह आज कई गुना बढ़ चुकी है। मन्दिरों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। उन्होंने बहुदेवतावाद का विरोध कर एकेश्वरवाद का समर्थन किया, परन्तु बहुदेवतावाद फिर से पनप रहा है। धार्मिक क्षेत्र में अवैज्ञानिक ढोंग-पाखण्ड और चमत्कारवाद का बोलबाला है। आज देश में स्वशासन है, पर सुशासन नहीं है।

महर्षि को लगभग ५९ वर्षों का ही जीवन मिल पाया। यह महान् योगी और कई दशकों तक हमारा प्रबोधन कर सकता था। विष प्रयोग से सन् १८८३ में उनकी इहलीला समाप्त कर दी गई। 'हे ईश्वर! तेरी इच्छा पूर्ण हो।' इन अन्तिम शब्दों के साथ उन्होंने आखिरी साँस ली। उनके बहुत सारे उद्देश्य और कार्य आधे-अधूरे रह गए। अवशिष्ट कार्य को पूरा करने की जिम्मेदारी भावी पीढ़ियों की हुआ करती है। महर्षि के अधूरे कार्य को पूरा करने का उत्तरदायित्व उनके अनुयायियों तथा आर्यसमाज पर है। पर आर्यसमाज आज कहाँ है ? आखिर आज उसके सामने कौन-सा रास्ता और लक्ष्य है ?

महर्षि द्रष्टा थे। युग पुरुष थे। उनके विचारों में संकीर्णता नहीं, अपितु व्यापकता और गहराई थी। महर्षि दयानन्द दया के सागर थे। उनकी वाणी में सरस्वती विराजमान थी। सरस्वती-साक्षात् विद्या की देवता। अमेरीकन दार्शनिक एण्ड्रू जैक्सन डेविस ने उनके विषय में

कहा था—"मुझे एक आग दिखाई दे रही है, जो कि सर्वत्र फैली हुई है। अर्थात्—असीम प्रेम की आग जो द्वेष को जलानेवाली है और प्रत्येक वस्तु को जलाकर शुद्ध कर रही है।....जब यह प्रेमाग्नि इस सुन्दर पृथ्वी को नवजीवन प्रदान करेगी, तब सार्वजनिक सुख, अभ्युदय और आनन्द का युग आरम्भ होगा।"

वैदिक युग यह भारतवर्ष का उष:काल था। भारतीय संस्कृति का वह शैशव था। इट वाज एन एज ऑफ इन्नोसेंस। वह युग 'सत्यम्, शिवम् और सुंदरम्' से ओतप्रोत था। स्वामीजी भारतवर्ष को उस उष:काल की ओर ले जाना चाहते थे। लेकिन बचपन की ओर अब तक कौन लौटा है ? कौन लौट सकता है ?

डॉ० कुशलदेवजी आर्यसमाज से जुड़े हुए हैं। महर्षि दयानन्द के विचार एवं कार्य पर उनकी गहरी श्रद्धा है। 'समाज-सुधार' और 'समाज-सुधारक'—यह उनके चिन्तन का मुख्य विषय रहा है। उनका अनुसन्धान कार्य अधिकतर इसी विषय पर है। सत्य की खोज करना ही अन्वेषणकर्त्ता का 'मिशन' होता है। निष्पक्षता उसका धर्म होता है। दाएँ हाथ में कलम और बाएँ हाथ में तराजू पकड़कर उसे अपने विचार संतुलित मन से अभिव्यक्त करने होते हैं। यह कर्तव्य डॉ० कुशलदेव शास्त्री ने बहुत ही कुशलता से निभाया है। उनके अनुशीलन में अनुशासन है। बहुत ही संयम और विनम्रता से उन्होंने अपना अनुसन्धान कार्य किया है। उनका 'महर्षि दयानन्द : काल और कृतित्व' यह ग्रन्थ वस्तुतः अनुशीलन के योग्य है। मेरा विश्वास है कि पाठक इसका स्वागत करेंगे। कुशलदेवजी धन्यवाद के पात्र हैं।

डॉ० जनार्दन वाघमारे
संसद् सदस्य : राज्य सभा
संस्थापक उपकुलपति
स्वामी रामानन्द तीर्थ मराठवाड़ा-
विश्वविद्यालय : नांदेड़

❐ १२ साउथ एवेन्यू, नई दिल्ली-१
❐ 'आविष्कार' श्रम साफल्य सोसाइटी,
अंबाजोगाई मार्ग, लातूर, (महाराष्ट्र)
पिन : ४१३५१२
दिनांक-१ मई २००९



महर्षि दयानन्द सरस्वती : अक्टूबर १८७५ : चित्रशाला-पुणे





महर्षि दयानन्द सरस्वती : १८७५ : पुणे : चित्र-रेखाचित्र



माता पंडिता रमाबाई (१८५८-१९२२)
की गोद में सुपुत्री मनोरमा (१८८१-१९२१)।
इकलौती सुपुत्री के निधन के लगभग सात-आठ
महिने बाद माँ भी इस दुनियाँ से चल बसीं।



पंडिता रमाबाई

हो। जो-जो भोग अपने हिस्से में आयें उन पर हमें अपने कृतित्त्व द्वारा ही विजय पानी चाहिए। अरे! जब अनाज की कमी होने लगी, तब मुझे अपने सामने दुनिया घूमती दिखाई देने लगी और चक्कर से आने लगे। मैंने अपनी इन हजारों कन्याओं से विनती की कि—मेरे बच्चो, जब तक अन्न-धान्य का संग्रह नहीं हो पाता, तब तक प्रत्येक को दिन में केवल एक ही बार भोजन करना चाहिए। उन मासूम लड़कियों ने मेरी बात मान ली।

मनुष्य किसी पर भी विजय प्राप्त कर सकता है, पर भूख पर नहीं। यह पेट की भूख इन्सान को राक्षस बना देती है। भूख की दावाग्नि को मैंने बहुत बार और-और, बहुत-बहुत बार, सहन किया है, इसलिए उस आग की भयानकता से मेरा निकटतम परिचय और सम्बन्ध रहा है।

तो मैं यह कह रही थी कि मेरी बालिकाओं द्वारा प्रदत्त यह साथ मुझे किसी भी मान-सम्मान से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। वस्तुतः मैं उन्हें अपनी ही माँ प्रतीत होती हूँ। जिसे हम सुख-सुख कहते हैं। वह इससे बढ़कर और कौन-सा सुख हो सकेगा?''

पण्डिता रमाबाई ने महर्षि दयानन्द सरस्वती का शिष्यत्व स्वीकार कर लगभग एक मास तक दर्शन शास्त्रों का अध्ययन किया। पुणे में सबसे पहले उन्होंने 'आर्य महिला समाज' की स्थापना की। महिलाओं को उनके द्वारा दिये गए सन्देश में आज भी ऊर्जा प्रदान करने का सामर्थ्य है। उन्होंने कहा था—'यदि महिलाएँ अपने मनपसन्द कार्यक्षेत्र और कृतित्व के लिए थोड़ी कठोर और व्यक्तिवादी न बनीं तो उनका स्थान पारिवारिक सुव्यवस्था और भावनाओं के लिए हमेशा ही द्वितीय स्तर का रहेगा। कृतित्व का मूल्य केवल मात्र अपने सुखों को अर्पित करने से नहीं होता, किन्तु अपने परिवार के अन्य सदस्यों के सुखों को भी न्यूनाधिक रूप में क्यों न हो होम कुण्ड में समर्पित कर देना जरूरी होता है।' (द्रष्टव्य : साधना : मराठी मासिक : पण्डिता रमाबाई विशेषांक : दि० २४ अप्रैल १९९३)।

पण्डिता रमाबाई का जीवन दुःखों से ओत-प्रोत होने के बावजूद संघर्षशील और संरचनात्मक रहा है। पण्डिता रमाबाई के ये सार्वजनिक कार्य स्वदेशी-संस्कृति की ध्वजा के तले होते तो भारतीयों के लिए

ज्यादा सुखद होते, फिर भी उनके द्वारा किये गए कार्य उपेक्षणीय और निरर्थक तो बिल्कुल नहीं हैं। उनकी गतिविधियों पर प्रकाश डालनेवाले दो समाचार यहाँ मराठी पत्रों से प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

'अमेरीका से पण्डिता रमाबाई भारत वापिस लौट चुकी हैं। उन्होंने भारतीय विधवा महिलाओं के लिए 'शारदा-सदन' नामक एक संस्था स्थापित की है। जहाँ महिलाओं को केवल शिक्षा ही नहीं, अपितु आश्रय भी मिल सके। इस कार्य को सम्पादित करने के लिए उन्होंने अमेरीका से चँदे के रूप में चालीस हजार रुपए की राशि संकलित एवं संग्रहित की है। साथ ही भविष्य में प्रतिवर्ष दस हजार रुपये की सहयोग राशि इस कार्य हेतु मिलने की व्यवस्था करके वे स्वदेश वापिस लौटी हैं। पण्डिता रमाबाई की ये गतिविधियाँ वस्तुत: आश्चर्यजनक और मन्त्रमुग्ध करनेवाली हैं।' (द्रष्टव्य— बाल बोध : मासिक : मार्च १८८९, पृष्ठ २८८)। 'शारदा-सदन' की स्थापना के ढाई वर्ष बाद पण्डिता रमाबाई पर यह आरोप लगा कि—'इस सदन के बहाने वे कन्याओं को ईसाई बना रही हैं।' (द्रष्टव्य— केरल कोकिळ : मासिक : सितम्बर १८९१, पृष्ठ ७) इस हो-हल्ले और शोर-शराबे का परिणाम यह हुआ कि जनमत के दवाब के कारण उदारमतवादी न्यायमूर्ति रानडे और डॉ० भण्डारकर ने अपने बढ़े हुए सहयोगी हाथों को वापिस अपने जेब में डाल लिया।

चाहे महादेवी हों या महापुरुष उन्हें अपने जीवन में अन्तर्द्वन्द्व और संघर्षों के दौर से गुजरना ही पड़ता है। चमत्कार की घटनाएँ तो उनके परवर्ती तथाकथित भक्तों द्वारा कालान्तर में उनके जीवन के साथ नादानी में प्रक्षिप्त की जाती हैं। क्षणभर के लिए क्यों न हों। हमें महर्षि के जीवन में भी किंकर्त्तव्यविमूढता एवं अन्तर्द्वन्द्व दिखलाई देता है। कतिपय व्यक्तियों ने उनके जीवनी साहित्य में भी चमत्कार प्रधान घटनाएँ जोड़कर जाने-अनजाने जीवनी को अविश्वसनीय बनाने का अपराध किया है। अत: आर्यसमाज की शिरोमणि सभा ने यह प्रस्ताव पारित किया था कि—महर्षि के जीवन-चरित्रों में जो कुछ दिया गया है, प्रक्षिप्त होने के कारण, उसे शब्दश: भावुकतापूर्ण ढंग से विश्वसनीय न माना जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि

महापुरुषों को चमत्कार प्रधान अवतारी पुरुष बनाने की दुष्प्रवृत्ति समाज में बहुत गहराई के साथ दिखलाई देती है। महर्षि का यह आत्मकथ्य उनकी किंकर्त्तव्यविमूढता एवं आन्तरिक संघर्ष को स्पष्ट रूप से उजागर करता है। ऋषिवर की आत्मकथा का यह अंश आप्त प्रमाण के रूप में प्रस्तुत है—

"...हिमालय पहाड़ पर उस जगह पहुँचा, जहाँ से अलकनन्दा नदी निकलती है। बर्फ बहुत पड़ी हुई थी और पानी भी बहुत ठण्डा था। वहाँ बर्फ लगने से पैर में कुछ तकलीफ हुई। हिमालय पर्वत पर पहुँचकर यह विचार हुआ कि यहीं शरीर गला दूँ। फिर मन में आया कि यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के बाद शरीर छोड़ना चाहिए।" (द्रष्टव्य—उपदेश मञ्जरी : पञ्चदश उपदेश : स्वयं कथित जीवन चरित्र : ४ अगस्त १८७५, पृष्ट १०९)।

प्राय: हमें महापुरुषों के भक्त उन्हें आराध्य देवता मानकर उनके स्तुति स्तोत्र पढ़ते और उनकी आरती गाते हुए नजर आते हैं। जो व्यक्ति उनके सत्संग और सहवास में रहे वे ढलती उम्र में भावविभोर होकर उनके संस्मरण लिपिबद्ध करते या सुनाते हुए दिखलाई देते हैं। फिर अपने-अपने आराध्य महापुरुषों के प्रति, जोश-खरोश से बोलनेवाले लोग इन संस्मरण-आख्यायिकाओं के सहारे महामानवों के व्यक्तित्व पर ऐसा सिन्दूर लगाते हैं कि उस सिन्दूर की ओट में स्थित मूल महापुरुष का असली व्यक्तित्व ही अदृश्य-सा हो जाता है। अन्य महापुरुषों की तरह महर्षि दयानन्द सरस्वती भला इसके अपवाद कैसे हो सकते हैं। हम हमारे ऐतिहासिक महापुरुषों को गुण-दोष विवेचन की दृष्टि से न देखकर उनकी महत्ता को दैवी स्वरूप प्रदान कर उन्हें 'देवों का देव-महादेव' मानने में ही अपने-आपको धन्य मानते हैं। इससे इन महापुरुषों के प्रति हमारे अन्त:करण में जो कृतज्ञता भाव है, वह तो स्पष्ट होता है, परन्तु इसे हम बुद्धिमत्ता नहीं कह सकते। इससे इतिहास को पुराणों का स्वरूप प्राप्त होता है और ऐसे इतिहास के अध्ययन से मनुष्य के द्वारा रचनात्मक कार्य होना सम्भव नहीं होता। किसी महापुरुष को अवतार समझने की अपेक्षा उसे हम सामान्य मनुष्य जैसा ही समझकर, जन सामान्यों को प्राप्त साधनों के द्वारा ही संघर्ष करनेवाला असाधारण योद्धा समझें तो उस महापुरुष की महत्ता अनायास स्पष्ट हो जाती है। यह निर्विवाद

है कि हम महापुरुषों के स्मरणार्थ स्मारक बनाने में अधिक तल्लीन हैं और अपने इतिहास की ओर समालोचनात्मक दृष्टि से नहीं देख पा रहे हैं। ऐसी स्थिति में तटस्थ, वस्तुनिष्ठ, निष्पक्ष लेखन करना प्राय: असम्भव-सा हो जाता है।

महापुरुषों के जीते-जी समकालीन लेखकों को सभी ज्ञात तथ्य कहने में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होने की सम्भावना होती है। कुछ घटनाएँ छिपा लेनी पड़ती हैं। वह सब लिखने का उचित समय न होने से उसे प्रकाशित करने का उत्तरदायित्व भावी इतिहासकार पर छोड़ दिया जाता है।

अपनी आँखों के सामने स्थित किसी महापुरुष द्वारा किये गए कार्यों के विषय में लिखते समय जैसे कुछ हानियाँ सहन करनी पड़ती हैं, वैसे उससे कुछ लाभ भी होने की सम्भावना होती है। उस महापुरुष को बचपन से जाननेवाले कुछ व्यक्ति जीवित होते हैं। उनसे संवाद स्थापित कर या पत्र-व्यवहार द्वारा चरित्र लेखक या इतिहास लेखक को उस महापुरुष के व्यक्तित्व को समझने में सहायता मिलती है। अपने द्वारा लिखे तथ्यों को परखा जा सकता है, प्राप्त निजी पत्रव्यवहार और डायरियों से वास्तविक सन्दर्भों को समझा जा सकता है, फिर भी उस महापुरुष के जीते-जी सम्पूर्ण और सर्वांगीण विवरण प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। अत: पचास सौ वर्षों के अन्तराल से उस महापुरुष का इतिहास और चरित्र आग्रह विशेष और परिश्रमपूर्वक बार-बार लिखना अत्यावश्यक है। केवल भाषान्तर पर निर्भर न रहते हुए यथोपलब्ध नई जानकारी और मीमांसा से उसे समृद्ध किया जा सकता है।

कालान्तर में प्राप्त होनेवाले असली कागज-पत्रों-पुराभिलेखों से महापुरुषों के जीवन कार्य पर अनुसंधान करनेवाले देशी-विदेशी गवेषकों द्वारा लिखे अनुसन्धानात्मक ग्रन्थों से, प्रवचन-संग्रहों-व्याख्यानमालाओं से, उनके विषय में आयोजित जयन्ती या स्मृति व्याख्यानमाला के अवसर पर प्रकाशित छोटी-छोटी पुस्तिकाओं से, राज्य और केन्द्र सरकार द्वारा सम्पादित अभिनन्दन ग्रन्थों और स्मारिकाओं से इसके अतिरिक्त समकालीन महापुरुषों के सहयोगी और विरोधी चरित्रों तथा संस्मरणों से भी महापुरुषों की विभिन्न छटाएँ स्पष्ट होती हैं।

भारतीय राजनीति में दो प्रवाह रहे हैं, जिसे हम स्थूल रूप से नरम और गरम दल कहते हैं। आर्यसमाज का आन्दोलन भी इन प्रवाहों से अछूता नहीं रहा है। गरम दल के अनुयायियों को यह प्रतीत होता रहा कि राजनीतिक सत्ता एक बार स्वदेशियों के अधिकार क्षेत्र में आ गई और जनसामान्य के प्रति उत्तरदायित्वपूर्ण जनता द्वारा चुनी हुई सरकार प्रशासन में आ गई कि जटिल सामाजिक समस्याओं की उलझन सुलझ जायेगी, कम-से-कम उसे सुलझाना निश्चित रूप से आसान हो जायेगा। इसलिए राजनीतिक दृष्टि से मौलिक परिवर्तन लाने का सतत प्रयत्न करनेवाले गरमदलीय व्यक्ति धार्मिक और सामाजिक सन्दर्भ में मूल ढाँचे को न बदलते हुए 'धीरे-धीरे' परिवर्तन लाने में विश्वास रखते थे और सामाजिक-धार्मिक क्षेत्र में मौलिक अग्रगामी परिवर्तन करने का आग्रह करनेवाले नरम दलीय व्यक्तियों का प्रखर विरोध करते हुए 'जैसे थे' नीति के पक्षधर थे।

मूल रूप से सामाजिक और धार्मिक परिवर्तन का आग्रह १९वीं सदी में ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, सत्यशोधक समाज तथा आर्यसमाज ने किया। महाराष्ट्र में सामाजिक व धार्मिक रूप में गतिशील सत्यशोधक आन्दोलन को कालान्तर में 'ब्राह्मणेतर आन्दोलन' से सम्बोधित किया गया। सत्यशोधक और ब्राह्मणेतर आन्दोलन में शामिल लोगों की ब्रिटिश शासन के प्रति अनन्य निष्ठा थी। उन्हें यह प्रतीत होता था कि ब्रिटिश शासन से सहयोग कर धीमे कदमों से राजनीतिक अधिकार और सत्ता प्राप्त करना, सदियों से अज्ञान, अन्याय, अभाव से प्रपीड़ित लाखों लोगों के हित की दृष्टि से लाभदायक होगा। इसी कारण सामाजिक और धार्मिक सन्दर्भ में अग्रगामी-आग्रही भूमिका रखनेवाले ये आन्दोलन राजनीतिक सन्दर्भ में 'जैसे थे' की नीति के पक्षधर थे और ब्रिटिश प्रशासकों के आश्रय में आगे कूच करते रहे। उपरोक्त सामाजिक आन्दोलनों में आर्यसमाज इस 'जैसे थे' नीति का अपवाद था, क्योंकि वह सामाजिक-धार्मिक आजादी के साथ-साथ राजनीतिक आजादी के लिए भी सक्रिय और संघर्षरत था।

महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज का व्यक्तित्व कुछ ऐसा था कि वह सामाजिक और राजनीतिक दोनों प्रवाहों को ऊष्मा प्रदान कर रहा था। आर्यसमाज ने इन दोनों प्रवाहों को हजारों समर्पित अनुयायी

प्रदान कर अपने आपको समकालीन आन्दोलनों की तुलना में अपवादात्मक आन्दोलन की एक विशिष्ट धारा के रूप में स्थापित एवं सुप्रतिष्ठित किया। राष्ट्रकवि रामधारीसिंह 'दिनकर' की दृष्टि में—"केशवचन्द्र सेन और न्यायमूर्ति रानडे की तुलना में दयानन्द वैसे ही दीखते हैं, जैसे गोखले की तुलना में तिलक। जैसे राजनीति के क्षेत्र में हमारी राष्ट्रीयता का सामरिक तेज पहले-पहल तिलक में प्रत्यक्ष हुआ, वैसे ही सांस्कृतिक क्षेत्र में भारत का आत्माभिमान स्वामी दयानन्द में निखरा। ब्रह्मसमाजी और प्रार्थनासमाजियों की आत्मा अपनी हीनता और विदेशियों की श्रेष्ठता के ज्ञान से कहीं न कहीं दबी हुई थी, अत:एव कार्य तो उनके वैसे ही रहे जैसे स्वामी दयानन्द के, किन्तु आत्महीनता के भाव से अवगत रहने के कारण वे दर्प से नहीं बोल सके, यह दर्प स्वामी दयानन्द में चमका।"

"राममोहनराय और रानडे ने हिन्दुत्व के पहले मोर्चे पर लड़ाई लड़ी थी, जो रक्षा या बचाव का मोर्चा था। स्वामी दयानन्द ने थोड़ा-बहुत आक्रामकता का श्रीगणेश कर दिया, क्योंकि वास्तविक रक्षा का उपाय तो आक्रमण की ही नीति है। स्वामी दयानन्द के आन्दोलन से घबराई हुई जनता को यह सन्तोष हुआ कि—पौराणिकता के मामले में ईसाइयत और इस्लाम भी हिन्दुत्व से अच्छे नहीं है। और हिन्दुओं का ध्यान अपने धर्म के मूल रूप की ओर आकृष्ट हुआ एवं वे अपनी प्राचीन परम्परा और गौरव का अनुभव करने लगे। रानडे और तिलक से भिन्न स्वामी दयानन्द की यह विशेषता रही कि उन्होंने धीरे-धीरे पपड़ियाँ तोड़ने का काम न करके, उन्हें एक ही चोट से साफ करने का निश्चय किया। परिवर्त्तन जब धीरे-धीरे आता है, तब सुधार कहलाता है, किन्तु वही जब तीव्र वेग से पहुँच जाता है, तब उसे क्रान्ति कहते हैं। दयानन्द के अन्य समकालीन केवल सुधारक मात्र थे, किन्तु दयानन्द के वेग में क्रान्ति थी।" (द्रष्टव्य—'संस्कृति के चार अध्याय')।

किसी भी धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक आन्दोलन का नेतृत्व करनेवाले या उसमें संमीलित इन्सानों के व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा और निष्ठा आदि का आन्दोलन के आरोह-अवरोह यश-अपयश पर सुनिश्चित रूप से परिणाम होता है। परस्पर एक-दूसरे के विरूद्ध संघर्ष करने हेतु सन्नद्ध आन्दोलन के अन्तर्गत इन्सान-इन्सान के

आपसी सम्बन्धों के स्वरूप को समझने के लिए, मनुष्य सुलभ भावनाओं से निर्मित प्रक्षोभ-विक्षोभ की स्थिति को भी अनुशीलनकर्त्ता-अनुसंधाताओं को ध्यान में रखना होता है। आन्दोलनकर्त्ता व्यक्ति कितने भी महान् हों, फिर भी वे जिस काल में पदार्पण करते हैं, एक प्रकार से वे उसी काल की सन्तान होती हैं, विशिष्ट काल, परिस्थिति और समाज में जीवन बितानेवाले इन्सानों पर तत्कालीन परिस्थिति की छाप पड़े बिना नहीं रहती। काल की कोठरी में कैद हुए मनुष्यों में से बहुत कम व्यक्ति ऐसे होते हैं जो कोठरी, खिड़की में लगे सरियों की ओट से दूर तक दिखाई देनेवाले क्षितिज को निहार लेते हैं। उनकी दूरदृष्टि को जो दिखाई देता है यदि उसका वर्णन भी उन्होंने प्रस्तुत किया तो भी वह उसी कोठरी में कैद अनेक सहबन्दियों की समझ से परे होता है और उनमें से अनेकों के लिए वह बात अविश्वसनीय प्रतीत होती है। कालान्तर में द्रष्टा के रूप में गौरवान्वित व्यक्ति की महत्ता, उनके समकालीनों के मस्तिष्क से भी कोसों दूर होती है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के देहावसान को १२५ वर्ष से अधिक हो गए। अतः उनके कार्य की महत्ता अब अधिक सुस्पष्ट और सुचारु रूप में दिखलाई देती है। वैसे ही तत्युगीन काल-मर्यादा भी स्पष्ट रूप में दिखाई देती है।

यह कोई आवश्यक नहीं कि प्रत्येक इतिहास के अध्येता को अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो, पर कोई आन्दोलन या महापुरुष स्मृति शेष होने के उपरान्त इतिहास के अनुशीलनकर्त्ता को पश्चात् दृष्टि का लाभ जरूर होता है। अतः प्रत्यक्ष रूप में जब कोई आन्दोलन गतिशील होता है, तब उस आन्दोलन के व्यक्ति उन-उन क्षणों में चारों ओर की बदली हुई परिसर की परिस्थिति में जो सहज सहयोग देते हैं, उसका स्वरूप तब अस्पष्ट और धूसर होता है, फिर भी कालान्तर के बाद उस आन्दोलन के तटस्थ अध्येता को वह स्पष्ट नजर आने लगता है। आन्दोलन में शामिल इन्सानों के विभिन्न प्रकार के क्रियाकलापों की संगति लगाकर पश्चात् दृष्टि प्राप्त इतिहास के अध्येता भी उसमें से कोई एक रूपरेखा तैयार कर लेते हैं।

सुप्रसिद्ध समीक्षक और संशोधक श्री यशवंत दिनकर फडके ने लेखक और पाठक—दोनों को भी सतर्क करते हुए कहा है—ललित रसात्मकसाहित्य की मानवीय भावनाओं तथा भावुकताओं पर आधारित

लेखन के स्वाभाविक रूप और विश्लेषणात्मक तर्काधिष्ठित अनुसन्धानात्मक लेखन के स्वाभाविक रूप में जो अन्तर है, कई बार उसे नजर-अन्दाज कर दिया जाता है। हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि—दोनों प्रकार के लेखन के लिए प्रतिभा की आवश्यकता होती है, पर उसका आविष्कार न्यूनाधिक मात्रा में क्यों न हो अलग-अलग प्रणाली से होता है। इतिहास के क्षेत्र में अनेक रिक्त और अन्धकारपूर्ण जगहें होती हैं। उपेक्षित विषय होते हैं। अस्पष्ट रहस्य और उलझे हुए प्रश्न होते हैं। गवेषक रिक्तस्थान की पूर्ति करता है, उपेक्षित विषयों पर ससन्दर्भ प्रकाश डालता है। अस्पष्ट समस्याओं का समाधान खोजता है तथा रहस्योद्घाटन करने का अपनी ओर से प्रयत्न करता है। यह सब करने के लिए प्रज्ञा के साथ प्रतिभा की भी आवश्यकता होती है। अपनी सुपरिचित घटनाओं और गतिविधियों का अर्थ भी प्रतिभावान इतिहासकार इस प्रकार लगाता है जैसे एकदम कुछ नये पहलू हमारे सामने आने लगते हैं। आज तक नजरों से जो पहलू ओझल थे, वे स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। आखिर इतिहास का लेखन भी कई बार वर्तमानकाल के सन्दर्भ को आलोकित करता है। आधुनिक कालीन समस्याओं की जड़ें भी तो भूतकाल में होती हैं, उसमें गोता लगाकर देखने का प्रयत्न अनुसन्धाता के द्वारा अनवरत जारी रहता है। यह जरूरी नहीं कि काल के गहरे समुद्र में बार-बार गोता लगाने पर भी गवेषक को लुप्त-गुप्त वस्तुएँ निश्चित रूप से प्राप्त होंगी। रेती, काई, शंख, सीपी जैसी विविध वस्तुएँ हाथ में आती हैं। यह आवश्यक नहीं चमकदार मोतियों से युक्त सीपियाँ हासिल हों। फिर भी निराश न होते हुए उसे इसी अध्यवसाय से गुजरना पड़ता है।

ऐतिहासिक अनुसन्धान की प्रक्रिया अखण्ड चलनेवाली होती है। उस प्रक्रिया में सहभागी हुए अपने पूर्व सूरियों और समकालीनों द्वारा अनवधानता पूर्वक असली अभिलेख न मिल पाने के कारण जो त्रुटियाँ हो जाती हैं, वे भी ध्यान में आने लगती हैं। ऐसी त्रुटियाँ तथा निराधार कथन दिखलाने के पीछे पूर्व सूरियों का या समकालीन अध्येताओं का अधिक्षेप करना उद्देश्य नहीं होता, अपितु ये सब चीजें इसलिए दिखलानी पड़ती हैं कि उनके लेखन पर आश्रित रहनेवाले व्यक्ति उन त्रुटियों और निराधार अनुमानों पर निर्भर न रहें, उन्हें

दोहरायें नहीं। हमारा यह दावा बिल्कुल भी नहीं है कि—इस प्रकार की त्रुटियाँ और निराधार कथन हमारे द्वारा बिल्कुल भी नहीं हुए हैं। यदि जाने-अनजाने हमने वैसा किया हो तो पाठकों से अनुरोध है कि उसे हमारी नजर में लायें, जिससे उन त्रुटियों और दोषों को दूर किया जा सके।

महापुरुष—महर्षि भी तो आखिर मनुष्य ही होते हैं, और उनकी तुलना में तो इतिहास का अध्येता तो अतिसामान्य मनुष्य होता है। कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगू तेली। अन्य सामान्य मनुष्यों की तरह इतिहास के अध्येता पर भी मानव सुलभ भावनाओं का जबरदस्त प्रभाव रहता है। भारत जैसे देश में सम्प्रदाय और जाति पर आधारित समाज में जन्म होने के कारण संवेदनशील आयु में उस-उस जाति के उदात्त-अनुदात्तता की रूढ़िबद्ध कल्पनाएं रक्त में ओत-प्रोत रहती हैं। अहंकार और आत्महीनता का भाव उनके भी बोलने-लिखने में झलकता है। यह ज़रूरी नहीं कि भावना, परम्परागत संस्कार, गलतफहमियाँ, पूर्वाग्रह आदि की पकड़ से अपने आपको मुक्त करा लेने के प्रयास में उसे हमेशा ही सफलता प्राप्त हो। हम जिन व्यक्तियों और आन्दोलनों के सम्बन्ध में लिखते हैं उनका अधिकार-पत्र-वकालतनामा न लेते हुए न्यायाधीश की तरह सभी सम्बन्धित कागजों की सूक्ष्मता से जाँच-पड़ताल कर निष्पक्ष-निर्णय देने की भूमिका से लिखने का प्रयत्न करने पर भी अनुशीलन के पूर्वाग्रह उसमें जाने-अनजाने अंकित हो ही जाया करते हैं। न्यायाधीशों के निर्णय पत्र में भी उसकी झलक दिखलाई देती है। यह सब इस रचना में भी घटित होने की सम्भावना है। फिर भी हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि—ऐसे दोषों से अपने लेखन को कलंकित होने से बचाने के लिए उसे यथासम्भव तटस्थ, निष्पक्ष और वस्तुनिष्ठ बनाने का प्रयास हमने किया है। इस सबका निश्चय अध्येताओं को करना है कि हम इस अनुष्ठान में कितने यशस्वी और सफल हुए हैं।

महर्षि दयानन्द : काल और कृतित्व : यह अनुसंधानात्मक ग्रन्थ पाँच अध्यायों में विभक्त है। **प्रथम अध्याय** में दयासागर दयानन्द के समग्र रचना संसार के माध्यम से तथा उनके द्वारा स्त्री-पुरुष और शूद्रातिशूद्र के भेदभाव को नकारते हुए मानव मात्र को वेदाधिकार देने के उनके सुदृढ़ कदम से और सक्रिय दलितोद्धार की संवेदनशील भूमिका से महर्षि के मानवतावादी व्यक्तित्व को रेखांकित करने का

विनम्र प्रयास किया है।

मानवतावादी दयानन्द के साथ-साथ उनके दिग्विजयी रूप को सिद्ध करनेवाले उनके शास्त्रार्थरूपी ब्रह्मास्त्र की विकीर्ण सामग्री से एक शास्त्रार्थ का संविधान भी यहाँ प्रस्तुत किया गया है। साथ में सातारा से लिखा और मुम्बई भेजा गया महर्षि का एक अज्ञात संस्कृत पत्र विस्तृत पाद-टिप्पणियों के साथ इस अध्याय में समाविष्ट है। इससे पूर्व यह पत्र महर्षि के किसी भी पत्र-संग्रह में प्रकाशित नहीं हुआ है।

द्वितीय अध्याय महर्षि और उनके समकालीन महापुरुषों के तुलनात्मक अध्ययन से सम्बन्धित है। महापुरुषों के साम्य के साथ-साथ वैषम्य को भी रेखांकित करने का विनम्र प्रयास किया गया है। महर्षि दयानन्द और महात्मा फुले तथा उनके अनुयायियों में वेद और वर्ण व्यवस्था के विषय में वैचारिक मतभेद होते हुए भी आपसी भाईचारे में किसी प्रकार की कमी न थी। आज कुछेक पथभ्रष्ट बहुजनवादी संगठन समाज में जातीय कट्टरता बढ़ाकर निजी स्वार्थ को ध्यान में रखकर ऊलजलूल, असम्बद्ध, अनुचित पुस्तिकाएँ लिखकर इन दोनों महापुरुषों के अनुयायियों को आपस में लड़ाने की असफल कोशिश कर रहे हैं। देश की एकता को अखण्ड बनाए रखने के लिए ऐसी गतिविधियों से सतर्क रहना बहुत जरूरी है।

महर्षि दयानन्द आंग्ल भाषा से अनभिज्ञ थे और महात्मा फुले गीर्वाणवाणी संस्कृत से कोसों मील दूर थे। ऐसी स्थिति में भी सन् १८७५ में पुणे में इन दोनों महापुरुषों में अद्‌भुत समन्वय नजर आता है। महात्मा फुले की यह विशेषता रही कि ईसाइयों की शिक्षा संस्थाओं में शिक्षित-दीक्षित होने के उपरान्त, ब्रिटिश शासन की राजनीतिक भूमिका की आलोचना न करने की भूमिका लेने के पश्चात् भी उन्होंने बाबा पद्मनजी, नीलकण्ठ शास्त्री गोरे, पं० रमाबाई सरस्वती आदि की तरह ईसाई सम्प्रदाय में दीक्षित होने की पहाड़ जैसी भूल नहीं की। महात्मा जोतीराव का परम्परागत व्यवसाय फूल बेचना था, इसलिए वे फुले कहलाए, अन्यथा उनका मूल उपनाम 'गोरे' ही था। संस्कृतज्ञ होने पर भी पं० नीलकण्ठ शास्त्री गोरे फादर नेहेम्या गोरे बन गए। जिस समय स्त्री-शिक्षा का नितान्त अभाव था, उस समय संस्कृत में सहज काव्य निर्माण की प्रज्ञा से सक्षम, कलकत्ता नगरी द्वारा 'सरस्वती' पदवी से विभूषित पण्डिता रमाबाई को तो

महर्षि दयानन्द सरस्वती का प्रत्यक्ष शिष्य बनने का सौभाग्य मिला। फादर नेहेम्या गोरे भी इलाहाबाद और पुणे में महर्षि का सान्निध्य प्राप्त कर चुके थे। फिर भी ये दोनों आर्यधर्म में शास्त्रीय दृष्टि से किसी प्रकार की कमी होने के कारण नहीं, अपितु तत्कालीन हिन्दुओं की स्त्री-शूद्र विषयक संकीर्ण मनोवृत्ति से खिन्न होकर ईसाई बनने की भूल कर बैठे। मत परिवर्तन करने के बाद दोनों ने अपने-अपने नए सम्प्रदाय की अन्तःकरण पूर्वक तहेदिल से सेवा की। इसके बावजूद इन दोनों के पत्र इस तथ्य के साक्षी हैं कि मत परिवर्तन के बाद भी ये परधर्म में सुखी-समाधानी नहीं थे। पुणे में महर्षि दयानन्द के प्रभाव को निष्प्रभ करने की असफल दुश्चेष्टा करनेवाले फादर नेहेम्या गोरे अपने जीवन की सान्ध्य वेला में आर्य विद्वानों के प्रश्नों का प्रत्युत्तर देने में भी अपने आपको असमर्थ पा रहे थे। इस आशय को स्पष्टरूपेण साक्षी देनेवाले फादर गोरे के पत्र इसी ग्रन्थ में यथास्थान देखे जा सकते हैं। पण्डिता रमाबाई का पत्र तो आप इसी प्राक्कथन के प्रारम्भ में पढ़ चुके हैं, जो 'इतोभ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' की याद दिलाता है।

प्रस्तुत अध्याय में गणेश श्रीकृष्ण खापर्डे (उपाख्य-दादासाहब खापर्डे) की भी चर्चा की गई है, जो छात्रावस्था में महर्षि से प्रभावित हो, उनके द्वारा स्थापित मुम्बई आर्यसमाज के प्रारम्भिक सदस्य बने थे। सन् १९११ और सन् १९३३ में क्रमशः 'केसरी' मराठी दैनिक और अजमेर से माननीय श्री हरविलास शारदा द्वारा सम्पादित 'दयानन्द निर्वाण-स्मृति' ग्रन्थ में आपने महर्षि को अपनी भावभीनी श्रद्धाञ्जलि भी समर्पित की थी। आपने कभी जीतेजी स्वयम् महर्षि को शास्त्रार्थ में परास्त करने की बात कभी नहीं कही, पर उनके वंशजों ने कपोल-कल्पना से उनके द्वारा महर्षि दयानन्द को शास्त्रार्थ में पराजित करने की बात अपने ही द्वारा लिखी दादासाहब खापर्डेजी के जीवन चरित्र में प्रक्षिप्त कर दी, जिसे अज्ञानवश 'विश्रब्ध शारदा' और 'महाराष्ट्राची कालमुद्रा' जैसे प्रतिष्ठित ग्रन्थों में स्थान मिल गया। इस गलतफहमी को दूर करने के लिए हमें 'महर्षि की शास्त्रार्थ प्रणाली' तथा 'महर्षि दयानन्द और दादासाहब खापर्डे : शास्त्रचर्चा' नामक दो लेख लिखने पड़े। जो क्रमशः इस ग्रन्थ के प्रथम और द्वितीय अध्याय में समाविष्ट हैं।

तृतीय अध्याय में अधिकांश रूप में १९वीं सदी के वे विशिष्ट व्यक्ति हैं, जिन्हें किसी-न-किसी कारण से महर्षि का सान्निध्य प्राप्त हुआ। इनमें दो ऐसे महनीय व्यक्तियों का भी समावेश है जो महर्षि का सान्निध्य प्राप्त नहीं कर सके। नाना शंकरसेठ और श्री शिवकर बापू तळपदे। यह एक संयोग है कि श्री शंकरसेठ को इस अध्याय में पहला स्थान और तळपदेजी को सबसे अन्तिम स्थान मिला है। महर्षि के महाराष्ट्र आगमन से दस वर्ष पूर्व ही नाना शंकरसेठ का देहावसान हो चुका था, फिर भी इनका नाम प्रस्तुत अध्याय में समाविष्ट करने का यह कारण रहा कि महर्षि के कतिपय व्याख्यान और (वर्त्तमान आर्यसमाज (काकड़वाड़ी) मुम्बई की जगह खरीदने से पूर्व) मुम्बई आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग व कार्यक्रम नाना शंकरसेठ के विशाल भवन के परिसर में स्थित मराठी पाठशाला में ही हुआ करते थे। पुणे प्रवचनकाल में भी ढ़ाई महिने तक महर्षि का निवास नाना शंकरसेठजी के ही भवन में रहा। शंकरसेठ आज भी मुम्बई के आद्य निर्माता कहलाते हैं। संस्कृतानुरागी, समाजसुधारक प्रगतिशील होने के साथ-साथ वे शासक और शासित, अर्थात् राजा और प्रजा में समान रूप से लोकप्रिय थे। मुम्बई के सर्वविध सार्वजनिक कार्यों में वे सहस्रहस्त से दान देते थे। भारत सरकार ने उनका जो डाक टिकट प्रकाशित एवं प्रसारित किया है तो उन्हें विशाल मुम्बई रेलवेस्टेशन की पृष्ठभूमि में स्थित भव्य आकाश में दर्शाया गया है।

प्राच्य विमान विद्या विशारद श्री शिवकर बापू तळपदे महर्षि के प्रथम और अन्तिम मुम्बई आगमन काल में क्रमशः १० और १८ वर्ष के थे। हमें अब तक इस बात की जानकारी नहीं कि-ये महर्षि के दर्शन कर पाये थे या नहीं? फिर भी चर्चित अध्याय में इनका नाम सन्निविष्ट करने का कारण यह रहा है कि ये प्रदीर्घकाल तक 'आर्यधर्म' मराठी मासिक के सम्पादक थे। जिसमें महर्षि के 'वेदभाष्य', 'ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका', 'सत्यार्थप्रकाश' जैसे अमर ग्रन्थों के साथ उनके लघु आकारवाली अधिकांश रचनाएँ मराठी में अनूदित होकर 'आर्यधर्म' में प्रकाशित होती रहीं। महर्षि से शास्त्रार्थ करनेवाले पं० भीमाचार्य शास्त्री और महर्षि के प्रारम्भिक कटु आलोचक पं० विष्णु परशुराम शास्त्री का भी समावेश हमने इसी तृतीय अध्याय में किया है।

चतुर्थ अध्याय में मुम्बई आर्यसमाज की वर्णानुक्रम से प्रकाशित सदस्य-सूची में हमने उन सदस्यों को पहली बार विशिष्ट रूप से रेखांकित किया है, जिन्होंने महर्षि के समय ही 'वेदभाष्य' मासिक के ग्राहक बनकर उनके वेद प्रचार आन्दोलन को विशिष्ट गति दी थी। इनकी तत्कालीन वेदभाष्य ग्राहक संख्या के साथ हमने इनके घर के वे पते भी दिए हैं, जहाँ ये अक्षर वाङ्मय पहुँचता था। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत अध्याय में प्रार्थनासमाज के मराठी मुख पत्र— 'सुबोध पत्रिका' (साप्ताहिक) के आधार पर आर्यसमाज मुम्बई के प्रारम्भिक कालीन वक्ताओं द्वारा दिये गए व्याख्यानों के विषय और दिनांक को पहली बार इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। यह विवरण केवल आर्यसमाज के लिए ही नहीं, अपितु किसी भी सर्वहितकारी संस्था के लिए आज भी अनुसरणीय आदर्श और प्रेरक है।

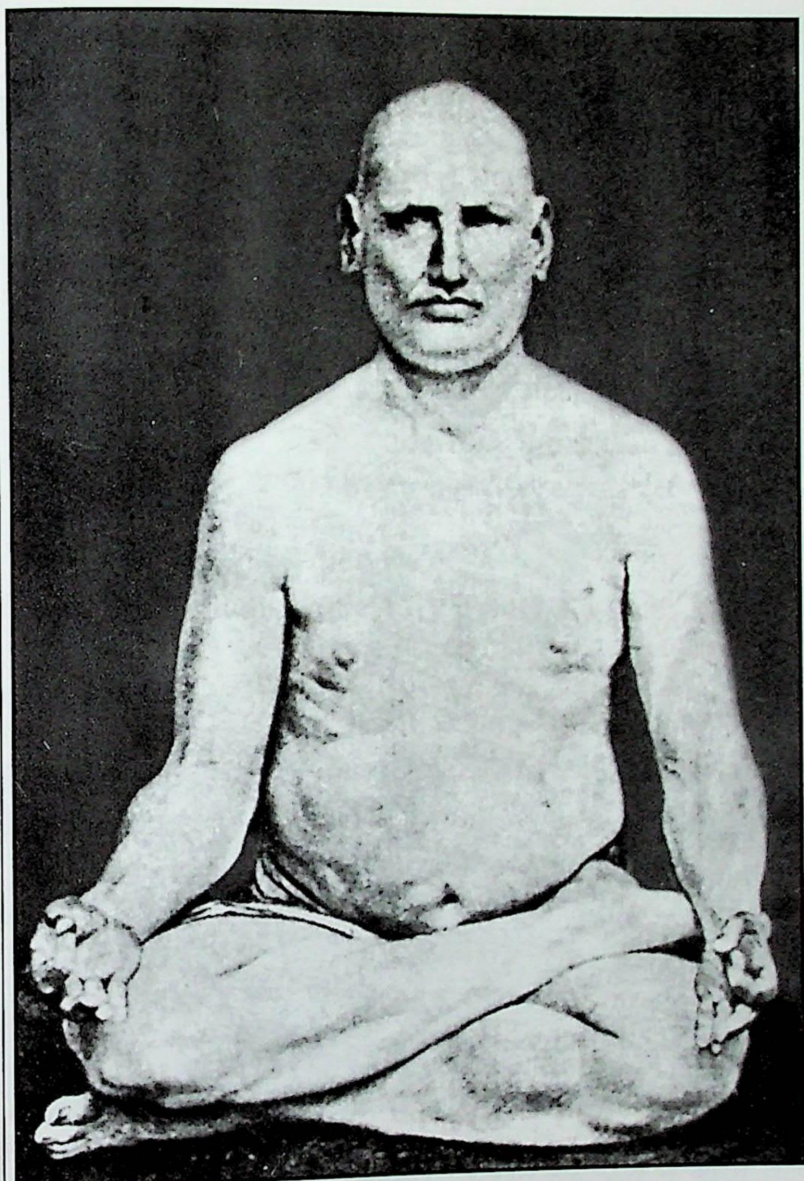
नासिक, मुम्बई, ठाणे के अतिरिक्त महर्षि महाराष्ट्र के पुणे, सातारा और सागर किनारे स्थित वसई गाँव भी पधारे थे। इनमें से कतिपय नगरों की तत्कालीन परिस्थिति का वर्णन कर महर्षि दयानन्द कालीन महाराष्ट्र का यत्किञ्चित् परिचय देने का प्रयास किया है। सातारा यह महर्षि की दक्षिण यात्रा का अन्तिम पड़ाव सिद्ध हुआ। यदि उन्हें विष न दिया जाता और वे दीर्घजीवी होते तो कन्याकुमारी तक आर्य ध्वजा लहराते हुए वेदों का डंका जरूर बजाते।

इसी अध्याय में महर्षि द्वारा पाँच बार की गई महाराष्ट्र की यात्राओं में जिन-जिन महाराष्ट्रीय महापुरुषों ने यतिश्रेष्ठ दयानन्दजी को अविस्मरणीय सहयोग दिया, उनका यथोपलब्ध परिचय अंकित किया है। इसके साथ ही अध्याय के अन्त में महर्षि की इन प्रचार-यात्राओं और वैदिक विचारधारा का महाराष्ट्र पर जो प्रभाव रहा उसे भी स्पष्ट करने का विनम्र प्रयास किया गया है।

पञ्चम अध्याय में महर्षि और उनके चरित्र में चर्चित कतिपय व्यक्तियों की वंशावली प्रस्तुत की गई है।

—कुशलदेव शास्त्री

द्वारा-ऋजुल राजवीर शास्त्री,
विद्या प्रतिष्ठान अभियान्त्रिकी महाविद्यालय,
बारामती (पुणे-महाराष्ट्र), पिन-४१३ ५३१



महर्षि दयानन्द सरस्वती : मई १८७९ : मेरठ



महर्षि दयानन्द सरस्वती : अक्टूबर १८७९ : फर्रुखाबाद

प्रथम अध्याय

दयासागर-दयानन्द

(१)

महर्षि दयानन्द सरस्वती के वाङ्मय में मानवीय चिन्ता

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों, शास्त्रार्थों और व्याख्यानों द्वारा मानवमात्र को अज्ञान और विलासिता की घोर निद्रा से जगाकर सामाजिक, राष्ट्रीय और मानवतावादी आदर्शों का उद्घोष किया था। नव-जागरण के पुरोधा महर्षि दयानन्द के सन्दर्भ में *श्री रामधारीसिंहजी दिनकर* ने कहा है कि—'इतिहास का क्रम कुछ ऐसा बना कि दयानन्द की गिनती महाराणा प्रताप, शिवाजी और गुरु गोविन्दसिंह की सरणी में की जाने लगी, किन्तु दयानन्द मुसलमानों के विरोधी नहीं थे, मुस्लिम जनता के बीच भी महर्षिजी का यथेष्ट आदर था। वे प्रचण्ड तार्किक थे, उन्होंने ईसाई और मुस्लिम धर्म-ग्रन्थों का भली-भाँति मंथन किया था। दयानन्द ने बुद्धिवाद की जो मशाल जलाई थी, उसका कोई जवाब नहीं था।' (संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ-४६३)।

आधुनिक काल के प्रारम्भ में द्विवेदी युगीन साहित्य पर महर्षि दयानन्द सरस्वती की विचारधारा का प्रभाव भारतेंदु युग की अपेक्षा कहीं अधिक नजर आता है। *महाप्राण महाकवि निराला* के शब्दों में *'हमें अपने सुधार के लिए क्या-क्या करना चाहिए, हमारे सामाजिक उन्नयन में कहाँ-कहाँ और क्या-क्या रुकावटें हैं। हमें मुक्ति के लिए कौन-सा मार्ग ग्रहण करना चाहिए, महर्षि दयानन्द ने बहुत अच्छी तरह समझाया है। ..... जो लोग कहते हैं कि वैदिक अथवा प्राचीन शिक्षा द्वारा मनुष्य उतना उन्नतमना नहीं हो सकता, जितना अंग्रेजी शिक्षा द्वारा होता है, महर्षि दयानन्द सरस्वती इसके प्रत्यक्ष खण्डन हैं। महर्षि दयानन्दजी से बढ़कर भी मनुष्य होता है, इसका प्रमाण*

प्राप्त नहीं हो सकता। यही वैदिक ज्ञान की मनुष्य के उत्कर्ष में प्रत्यक्ष उपलब्धि हमें देखने को मिलती है।' (प्रबन्ध प्रतिमा, पृष्ठ-६१)

मनुष्य की परिभाषा, व्याख्या और स्वरूप

मनुष्य की संक्षिप्त परिभाषा प्रस्तुत करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं—'जो विचारपूर्वक किसी काम को करे, उसका नाम 'मनुष्य' है।' (आर्योद्देश्यरत्नमाला, दयानन्दीय लघु ग्रन्थ संग्रह, पृष्ठ-५७५)। महर्षि ने अपने कालजयी ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' के अन्त में 'स्वमंतव्यामंतव्य प्रकाश' नामक एक परिशिष्ट प्रकाशित किया है, जिसमें मनुष्य की थोड़ी और अधिक स्पष्ट व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं —'सबसे यथायोग्य स्वात्मवत् सुख-दुःख, हानि-लाभ में वर्त्तने वाला श्रेष्ठ और अन्यथा बर्तने वाला बुरा मनुष्य है।' स्वलिखित *'पञ्चमहायज्ञविधि'* के पितृयज्ञ प्रकरण में मनुष्य, देव और असुर इन तीनों का विश्लेषण करते हुए महर्षि कहते हैं—'जो सत्य बोलने, सत्य मानने और सत्य कर्म करने वाले हैं वे *'देव'* और वैसे ही झूठ बोलने, झूठ मानने और झूठ कर्म करने वाले 'मनुष्य' कहाते हैं। जो झूठ से अलग होके सत्य को प्राप्त होवें, वे देव जाति में गिने जाते हैं और जो सत्य से अलग होके झूठ को प्राप्त होवें, *मनुष्य* और राक्षस हैं। इससे सब काल में सत्य ही कहें, मानें और करें। सत्यव्रत का आचरण करने वाला मनुष्य यशस्वियों में यशस्वी होने से देव और उससे उलटे कर्म करने वाला *असुर* होता है।' (दयानन्दीय लघु ग्रन्थ संग्रह, संपादक-युधिष्ठिर मीमांसक, पृष्ठ-३२८)।

'स्वमंतव्यामंतव्य प्रकाश' में मनुष्य और मनुष्य धर्म की विस्तृत व्याख्या करते हुए महर्षि ने लिखा है, 'मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख, दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महा अनाथ निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और [अधर्मी] चाहे चक्रवर्ती सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हो, तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करें। अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की

उन्नति सर्वथा किया करें। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु *इस मनुष्यपन रूप धर्म से पृथक् कभी न होवे*।' (सत्यार्थप्रकाश, संपादक-युधिष्ठिर मीमांसक, पृष्ठ ९२०)।

मानव मात्र की आत्मा की क्षमता पर प्रकाश डालते हुए महर्षि ने कहा है—'मनुष्य का आत्मा यथायोग्य सत्यासत्य के निर्णय करने का सामर्थ्य रखता है। जितना अपना पठित वा श्रुत है, उतना निश्चय कर सकता है।' (सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ-७२०)। सदसद्विवेक बुद्धि होने के बावजूद भी वह स्वार्थवश असत्य की ओर झुक जाता है। महर्षि के शब्दों में—'मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला होता है, तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है। ...जैसे पशु बलवान् होकर निर्बलों को दुःख देते और मार भी डालते हैं, जब मनुष्य शरीर पाके वैसा ही कर्म करते हैं, तो वे मनुष्य स्वभाव युक्त नहीं, किन्तु पशुवत् हैं, और जो बलवान् होकर निर्बलों को मारता है, वह जानो पशुओं का भी बड़ा भाई है।' (सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ-५)।

महर्षि ने अपने समग्र वाङ्मय में प्रश्नोत्तर शैली का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। '*व्यवहारभानु*' पुस्तिका में प्रश्नोत्तर शैली में मनुष्यपन का लक्षण वे निम्नांकित पद्धति से करते हैं—

"**प्रश्न**—मनुष्यपन किसको कहते हैं?

उत्तर—इस मनुष्य जाति में एक ऐसा गुण है कि वैसा किसी दूसरी जाति में नहीं पाया जाता।

प्रश्न—वह कौन-सा?

उत्तर—जितने मनुष्य से भिन्न जातिस्थ प्राणी हैं, उनमें दो प्रकार का स्वभाव है—बलवान् से डरना, निर्बल को डराना और पीड़ा देकर, अर्थात् दूसरे का प्राण तक निकाल के अपना मतलब साध लेना। जो मनुष्य ऐसा ही स्वभाव रखता है, उसको भी इन्हीं जातियों में गिनना उचित है। परन्तु जो निर्बलों पर दया, उनका उपकार और निर्बलों को पीड़ा देने वाले अधर्मी बलवानों से किंचित् मात्र भी भय-शंका न करके, इनको परपीड़ा से हटाके, निर्बलों की रक्षा तन-मन और धन से सदा करना है। वही मनुष्य जाति का निजी गुण है।

क्योंकि जो बुरे कामों के करने में भय और सत्य कामों के करने में किंचित् भी भय-शंका नहीं करते, वे ही मनुष्य धन्यवाद के पात्र कहाते हैं।'' (दयानन्दीय लघु ग्रन्थ संग्रह, पृष्ठ-५२४)।

'सत्यार्थप्रकाश' में मानवीय चिन्ता

महर्षि दयानन्द के समग्र वाङ्मय में उनका विश्व मानवतावादी व्यक्तित्त्व प्रतिविंबित हुआ है। मानवीय चिन्ता तो उनके साहित्य में पदे-पदे झलकती है। 'सत्यार्थप्रकाश' सम्भवतः संसार का एक मात्र ऐसा अद्वितीय ग्रन्थ है, जिसमें मुख्य भूमिका के बाद चार अनुभूमिकाएँ हैं। सर्वप्रथम उनकी भूमिका अत्यन्त ही स्पष्ट रूप में हमारे सामने आती है, जिसमें वे लिखते हैं, *'यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूँ, तथापि इस देश के मत-मतान्तरों का झूठी बातों का पक्षपात न कर यथातथ्य प्रकाश करता हूँ। वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मतोन्नति वालों के साथ भी वर्त्तता हूँ। जैसा स्वदेश वालों के साथ मनुष्योन्नति के विषय में वर्त्तता हूँ, वैसा विदेशियों के साथ भी।* ...क्योंकि मैं जो किसी एक का पक्षपाती होता, जैसे आज कल के स्वमत की स्तुति मण्डन और प्रचार करते और दूसरे मत की निन्दा, हानि और बन्ध करने में तत्पर होते हैं, वैसे मैं भी होता, परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन से बाहर हैं। ...इसलिए *जैसा मैं पुराण, जैनियों के ग्रन्थ, बाइबिल और कुरान को प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देखकर उनमें से गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग तथा अन्य मनुष्य जाति की उन्नति के लिए प्रयत्न करता हूँ, वैसा सबको करना योग्य है।* ...क्योंकि एक मनुष्य जाति में बहकाकर, विरूद्ध बुद्धि करके, एक-दूसरे को शत्रु बना लड़ा-मारना विद्वानों के स्वभाव से बहिः है।' (सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ-१०)

महर्षि दयानन्द ने *'सत्यार्थप्रकाश'* ग्रन्थ का लेखन सन् १८७४ में सम्पन्न किया था, जिसका मुद्रण एक वर्ष बाद १८७५ में स्टार प्रेस बनारस से हुआ था। सारे संसार का उपकार करने के लिए महर्षि ने इसी वर्ष 'आर्यसमाज' की स्थापना की थी। *'सत्यार्थप्रकाश मानव मात्र की दृष्टि से एक आदर्श-प्रेरक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में कहीं पर भी संकीर्ण साम्प्रदायिक सम्बोधन के दर्शन नहीं होते। हिन्दुओ!, मुसलमानो!, सिक्खो!, ईसाइयो!, बौद्धो! जैसे सम्बोधन कहीं पर*

भी नहीं मिलेंगे। जो भी सम्बोधन हैं, वे मानव-मात्र को सम्बोधित करके लिखे गए हैं। जिससे पदे-पदे महर्षि की व्यापक मानवीय ç‹Ìæ·ŒæÂÌæ¿ Ü Ìæäð सत्योपदेश को मनुष्य जाति की उन्नति का एक मात्र कारण मानते हुए महर्षि ने यह ग्रन्थ लिखा है। (सत्यार्थप्रकाश, भूमिका-३)। लेखक की दृष्टि में विद्वान् आप्तों का मुख्य कार्य, उपदेश व लेख द्वारा 'सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित करना है।' सार्वजनिक हित को लक्ष्य में रखकर ही लेखक सत्यार्थप्रकाश के लेखन कर्म में प्रवृत्त हुआ है।' (तत्रैव-४)।

'सत्यार्थप्रकाश' यह ग्रन्थ चौदह समुल्लासों में विभाजित है। प्रथम दस समुल्लास मण्डनात्मक शैली में और अन्तिम चार समुल्लास खण्डनात्मक शैली में लिखे गए हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि *लेखक का उद्देश्य न तो किसी का मन दुखाना है और न ही किसी की हानि करना है*। पहले दस अध्यायों में क्रमशः ईश्वर के 'ओंकार' आदि नामों की व्याख्या, सन्तान शिक्षा, पठन-पाठन व्यवस्था, विवाह और गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ व संन्यासाश्रम, राजधर्म, वेद, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय, विद्या-अविद्या, बन्ध और मोक्ष की व्याख्या, आचार-अनाचार और भक्ष्याभक्ष्य विषय पर महर्षि ने अपने विचार व्यक्त किए हैं।

'सत्यार्थप्रकाश' के ग्यारहवें अध्याय में भारत में प्रचलित मत-मतान्तरों की आलोचना की है। आलोचना से पूर्व लिखी 'अनुभूमिका' में 'सब मनुष्यों को न्याय दृष्टि से व्यवहार करना' अति उचित बतलाया है। साथ ही यह कामना भी व्यक्त की है कि—'यदि हम सब मनुष्य और विशेषरूप से विद्वज्जन ईर्ष्या-द्वेष छोड़ सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना-कराना चाहें, तो हमारे लिए यह बात असाध्य नहीं है। ...यह निश्चय है कि *इन विद्वानों के विरोध ही ने सबको विरोध जाल में फँसा रक्खा है। यदि ये लोग अपने प्रयोजन में न फँसकर सबके प्रयोजन को सिद्ध करना चाहें, तो अभी ऐक्य मत हो जाए।*' अन्त में सर्वशक्तिमान् परमात्मा से यह प्रार्थना की गई है कि—'एक मत में प्रवृत्त होने का उत्साह सब मनुष्यों की आत्माओं में प्रकाशित करें।' (तत्रैव, पृष्ठ-४०६)।

'सत्यार्थप्रकाश' के बारहवें अध्याय में महर्षि ने चार्वाक, जैन और बौद्धमत की समीक्षा की है। समीक्षा से पूर्व 'अनुभूमिका' में

लिखा है—'जब विद्वान् लोगों में सत्यासत्य का निश्चय नहीं होता तभी अविद्वानों को महा अन्धकार में पड़कर बहुत दुःख उठाना पड़ता है। इसलिए *सत्य की जय और असत्य के क्षय के अर्थ मित्रता से वाद वा लेखन करना हमारी मनुष्य जाति का मुख्य काम है, यदि ऐसा न हो तो मनुष्यों की उन्नति कभी न हो।*'(तत्रैव, पृष्ठ-४०६)।

'सत्यार्थप्रकाश' के तेरहवें अध्याय में महर्षि ने यहूदी और ईसाई मत की समालोचना करते हुए 'अनुभूमिका' में स्पष्ट लिखा है—'यह लेख केवल सत्य की वृद्धि और असत्य के ह्रास होने के लिए है, न कि किसी को दुःख देने वा हानि करने अथवा मिथ्या दोष लगाने के अर्थ ही। इस लेख से यही प्रयोजन है कि सब मनुष्य मात्र को देखना-सुनना-लिखना आदि करना सहज होगा और पक्षी-प्रतिपक्षी होके विचार कर ईसाई मत का आलोडन सब कोई कर सकेंगे। ... *सब मनुष्यों को उचित है कि सबके मत विषयक पुस्तकों को देख, समझकर कुछ सम्मति वा असम्मति देवें, वा लिखें, नहीं तो सुना करें।*'(तत्रैव-७२०)।

'सत्यार्थप्रकाश' के चौदहवें अध्याय में मुस्लिम मत की समालोचना करने से पूर्व महर्षि ने अपनी 'अनुभूमिका' में लिखा है—'यह लेखन केवल मनुष्यों की उन्नति और सत्यासत्य के निर्णय के लिए है। अर्थात् सब मतों के विषयों का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान होवे, इससे मनुष्यों को परस्पर विचार करने का समय मिले और एक-दूसरे के दोषों का खण्डन कर गुणों का ग्रहण करें। न किसी अन्य मत पर, न इस मत पर झूठ-मूठ बुराई व भलाई लगाने का प्रयोजन है, किन्तु जो भलाई है, वही भलाई और जो बुराई है, वही बुराई सबको विदित होवे। न कोई किसी पर झूठ चला सके और न सत्य को रोक सके। अन्त में महर्षि ने बड़ी अन्तर्वेदना के साथ लिखा है—'*सच तो यह है कि इस अनिश्चित क्षणभंगुर जीवन में पराई हानि करके, लाभ से स्वयं रिक्त रहना और अन्यों को रखना मनुष्यपन से बहिः है।*'(तत्रैव, पृष्ठ-१५) मानवीय स्वभाव से विपरीत है।

'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में मानवीय चिन्ता

महर्षि का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ—'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' है। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना महर्षि ने १८७६ में की थी। इसका मुद्रण

लाजरस प्रेस क़ाशी तथा निर्णय सागर प्रेस मुम्बई में सन् १८७८ में सम्पन्न हुआ था। इसके प्रथम प्रकरण—'ईश्वर प्रार्थना विषय' के प्रारम्भ में महर्षि ने लिखा है—'ईश्वर की कृपा के सहाय से, सब मनुष्यों के हित के लिए, इस वेदभाष्य का मैं विधान करता हूँ, सो यह वेदभाष्य दो भाषाओं में किया जाता है। एक संस्कृत और दूसरी प्राकृत (हिन्दी)। इन दोनों भाषाओं में वेदमन्त्रों के अर्थ का मैं वर्णन करता हूँ। अन्त में परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करते हुए महर्षि लिखते हैं—'हे सर्व विद्यामय सर्वार्थवित् जगदीश्वर! हम पर आप कृपा धारण करें, जिससे यह जो सबका उपकार करने वाला वेदभाष्य का अनुष्ठान है, सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त हो।' (दयानन्द ग्रन्थमाला, पृष्ठ–२४८)। उपन्यास सम्राट् *प्रेमचन्द* ने महर्षि और उनके अनुयायियों द्वारा हिन्दी में किये गए वेदभाष्य पर टिप्पणी करते हुए ठीक ही कहा है—'*आर्यसमाज के संस्थापक और उसके उपदेशकों ने वेदों और वेदांगों के गहन विषयों को जन साधारण की सम्पत्ति बना दिया, जिन पर विद्वानों और आचार्यों के कई-कई लीवर के ताले लगे हुए थे।*' (अप्रैल १९३६ में आर्यभाषा सम्मेलन लाहौर में दिया गया भाषण)

'संस्कारविधि' में मानवीय चिन्ता

महर्षि का तीसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'संस्कारविधि' है। इस ग्रन्थ का प्रणयन महर्षि ने सन् १८७५ में किया था। इसका मुद्रण सन् १८७७ में मुम्बई के एशियाटिक प्रेस में सम्पन्न हुआ था। 'संस्कारविधि' की भूमिका में महर्षि ने अपना निवेदन प्रकाशित करते हुए लिखा था—'सब सज्जन लोगों को विदित होवे कि मैंने बहुत सज्जनों के अनुरोध करने से 'संस्कारविधि' नामक ग्रन्थ की रचना की है। प्रस्तुत ग्रन्थ लिखने का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य *षोडश संस्कारों की क्रियाओं के माध्यम से मानव मात्र की शरीर और आत्मा को सुसंस्कृत करना तथा धर्मार्थ मोक्ष की प्राप्ति कराना है*। अत्यन्त योग्य सन्तान निर्माण की दृष्टि से महर्षि सब मनुष्यों के लिए सब संस्कारों का करना अति उचित मानते हैं। मानव मात्र की शरीर और आत्मा को सुसंस्कृत करने की दृष्टि से लिखा यह ग्रन्थ महर्षि की मानवीय चिन्ता को ही प्रतिपादित करता है।'

'सत्यार्थप्रकाश', 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' और 'संस्कारविधि'

की गणना महर्षि के 'बृहत् त्रयी' ग्रन्थों के रूप में की जाती है। 'सत्यार्थप्रकाश' की पृष्ठ संख्या ५६६, 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' की पृष्ठ संख्या ४३० और 'संस्कारविधि' की पृष्ठ संख्या २४० है। कुल मिलाकर इस बृहत् त्रयी की पृष्ठ संख्या १२३६ है। महर्षि प्रणीत होने से मानवीय भाव तो इनमें अनायास रूप से कूट-कूट कर भरे हुए हैं।

'भ्रान्तिनिवारण' में मानवीय चिन्ता

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'सत्यार्थप्रकाश', 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' और 'संस्कारविधि' नामक अपनी बृहत् त्रयी रचना के अतिरिक्त मानवीय हित की दृष्टि से अनेक लघु पुस्तिकाओं की रचना की है। स्थानाभाव के कारण उनमें से कतिपय ग्रन्थों की चर्चा यहाँ की जा रही है।

महर्षि ने सन् १८७७ में 'भ्रान्ति निवारण' नामक पुस्तिका लिखी थी, जिसका उद्देश्य पण्डित महेशचन्द्र आदि द्वारा महर्षि द्वारा प्रथम नमूने के रूप में भेजे गए वेद भाष्य के अंकों पर किये गए आक्षेपों का निवारण करना था। 'भ्रान्ति निवारण' नामक यह पुस्तिका लघुकाय होते हुए भी वेदार्थ जिज्ञासुओं की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसकी भूमिका में महर्षि ने स्पष्ट रूप में घोषणा की थी कि—'मैंने संसार के उपकारार्थ वेदभाष्य बनाने का कार्य आरम्भ किया है। ....मेरे बनाए मासिक रूप में प्रकाशित वेदभाष्य के अंकों में भी विद्वानों को समझने के लिए संकेत मात्र जहाँ-जहाँ लिख दिए हैं और किसी प्रकार की भ्रान्ति वा शंका मेरे लेख पर होकर वृथा कुतर्क खड़ा करके कोई मनुष्य मेरे काल को न खोवे कि जिससे देश भर की हानि हो और उसको भी कुछ लाभ न हो। ... *मैं तो अपना तन-मन-धन सब सत्य के ही प्रकाशनार्थ समर्पित कर चुका हूँ। मुझसे खुशामद करके अब स्वार्थ का व्यवहार नहीं चल सकता, किन्तु संसार को लाभ पहुँचाना ही मुझको चक्रवर्ती राजा के तुल्य है*। कतिपय विद्वानों द्वारा उपस्थित शंकाओं से कई कठिन शंकाएँ तो मेरे बनाए ग्रन्थों को ठीक मन लगाकर विचार करने से निवारण हो सकती हैं। फिर निष्प्रयोजन मेरा सर्वहितकारी काल क्यों खोते हो?' (दयानन्दीय लघु ग्रन्थ संग्रह, पृष्ठ-१९४)। इससे स्पष्ट है कि महर्षि का एक-

एक क्षण राष्ट्र, विश्व और मानव मात्र के हित के लिए रहा। इसी प्रकार से उनका समग्र साहित्य भी संसार के अज्ञानी इन्सानों को ज्ञान सम्पन्न करने के लिए ही समर्पित था।

'भ्रमोच्छेदन' में मानवीय चिन्ता

महर्षि ने 'भ्रमोच्छेदन' पुस्तिका की रचना सन् १८८० में की थी। इसमें राजा शिवप्रसादजी 'सितारेहिन्द' और स्वामी विशुद्धानन्दजी के महर्षि कृत वेदभाष्य पर किये गए 'भ्रमों' का छेदन करने का प्रयास किया है। 'भ्रमोच्छेदन' पुस्तिका के निवेदन में अपनी बात स्पष्ट करते हुए महर्षि लिखते हैं—'मैं अपरिचित मनुष्यों के साथ, चाहे वह धर्म से पूछे वा अधर्म से, उन सभी के साथ समाधान करने को एक बार तो प्रवृत्त हो ही जाता हूँ, परन्तु उस समय जिसको अयोग्य समझता हूँ, जब तक वह अपनी अयोग्यता को छोड़कर नहीं पूछता और न कहता है, तब तक उससे सत्यासत्य निर्णय के लिए कभी प्रवृत्त नहीं होता हूँ'। इसी बात को एक और ढंग से स्पष्ट करते हुए महर्षि ने लिखा है—'जब-जब अयोग्य पुरुष मुझसे मिलता वा मैं उससे मिलता हूँ, तब-तब प्रथम उसकी अयोग्यता के छुड़ाने में प्रयत्न करता हूँ, जब वह धर्मात्मा से योग्य होता है, तब मैं उसको प्रेम से उपदेश देता हूँ।' अन्त में सब सज्जनों को निवेदित करते हुए महर्षि लिखते हैं—'जो अपना कल्याण चाहें वे उपरोक्त विद्वानों के व्यर्थ वाक्याडम्बर जाल में बद्ध हो, अपने मनुष्य जन्म के धर्मार्थ-काम-मोक्ष फलों से रहित होकर, दुःख-दुर्गन्ध सागर रूप घोर नरक में गिरकर, चिरकाल तक दारुण दुःख भोग न करें। और सर्वानन्दप्रद वेद के सत्यार्थप्रकाश में स्थिर होकर सर्व आनन्दों का भोग न छोड़ें।' (दयानन्दीय लघु ग्रन्थ संग्रह, पृष्ठ-२५१)। इससे स्पष्ट है कि महर्षि पहली बार सम्पर्क में आने वाले मनुष्य को प्रेम से चाहे फिर वह अपरिचित और कम योग्यता वाला क्यों न हो कल्याण मार्ग और पुरुषार्थ चतुष्ट्य का पथिक बनाने का अन्तःकरण पूर्वक प्रयास करते थे, और प्रत्येक मनुष्य को अविद्या अन्धकार के घोर नरक और दारुण दुःख से बचाना चाहते थे। इन सब प्रयत्नों से महर्षि की मानवीय चिन्ता का स्पष्ट अहसास होता है।

'आर्याभिविनय' में मानवीय चिन्ता

महर्षि ने सन् १८७५ में 'आर्याभिविनय' नामक पुस्तिका की रचना की थी, जो सन् १८७६ में 'आर्य मण्डल यन्त्रालय' मुम्बई से प्रकाशित हुई थी। महर्षि ने इस ग्रन्थ की रचना सर्वहितकारी विचारशील सज्जन लोगों के अनुरोध पर सर्वलोकहिताय यथार्थ परमेश्वर का ज्ञान कराने के लिए लिखी थी। इस ग्रन्थ में चारों वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों के मूल मन्त्रों का सुबोध प्राकृत भाषा (हिन्दी) में व्याख्यान किया है। सभी मानवों का सुख बढ़ाने और उन्हें कृतकृत्य करने के लिए महर्षि ने यह रचना लिखी थी। मनुष्य लोग पाखण्ड मतादि अधर्म में न फँसे इसलिए महर्षि परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि—'सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की कृपा सब मनुष्यों पर हो, जिससे सब मनुष्य दुष्टता छोड़ के श्रेष्ठता को स्वीकार करें।' (दयानन्दीय लघु ग्रन्थ संग्रह, पृष्ठ-४५)।

'पञ्चमहायज्ञविधि' में मानवीय चिन्ता

महर्षि ने 'पञ्चमहायज्ञविधि' की रचना सन् १८७५ में की थी और वह १८७५ में ही मुम्बई से प्रकाशित हुई थी। पञ्चमहायज्ञ से तात्पर्य ब्रह्मयज्ञ (सन्ध्या), देवयज्ञ (हवन), पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेव यज्ञ और अतिथि यज्ञ से है। महर्षि की दृष्टि में 'पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धार्मिक, सत्यवादी, छल-कपट रहित, नित्य भ्रमण करने वाले मनुष्य ही 'अतिथि' हो सकता है। उपरोक्त रचनाओं की तरह महर्षि की इस रचना में जितने भी निर्देश हैं, वे किसी वर्ग विशेष या सम्प्रदाय विशेष के लिए नहीं, अपितु समस्त मानवों के लिए है। प्रार्थनाएँ भी जो की गई हैं, वह किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं, अपितु सबके लिए की गई हैं। जैसे—'दोनों सन्ध्याओं में सब मनुष्यों को परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए।' (पृष्ठ-२९६)। 'मनुष्य देह रूप वृक्ष के चार फल सब मनुष्यों को प्राप्त हों।' (पृष्ठ-३१५)। *'अग्निहोत्रादि यज्ञ करके, वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा, सब जगत् का उपकार करने वाले मनुष्यों पर, ईश्वर भी प्रसन्न होते हैं।'* (३२५, ३३१)। 'बलिवैश्वदेव यज्ञ के अन्त में प्रार्थना करते हुए महर्षि लिखते हैं—'हे परम गुरु! अग्नि!! परमेश्वर!!! आप और आपकी आज्ञा के विरूद्ध व्यवहारों में हम लोग कभी प्रवेश न करें।

और *अन्याय से किसी प्राणि को पीड़ा न पहुँचावे। किन्तु सबको अपना मित्र और अपने को सबका मित्र समझकर परस्पर उपकार करते रहें।'* (दयानन्दीय लघु ग्रन्थ संग्रह, पृष्ठ-३४१)।

'वेदविरूद्ध मत खण्डन' में मानवीय चिन्ता

महर्षि ने 'वेदविरूद्ध मत खण्डन' की रचना दिसम्बर १८७४ में की थी। इस पुस्तक का दूसरा नाम 'वल्लभाचार्य मत खण्डन' रखा गया था। गुजरात प्रान्त में इस मत का प्रचार अधिक है, इसलिए महर्षि ने इस ग्रन्थ की रचना गुजरात भ्रमण काल में सूरत अथवा भडौच में की थी। फरवरी १८७५ में इस पुस्तिका का प्रकाशन मुम्बई के सुप्रसिद्ध निर्णयसागर प्रेस से हुआ था। महर्षि ने यह पुस्तिका केवल संस्कृत भाषा में लिखी थी, जिसका गुजराती अनुवाद महर्षि के प्रमुख शिष्य, सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा ने किया था। इस पुस्तिका के रचना के बाद वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी महर्षि केजीवन के ग्राहक बन गए थे और उन्होंने मुम्बई में महर्षि के प्राणहरण करने के अनेक प्रयास भी किए थे। परन्तु महर्षि दयानन्द मानवता के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करने वाले उस असाधारण कोटि के महापुरुष थे, जिनके विषय में भर्तृहरि ने कहा है—'अद्यैव वा मरणमस्तु युगांतरे वा न्याय्यात् पथः प्रविचलंति पदं न धीराः।'

'वेदांति ध्वांत निवारण' में मानवीय चिन्ता

महर्षि ने 'वेदांति ध्वांत निवारण' नामक पुस्तिका की रचना सन् १८७४ में की थी, जिसका प्रकाशन सन् १८७६ में ओरियण्टल प्रेस मुम्बई से हुआ था। यह पुस्तक अद्वैतवाद के खण्डन में लिखी गई थी। महर्षि ने यह पुस्तिका दो ही दिनों में अपने सुलेखक पं० कृष्णराम इच्छाराम को लिखवा दी थी। 'पुस्तिका को लिपिबद्ध करने वाले पं० कृष्णराम घोर अद्वैतवादी थे।' (महर्षि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास, संपादक-युधिष्ठिर मीमांसक, पृष्ठ-८३)।

वेदान्ति लोगों के उपदेश जाल में फँस के अज्ञानी लोग मरण क्लेश युक्त होके अधर्म, अनैश्वर्य और पराधीनता आदि दुःख स्वरूप कारागृह में सदा बद्ध रहते हैं, अतः उन्हें बन्धन मुक्त करने के लिए महर्षि ने 'वेदांति ध्वांत निवारण' पुस्तिका लिखी थी। इस पुस्तिका

के अन्त में महर्षि ने मानव मात्र के हित के लिए जो प्रार्थना की है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने लिखा है— *"जीव और ब्रह्म को एक मानने से सब परमार्थ नष्ट हो जाता है। ...इससे मनुष्यों को उचित है कि—(१) सद्विद्यादिक उत्तम गुणों का जगत् में प्रचार करना, (२) व्यवहार-परमार्थ की शुद्धि और उन्नति करना,* (३) वेद विद्या आदि सनातन ग्रन्थों का पठन-पाठन करते रहना, (४) *नाना भाषाओं में वेदादि सत्य-शास्त्रों का सत्यार्थप्रकाश करना,* (५) एक निराकार परमात्मा की उपासना आदि का विधान करना, (६) कला-कौशल आदि के द्वारा...मनुष्यों का सुख विधान और परस्पर प्रीति का करना, (७) हठ-दुराग्रह दुष्टों के संग आदि को छोड़ना, (८) उत्तम-उत्तम पुरुष तथा स्त्री लोगों की सभाओं से सब मनुष्यों का हिताहित विचारना और (९) सत्य व्यवहारों की उन्नति करना इत्यादि मनुष्यों को अवश्य कर्त्तव्य है। इनको सब विरोध छोड़ के सिद्ध करना, यही सब सज्जनों से हमारा विज्ञापन है। इसको सज्जन लोग अवश्य स्वीकार करेंगे, ऐसी मुझे पूर्ण आशा है। इसकी सिद्धि के लिए सर्वशक्तिमान्, सब जगत् के पिता, माता, राजा, बन्धु जो परमात्मा, उनसे मैं अत्यन्त नम्र होके प्रार्थना करता हूँ कि सब मनुष्यों पर कृपा करके [उन्हें] असन्मार्ग से हटाके सन्मार्ग में चलावें।" (दयानन्दीय लघु ग्रन्थ संग्रह, पृष्ठ-३८४)।

'शिक्षापत्री ध्वांत निवारण' में मानवीय चिन्ता

महर्षि ने सन् १८७४ के अन्त में अहमदाबाद-राजकोट प्रवास काल में 'शिक्षापत्री-ध्वांत निवारण' नामक पुस्तिका केवल संस्कृत में लिखी थी, जिसका गुजराती अनुवाद महर्षि के शिष्य पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा ने किया था। सन् १८७६ में ओरियण्टल प्रेस, मुम्बई से यह ग्रन्थ गुजराती अनुवाद के साथ प्रकाशित हुआ था। गुजरात प्रान्त में वल्लभ सम्प्रदाय की भांति स्वामी नारायण मत का भी बहुत प्रचार था। इसलिए महर्षि ने अपने गुजरात भ्रमण काल में स्वामी नारायण मत के खण्डन में अनेक व्याख्यान दिए और उसी समय उन्होंने उक्त पुस्तिका लिखी। इसमें उन्होंने स्वामी नारायण मत के प्रवर्त्तक स्वामी सहजानन्द कृत 'शिक्षापत्री' नामक ग्रन्थ का खण्डन किया है। ग्रन्थ के अन्त में महर्षि लिखते हैं—'वेदादि सत्यशास्त्रोक्त, सनातन-

सत्य, पक्षपात रहित न्याय धर्म का त्याग करके सहजानन्द आदि के बनाये हुए 'शिक्षापत्री' आदि भ्रष्ट और वेदयुक्ति विरूद्ध ग्रन्थों को जो मनुष्य स्वीकार करेंगे, वे सद्धर्म रहित और नास्तिक कहलावेंगे। *...दो-दो विवाह करना आदि धर्म जिस सम्प्रदाय में होते हों, उसमें कल्याण की आशा किसी भी सज्जन पुरुष को कभी भी नहीं करनी चाहिये।'*

'भागवत् खण्डनम्' में मानवीय चिन्ता

महर्षि ने सन् १८६६ में 'भागवत् खण्डनम्' नामक पुस्तिका लिखी थी। महर्षि की उपलब्ध कृतियों में यह सबसे पहली कृति है। श्रीमद्भागवत् वैष्णव सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ है, इसलिए इस पुस्तिका का दूसरा नाम 'वैष्णव मत खण्डन' भी है। आगरा के ज्वालाप्रकाश प्रेस से इसकी कई हजार प्रतियाँ प्रकाशित हुईं थीं। महर्षि ने इसे १२ अप्रैल १८६७ के हरिद्वार के मेले में निःशुल्क वितरित कराया था। 'यह अत्यन्त सुन्दर और समयोचित पुस्तिका उच्चकोटि की शुद्ध और ललित संस्कृत में लिखी गई है।' (महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, पं० लेखराम, पृष्ठ-८१६) संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ पाठकों के लिए पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक ने सन् १९५१ में इसका भाषानुवाद भी साथ में प्रकाशित किया है। जिस काल में यह पुस्तिका लिखी गई, उस समय राजपूताना तथा उत्तर भारत में श्रीमद्भागवत् की कथा का अत्यधिक प्रचलन था। इस पुस्तिका का मराठी अनुवाद आर्यसमाज नांदेड़ के मन्त्री श्री नारायण कुलकर्णीजी ने किया है, जिसे आर्यसमाज राम नगर लातूर के मन्त्री श्री ज्ञानकुमारजी आर्य ने प्रकाशित किया है।

महर्षि ने भागवत् का खण्डन करते हुए लिखा है— *'एक दोष से युक्त ग्रन्थ का भी प्रामाण्य नहीं होता, बहुत दोष वाले का कहाँ से होगा। ... यह भागवत्, वेद, गीता, मनुस्मृति और महाभारत के विरुद्ध है। ...इसलिए सुख चाहने वालों को कभी इस प्रमत्तगीत भागवत का कथन और श्रवण नहीं करना चाहिये, यही सिद्धान्त है। जो लोग लोभ से सुनाते हैं, और जो मूर्ख होने से सुनते हैं, वे सब पाखण्डी और महापातकी हैं। इस भागवत का अध्ययन-अध्यापन, कथन-श्रवण करना नरक-गमन का कारण है।* हमने 'स्थाली-पुलाक न्याय' से लिखा है, इतने से आप लोगों को जान लेना चाहिए कि— सारा भागवत ही अशुद्ध है। ग्रन्थान्त में महर्षि ने समस्त मनुष्यों की

कल्याण की कामना करते हुए उन्हें वेद, उपवेद, वेदांग, मनुस्मृति, वाल्मीकि निर्मित रामायण और महाभारत आदि ग्रन्थों का पठन-पाठन और श्रवण करने की सलाह दी है। (दयानन्दीय लघु ग्रन्थ संग्रह, पृष्ठ–४८४)।

महर्षि ने अपने 'सत्यार्थप्रकाश' आदि ग्रन्थों में खण्डनात्मक शैली अपनायी है। उनके एकाधिक पुस्तकों के शीर्षकों में भी खण्डन शब्दों का प्रयोग हुआ है, जैसे—'अद्वैत मत खण्डन', 'स्वामी नारायण मत खण्डन', 'वैष्णव मत खण्डन' आदि। पर उनकी इस खण्डन प्रक्रिया से बिल्कुल भी चौंकने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि *महर्षि ने समस्त संसार के कल्याण की भावना से 'खण्डन' का पुण्य कर्म किया है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार विष्णु प्रभाकर के शब्दों में—'खण्डन-मण्डन की धुंध की गहरी पर्त को भेदकर यदि कोई दयानन्द के अन्तर तक पहुँच पाता तो निश्चय ही वह देखता कि वह व्यक्ति एकता के लिए कितना आतुर रहता था।'* (महर्षि दयानन्द हिन्दी साहित्यकारों की दृष्टि में, पृष्ठ–५८)।

'आत्मकथा' में मानवीय चिन्ता

महर्षि दयानन्द द्वारा लिखित 'आत्मकथा' सर्वप्रथम सन् १८७९ के अक्तूबर, दिसम्बर तथा नवम्बर १८८० की 'थियोसोफिस्ट' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापक कर्नल अल्कॉट के अनुरोध पर महर्षि ने यह आत्मकथा तीन किश्तों में लिखी थी। इस आत्मकथा के वे दो स्थल यहाँ उद्धृत किए जाते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि महर्षि ने अपनी कुल-सम्पत्ति का त्याग समाज-सुधार, अर्थात् मानव-सुधार के उद्देश्य से ही किया था। महर्षि अपनी आत्मकथा का आरम्भ करते हुए लिखते हैं—'यहाँ अपने पिता का और निज निवास स्थान का प्रसिद्ध नाम इसलिए मैं नहीं लिखता कि जो माता-पिता आदि जीते हों, मेरे पास आवें, तो इस सुधार के काम में विघ्न हो; क्योंकि मुझको उनकी सेवा करना, उनके साथ घूमने में श्रम और धन आदि का व्यय करना नहीं चाहता।' ओखीमठ के रोचक आत्म-संस्मरण को लिपिबद्ध करते हुए महर्षि ने लिखा है—'वहाँ (ओखीमठ) के महन्त ने कहा कि तुम हमारे चेले हो जाओ, यहाँ रहो, लाखों के कारखाने तुम्हारे हाथ हो जावेंगे।

मेरे पीछे तुम्ही महंत हो जायेंगे। मैंने उनको उत्तर दिया कि सुनो, ऐसी मेरी इच्छा होती तो अपने माता, पिता, बन्धु, कुटुम्ब और घर आदि ही क्यों छोड़ता? क्या तुम्हारा स्थान और तुम उनसे भी अधिक हो सकते हो? मैंने जिसलिए सब छोडे हैं, वह बात तुम्हारे पास किंचिन्मात्र भी नहीं है। उनने पूछा कि वह क्या बात है? मैंने उत्तर दिया कि—सत्यविद्या, योग, मुक्ति और अपने आत्मा की पवित्रता आदि गुणों से धर्मात्मा पूर्वक उन्नति करना है। तब महंत ने कहा कि अच्छा तुम कुछ दिन यहाँ रहो। मैंने उनको कुछ उत्तर न दिया और प्रात:काल उठके, मार्ग में चल के, जोशीमठ पहुँच के, वहाँ के दक्षिण शास्त्री और संन्यासी थे, उनसे मिलकर वहीं ठहरा।' (परोपकारी : महर्षि दयानन्द-आत्मकथा विशेषांक : मार्च १९७५)।

महाराष्ट्र की पुणे नगरी में आत्मकथा पर प्रवचन देते हुए महर्षि ने ओखीमठ के महन्त से एक और बात कही थी, जो लिखित आत्म-कथा में नहीं है। वह यह कि—*'मैं सत्य, योग विद्या और मोक्ष प्राप्ति का उद्देश्य जब तक सिद्ध न होगा, तब तक बराबर अपने देश वालों का उपकार, जो मनुष्य का कर्त्तव्य है, करता रहूँगा।'* (दयानन्दीय लघु ग्रन्थ संग्रह, पृष्ठ-२१)।

'व्यवहारभानु' में मानवीय चिन्ता

महर्षि ने जहाँ विद्वानों के लिए वेदभाष्य जैसे ग्रन्थ रचे, वहाँ उन्होंने बालकों और साधारण पुरुषों के लिए 'व्यवहारभानु' जैसे अत्यन्त उपयोगी पुस्तिका की रचना की। क्योंकि बालक ही आगे चलकर राष्ट्र और विश्व के कर्णधार बनते हैं। इस ग्रन्थ में दृष्टान्तों द्वारा नित्यप्रति के व्यावहारिक कर्त्तव्यों का बहुत ही सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है। यह ग्रन्थ सन् १८८० में काशी में लिखा गया था। महर्षि ने 'व्यवहारभानु' के प्रथम परिच्छेद में ही लिखा है—'सब मनुष्यों को सुशिक्षा से युक्त होना अवश्य है, इसलिए यह बालक से लेकर वृद्ध पर्यन्त मनुष्यों के सुधार के अर्थ व्यवहार सम्बन्धी शिक्षा का विधान किया जाता है।' इसी पुस्तिका की भूमिका में भी महर्षि लिखते हैं—'मैं सब मनुष्यों को उत्तम शिक्षा के अर्थ सब वेदादिशास्त्र और सत्याचारी विद्वानों की रीति से युक्त इस 'व्यवहारभानु' ग्रन्थ को बनाकर प्रकट करता हूँ कि जिसको देख-दिखा, पढ़-पढ़ाकर मनुष्य अपने और अपने-अपने सन्तान तथा विद्यार्थियों का आचार

अत्युत्तम करें कि जिससे आप और वे, सब दिन सुखी रहें। इस ग्रन्थ में कहीं-कहीं प्रमाण के लिए संस्कृत और सुगम [हिन्दी] भाषा लिखी है और अनेक उपयुक्त दृष्टान्त देकर सुधार का अभिप्राय प्रकाशित किया है कि जिसको सब कोई सुख से समझ के अपना-*अपना स्वभाव सुधार के सब उत्तम व्यवहारों को सिद्ध किया करें।'* (दयानन्दीय लघु ग्रन्थ संग्रह, पृष्ठ-४९४)।

'गोकरुणानिधि' में मानवीय चिन्ता

दयासागर दयामय दयानन्द ने अपने कार्यकाल में गौ आदि मूक प्राणियों की रक्षार्थ महान् आन्दोलन किया था। एतदर्थ तीन करोड़ भारतवासियों के हस्ताक्षर युक्त प्रार्थना-पत्र वायसराय और भारत सरकार के पास भिजवाने के लिए वे प्रयत्नशील रहे। इस प्रयत्न के अतिरिक्त इस कार्य को स्थायी बनाने के लिए उन्होंने आगरा में 'गोकरुणानिधि' नामक पुस्तिका लिखी, जो सन् १८८१ में काशी से प्रकाशित हुई थी। इसका उद्देश्य स्पष्ट करते हुए महर्षि ने लिखा है, 'यह ग्रन्थ इसी अभिप्राय से रचा गया है, जिससे (गो, भैंस, उँट, बकरी, घोड़ा, हाथी, सुअर, कुत्ता, मुर्गा, मोर, हरिण, सिंह) आदि पशु जहाँ तक सामर्थ्य हों, बचाए जावें।' इस कार्य की सफलता हेतु परमात्मा से प्रार्थना करते हुए इसी पुस्तिका की भूमिका में महर्षि लिखते हैं, 'सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर इस सृष्टि में मनुष्यों के आत्माओं में अपनी दया और न्याय को प्रकाशित करे कि जिससे ये सब दया और न्याय युक्त होकर सर्वदा सर्वोपकारक काम करें। और स्वार्थपन से पक्षपात युक्त होकर कृपा पात्र गाय आदि पशुओं का विनाश न करें कि जिससे दुग्ध आदि पदार्थों और खेती आदि क्रियाओं की सिद्धि से युक्त होकर सब मनुष्य आनन्द में रहें।' महर्षि की धारणा थी कि—'गो आदि पशुओं के नाश होने से राजा और प्रजा का भी नाश हो जाता है।' अतः उनका यह विशेष अनुरोध था कि 'इनके बचाने में अत्यन्त पुरुषार्थ करें। जैसा कि आर्य (श्रेष्ठ) लोग सृष्टि के आरम्भ से आज तक वेदोक्त रीति से प्रशंसनीय कर्म करते आए हैं, वैसे ही सब भूगोलस्थ सज्जन मनुष्यों को करना उचित है। ग्रन्थान्त में भी महर्षि परमात्मा से प्रार्थना करते हुए कहते हैं, 'सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर हम और आप पर पूर्ण कृपा करें कि जिससे हम और आप लोग विश्व के हानिकारक कर्मों को छोड़

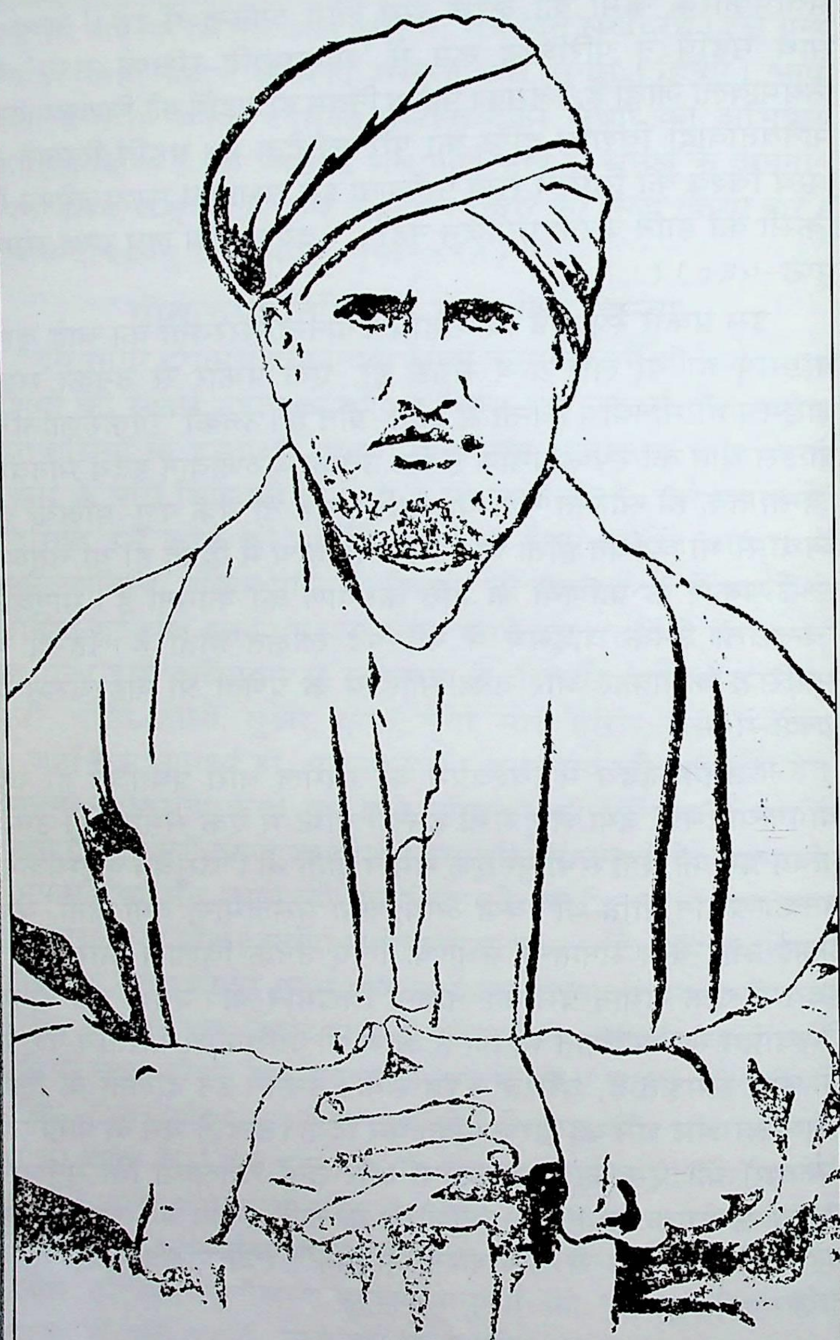
सर्वोपकारक कर्मों को करके सब लोग आनन्द में रहें।' ग्रन्थ के साथ महर्षि ने परिशिष्ट रूप में 'गोकृष्यादि रक्षिणी सभा' की नियमावली जोड़ी है, जिसका पहला नियम ही महर्षि की विश्वव्यापिनी मानवतावादी विशाल दृष्टि का परिचय देता है। महर्षि लिखते हैं, 'सब विश्व को विविध सुख पहुँचाना इस सभा का मुख्य उद्देश्य है। किसी की हानि करना प्रयोजन नहीं।' (दयानन्दीय लघु ग्रन्थ संग्रह, पृष्ठ-५६०)।

इस प्रकार स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती का चाहे बृहद् वाङ्मय हो या लघु ग्रन्थ संग्रह हो, एक प्रकार से उनका समग्र वाङ्मय ही मानवीय चिन्ता से ओत-प्रोत है। उनकी 'गोकरुणानिधि' तो इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उनका करुणावान् हृदय मानवीय चिन्ता तक ही सीमित नहीं था, अपितु वह तो मूक पशु-पक्षियों की व्यथा से भी व्यथित होता था। उनके साहित्य में द्विपद हो या चतुष्पद सभी प्रकार के प्राणियों के प्रति कल्याण की कामना है। मानवीय चिन्ता तो उनके वाङ्मय में पदे-पदे लक्षित होती है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कथाकार और बाल साहित्य के प्रणेता श्री ज़हूरबख़्श के शब्दों में—

"उनके हृदय में विश्वप्रेम की विमल धारा प्रधावित हो रही थी। क्या मित्र, क्या शत्रु सभी उनकी दृष्टि में एक समान थे। उनके पवित्र प्रेम की वर्षा सभी पर एक समान होती थी। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' उनकी प्रधान नीति थी। क्या आर्य, क्या मुसलमान, क्या जैनी, क्या ईसाई और क्या सनातनी सभी के लिए उनके विशाल और पवित्र हृदय में एक समान प्रेम की भावना विद्यमान थी। उनके इस अपूर्व विश्व प्रेम से, वे दलित भी जिन्हें आज भी अधिकांश भारतीय पशु से भी हीन समझते हैं, वंचित न रह सके। उन्होंने इन दलितों के लिए मनुष्यत्त्व और धर्म का द्वार उन्मुक्त कर दिया। उन्होंने धर्म के पाखण्डी ठेकेदारों को प्रेम का पाठ पढ़ाया और उन्हें बतलाया कि मनुष्य-मनुष्य सब एक समान हैं। मनुष्यत्त्व के नाते मनुष्य को चाहिए कि वह प्रत्येक मनुष्य से प्रेम करना सीखें।" (आर्यमित्र (ऋष्यंक) नवंबर १९२७)।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. संस्कृति के चार अध्याय, लेखक-श्रीरामधारी सिंह दिनकर,



महर्षि दयानन्द सरस्वती : १८८० : देहरादून : रेखाचित्र



महर्षि की प्रेरणा से स्थापित सर्वप्रथम गौशाला : सन् १८७९

संस्करण-सन् १९५६, प्रकाशक-राजपाल एण्ड संन्स, दिल्ली।

२. सुधा मासिक—सन् १९३३, संपादक-दुलारेलाल भार्गव, प्रबन्ध प्रतिमा ('महर्षि दयानन्द और युगान्तर' शीर्षक लेख) लेखक—श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, द्वितीय संस्करण-१९६३, भारती भण्डार, प्रयाग।

३. दयानन्दीय लघु ग्रन्थ संग्रह, संपादक-युधिष्ठिर मीमांसक, संस्करण-सन् १९७५ रामलाल कपूर ट्रस्ट, रेवली, सोनीपत, हरियाणा।

४. सत्यार्थप्रकाश, संपादक-युधिष्ठिर मीमांसक, संस्करण-१९७२, शेष पूर्ववत्।

५. दयानन्द ग्रन्थावली, प्रथम व द्वितीय खण्ड, संस्करण-१९८३, परोपकारिणी सभा, अजमेर, राजस्थान, पिन-३०५ ००१।

६. महर्षि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास, लेखक-युधिष्ठिर मीमांसक, संस्करण-सन् १९७२, रामलाल कपूर ट्रस्ट, रेवली, अभियान्त्रिकी महाविद्यालय मुरथल, सोनीपत, हरियाणा, पिन-१३१००१।

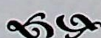
७. 'परोपकारी' मासिक, मार्च १९७५, महर्षि दयानन्द आत्मकथा विशेषांक, संपादक-डॉ० भवानीलाल भारतीय, परोपकारिणी सभा, अजमेर, पिन-३०५००१।

८. महर्षि दयानन्द हिन्दी साहित्यकारों की दृष्टि में, संपादक-डॉ० भवानीलाल भारतीय, संस्करण-१९८७, आर्य प्रकाशन, ८१४-कुण्डेवालान, अजमेरी गेट, दिल्ली-११०००६।

९. दिव्य दयानन्द, लेखक : श्री पूर्णचन्द्र एडवोकेट, संपादक-आचार्य सत्यानन्द 'नैष्ठिक', संस्करण १९९९, प्रकाशक-सत्य धर्म प्रकाशन, गुरुकुल भैयापुर-लाढौत, रोहतक (हरयाणा)-१२४ ००१।

१०. 'गोकरणानिधि' का मराठी अनुवाद नांदेड़ आर्यसमाज के मन्त्री श्री नारायण कुलकर्णीजी ने किया है, जिसे आर्यसमाज खड़की (औरंगाबाद) के मन्त्री श्री दयारामजी बसैये ने प्रकाशित किया है।

—हिन्दी साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद के तिरुवनंतपुरम् में सम्पन्न ५३वें अधिवेशन के अवसर पर ११-१३ जनवरी सन् २००२ में प्रकाशित स्मारिका से साभार।



(२)

महर्षि दयानन्द का दलितोद्धार के सन्दर्भ में योगदान

दलितोद्धार से सम्बद्ध कतिपय पारिभाषिक शब्द

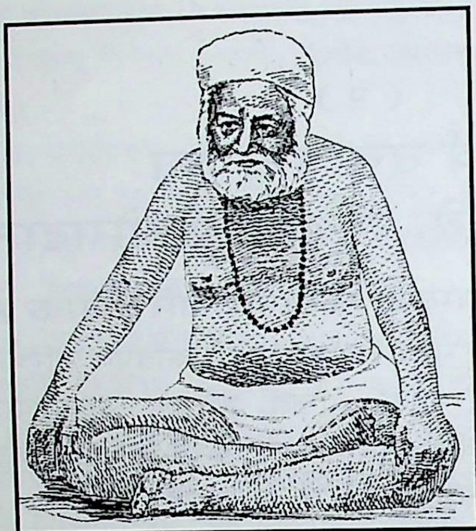
दलितोद्धार के प्रसंग में चर्चित होने वाले कतिपय पारिभाषिक शब्द हैं—वर्ण व्यवस्था, शुद्धि, दलित, हरिजन, अस्पृश्योद्धार, अछूतोद्धार आदि। इन सबका आशय स्पष्ट करने के लिए सर्वप्रथम संक्षेप में इनका विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

वर्ण व्यवस्था—

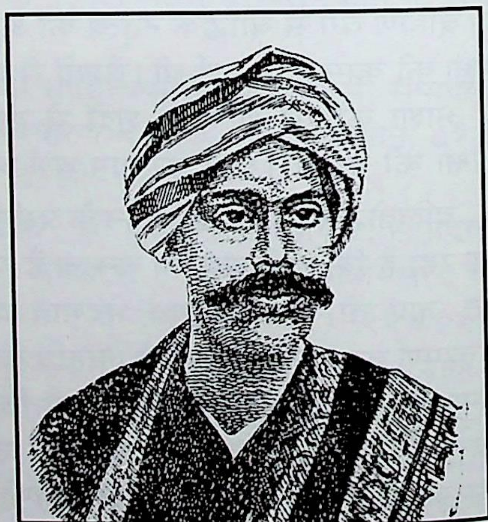
भिन्न-भिन्न क्षमताओं वाले व्यक्तियों को प्राचीन काल से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार संज्ञाओं से सम्बोधित किया गया था। ब्राह्मण वर्ग से बौद्धिक नेतृत्व की अपेक्षा की गई थी। क्षत्रियों से सुरक्षा की कामना की गई थी। वैश्यों से व्यापार के माध्यम से समृद्धि की आशा की गई थी तथा शूद्रों से शारीरिक श्रम द्वारा सेवा की अपेक्षा की गई थी। इसी का नाम वर्ण व्यवस्था था।

दलितोद्धार या जातिनिर्मूलन के प्रसंग में प्रायः यह प्रश्न उपस्थित होता रहा है कि वर्ण व्यवस्था जन्मना है या कर्मणा। यदि उसे जन्मना माना जाए तो वह जातिगत भेदभाव को निर्माण करने का एक महत्त्वपूर्ण कारण सिद्ध होती है। महर्षि दयानन्द कर्मणा वर्ण व्यवस्था के पक्षधर हैं। उनकी यह धारणा थी कि जन्मना वर्ण व्यवस्था तो पाँच-सात पीढ़ियों से शुरु हुई है, अतः उसे पुरातन या सनातन नहीं कहा जा सकता। अपने तार्किक प्रमाणों द्वारा उन्होंने जन्मना वर्ण व्यवस्था का सशक्त खण्डन किया है। उनकी दृष्टि में जन्म से सब मनुष्य समान हैं, जो जैसे कर्त्तव्य-कर्म करता है, वह वैसे वर्ण का अधिकारी होता है। कारण चाहे कुछ भी हो, या न हो, जन्मना वर्ण व्यवस्था मानने वाले महर्षि दयानन्द के मत से असहमत हैं।

काशी शास्त्रार्थ के माननीय विपक्षी प्रतिनिधि



स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती
(१८२०-१८९८)



पं० बाल शास्त्री रानडे
(१८३९-१८८२)

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा लिखित
एक पत्र की चित्र प्रतिलिपि

बाबू मन्नीलाल जी आनन्दित रहो
हम यहांसे चल के आनन्दपूर्वक का
शी में पहुंचकर महाराजे विजयान
गर के आनन्दबाग में ठहरे हैं यह
बाग बहुत अच्छा है हवा और
जल यहांका बहुत अच्छा है म
कान भी इस बाग में बहुत और उ
त्तम हैं यह बाग प्रसिद्ध है इसमें
ठहरने के लिये लाजरस साहेब
ने प्रबंध करके रक्खा था चिट्ठी
पहुंचने पर जैसा यह बाग है
वैसा काशी में दूसरा नहीं है इ
सके और भी अवश्य लिखने योग्य
समाचार हों वे लिखे जायंगे आप
लोग भी लिखते रहना॥ सबसे रामा
नन्दसे कहना॥ सं० १९३६ मि० का० प
[illegible] वार दयानन्दसरस्वती
काशी

यह पत्र पत्र-विज्ञापन' भाग १, पृष्ठ ३०४ पर छपा है। (वहां भूल से दो लाइनें दुबारा छप गई हैं)।

ऋषि दयानन्द का स्वहस्त-लिखित पत्र

राजा शिवप्रसाद जी आनन्दित रहो
आपका पत्र मेरे पास आया देखकर अभिप्राय जान लि
या इसके देखने से मुझको निश्चित हुआ कि आपने वेदों से लेके
पूर्वमीमांसा पर्यन्त विद्यापुस्तकों के मध्य में से किसी भी पु
स्तक के शब्दार्थ संबंधों को नहीं जाना है इसलिये आपको मेरी बनाई
भूमिका का अर्थ भी ठीक २ विदित न हुआ जो आप मेरे पास आके स
मझते तो कुछ २ समझ सकते परन्तु जो आपको अपने प्रश्नों
के प्रत्युत्तर सुनने की इच्छा हो तो स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती बाबा
ल शास्त्रीजी को खड़ा करके सुनियेगा तो भी आप कुछ २ समझ
लेंगे भला विचार तो कीजिये कि आप उन पुस्तकों के पढ़े विना
वेद और ब्राह्मण पुस्तकों का कैसा आपसमें संबन्ध क्या २ उनमें
है और स्वतः प्रमाण तथा ईश्वरोक्त वेद और परतः प्रमा
ण और ऋषिमुनिकृत ब्राह्मण पुस्तक हैं इन हेतुओं से क्या २ सि
द्धान्त सिद्ध होते हैं और ऐसे हुए विना क्या २ हानि होती है इनके वि
द्यारहस्य की बातों को जाने विना आप कभी नहीं समझ सकते। सं० १९३६ मि० वै०
दयानन्दसरस्वती
व० सप्तमी शनिवार

यह पत्र 'पत्र-विज्ञापन' भाग १, पृष्ठ ३३१ पर छपा है।

शुद्धि—

किसी मत विशेष से स्वमत में प्रवेश प्रक्रिया के सन्दर्भ में शुद्धि शब्द का प्रयोग कब और कैसे शुरु हुआ, इसकी विश्वसनीय जानकारी प्राप्त नहीं होती। पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति का अनुमान है कि कभी वैदिक धर्म में प्रवेश के लिए किसी समाचार में संवाददाता ने शुद्धि शब्द का प्रयोग किया होगा और वह चल गया होगा। शुद्धि शब्द का विश्लेषण करते हुए वे यह स्पष्ट करते हैं कि यह मानना कि हिन्दू कहलाने वाला व्यक्ति चाहे कितना भी पतित हो वह शुद्ध और अन्य मतावलम्बी चाहे कितना ही सज्जन हो, अशुद्ध है। यह महर्षि दयानन्द की धारणा के विपरीत है। दयानन्द तो विचारों के साथ सदाचार और खान-पान की शुद्धि पर भी बल देते थे। विदेश यात्रा या विदेशियों के साथ ज्ञानार्जन को उन्होंने कभी अशुद्ध नहीं माना। दुष्ट भोजन और कुत्सित आचार ही उनके लिए अशुद्धि या पाप थे। यह बात सही है कि अछूत कहलाने वाले हिन्दुओं की तरह वैदिक धर्म में प्रविष्ट होने वाले मुस्लिम-ईसाई आदि अहिन्दुओं के लिए भी प्रारम्भ में शुद्धि शब्द का प्रयोग होता था। कालान्तर में दलितों को अन्य मतावलम्बियों से पृथक् करने के लिए दलितोद्धार शब्द का प्रयोग होने लगा। शुद्धि शब्द अन्य मतावलम्बियों तक ही सीमित रह गया[१]।

अस्पृश्य-अछूत-दलित—

'दलितोद्धार' से पूर्व दलितों के लिए सार्वजनिक सामाजिक क्षेत्र में अस्पृश्य और अछूत शब्द प्रचलित थे, लेकिन जब समाज सुधार के बाद समाज में यह धारणा बनने लगी कि कोई भी अस्पृश्य और अछूत नहीं है, तो धीरे-धीरे अस्पृश्य-अछूत के स्थान पर दलित शब्द रूढ़ हो गया। स्वाभाविक रूप से अस्पृश्योद्धार-अछूतोद्धार का स्थान भी दलितोद्धार ने ले लिया। मानसिक परिवर्तन ने पारिभाषिक संज्ञाओं को भी परिवर्तित कर दिया।

प्रदीर्घ समय तक सामाजिक-आर्थिक आदि दृष्टि से जिनका दलन किया गया, कालान्तर में उन्हें ही दलित कहा गया। पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति के अनुसार जब यह महसूस किया जाने लगा कि शुद्धि और दलितोद्धार दोनों चीजें एक-सी नहीं हैं। दलितों की हीन

दशा के लिए सवर्ण समझे जाने वाले लोग ही जिम्मेदार हैं, जिन्होंने जाति के करोड़ों व्यक्तियों को अछूत बना रखा है। उन्हें मानवता का अधिकार देना सवर्णों का कर्त्तव्य है। इस विचार को सामने रखकर आर्यसमाज के कार्यकर्त्ताओं ने अछूतों के लिए दलित और अछूतों के उद्धार कार्य के लिए दलितोद्धार की संज्ञा दे दी[२]। तभी से अछूतों की शुद्धि के सन्दर्भ में 'दलितोद्धार' संज्ञा प्रचलित हो गई। यह बात अविस्मरणीय है कि आर्यसमाज के समाज सुधार आन्दोलन ने ही दलित आन्दोलन को दलित और दलितोद्धार जैसे सक्षम शब्द प्रदान किए हैं। सन् १९१७ से १९२४ के मध्य स्वामी श्रद्धानन्दजी दिल्ली को केन्द्र बनाकर दलितोद्धार के कार्य में सर्वात्मना समर्पित थे। वे ही दलितोद्धार सभा के संस्थापक थे। उसी काल में दलित-दलितोद्धार जैसे अभिनव शब्द समाज सुधार आन्दोलन को आर्यसमाज ने प्रदान किए। कालान्तर में डॉ० अम्बेडकर और उनके आन्दोलन ने इन संज्ञाओं को स्वीकार कर इन्हें और भी अधिक रूढ़ बनाया।

हरिजन—

अस्पृश्योद्धार आन्दोलन को हरिजन आन्दोलन नाम देने का कार्य महात्मा गाँधीजी ने किया है। 'हरिजन' पत्र के माध्यम से भी उन्होंने इस आन्दोलन को गति दी। गाँधीजी ने यह सोचकर कि जिनका कोई नहीं, उनका हरि है, इन्हें हरिजन नाम दे दिया[३]। निश्चिय ही यह नाम देते समय महात्माजी के अन्तःकरण में अस्पृश्यों के प्रति सद्भावना होगी, पर डॉ० अम्बेडकर को मिस्टर गाँधी द्वारा दिया गया यह नाम पसंद नहीं आया। वस्तुतः नास्तिक बौद्ध धर्म की ओर झुकाव होने के कारण उन्हें हरि जैसी अनादि सत्ता में विश्वास भी नहीं था। फिर अस्पृश्यों को हरिजन नाम देने वाले महात्मा गाँधी महर्षि दयानन्द की तरह कर्मणा वर्ण व्यवस्था के पक्षधर न होकर जन्मना वर्ण व्यवस्था के हिमायती थे। डॉ० अम्बेडकरजी के लिए राजनैतिक नेताओं की तुलना में आर्यसमाजी नेता अधिक विश्वसनीय थे। ऐसे ही कुछ कारण रहे होंगे जिससे उन्होंने हरिजन शब्द की उपेक्षा की होगी और दलित शब्द को स्वीकार किया होगा। आज महाराष्ट्र में डॉ० अम्बेडकर का दलित अनुयायी 'हरिजन' संज्ञा को अपने लिए प्रयुक्त अपशब्द-सा ही समझता है। पं० इन्द्र

विद्यावाचस्पति के अनुसार केवल जन्म के आधार पर अनेक जातियों को एक अलग वर्ग मानकर उन्हें हरिजन का नाम दे देना सर्वथा अनुचित है[४]। वह मनुष्य मात्र की समानता की दृष्टि से तो अनुचित है ही, व्यावहारिक दृष्टि से भी अत्यन्त हानिकारक है।

महर्षि दयानन्द की वर्ण व्यवस्था और दलितोद्धार विषयक शास्त्रीय भूमिका

आधुनिक नवजागरण काल में महर्षि दयानन्द प्रथम महापुरुष थे, जिन्होंने शास्त्रीय आधार पर एक बार फिर से वर्ण व्यवस्था का गुण-कर्म पर आधारित होना घोषित किया। स्वरचित ग्रन्थों द्वारा उन्होंने यह सिद्ध किया कि इस सामाजिक विधान का आधार गुण-कर्म-स्वभाव ही है न कि जन्म। वर्ण परिवर्तन के सिद्धान्त को भी उन्होंने शास्त्रीय धरातल पर स्वीकार किया है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'सत्यार्थप्रकाश' के परिशिष्ट 'स्वमंतव्यामंतव्य प्रकाश' में स्पष्ट रूप से यह घोषित किया है कि 'मैं वर्णाश्रम गुण कर्मों की योग्यता से मानता हूँ[५]।' 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' में वर्ण की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—जो गुण और कर्मों के योग से ग्रहण किया जाता है, वह वर्ण शब्दार्थ से लिया जाता है[६]। 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के वर्णाश्रम प्रकरण में अपनी भूमिका को और अधिक स्पष्ट करते हुए महर्षि लिखते हैं, 'प्रथम मनुष्य जाति सबकी एक है। ....मनुष्य जाति के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये वर्ण कहाते हैं...। ये चार भेद गुण-कर्मों से किये गए हैं। इनका नाम वर्ण इसलिए है कि जैसे जिसके गुण-कर्म हों, वैसा ही उसको अधिकार देना चाहिए[७]।' सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में महर्षि दयानन्द अपनी वर्ण व्यवस्था विषयक धारणा को निष्कर्ष रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं, 'जिस-जिस पुरुष में जिस-जिस वर्ण के गुण-कर्म हों, उस-उस वर्ण का अधिकार देना। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं। क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोषयुक्त होंगे तो शूद्र हो जायेंगे और सन्तान भी डरते रहेंगे कि जो हम उक्त चाल-चलन और विद्यायुक्त न होंगे, तो शूद्र होना पड़ेगा और निम्न वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिए उत्साह बढ़ेगा।' आगे वे इन चारों वर्णों को यथायोग्य

अधिकार देने का काम राजा और सभ्यजनों को सौंपते हैं—'विद्या और धर्म के प्रचार का अधिकार ब्राह्मण को देना, क्योंकि वे पूर्ण विद्यावान् और धार्मिक होने से उस काम को यथायोग्य कर सकते हैं। क्षत्रियों को राज्य के अधिकार देने से कभी राज्य को हानि वा विघ्न नहीं होता। पशु पालनादि का अधिकार वैश्यों ही को योग्य है, क्योंकि वे इस काम को अच्छी प्रकार कर सकते हैं। शूद्र को सेवा का अधिकार इसलिए है कि वह विद्या रहित (मूर्ख) होने से विज्ञान सम्बन्धी काम कुछ भी नहीं कर सकता, किन्तु शरीर के सब काम कर सकता है। इस प्रकार वर्णों को अपने-अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि सभ्यजनों का काम है[८]।'

महर्षि ने 'संस्कार विधि' के गृहाश्रम प्रकरण में 'मनुस्मृति' तथा 'गीता' के आधार पर ब्राह्मण आदि वर्णों के लक्षण उद्धृत करने के उपरान्त लिखा है, 'ये गुण-कर्म जिन व्यक्तियों में हों, वे ब्राह्मण और ब्राह्मणी होवें। विवाह भी इन्हीं वर्ण के गुण-कर्म-स्वभावों को मिलाकर करें। मनुष्य मात्र में से इन्हीं [गुण-कर्म वालों को] ब्राह्मण वर्ण का अधिकार होवे।' इसी प्रकार की बात क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए कहने के बाद महर्षि लिखते हैं, ''इन गुण कर्मों के योग से ही चारों वर्ण होवें, तो उस कुल, देश और मनुष्य समुदाय की बड़ी उन्नति होवे और जिनका जन्म जिस वर्ण में हो, उसी के सदृश गुण-कर्म-स्वभाव हों तो अतिविशेष है[९]।''

महर्षि दयानन्द ने 'छान्दोग्य उपनिषद्', 'महाभारत' तथा अपनी तर्क शक्ति के आधार पर कर्मणा वर्ण व्यवस्था की शास्त्रीय भूमिका को 'सत्यार्थप्रकाश' में प्रश्नोत्तर शैली में निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—

''**प्रश्न**—क्या जिसके माता ब्राह्मणी, पिता ब्राह्मण हों, वह ब्राह्मण होता है? और जिसके माता-पिता अन्य वर्णस्थ हों, उनका सन्तान कभी ब्राह्मण हो सकता है?

उत्तर—हाँ, बहुत से, हो गए, होते हैं, और होंगे भी। जैसे 'छान्दोग्य उपनिषद्' में जाबाल महर्षि अज्ञातकुल, 'महाभारत' में विश्वामित्र क्षत्रिय वर्ण और मातंग महर्षि चाण्डाल कुल से ब्राह्मण हो गए थे। अब भी जो उत्तम विद्या स्वभाव वाला है, वही ब्राह्मण के

योग्य और मूर्ख शूद्र के योग्य होता है और वैसा ही आगे भी होगा।

प्रश्न—हमारी उलटी और तुम्हारी सूधी समझ है, इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर—यही प्रमाण है कि जो तुम पाँच-सात पीढ़ियों के वर्त्तमान को सनातन व्यवहार मानते हो। और हम वेद तथा सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त की परम्परा मानते हैं। देखो, जिसका पिता श्रेष्ठ उसका पुत्र दुष्ट और जिसका पुत्र श्रेष्ठ उसका पिता दुष्ट तथा कहीं दोनों श्रेष्ठ व दुष्ट देखने में आते हैं। इसलिए तुम लोग भ्रम में पड़े हो।

जो कोई रज-वीर्य के योग से (जन्मना) वर्ण व्यवस्था मानें और गुण-कर्मों के योग से न मानें तो उससे पूछना चाहिए कि जो कोई अपने वर्ण को छोड़ अन्त्यज अथवा क्रिश्चन-मुसलमान हो गया हो, उसको भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते ? यहाँ यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिए, इसलिए वह ब्राह्मण नहीं है। इससे यह भी सिद्ध होता है जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं, वे ही ब्राह्मणादि और जो निम्न भी उत्तम वर्ण के गुण-कर्म-स्वभाव वाला होवे, तो उसको भी उत्तम वर्ण में और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच काम करे तो उसको निम्न वर्ण में गिनना अवश्य चाहिए।

प्रश्न—जो किसी के एक ही पुत्र व पुत्री हो वह दूसरे वर्ण में प्रविष्ट हो जाए तो उसके माँ-बाप की सेवा कौन करेगा, और वंशोच्छेदन भी हो जाएगा। इसकी क्या व्यवस्था होनी चाहिए ?

उत्तर—न किसी की सेवा का भंग और न वंशोच्छेदन होगा, क्योंकि उनको उनकी अपने लड़के-लड़कियों के बदले स्व वर्ण के योग्य दूसरे सन्तान विद्यासभा और राजसभा की व्यवस्था से मिलेंगे, इसलिए कुछ अव्यवस्था न होगी। यह गुण, कर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुषों की पचीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिए, और इसी क्रम से, अर्थात् ब्राह्मण वर्ण की ब्राह्मणी, क्षत्रिय वर्ण की क्षत्रिया, वैश्य वर्ण की वैश्या और शूद्र वर्ण की शूद्रा के साथ विवाह होना चाहिए, तभी अपने-अपने वर्णों के कर्म और परस्पर प्रीति भी यथायोग्य रहेगी[१०]।''

शास्त्र और तर्क दोनों ही आधारों पर महर्षि दयानन्द वर्ण व्यवस्था

को जन्मना नहीं, अपितु कर्मणा सिद्ध करते हैं। उनकी दृढ़ धारणा के अनुसार कर्मणा वर्ण व्यवस्था के लड़खड़ा जाने से और जन्मना वर्ण व्यवस्था प्रचलित हो जाने से जातिगत भेदभाव में वृद्धि हुई है। उनकी दृष्टि में जातीयता के निर्मूलन के लिए जन्मना वर्ण व्यवस्था का विरोध और कर्मणा वर्ण व्यवस्था की स्थापना करना बहुत ही श्रेयस्कर है।

महर्षि दयानन्द की दलितों के उन्नयन में व्यावहारिक भूमिका

महर्षि दयानन्द का व्यक्तित्त्व मनसा-वाचा-कर्मणा एक जैसा था। वे अपने सिद्धान्तों का केवल वाणी और लेखनी द्वारा ही प्रचार नहीं करते थे, अपितु उन्हें वे अपने क्रियात्मक जीवन में सार्थकता प्रदान करते थे। वर्ण व्यवस्था और दलितोद्धार के सन्दर्भ में उनके जीवन से एकाधिक उदाहरण प्रस्तुत हैं—

खान-पान या स्पृश्यास्पृश्यता की दृष्टि से देखें तो महर्षि दयानन्द का प्रगतिशील व्यक्तित्व हमें पदे-पदे नजर आता है। सन् १८६७ में गढ़मुक्तेश्वर में वे मांझी की आधी रोटी खाते हैं[१]। सन् १८६८ में फर्रुखाबाद में श्री सुखवासीलाल साध द्वारा लाए कढ़ी-भात का भोजन स्वीकार करते हैं[२]। सन् १८७२ में अनूपशहर में उपस्थित जनसमुदाय के बीच नाई का भोजन ग्रहण करते हैं[३]। सन् १८७४ में अलीगढ़ जनपद के जाट श्री गुरु रामप्रसाद के वेद भाष्यानुवाद को संशोधित करने के लिए वे अपना अमूल्य समय देने के लिए तत्पर रहते हैं[४]। सन् १८७४ में ही बिना जूते पहने कच्चा भोजन लाने वाले भक्त ठाकुरप्रसाद से वे यह स्पष्ट रूप में कह देते हैं कि मैं छुआछूत को नहीं मानता आप भी इस बखेड़े में मत पड़िए[५]। इसी वर्ष गुजरात के कातार गाँव में किसानों द्वारा आग में भूनकर दी गई ज्वार (पोंक-हुर्डा) को वे सहर्ष ग्रहण करते हैं[६]। पुणे में सर्वश्री गोविन्द मांग, गोपाल चमार, रघु महार आदि का लिखित प्रार्थना पत्र पाकर शूद्रातिशूद्रों के विद्यालय में १६ जुलाई १८७५ को वेदोपदेश देते हैं[७]। सन् १८७८ में मुस्लिम डाकिए द्वारा एक अस्पृश्य (कसाई मजहबी सिख) श्रोता को अन्य श्रोताओं द्वारा दुत्कारे जाने पर भी वेद-प्रवचन में आने का निमन्त्रण देते हैं[८]। महर्षि के अंग्रेजी चरित्रकार और महिलाओं

के लिए केन्द्रीय असेम्बली में शारदा कानून प्रस्तोता दीवान बहादुर श्री हरविलास शारदा के अनुसार स्वामीजी अपने नाम के अनुसार परम दयालु थे। नवम्बर १८७८ में अजमेर में व्याख्यान देते समय एक दिन आपको समाचार मिला कि आगरा और देहली दरवाजों के बाहर आना सागर घाटी के नीचे भरतपुरिया चमारों की झोपड़ियों में आग लग गई है और वे लोग बेघर हो गए हैं। महाराज ने तत्काल इन पीड़ितों की सहायता के लिए कुछ रुपये दिए और उपस्थित जनता से भी दान एकत्रित कर पुष्कल सहायता की (अजमेर और ऋषि दयानन्द : प्रकाशक-परोपकारिणी सभा, संस्करण : १९५८, पृष्ठ-११)। सन् १८७९ में जन्म के मुसलमान मुहम्मद उमर को अलखधारी नाम प्रदान कर अपनत्त्व प्रदान करते हैं[१]*। अपने ही नहीं सबके मोक्ष की चिन्ता करने वाले थे महर्षि दयानन्द। किसी जाति-सम्प्रदाय-वर्ग विशेष के लिए नहीं, अपितु सारे संसार के उपकार के लिए उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की थी।*

सन् १८८० में काशी में एक दिन एक मनुष्य ने वर्ण व्यवस्था को जन्मगत सिद्ध करने के उद्देश्य से महाभाष्य का निम्न श्लोक प्रस्तुत किया—

विद्या तपश्च योनिश्च एतद् ब्राह्मण्य कारकम्।
विद्या तपोभ्यां यो हीनो जाति ब्राह्मण एव सः॥

—४।१।४८

अर्थात्—ब्राह्मणत्त्व के तीन कारक हैं—विद्या, तप और योनि। जो विद्या और तप से हीन है वह जात्या (जन्मना) ब्राह्मण तो है ही।

महर्षि दयानन्द ने प्रतिखण्डन में यह श्लोक प्रस्तुत किया—

यथा काष्ठमयो हस्ती, यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥

—मनुस्मृति २, १५७

अर्थात्— *जैसे काठ का कठपुतला हाथी और चमड़े का बनाया मृग होता है, वैसे ही बिना पढ़ा हुआ ब्राह्मण होता है। उक्त हाथी, मृग और विप्र ये तीनों नाम मात्र धारण करते हैं*[२०]। 'संस्कारविधि' में भी महर्षि दयानन्द ने अपनी इस धारणा को अभिव्यक्त किया है।

सन् १८८० में ही काशी में एक दिन एक और व्यक्ति ने महर्षि

से जातिभेद के विषय पर विचार किया। प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा कि—ब्राह्मणादि वर्ण जन्मगत नहीं हो सकते यदि ऐसा हो तो एक ब्राह्मण के दो पुत्रों में से एक ईसाई और एक मुसलमान हो जाए तो क्या फिर वे ब्राह्मण ही माने जायेंगे, यदि नहीं माने जायेंगे तो फिर जन्म से ब्राह्मणत्त्व कहाँ रहा[२१] ? महर्षि ने 'सत्यार्थप्रकाश' के चतुर्थ समुल्लास में भी इस बात का प्रतिपादन किया है। सन् १८८० में ही मेरठ में लगभग एक मास तक महर्षि दयानन्द की अन्तेवासिनी बनकर शिक्षा ग्रहण करने वाली महाराष्ट्रीय विदुषी पण्डिता रमाबाई ने १३ नवम्बर १९०३ को लिखे पत्र में यह स्वीकार किया था कि 'स्वामीजी की शिक्षा स्त्रियों को वेदाधिकार प्रदान करती थी और इस कारण मैं उनसे प्रसन्न थी[२२]।'

सन् १८७६ में मुम्बई में हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के सुपुत्र का उपनयन संस्कार[२३] करवाने वाले और इससे पूर्व कर्णवास में हँसादेवी ठाकुर को गायत्री मन्त्र का उपदेश देने वाले महर्षि दयानन्द १८८० में मुन्शी मुख्तावर सिंह, मुन्शी समर्थदान तथा लाला शादीराम का भी उपनयन संस्कार करवाते हैं। स्मरण रहे महर्षि दयानन्द से पूर्व और विशेष रूप से मध्यकाल से ब्राह्मणों के अतिरिक्त सभी वर्णस्थ व्यक्तियों को शूद्र समझा गया था, अतः क्रमशः मुगल और आंग्ल काल में महाराष्ट्र केसरी छंत्रपति शिवाजी महाराज, वडोदरा नरेश सयाजीराव गायकवाड और कोल्हापुर नरेश राजर्षि शाहू महाराज को उपनयन आदि वेदोक्त संस्कार कराने हेतु आनाकानी करने वाले ब्राह्मणों के कारण मानसिक यातनाओं के बीहड़ जंगल से गुजरना पड़ा था। सन् १८८० में दानापुर में अर्धरात्रि में टहलते हुए महर्षि दयानन्दजी के पैरों की आहट पाकर जब कर्मचारी ने कष्ट का कारण पूछा तो महर्षि ने प्रत्युत्तर में कहा था कि *'ईसाई लोग दलितों को ईसाई बनाने का भरसक प्रयत्न कर रहें हैं और अपना रुपया पानी की तरह बहा रहे हैं और इधर हमारे नेता कुम्भकर्ण की नींद सो रहें हैं। यही चिन्ता मुझे विकल कर रही है[२४]।'*

सन् १८६७ में हरिद्वार में महर्षि दयानन्द ने पाखण्ड खण्डिनी पताका गाड़कर जब सार्वजनिक जीवन में अंगद की तरह दृढ़ता पूर्वक कदम रखा था, तभी से वे जन्मना वर्ण व्यवस्था के विरोधी थे।

काशी के प्रसिद्ध पं० *स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती* भी इस कुम्भ मेले में उपस्थित थे। जब उन्होंने ***'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्.....'*** मन्त्र का यह अर्थ किया कि 'ब्राह्मण परमेश्वर के मुख से उत्पन्न हुए, क्षत्रिय भुजा से, वैश्य जाँघ से और शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए। तब महर्षि ने इसका खण्डन करते हुए कहा कि 'यदि इसका यही अर्थ है तो मुख से खखार भी उत्पन्न होता है। *मन्त्र का सही अर्थ ब्राह्मण मुख से उत्पन्न हुए नहीं, अपितु मुख के समान हैं*[२५]। इससे स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भ में भी वर्ण व्यवस्था जन्मगत नहीं, अपितु गुण-कर्मानुसार ही मानते थे। सन् १८८२ में उदयपुर में, एक प्रकार से दयानन्दजी के जीवन की सन्ध्या काल में, दो साधु उनसे मिले और निवेदन किया कि 'आप अधिकारी लोगों को ही उपदेश दिया करें।' प्रत्युत्तर में महर्षि ने कहा कि, *'धर्म के विषय में अधिकार-अनधिकार का प्रश्न उठाना सर्वथा व्यर्थ है, धर्मोपदेश सुनने का मनुष्य मात्र को अधिकार है। आपकी जाति और धर्म के सैकड़ों मनुष्य विधर्मी हो रहें हैं और आप अधिकार-अनधिकार का पचड़ा लिए बैठें हैं। पहले उन्हें तो बचाइए*[२६] *।'* महर्षि के इसी सन्देश को व्यक्त करते हुए श्री कुँवर सुखलाल आर्य मुसाफिर (१८९०-१९८१) ने अपनी एक गजल में लिखा था, 'लो दलितों को छाती लगा भाइयो! वरना ये लाल औरों के घर जायेंगे।'

महर्षि दयानन्द के अन्तःकरण में दलित, शोषित, निर्धनों के प्रति अत्यन्त ही करुणा थी। 'संस्कार विधि' में उन्होंने लिखा है, 'अन्त्येष्टि संस्कार हेतु महादरिद्र भिक्षुक को आधे मन से कम घी न देवें[२७]।' महर्षि दयानन्द राजस्थान के एक नरेश को अपने पत्र में लिखते हैं, 'शासक यदि भोजन पर बैठा हो और उस समय यदि उसे कहीं से नारी का करुण रुदन सुनाई दे तो उसका कर्त्तव्य है कि वह थाली से उठकर पहले उसके आँसू पोंछे। अपने निष्प्राण शिशु का कफन तन ढकने के लिए वापिस ले जाने वाली माँ की विवशता को देख महर्षि दयानन्द का करुणावान् हृदय अतिशय विह्वल हो उठा था। महर्षि दयानन्द ने जहाँ दलितों का उद्धार किया वहाँ दलितों से भी अत्यधिक दलित-प्रपीड़ित स्त्री जाति की भी आन्तरिक व्यथा को तहेदिल से दूर करने का प्रयास किया। मौत के जबड़े में जा रही

आर्य जाति को अवनति से महर्षि दयानन्द बेहद चिन्तित थे, इसीलिए उन्होंने एक बार श्री मोहनलाल पंडया से कहा था, *'धर्माचार्यों के प्रमाद के कारण लोग विधर्मी हो रहे हैं, अतः बढ़ती हुई कुरीतियों और कुनीतियों को नष्ट करने के लिए कडुए उपदेशों के कोड़ों से इन सबको जगाना बहुत जरूरी है[२८]।'*

दलितों के उत्कर्ष हेतु महर्षि दयानन्द द्वारा अपनाये गए साधन

'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः'। ज्ञानी हुए बिना इन्सान की मुक्ति सम्भव नहीं है। अतः महर्षि दयानन्द का दलितोद्धार की दृष्टि से भी सब से महान् कार्य यह था कि उन्होंने सबके साथ दलितों के लिए भी वेद विद्या के दरवाजे खोल दिए। मध्यकाल में स्त्री-शूद्रों के वेदाध्ययन पर जो प्रतिबन्ध लगाये गए थे आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द ने अपने मेधावी क्रान्तिकारी चिंतन और व्यक्तित्त्व से उन सब प्रतिबन्धों को अवैदिक सिद्ध कर दिया। महर्षि दयानन्द के दलितोद्धार के इस प्रधान साधन और उपाय में ही उनके द्वारा अपनाये गए अन्य सभी उपायों का समावेश हो जाता है, जैसे—१. दलित स्त्री-शूद्रों को गायत्री मन्त्र का उपदेश देना। २. उनका उपनयन संस्कार करना। ३. उन्हें होम-हवन करने का अधिकार प्रदान करना। ४. उनके साथ सहभोज करना। ५. शैक्षिक संस्थाओं में शिक्षा वस्त्र और खान-पान हेतु उन्हें समान अधिकार प्रदान करना। ६. गृहस्थ जीवन में पदार्पण हेतु युवक-युवतियों का विवाह जन्मना जाति के आधार पर न करके गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार (अन्तर जातीय) विवाह करने की प्रेरणा देना आदि।

डॉ० अम्बेडकर ने भी स्वीकार किया है कि, 'स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वैदिक वर्ण व्यवस्था बुद्धिगम्य और निरुपद्रवी है[२९]।' डॉ० बाबासाहब अम्बेडकर मराठवाड़ा विश्वविद्यालय के उपकुलपति, महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध वक्ता प्राचार्य शिवाजीराव भोसलेजी ने अपने एक लेख में लिखा है कि—'राजपथ से सुदूर दुर्गम गाँव में दलित पुत्र को गोदी में बिठलाकर सामने बैठी हुई सुकन्या को गायत्री मन्त्र पढ़ाता हुआ एकाध नागरिक आपको दिखलाई दे तो समझ लेना कि वह महर्षि दयानन्द प्रणीत आर्यसमाज का अनुयायी होगा[३०]।'

समीक्षकों की दृष्टि में दलितोद्धारक दयानन्द

आर्यसमाजी न होते हुए भी महर्षि दयानन्द की जीवनी के अध्ययन और अनुसंधान में पन्द्रह से भी अधिक वर्ष समर्पित करने वाले बंगाली बाबू देवेन्द्रनाथ ने दयानन्द की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए लिखा है, 'वेदों के अनधिकार के प्रश्न ने तो स्त्री जाति और शूद्रों को सदा के लिए विद्या से वञ्चित कर दिया था और इसी ने धर्म के महंतों और ठेकेदारों की गद्दियाँ स्थापित की थीं, जिन्होंने जनता के मस्तिष्क पर ताले लगाकर देश को रसातल में पहुँचा दिया था। दयानन्द तो आया ही इसलिए था कि वह इन तालों को तोड़कर मनुष्यों को मानसिक दासता से छुड़ाए[३१]।' महर्षि दयानन्द के काशी शास्त्रार्थ में उपस्थित पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने भी स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हुए लिखा है, **'शूद्रस्य वेदाधिकारे साक्षात् वेदवचनमपि प्रदर्शितं स्वामि दयानन्देन यथेमां वाचं...इति**[३२]।' पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय के शब्दों में 'यदि महर्षि दयानन्द किसी वेद का भाष्य न करते और केवल इसी मन्त्र को देकर चले जाते तो इतना कार्य भी वैदिक संस्कृति के उत्थान के लिए पर्याप्त था[३३]।' डॉ० चन्द्रभानु वेदालंकार ने लिखा है, 'मध्यकाल में पौराणिकों ने वेदाध्ययन का अधिकार ब्राह्मण पुरुष तक ही सीमित कर दिया था, स्वामी दयानन्द ने यजुर्वेद के (२६।२) मन्त्र के आधार पर मानव मात्र को वेद की कल्याणी वाणी का अधिकार सिद्ध कर दिया। स्वामीजी इस यजुर्वेद मन्त्र के सत्यार्थद्रष्टा महर्षि हैं[३४]।'

महर्षि दयानन्द के बलिदान के ठीक दस वर्ष बाद उन्हें श्रद्धाञ्जलि देते हुए दादासाहब खापर्डे ने लिखा था, 'स्वामीजी ने मन्दिरों में दबा छिपाकर रखे गए वेद भण्डार समस्त मानव मात्र के लिए खुले कर दिए। उन्होंने हिन्दू धर्म के वृक्ष को महद् योग्यता से कलम करके उसे और भी अधिक फलदायक बनाया[३५]।' 'वेदभाष्य पद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन' नामक शोध प्रबन्ध के लेखक डॉ० सुधीरकुमार गुप्त के अनुसार, 'स्वामीजी ने अपने वेदभाष्य का हिन्दी अनुवाद करवाकर वेदज्ञान को सार्वजनिक सम्पत्ति बना दिया।'

पं० चमूपतिजी के शब्दों में, 'दयानन्द की दृष्टि में कोई अछूत न था। चाहे उमेदा नाई हो या मलकाना रुस्तमसिंह। उनकी दयाबल बली भुजाओं ने उन्हें अस्पृश्यता की गहरी गुहा से उठाया और

आर्यत्त्व के पुण्य शिखर पर बैठाया था[३६]।' हिन्दी के सुप्रसिद्ध छायावादी महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला ने लिखा है, *'देश में महिलाओं, पतितों तथा जाति-पाँति के भेदभाव को मिटाने के लिए महर्षि दयानन्द तथा आर्यसमाज से बढ़कर इस नवीन विचारों के युग में किसी भी समाज ने कार्य नहीं किया। आज जो जागरण भारत में दीख पड़ता है, उसका प्राय: सम्पूर्ण श्रेय आर्यसमाज को है[३७]।'* "जो लोग वायु के अस्तित्व को केवल आंधी से ही पहचानते हैं, उनकी बहुत दिनों से धारणा है कि आर्यसमाज मर गया है। उसमें जान नहीं रही। अन्यथा देश में उसका शोर सुनाई पड़ता।...परन्तु यह बात सृष्टिक्रम की यथार्थ व्याख्या नहीं करती। आंधियाँ तो कभी-कभी ही आया करती हैं। शीतल, मंद, सुगंध यह हैं तीन विशेषण, जो बड़े भावविज्ञ कवियों ने वायु के लिए निर्वाचित किये हैं। यदि नित्य आंधियाँ आया करें तो सृष्टि की स्थिति संदिग्ध हो जाय। आर्यसमाज न मरा था, न सुप्त था। यह धीरे-धीरे रचनात्मक कार्यों में लगा हुआ था। जिनकी आँखें हैं वह देख सकते हैं कि—दलित क्षेत्र के सुधार का बीज तो आर्यसमाज ने ही बोया था। कंकरीली और पथरीली भूमि को नरम करने का काम तो आर्यसमाज का ही था। यह बात अवश्य थी कि कई लोग वास्तविकता को भुलाकर सफलता का श्रेय बाँटनें में आर्यसमाज का भाग उसे नहीं देना चाहते।"[३८] महाराष्ट्र राज्य संस्कृति संवर्धन मण्डल के अध्यक्ष मराठी विश्वकोश निर्माता तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी (१९०१-१९९४) महर्षि दयानन्द की महत्ता प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं, 'सैकड़ों वर्षों से हिन्दुत्त्व के दुर्बल होने के कारण भारत बारम्बार पराधीन हुआ। इसका प्रत्यक्ष अनुभव महर्षि दयानन्द ने किया। इसलिए उन्होंने जन्मना जाति-भेद और मूर्त्ति-पूजा जैसे हानिकारक रूढ़ियों का निर्मूलन करने वाले विश्वव्यापी महत्त्वाकांक्षा युक्त आर्यधर्म का उपदेश किया। इस श्रेणी के दयानन्द यदि हजार वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए होते तो इस देश को पराधीनता के दिन न देखने पड़ते। इतना ही नहीं, प्रत्युत् विश्व के एक महान् राष्ट्र के रूप में भारतवर्ष दैदीप्यमान रहता था[३९]।'

सन्दर्भ

१. इन्द्र विद्यावाचस्पति—आर्यसमाज का इतिहास—द्वितीय भाग, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली, संस्करण-१९५७, पृष्ठ-५७।

२. इन्द्र विद्यावाचस्पति—आर्यसमाज का इतिहास—प्रथम भाग—सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली, संस्करण-१९५७, पृष्ठ-२४९।

३. देवनारायण भारद्वाज, वर्ण व्यवस्था बनाम जाति व्यवस्था (सत्यान्वेषण स्मारिका), संपादक—आदित्यमुनि वानप्रस्थ, वेद प्रचारिणी सभा, नागपुर (महाराष्ट्र), संस्करण—२००२, पृष्ठ- १०३।

४. इन्द्र विद्यावाचस्पति—आर्यसमाज का इतिहास—प्रथम भाग—शेष पूर्ववत्, पृष्ठ-२५०।

५. दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थप्रकाश, संपादक—युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट रेवली, सोनीपत, हरियाणा, संस्करण-२०००, पृष्ठ-९२३।

६. दयानन्दीय लघु ग्रन्थ संग्रह, संपादक—युधिष्ठिर मीमांसक, रेवली, सोनीपत, हरियाणा, संस्करण-१९७५, पृष्ठ-५७६।

७. दयानन्द ग्रन्थमाला—द्वितीय खण्ड, परोपकारिणी सभा, अजमेर, (राजस्थान), संस्करण-१९८३, पृष्ठ-४९७-९८।

८. सत्यार्थप्रकाश—संपादक-युधिष्ठिर मीमांसक, हरियाणा, पृष्ठ-१३३-३४।

९. संस्कारविधि—संपादक-युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, रेवली, सोनीपत, हरियाणा, संस्करण-१९७४, पृष्ठ-२५३।

१०. सत्यार्थ प्रकाश—तत्रैव-१२७-१३०।

११. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र, संपादक-स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, प्रकाशक-गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, संस्करण-२०५० विक्रमी, पृष्ठ-१२१।

१२. तत्रैव—पृष्ठ १४७

१३. तत्रैव—पृष्ठ २०३।

१४. तत्रैव—पृष्ठ २४७

१५. तत्रैव—पृष्ठ २६५।

१६. तत्रैव—पृष्ठ २८६।

१७. सत्यदीपिका, मराठी मासिक, सम्पदाक—बाबा पद्मनजी, अगस्त १८७५।

१८. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, महर्षि दयानन्द सरस्वती काजीवन चरित्र, शेष पूर्ववत्, पृष्ठ-४२४।

१९. तत्रैव—पृष्ठ ४७३

२०. तत्रैव—पृष्ठ ५२२।

२१. तत्रैव—पृष्ठ ५२४

२२. तत्रैव—पृष्ठ ५३३।

२३. सत्यदीपिका, मराठी मासिक, संपादक—बाबा पद्मनजी, अगस्त १८७५—पृष्ठ ४३-४६।

२४. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, महर्षि दयानन्द सरस्वती काजीवन चरित्र, शेष पूर्ववत्, पृष्ठ-५१४।

२५. तत्रैव—पृष्ठ ११९ २६. तत्रैव—पृष्ठ ५८२।

२७. संस्कारविधि, तत्रैव—पृष्ठ ३११।

२८. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, महर्षि दयानन्द सरस्वती काजीवन चरित्र, पृष्ठ-५८२।

२९. डॉ० अम्बेडकर, जातिभेद निर्मूलन, प्रज्ञा प्रकाशन, नागपुर, (महाराष्ट्र), पृष्ठ-१०९।

३०. प्राचार्य शिवाजीराव भोसले, सकाळ, मराठी दैनिक, रविवार दि० १०-१-१९९३।

३१. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, महर्षि दयानन्द सरस्वती काजीवन चरित्र, गोविन्दराम हासानन्द, पृष्ठ-५८२।

३२. पं० सत्यव्रत सामश्रमी, ऐतरेयालोचन, पृष्ठ-१७ (संदर्भ-युधिष्ठिर मीमांसक—मेरी दृष्टि में स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनका कार्य, २०४८, रामलाल कपूर ट्रस्ट, रेवली, सोनीपत, हरियाणा, पृष्ठ-५।

३३. पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, वेद प्रवचन, दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय, हिसार, हरियाणा, संस्करण-१९६३, पृष्ठ-४७४।

३४. डॉ० चन्द्रभानु सीताराम सोनवणे वेदालंकार, हिन्दी गद्य साहित्य, ग्रन्थम्, रामबाग, कानपुर, संस्करण-१९७५, पृष्ठ-८४।

३५. केसरी, मराठी पत्र, दि०६-११-१८९३।

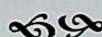
३६. पं० चमूपति एम. ए., महर्षि दर्शन, प्रकाशक-राजपाल एंड संस, लाहौर, द्वितीय संस्करण-१९३५, पृष्ठ-१०-११।

३७. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', महर्षि दयानन्द सरस्वती और युगांतर, प्रबन्ध प्रतिमा, १९६३, भारती भण्डार, प्रयाग, पृष्ठ-५९।

३८. पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय : जीवन-चक्र (आत्मकथा) प्रथम संस्करण-१९५४, पृष्ठ १४८-१४९, प्रकाशक-श्री विश्वप्रकाश, कला प्रेस, इलाहाबाद।

३९. महाराष्ट्र साहित्य पत्रिका, मराठी त्रैमासिक, अप्रैल, मई, जून १९८२।

—परोपकारी : मासिक : संपादक : प्रा० डॉ० धर्मवीर, अप्रैल २००३ से साभार।



(३)

महर्षि दयानन्द सरस्वती की शास्त्रार्थ-प्रणाली

''दादासाहब ने 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इस गीता के श्लोक[१] के सन्दर्भ में स्वामी दयानन्दजी को उलझन में डाल दिया[२]।''

महर्षि दयानन्द और दादासाहब खापर्डे वाद-विवाद के विषय में उपरोक्त अवतरित उद्धरण व अन्य सन्दर्भ को पढ़ने पर सर्वप्रथम मन में यह शङ्का हुई कि महर्षि तो वेद को प्रमाण मानते थे फिर उन्हें गीता के प्रसङ्ग में उलझन में डालने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। साथ ही यह भी शङ्का उत्पन्न हुई कि महर्षि दयानन्द किशोरों[३] से या जिस किसी से भी नहीं, अपितु प्रतिपक्षियों में से लब्धप्रतिष्ठ शीर्षस्थ विद्वान् से ही शास्त्रार्थ किया करते थे और शास्त्रोक्त उत्तर तो वे शास्त्रज्ञों को ही देते थे[४], साथ ही तीसरा सन्देह यह मन में उठा कि उनके शास्त्रार्थ अकस्मात् नहीं, अपितु पूर्व निर्धारित और समाचार-पत्रों में प्रकट विज्ञापनों के बाद होते थे। इन सब सन्देहों के कारण उपरोक्त कथन कुछ समय के लिए अविश्वसनीय-सा प्रतीत होने लगा और इसी समय मस्तिष्क में यह भाव उठा कि—चलो महर्षि दयानन्द की शास्त्रार्थ प्रणाली का अध्ययन करें, प्रस्तुत लेख उस अध्ययन का ही एक परिणाम है।

अपने मन्तव्यों को स्पष्ट करने के लिए महर्षिजी ने अपने ग्रन्थों में शास्त्रार्थ शैली का सबसे अधिक सहारा लिया है, जिसे हम प्रश्नोत्तर शैली भी कह सकते हैं। उन्होंने पूर्वपक्ष को प्रश्न रूप में उपस्थित करके अपने मत को उत्तर-पक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। उनकी प्रश्नोत्तर शैली पर स्वयं उनके द्वारा किये गए शास्त्रार्थों का पर्याप्त प्रभाव है[५]।

महर्षिजी ने अपने मानक ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' में ही अपने कथन की पुष्टि के लिए ५-६ स्थलों पर गीता के उद्धरण दिए हैं, इनमें से चौथा स्थल महर्षिजी के शास्त्रार्थीय दृष्टिकोण को स्पष्ट

करने वाला होने से उसे यहाँ उदाहरण के रूप में अविकल प्रस्तुत किया जा रहा है—

प्रश्न—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्[६] ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं कि—जब जब धर्म का लोप होता है, तब तब मैं शरीर धारण करता हूँ।

उत्तर— *यह बात वेद विरुद्ध होने से प्रमाण नहीं है, और ऐसा हो सकता है कि श्रीकृष्ण धर्मात्मा और धर्म की रक्षा करना चाहते थे कि मैं युग-युग में जन्म लेके श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूँ, तो कुछ दोष नहीं, क्योंकि 'परोपकाराय सतां विभूतयः' परोपकार के लिए सत्पुरुषों का तन-मन-धन होता है, तथापि इससे ईश्वर श्रीकृष्ण नहीं हो सकते[७]।*

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि महर्षि के लिए वेदानुकूल गीता का भाग ही प्रामाणिक था, वेदविरुद्ध नहीं, इसी सन्दर्भ में उनका कथन है, "वेदार्थ निश्चय के लिए जो ब्रह्मा से लेके जैमिनि मुनि पर्यन्त के बनाए, ऐतरेय ब्राह्मण से लेके पूर्व मीमांसा पर्यन्त वेदानुकूल आर्ष ग्रन्थ हैं, वे वादी और प्रतिवादी उभयपक्ष वालों को माननीय होने के कारण माने जायेंगे[८]।" उक्त उद्धरण से स्पष्ट है महर्षिजी को वेद, वेदानुकूल ग्रन्थ तथा अन्य ग्रन्थों के उतने ही अंश मान्य थे, जो वेदानुकूल या वेद की कसौटी पर खरे उतरने वाले हों।

इस प्रामाणिक-अप्रामाणिक ग्रन्थ विषयक महर्षिजी के स्पष्टीकरण के बाद सबसे पहले हम उनकी प्रतिपक्षी को शास्त्र-चर्चा के लिए निमन्त्रित करने या शास्त्रार्थ हेतु आह्वान देने की शैली पर प्रकाश डालेंगे।

महर्षि दयानन्द किसी भी नए शहर में जाने से किंचित् पूर्व या पश्चात् जिस प्रकार के विज्ञापन प्रसारित करते थे, उससे उनकी प्रतिपक्षी को शास्त्रार्थ के लिए चुनौती देने की प्रणाली का पता चलता है।

महर्षिजी के शाहजहाँपुर पहुँचने के बाद प्रसारित विज्ञापन में कहा गया था कि—"जो कोई हिन्दू-मुसलमान, ईसाई या और

कोई, शास्त्रार्थ के इच्छुक हों तो वे विज्ञापित स्वामीजी के निवासकाल में उनसे या आर्यसमाज से सम्पर्क करें[९]।'' महर्षि दयानन्द सरस्वती के पत्र-व्यवहार को देखने से पता चलता है कि जिज्ञासुओं तथा शास्त्रार्थ की अभिलाषा रखने वालों को विशेष रूप से निम्नाङ्कित रूपेण शास्त्रार्थ या शास्त्र-चर्चा के लिए विज्ञापन-पत्रों द्वारा आमन्त्रित किया गया।

दिल्ली पहुँचने पर 'वेदशास्त्र पर शङ्का पूछने[१०]', पुष्कर पहुँचने पर 'सनातनं वेदोक्त धर्म कहने-सुनने[११]', प्रयाग पहुँचने पर 'धर्माधर्म पर विचार करने[१२]', जोधपुर पहुँचने पर 'वेदादि सत्य शास्त्रोक्त सुनकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करने[१३]', अजमेर पहुँचने पर 'मूर्त्ति-पूजादि विषय में सन्देह होने[१४]', काशी पहुँचने पर 'संशय मिटाने[१५]', पुणे पहुँचने पर 'प्रामाणिक-अप्रामाणिक ग्रन्थों का परिचय कराने[१६]', के सन्दर्भ में प्रकट आह्वान देने वाले विज्ञापन प्रसारित करवाए। इनके अतिरिक्त कुछ विज्ञापन तो उनके नए स्थान पर जाने तथा वहाँ पर उनके प्रकट व्याख्यान, शास्त्रार्थ के आयोजन की पूर्व सूचना देने वाले भी होते थे, बहुभाषी राज्य मुम्बई पहुँचने पर तो महर्षिजी ने धार्मिक जिज्ञासा व शास्त्र-चर्चा के लिए [हिन्दी, मराठी, गुजराती और अंग्रेजी इन] चार भाषाओं में विज्ञापन छपवाए थे[१७]।

महर्षि दयानन्दजी 'सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकारी' थे[१८], उनका हर काम डंके की चोट से होता था। संघर्ष से वे बचने वाले नहीं थे, अपितु 'आ बैल मुझे मार' की प्रवृत्ति उनमें थी। चाहे प्राण भले ही चले जाएँ फिर भी वे सत्य ही कहते थे। परिणामों के भय से भयभीत होकर सत्य से विमुख होने वालों में उनकी गणना कदापि नहीं हो सकती, इसी कारण उन्हें योगी अरविंद ने 'सत्य का योद्धा'[१९] कहा है।

इस प्रकार विज्ञापनों द्वारा शास्त्र-चर्चा या शास्त्रार्थ का आह्वान करने के बाद, शास्त्रार्थ के लिए उत्सुक प्रतिपक्षियों के सामने शास्त्रार्थ हेतु जो नियम प्रस्तुत किए जाते थे उन्हें पं० भगवद्दत्त बी० ए० एवं महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित 'महर्षि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' तथा डॉ० भवानीलाल भारतीय द्वारा

सम्पादित 'महर्षि दयानन्द सरस्वती के शास्त्रार्थ और प्रवचन' आदि से संगृहीत करके यहाँ महर्षि दयानन्द की शास्त्रार्थ (३०) नियमावली के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। हमारी जानकारी के अनुसार शास्त्रार्थों से पूर्व स्वामीजी ने जिन-जिन शर्तों को प्रस्तुत किया था उन सबका समावेश इस शास्त्रार्थ नियमावली में हो गया है। इस का उपयोग भावी शास्त्रार्थ महारथी भी कर सकेंगे।

१. शास्त्रार्थ में वेद मध्यस्थ[२०] [अर्थात् प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में] होंगे।

२. शास्त्रार्थ का स्थान न तो वादी से सम्बन्धित होगा और न ही प्रतिवादी से, वह एक तटस्थ और मध्यस्थ स्थान होगा[२१]।

३. उपस्थापित शास्त्र वचन को शास्त्रार्थ में दिखाना होगा[२२]।

४. शास्त्रार्थ का प्रबन्धकर्त्ता [यथासम्भव] राजपुरुष होगा, अथवा १२ या २० सज्जनों की एक प्रबन्धक समिति होगी जिसके सभापति के रूप में किसी न्यायाधीश की नियुक्ति होगी[२३]।

५. शास्त्रार्थ के दिनांक, समय[२४], स्थल और विषय का पूर्व निश्चय पूर्ण स्पष्टता के साथ होगा।

६. शास्त्रार्थ क्षेत्र में प्रवेश के लिए चतुर और बुद्धिमान् मनुष्यों को टिकट बाट दिए जाएँगे।

७. शास्त्रार्थ में उपस्थित होने वाले श्रोताओं की संख्या प्रतिपक्ष न्यूनतम ५० और अधिकतम २०० या ३०० रहेगी।

८. हरेक पक्ष अपनी ओर से उपस्थित मनुष्यों को नियम में रखे और सब प्रकार से उनका उत्तरदात्ता रहे।

९. शास्त्रार्थ में हरेक पक्ष की ओर से योग्य पण्डितों की संख्या दस से अधिक न होगी, कम का अधिकार है[२५]।

१०. उभय पक्ष में से [प्रमुख रूप में] केवल एक ही पण्डित सभा में भाषण करेगा। (जैसे एक ओर से महर्षि दयानन्द सरस्वती और दूसरी ओर से पं० श्री गोपाल या एक ओर से स्वामीजी और दूसरी ओर से मौलवी मुहम्मद कासिम, अथवा एक ओर से दयानन्द सरस्वती और दूसरी ओर से मिस्टर जॉसेफ कुक साहब)।

११. शास्त्रार्थ वेदी पर पण्डितों के अतिरिक्त कोई भी अनपढ़ अशिक्षित न होगा।

१२. दोनों ओर से शास्त्रार्थ में बुद्धिमानों के समान सभ्यतापूर्ण बातचीत करने का ध्यान रखा जाएगा और किसी के पूर्वजों या नेताओं के विषय में कठोर वचनों का प्रयोग नहीं किया जाएगा।

१३. जहाँ तक एक पक्ष का वक्तव्य पूर्ण नहीं होगा तब तक बीच में दूसरा पक्ष नहीं बोल सकेगा।

१४. शास्त्रार्थ विरोध भाव से नहीं, अपितु सत्यासत्य निर्णय के लिए होगा।

१५. उभयपक्ष अपने-अपने दृष्टिकोणों के अनुसार समाचार-पत्रों में शास्त्रार्थ आयोजन की पूर्व सूचना दिए जाने वाले विज्ञापनों का प्रकाशन कर सकेंगे।

१६. उभयपक्ष के लिए सर्वसम्मति से सर्वमान्य सभापति की नियुक्ति की जाएगी।

१७. यदि आवश्यकता प्रतीत हुई तो शास्त्रार्थ में दुभाषिए की भी नियुक्ति की जा सकेगी। (मुम्बई पहुँचने पर १८ जनवरी १८८२ को मिस्टर जॉसेफ कुक साहब को प्रेषित-पत्र में महर्षिजी ने दुभाषिए की व्यवस्था प्रस्तुत की थी, क्योंकि महर्षि अंग्रेजी नहीं जानते थे और पादरी संस्कृत से अनभिज्ञ थे)।

१८. शास्त्रार्थ को जन सामान्य की भाषा में समझाने-सुनाने वाले सहयोगी पण्डित का उभयपक्ष सहयोग ले सकेंगे। (ऐसी व्यवस्था वैष्णव मतावलम्बी कमलनयन आचार्य के साथ मुम्बई में आयोजित शास्त्रार्थ के अवसर पर प्रस्तुत की गई थी)।

१९. शास्त्रार्थ से पूर्व उभयपक्ष की सम्मति से यथासम्भव प्रतिशब्द लिखने वाले न्यूनतम एक और अधिकतम तीन आशु लेखकों (अनुलेखकों) की नियुक्ति की जाएगी।

२०. शास्त्रार्थ आरम्भ होने पर तीन आशुलेखकों में से एक सभापति के पास, एक वादी के पास और एक प्रतिवादी के पास बैठेगा और प्रतिशब्द ध्यानपूर्वक लिखा जाएगा।

२१. शास्त्रार्थी का कथन समाप्त होने पर उसका अनुलिखित वक्तव्य सभा में उपस्थित पुरुषों को सुनाया जाएगा, तथा प्रत्येक प्रश्नोत्तर पर दोनों पक्षों के हस्ताक्षर लिए जाएँगे, जिससे बाद में किसी को संशय न रहे।

२२. दोनों पक्षों की ओर से शास्त्रार्थ के प्रश्नोत्तर लिखने के लिए एक आशुलिपिक स्वामीजी की ओर से, दूसरा विपक्ष की ओर से और तीसरा पंचों की ओर से नियत होगा।

२३. शास्त्रार्थ सभा में जो व्यक्ति किसी का पक्षपात और राग-प्रदर्शन करेगा तो उसका यह पाप सहस्र ब्रह्म हत्या के सम समझा जाएगा।

२४. प्रत्येक शास्त्रार्थीय लेख का मिलान करने के पश्चात् प्रतिदिन दोनों पक्षों के हस्ताक्षर लेकर एक-एक प्रति हर पक्ष को दी जाएगी और एक प्रति बक्स में बन्द करके उस पर उभयपक्ष और सभापति का ताला लगाकर सभापति के पास रहेगी, ताकि लेखों में कुछ न्यूनाधिक न होने पावे और आवश्यकता के समय काम आवे[२६]।

२५. शास्त्रार्थ समाप्त होने पर अनुलिखित शास्त्रार्थ की प्रतियों पर सभापति के अतिरिक्त वादी, प्रतिवादी तथा तत् तत् पक्षीय तीन-चार मुख्य सभ्यों के भी साक्षी के रूप में हस्ताक्षर लिए जायेंगे।

२६. महर्षि वेद के उत्तरदाता होकर केवल कुरआन पर आक्षेप करें और मौलवी साहब कुरआन के उत्तरदाता होकर केवल वेद पर आक्षेप करें। [ऐसा ही अन्यान्य मतावलम्बियों के सन्दर्भ में समझना चाहिए]।

अथवा

उभयपक्ष को वेदों[२७] तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों, सृष्टिक्रम और सत्यधर्म से युक्त भाषण करना तथा मानना होगा।

२७. पराजित विद्वान् को विजेता का मन्तव्य स्वीकार करना होगा। (यदि पण्डितजी मूर्त्ति-पूजा का मण्डन कर देवें तो उनकी सब बातें सच्ची समझी जावेंगी और महर्षिजी मूर्त्ति-पूजन का खण्डन छोड़कर मूर्त्ति-पूजन स्वीकार कर लेंगे, और जो महर्षि मूर्त्ति-पूजन का खण्डन कर देवें तो उनकी और भी बातें सच्ची समझी जावेंगी और पण्डितजी उसी समय से मूर्त्ति-पूजन छोड़कर मूर्त्ति-पूजन का खण्डन स्वीकार कर लेंगे। ऐसा ही [अन्यत्र भी] उभयपक्ष को स्वीकार करना होगा।

२८. शास्त्रार्थ से पूर्व उभयपक्ष कभी-कभी इस बात पर भी सहमत नजर आते हैं कि—शास्त्रार्थ होगा, पर शास्त्रार्थ के अन्त में

हार-जीत का निर्णय नहीं दिया जाएगा। शास्त्रार्थ के दर्शक और पाठक जय-पराजय का अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार स्वयं निश्चय या निर्णय करेंगे [ऐसी स्थिति में शास्त्रार्थ की अपेक्षा शास्त्र-चर्चा को विशेष महत्त्व दिया जाता है। यह ठीक भी है, क्योंकि जय-पराजय को इतना अधिक महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए कि शास्त्रार्थ या शास्त्र-चर्चा की परम्परा ही बन्द हो जाए]।

२९. सम्पन्न शास्त्रार्थ को पुस्तकाकार छापने का उभयपक्ष को सर्वाधिकार रहेगा।

३०.जीवन रक्षा की दृष्टि से शास्त्रार्थ का स्थान सुरक्षित होगा।

इस शास्त्रार्थ नियमावली को पढ़ने के बाद यह धारणा नहीं बना लेनी चाहिए कि महर्षि दयानन्दजी ने इन सभी (३०) नियमों के पूर्णतया लागू या मान्य हो जाने के बाद ही शास्त्रार्थ किए हैं। शास्त्र-चर्चा और सत्यासत्य निर्णय को महत्ता देते हुए समयानुसार इनमें से एकाधिक नियमों की पूर्ति के अभाव में भी महर्षिजी ने शास्त्रार्थ किए हैं, इन नियमों से यह स्पष्ट हो जाता है कि *महर्षि जहाँ वेदों के प्रकाण्ड पण्डित थे वहाँ उनके मस्तिष्क में सतर्क समयोचित व्यावहारिक प्रज्ञा भी निवास करती थी। वे वेद-धर्मानुसार प्रीतिपूर्वक आचरण करने में ही दक्ष नहीं थे, अपितु समयानुसार यथायोग्य व्यवहार करना भी जानते थे,* शास्त्रार्थ स्थल को जीवन रक्षा की दृष्टि से सुरक्षित करने के सन्दर्भ में अपनी भूमिका स्पष्ट करते हुए महर्षिजी ने लिखा है— *''मुझे इसका शोक नहीं कि मेरा शरीर पात हो जावे, परन्तु इस बात का शोक है कि जिस परोपकार के लिए इस शरीर की रक्षा करता हूँ वह उपकार रह जायेगा[२८]।''*

महर्षि ने आर्य धर्म की उन्नति हेतु परोपकार की दीक्षा ली थी, इस दृष्टि से उनके द्वारा पुणे में दिये गए अन्तिम प्रवचन का अंश द्रष्टव्य है। इसमें वे अपनी आत्मकथा सुनाने के बाद कहते हैं— *''आर्यधर्म की उन्नति होवे इसके लिए मेरे सदृश बहुत से धर्मोपदेशक अपने इस देश में उत्पन्न होने चाहियें, अकेले के हाथ से यह काम बराबर (भली प्रकार) नहीं हो सकता, फिर भी अपनी बुद्धि के अनुसार और सामर्थ्यानुसार मैंने जो दीक्षा ली उसे चलाऊँगा—ऐसा संकल्प (=निश्चय) किया है। आर्यसमाज की सर्वत्र स्थापना होकर*

मूर्त्ति-पूजा आदि दुष्ट आचार, सर्वत्र बन्द होवें, वेद शास्त्र के शुद्ध अर्थ (सब लोग) समझें, और उसके अनुसार आचरण होने से देश की उन्नति होवे, ऐसी ईश्वर से प्रार्थना है, आप सब लोगों के मनोयोग पूर्वक साहाय्य से यह (कार्य) सिद्ध होगा, ऐसी पूर्ण आशा है[२९]।''

स्वामी दयानन्दजी को देशोपकार और आर्ष ग्रन्थों की महिमा प्रस्थापित करने की दीक्षा, उनके गुरु, व्याकरण के सूर्य दण्डी विरजानन्दजी ने दीक्षान्त के अवसर पर प्रदान की थी और स्वामीजी ने 'करिष्ये वचनं तव' की पूर्ति के लिए दृढ़तापूर्वक अपना जीवन ही समर्पित कर दिया था। देशोपकार, आर्य धर्म, आर्ष ग्रन्थों की प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने लेखनी और वाणी दोनों का सहारा लिया, महर्षि दयानन्द द्वारा किये गए शास्त्रार्थ आज भी इसी तथ्य की पुष्टि दे रहें हैं। महर्षि के उपरोक्त वक्तव्य से पता चलता है कि—उनके कठोर शास्त्रार्थ प्रणाली या वक्तव्यों की पृष्ठभूमि में करुणा की अन्तः सलिला विद्यमान थी, स्वामीजी ने स्वयं कहा था—*'स्वार्थी लोगों ने महर्षि सन्तान को कुरीतियों में फँसा रखा है मुझसे उसकी यह दीन दशा देखी नहीं जाती[३०]।'* इसीलिए जहाँ उन्होंने 'फुलस्केप आकार के लगभग २० हजार पृष्ठ लिखे' वहाँ लगभग एक हजार (छोटे-बड़े) शास्त्रार्थ किए थे[३१]।

सुप्रसिद्ध काशी शास्त्रार्थ के उभयपक्ष सम्मत लेखक पं० सत्यव्रतजी सामश्रमी ने शास्त्रार्थ का 'चक्षुर्वै सत्यम्' आँखों देखे हाल का अनुलेखन किया था। शास्त्रार्थ के साथ-साथ उन्होंने उभयपक्षीय विद्वानों के तत्क्षणीय हाव-भावों का भी अङ्कन किया, जिसे पढ़ने पर ऐसा लगता है मानो अभी हमारे सामने शास्त्रार्थ हो रहा हो। जिससे महर्षि दयानन्दजी की एक-एक चलचित्र-सी सजीव गतिशील क्रान्तिकारी मूर्त्ति मानसिक जगत् के कल्पना लोक में सहजता से विचरण करने लगती है। विष्णु शास्त्री चिपळूणकर ने मराठी साहित्य में पुण्यपत्तनस्थ स्वामी दयानन्द की वक्तृत्व कला के क्षणों का गतिशील चित्रण करते समय हाव-भावों को बाह्य स्थिति पर अधिक महत्त्व दिया है तो सामश्रमीजी ने काशी शास्त्रार्थ का अङ्कन करते समय महर्षि के हाव-भावों की आन्तर-बाह्य स्थिति का ऐसा चित्रण किया है कि जिससे उनका पुनरुत्थान के लिये कसमसाता परिपूर्ण व्यक्तित्त्व

ही आँखों के सामने उभरने लगता है। डॉ० भवानीलाल भारतीय ने यद्यपि दो-एक स्थलों पर महर्षि दयानन्दादि शास्त्रार्थ महारथी वक्ताओं के इन 'स्वरूप निर्देशक वचनों' के विषय में सन्देह व्यक्त किया है[३२]। फिर भी इससे जहाँ महर्षि की विद्युल्लतावत् क्रियाशीलता एवं क्षिप्रातिक्षिप्रता का पता चलता है वहाँ उनके द्वारा सत्य सनातन शुद्ध वेदोक्त धर्म की रक्षा हेतु की गई छटपटाहट का भी बोध होता है, इस छटपटाहट का आभास सामान्य पाठकों को भी मिले इसलिए यहाँ पर हम महर्षि के स्वरूप निर्देशक प्रमुख हाव-भावों को सत्यव्रत सामश्रमी लिखित काशी शास्त्रार्थ के आधार पर 'अथ से इति' तक प्रस्तुत कर रहे हैं—

"कोई दयानन्द नामक साधु सद्धर्म की स्थापना और पाखण्ड धर्म के विनाश का संकल्प लिये हुए अकस्मात् काशी नरेश श्रीमान् ईश्वरी प्रसाद नारायणसिंह की सभा में पहुँचे और कहने लगे कि— 'अशास्त्रीय होने के कारण प्रतिमा पूजन अवैध है,' यह मेरा मत है, इसे स्थिर करने के लिये शास्त्रार्थ हेतु मैं उपस्थित हुआ हूँ......अनन्तर निर्धारित समय [१६ नमम्बर १८६९] में राजा द्वारा आमन्त्रित विविध-शास्त्र-विशारद शताधिक पण्डितों, धनिक वर्ग, मन्त्रियों तथा अपने पुत्र युवराज प्रभु नारायणसिंह शर्मा को साथ लेकर काशीराज काशी में दुर्गाकुण्ड के निकट आनन्द बाग में गए, जहाँ स्वामी दयानन्द का निवास था।" शास्त्रार्थ के प्रारम्भ में ही महर्षि निर्देश देते हुए कहते हैं—'एक एव वदेत् नान्यः' (एक ही व्यक्ति बोले, दूसरा नहीं)। स्वामी दयानन्दजी के 'सर्वे वेदा नहि मे कंठस्थाः' कहने पर सब [विपक्षी] सभ्य हँसते हैं और तभी स्वामी विशुद्धानन्द हावी होते हुए और गर्जना करते हुए कहते हैं—'तो फिर ऐसी बकवास क्यों करते हो।' तपाक से क्रुद्ध होकर विशुद्धानन्द के सामने बैठकर दयानन्द प्रत्युत्तर देते हुए कहते हैं—'तवास्ते किं सर्वम् उपस्थितम्? धर्मस्य किं लक्षणम्? वद!' ('क्या तुम्हें सब उपस्थित है? अच्छा बताओ धर्म का क्या लक्षण है?') फिर जब धर्म के अनेक लक्षणों के विषय में पूछने के बाद भी जब विशुद्धानन्द एक ही लक्षण कहते हैं तो दयानन्द हँसते हुए धर्म के दश लक्षण बतलाते हैं।

ताराचरण के यह कहने पर कि ये धर्म के लक्षण तो अनुमापक

(ज्ञापक) हेतु हैं, लक्षण नहीं, तो दयानन्द ताराचरण के सम्मुख बैठकर कहते हैं—'किं अनर्थं गर्जसे अधर्मस्य लक्षणं वद!' ताराचरण के इस प्रत्युत्तर पर कि—'बुरे अदृष्ट को उत्पन्न करने वाला अधम होता है' तो दयानन्द उसे अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि—'किं त्वया कोलाहनेन', (तुम्हारे इस कोलाहल (निरर्थक भाषण) से क्या लाभ[३३] ?)

काशी शास्त्रार्थ के कलाकारों द्वारा निर्मित कल्पित चित्रों को देखकर हमने यह धारणा बना ली थी कि महर्षि दयानन्द ने एक ही स्थान पर आसनस्थ होकर प्रस्तुत शास्त्रार्थ किया होगा, पर इस सत्यव्रत सामश्रमी लिखित शास्त्रार्थ को पढ़कर स्पष्ट हुआ कि पूरे शास्त्रार्थ के समय महर्षि एक ही स्थान पर नहीं बैठे रहे, अपितु वे कभी प्रतिवादी स्वामी विशुद्धानन्द के सामने बैठे रहे हैं तो कभी पं० ताराचरण के सामने। इस शास्त्रार्थ में हमें महर्षि दयानन्द के अनेक गतिशील रूप दिखाई देते हैं, क्योंकि श्री सामश्रमी द्वारा अङ्कित काशी शास्त्रार्थ के शब्दचित्र 'जड माडल नहीं, अपितु चेतन चित्र हैं' और ऐसे क्षण में लिये गए जब चित्रणीय व्यक्ति अपनी स्वाभाविक मुद्रा में थे और उन्हें उस समय (शास्त्रार्थ काल) में इस बात का तनिक भी ख्याल नहीं था कि शास्त्रार्थ के अतिरिक्त हमारी मुख मुद्राओं तथा गतिविधियों को भी शब्दचित्राङ्कित किया जा रहा है। ये शब्दचित्र चित्रशाला में लिये गए उन चित्रों के समान नहीं हैं जब व्यक्ति को सामने खड़े करके चित्रित किया जाता है, अपितु उन चित्रों के समान हैं जब चित्रणीय व्यक्ति सचेतन एवं गतिशील होता है, पर उसे यह मालूम नहीं होता कि कलाकार उसका ध्वन्यंक (आडियो रिकार्डिंग) मात्र ही नहीं, अपितु दृश्यांकन (वीडियो रिकार्डिंग) भी कर रहा है।

जब स्वामी विशुद्धानन्द के आकाश को 'स एव ईश्वरः' कहने पर स्वामी दयानन्द उपहास करते हुए कहते हैं 'स-ए-व ईश्वरः' (वही आकाश ही ईश्वर है) तब पं० ताराचरण से नहीं रहा जाता और वे उद्विग्न होकर बोलते हैं—(स्वामीजी!) 'इस प्रकार मुँह बनाने से क्या अर्थ (लाभ) ?'—इस पर स्वामी दयानन्द पं० ताराचरण से क्रोध और रोष में आकर पूछते हैं—कोऽर्थः ? कोऽर्थः ? अर्थसंज्ञा

कस्य? (क्या अर्थ है? क्या अर्थ है, क्या कहते हो? बताओ, अर्थसंज्ञा किसकी है?)

इस शास्त्रार्थ में हमें कभी स्वामी दयानन्द स्वामी विशुद्धानन्द द्वारा पीठ पर रखे हाथ को बलपूर्वक हटाते हुए दिखाई देते हैं तो कभी लाल-लाल आँखें किए गरजते हुए नजर आते हैं, कभी चारों जनों से घिरे हुए दण्डा हाथ में लिए उच्च स्वर से बड़बड़ाने वाले देवदत्त को हँसी में चलते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, तो कभी धृष्ट उद्दण्ड देवदत्त को ऊर्ध्वमुख होकर निर्भीकता से एकटक घूरते हुए दिखलाई देते हैं, कभी पुस्तक रख रहे हैं तो कभी छान्दोग्योपनिषद् का श्लोक सस्वर पढ़ रहे हैं, कभी प्रतिपक्षी बंगाली पं० ताराचरण के कथय का बंगाली असाधु उच्चारण 'कोथाय' करने पर उपहास करते हुए कहते हैं—'को थोय, को थोय, हाः हाः हाः' और अन्त में उन्हें शतपथ ब्राह्मण के पत्रों को उलट-पुलटते देखा जा सकता है[३४]। महर्षि की इन गतिविधियों को देखकर यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि वे केवल प्रीतिपूर्वक व्यवहार करने वाले ही नहीं, अपितु यदि समय आ पड़े तो वैदिक धर्म के यथार्थ स्वरूप की रक्षा हेतु यथायोग्य व्यवहार करने में आगा-पीछा न देखते थे। ऐसे समयों में सम्भवतः स्वामीजी का मन्यु भी गर्जना करते हुए यह पुकार उठता होगा—

"अग्रतश्चतुरो वेदाः, पृष्ठतः सशरं धनुः।
उभाभ्यामपि समर्थोऽस्मि, शापादपि शरादपि॥"

महर्षि काशी शास्त्रार्थ के समय (१८६९) तक केवल कौपीन धारण करते थे, अतः उनके काशी शास्त्रार्थ के काल्पनिक चित्रों में सर्वत्र उन्हें निर्वस्त्र ही दिखलाया गया है। डॉ० ज्वलन्तकुमार शास्त्री के अनुसार काशी नरेश तथा अन्य विद्वानों की तुलना में स्वामी दयानन्द तथा स्वामी विशुद्धानन्द के चित्र अधिक प्रामाणिक प्रतीत होते हैं[३५]। चित्रों से यह भी प्रतीत होता है कि स्वामी विशुद्धानन्द भी उस समय केवल माला विशेष व कौपीन धारण करने वाले संन्यासी थे, क्योंकि काशी शास्त्रार्थ के कल्पित चित्रों में वे भी इसी रूप में हैं।

प्रो० भवानीलाल भारतीय ने 'महर्षि दयानन्द के भक्त प्रशंसक और सत्सङ्गी' में स्वामी विशुद्धानन्दजी का जो रेखाचित्र प्रकाशित करवाया है, वह भी किसी असली चित्र पर आधारित नजर आता है,

वहाँ भी वे निर्वस्त्र (कौपीन धारी) ही हैं, काशी शास्त्रार्थ की तुलना में उसमें इतना ही अन्तर है कि—कौपीन और माला के अतिरिक्त सम्भवत: वृद्धावस्था के कारण सिर पर एक विशिष्ट प्रकार की टोपी भी है, यह स्वामी विशुद्धानन्दजी की टोपी 'महर्षि दयानन्द के भक्त प्रशंसक और सत्सङ्गी' में प्रकाशित काशी नरेश की टोपी से भी बहुत कुछ साम्य रखती है[३६]। सम्भव है काशी में उस समय इस प्रकार की विशिष्ट टोपी पहनने का प्रचलन रहा हो।

शास्त्रों में लिखा है—जहाँ ब्राह्मणत्त्व और क्षत्रियत्त्व साथ-साथ विचरण करते हैं उस देश को पुण्यवान् सौभाग्यशाली समझना चाहिए। १९वीं सदी में महर्षि दयानन्द के माध्यम से पुण्यवान् होने का यह गौरव आर्यावर्त्त को प्राप्त हुआ। ''स्वामी दयानन्द का शरीर हृष्ट-पुष्ट एवं लम्बा-चौड़ा था, उनके अङ्ग-अङ्ग से ब्रह्मचर्य का तेज टपकता था। उनमें हरक्यूलिस जैसा अतुलित शारीरिक बल था।...... इसी बल के आधार पर वे दुष्टों के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए भी उद्यत रहते थे[३७]।'' स्वामी श्रद्धानन्दजी ने लिखा है कि—'काशी में प्रसिद्ध हुआ कि......जो भी पण्डित उससे शास्त्रार्थ करने जाता है (वह) उसके तेज से दब जाता है[३७]।' श्री हरिऔध के अनुसार 'जिस प्रकार का शास्त्रार्थ उन्होंने प्रचलित किया, वैसा तब तक अज्ञात था[३८]।' खण्डनात्मक भाषणों में उनकी वक्तृत्त्व शक्ति चरम सीमा पर पहुँच जाती थी, 'उनके भाषणों की प्रभविष्णुता के कारण ही प्रतिपक्षियों ने उनके भाषणों में बारम्बार व्यवधान लाने का असफल प्रयास किया था[३९]।' भारतेन्दु युग के नाटकीय संवादों में भी महर्षि दयानन्द के शास्त्रार्थों का प्रभाव स्पष्टत: देखा जा सकता है। डॉ० (स्वामी) सत्यप्रकाश के अनुसार इसी शास्त्रार्थ शैली में लिखित 'सत्यार्थप्रकाश ने हिन्दी के दार्शनिक ग्रन्थों की शैली को जन्म दिया[४०]।'

इस प्रकार अपनी अद्भुत शास्त्रार्थ प्रणाली के कारण ही महर्षि दयानन्द उच्च वैदिक विद्वान्, प्रति शंकराचार्य, प्रतिपक्षियों की बोलती बन्द करने वाले अनुपमेय तार्किक, महद्योग्यता व असाधारण बुद्धि के ज्योतिर्धर महापुरुष के रूप में सुप्रसिद्ध हुए। महर्षि दयानन्द की प्रचण्ड तार्किकता और अकेले ही अनेक मोर्चों पर संघर्ष जारी रखने की क्षमता पर सटीक टिप्पणी[४१] करते हुए राष्ट्रकवि रामधारीसिंह 'दिनकर' ने लिखा था कि—'वेद को छोड़कर कोई अन्य धर्म-ग्रन्थ

प्रमाण नहीं है—इस सत्य का प्रचार करने के लिए स्वामीजी ने सारे देश का दौरा प्रारम्भ किया और जहाँ जहाँ वे गए, प्राचीन परम्परा के पण्डित और विद्वान् उनसे हार मानते गए। संस्कृत भाषा का उन्हें अगाध ज्ञान था संस्कृत में धारावाहिक रूप से बोलते थे, साथ ही वे प्रचण्ड तार्किक थे। उन्होंने ईसाई और मुस्लिम धर्म-ग्रन्थों का भी भली-भाँति मन्थन किया था। अतएव अकेले ही उन्होंने तीन-तीन मोर्चों पर संघर्ष करना आरम्भ किया। दो मोर्चे तो ईसाइयत और इस्लाम के थे, किन्तु तीसरा मोर्चा सनातनधर्मी हिन्दुओं का था जिनसे जूझने को स्वामीजी को विभिन्न अपमान, कुत्सा, कलंक और कष्ट झेलने पड़े। उनके प्रचण्ड शत्रु ईसाई और मुसलमान नहीं, सनातनी हिन्दू ही निकले और कहते हैं, अन्त में, इन्हीं हिन्दुओं के षड़यन्त्र से उनका प्राणान्त भी हुआ। दयानन्द ने बुद्धिवाद की जो मशाल जलायी थी उसका कोई जवाब नहीं था। वे जो कुछ कह रहे थे, उसका उत्तर न तो मुसलमान दे सकते थे, न ईसाई, न पुराणों पर पलने वाले हिन्दू पण्डित और विद्वान्........और अनेक समझदार लोग मन ही मन यह अनुभव करने लगे थे कि, सच ही पौराणिक धर्म में कोई सार नहीं है[४२]।'

महर्षि दयानन्द के सन्दर्भ में इस बात का सदैव स्मरण रहना चाहिए कि उनकी पाखण्डों पर कुठाराघात करने वाली तर्क-चिंतन प्रधान शास्त्रार्थ शैली मानवीय संवेदना से पूर्णतया ओत-प्रोत थी। श्री सुरेन्द्र सिंह कादियाण एम० ए० के अनुसार महर्षि दयानन्द को यह सहन नहीं हो सकता था कि—''विश्ववारा संस्कृति का उन्नायक आर्यावर्त्त, वेद विरुद्ध सम्प्रदायों का अजायबघर बनकर पीर-पैगम्बरों व कल्पित अवतारों के चरणों में नतमस्तक हो ईश्वर और योग का मार्ग छोड़ दे...इसीलिए उन्होंने इस भयंकर रोग के उपचारार्थ ही तीखी औषध का प्रयोग किया था। परन्तु खुजली के रोगी को जितना मजा खुजलाहट करने में आता है, उतना औषधि सेवन में नहीं आता। फलतः उपचारक के प्रति इन कृतघ्न प्राणियों में कृतज्ञता के भाव नहीं उठते और वे अज्ञान की घाटियों में विचरण करते हुए इहलीला समाप्त कर देते हैं[४३]।''

इस प्रकार महर्षि दयानन्द की वेद प्रामाण्यवादी शास्त्रार्थ शैली, शास्त्रार्थ हेतु उनकी विपक्षियों को विज्ञापनों द्वारा चुनौती देने की

पद्धति, देहरादून, रुड़की, मेरठ, मुम्बई इत्यादि स्थानों पर शास्त्रार्थ से पूर्व महर्षि के निर्देशन में निर्धारित शर्तों के आधार पर तैयार की गई शास्त्रार्थ नियमावली, काशी शास्त्रार्थ के उभयपक्ष सम्मत विद्वान् अनुलेखक द्वारा शब्दबद्ध महर्षि के हाव-भावों की सजीव भव्यात्मक झाँकी तथा दिग्विजयी शास्त्रार्थ महारथी के रूप में महर्षि दयानन्दजी के महद् व्यक्तित्त्व की ओर संकेत करने का स्वल्प-सा प्रयास प्रस्तुत लेख में किया गया है। यह सब प्रयास इस आशा एवं विश्वास के साथ किया गया है कि—महर्षि सन्तान वेद-विद्या-विलासी होकर, ब्राह्म बल एवं क्षात्र बल से विभूषित हो, ब्रह्मा से लेकर दयानन्द तक के महर्षि से उर्ऋण होने का भरसक प्रयास करेगी।

सन्दर्भ

१. श्रीमद्भवद्गीता : १८।६६।

२. भारतीय इतिहास आणि संस्कृती : अप्रैल-जून १९७८, पृष्ठ २२।

३. इस वाद-विवाद के समय श्री खापर्डे की आयु २० वर्ष और स्वामीजी की ५० वर्ष थी।

४. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, द्वितीय भाग, पृष्ठ ८३४।

५. हिन्दी गद्य साहित्य : डॉ० चन्द्रभानु सोनवणे, पृष्ठ ९७।

६. भगवद्गीता, ४।७॥

७. सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृष्ठ २७५-२७६।

८. ऋ० द० स० के पत्र और विज्ञापन, प्रथम भाग, पृष्ठ ३०७।

९. स्वामीजी के देहरादून पधारने पर वहाँ के आर्य सज्जनों ने निम्न प्रकार विज्ञापन प्रचारित किया था—"स्वामीजी केवल वेदमत को मानते हैं और अन्य नवीन मतों, अर्थात् पुराणी, किरानी, जैनी आदि की त्रुटियों और बुराइयों को युक्तियों और शास्त्रोक्त प्रमाणों से सिद्ध करते हैं, इसलिए उपर्युक्त मतों में से जो सज्जन अपने मत की सत्यता और वेदमत का खण्डन कर सकते हों वे आकर शास्त्रार्थ करें"—आर्यसमाज का इतिहास, सत्यकेतु विद्यालंकार, पृष्ठ-३३२ तथा ऋ० द० स० के पत्र और विज्ञापन, द्वितीय भाग, पृष्ठ ८३३।

१०. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, प्रथम भाग,

पृष्ठ २१४।

११. तत्रैव, पृष्ठ २३२। १२. तत्रैव, पृष्ठ ४४।

१३. तत्रैव, द्वितीय भाग, पृष्ठ ७१६। १४. तत्रैव, पृष्ठ ८१४।

१५. तत्रैव, प्रथम भाग, पृष्ठ ८१९।

१६. तत्रैव, द्वितीय भाग, पृष्ठ ८१९।

१७. तत्रैव, प्रथम भाग, पृष्ठ २३९।

१८. सत्यार्थप्रकाश (स्वमंतव्यामंतव्यप्रकाशः), पृष्ठ ९१९।

१९. बंकिम, तिलक, दयानन्द, अरविन्द घोष, पृष्ठ ५०।

२०. व्यक्ति की अपेक्षा वेद को मध्यस्थ मानने का कारण स्पष्ट करते हुए महर्षि ने कहा था—'सम्प्रति सभी लोग प्रतिमा-पूजन के मिथ्याचारों में लिप्त हैं, अतः मैं किसी को मध्यस्थ नहीं मान सकता।' महर्षि दयानन्द सरस्वती के शास्त्रार्थ और प्रवचन, पृष्ठ २१४।

२१. मौलवी मुहम्मद कासिम—प्रधान दारुल-उलूम, देवबंद के साथ शास्त्रार्थ के लिए जो नियम निर्धारित किए थे, उसमें अपवाद रूप में यह शर्त प्रस्तुत की गई थी—'स्वामीजी जिस कोठी में ठहरे हुए हैं, वहीं शास्त्रार्थ होगा', आर्यसमाज का इतिहास—सत्यकेतु विद्यालंकार, पृष्ठ ३३०।

२२. महर्षि दयानन्दजी और पं० गट्टूलालजी—प्रा० विपिनचन्द्र त्रिवेदी, वेदवाणी, जून १९८८, पृष्ठ २१।

२३. नियम चार के अपवाद रूप में अग्रिम यह नियम प्राप्त होता है कि—उभयपक्ष के व्यक्ति अपने साथ बीस-बीस सत्यप्रिय और न्यायकारी विद्वानों को लाएँ तथा उन्हें पञ्च के रूप में नियुक्त करें।

२४. शास्त्रार्थ सभा का समय मुम्बई में आयोजित शास्त्रार्थ के लिए प्रतिदिन दो घण्टे का और रुड़की में आयोजित शास्त्रार्थ के लिए तीन घण्टे का समय निर्धारित किया गया था।

२५. पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अनुसार काशी शास्त्रार्थ (१८६९) में स्वामीजी के विपक्षी विद्वानों की संख्या २७ थी, जिन्होंने नियत शास्त्रार्थ दिवस से १५ दिन पूर्व ही शास्त्रार्थ की तैयारी शुरु कर दी थी, वेदवाणी (१-८७), पृष्ठ ३३।

२६. वादी-प्रतिवादी के अतिरिक्त तीसरी प्रति सभापति के सिवाय शास्त्रार्थ प्रबन्धक राजपुरुष (जिलाधीश आदि) किंवा पञ्चों

के मतानुसार न्यायालय में भेजने का नियम भी देहरादून के आर्य सज्जनों द्वारा प्रसारित शास्त्रार्थ नियमों में अपवादात्मक रूप में मिलता है—आर्यसमाज का इतिहास, सत्यकेतु विद्यालंकार, पृष्ठ ३३२।

२७. चारों वेदों—(विद्या-धर्म युक्त ईश्वर-प्रणीत संहिता मन्त्र भाग) को निर्भ्रान्त स्वत: प्रमाण मानता हूँ। वे स्वयं प्रमाणरूप हैं कि जिनका प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं। जैसे सूर्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वत: प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद हैं।...'सत्यार्थप्रकाश' (स्वमंतव्यामंतव्य-प्रकाश, संख्या-२), पृष्ठ ९२१। इस सन्दर्भ में विशेष अध्ययन के लिए श्री युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा लिखित 'महर्षि दयानन्द द्वारा स्वीकृत प्रामाणिक ग्रन्थों की सूची' लेख पढ़ें। वेदवाणी, मार्च १९८५, पृष्ठ १२-१६ तथा ६२-७८।

२८. ऋ० द० स० के पत्र और विज्ञापन, पहला भाग, पृष्ठ २५२।

२९. ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ और प्रवचन, सम्पादक-युधिष्ठिर मीमांसक, पृष्ठ ४४४।

३०. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित, देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, पृष्ठ ११३।

३१. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, पृष्ठ ४३४। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली ने 'दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह' में शास्त्रार्थ और प्रश्नोत्तर दोनों का, शास्त्रार्थ कोटि में समावेश कर कुल ९१ शास्त्रार्थों का विवरण छापा है। रामलाल कपूर ट्रस्ट ने 'ऋ० द० स० के शास्त्रार्थ और प्रवचन' में उभय पक्षों द्वारा पूर्व निर्धारित विषयों पर तथा न्याय दर्शन प्रतिपादित वाद-प्रणाली का आश्रय लेकर किये गए लगभग ५० शास्त्रार्थों का प्राक्कथन में उल्लेख किया है, जिनमें से ४६ शास्त्रार्थों की सूची डॉ० भवानीलाल भारतीयजी द्वारा लिखित जीवन चरित 'नवजागरण के पुरोधा, दयानन्द सरस्वती' के पाँचवें परिशिष्ट में देखी जा सकती है, इन सन्दर्भों के आधार पर हम शास्त्रार्थों की संख्या १०० तक तो ले जा सकते हैं, पर वह एक हजार तो कदापि नहीं हो सकती।

३२. ऋषि दयानन्द सरस्वती के शास्त्रार्थ और प्रवचन, पृष्ठ २१२।

३३. ऋ० द० स० के शास्त्रार्थ और प्रवचन, पृष्ठ २१३-२२१।

३४. तत्रैव, पृष्ठ २२७-२३७।

३५. वेदवाणी, जनवरी १९८७, पृष्ठ ४२-४३। श्रीमद्दयानन्द चित्रावली, पृष्ठ १९, सम्पादक-पं० रामगोपाल विद्यालंकार (सम्पादक-वीर अर्जुन, देहली), प्रकाशक-गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, देहली, पञ्चम बार, सन् १९५१ ई०।

३६. महर्षि दयानन्द के भक्त प्रशंसक और सत्संगी, प्रकाशक-स्वामी सत्यप्रकाश प्रतिष्ठान, लखीमपुर खीरी (उत्तर प्रदेश), पृष्ठ ६ व १०।

३७. हिन्दी गद्य साहित्य, डॉ० चं० सी० सोनवणे वेदालंकार, पृष्ठ ३८।

३८. कल्याण मार्ग का पथिक, स्वामी श्रद्धानन्द, पृष्ठ १७।

३९. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, पृष्ठ ६५६।

४०. हिन्दी गद्य साहित्य, डॉ० चं० सी० सोनवणे, वेदालंकार, पृष्ठ ६९।

४१. हिन्दी गद्य का विकास, आकाशवाणी पुस्तकमाला, पृष्ठ १९।

४२. संस्कृति के चार अध्याय, श्री रामधारीसिंह दिनकर, पृष्ठ ४६६।

४३. दयानन्द प्रणीत खण्डन शैली की महत्ता (लेख), परोपकारी, फरवरी १९७७, पृष्ठ १६-१७।

—वेदवाणी : मासिक : फरवरी १९९० से साभार।



(४)

महर्षि दयानन्द का एक अज्ञात दुर्लभ संस्कृत-पत्र

पत्र-प्राप्ति की कहानी

एक अगस्त १९९० को लोकमान्य तिलक की पुण्यतिथि के अवसर पर मैं अपने नेताजी सुभाषचन्द्र बोस महाविद्यालयीन ग्रन्थालय के जीवन चरित्र विभाग में लोकमान्यजी से सम्बन्धित पुस्तकें देख रहा था कि अचानक मेरी दृष्टि एक मराठी ग्रन्थ पर गई, जिसका नाम था—**'अग्निपथावरील परांगदा'**—इस ग्रन्थ के लेखक हैं श्रीयुत विष्णु श्रीधर जोशी, जिन्होंने अपनी लेखनी उपेक्षित देशभक्त स्वाधीनता सेनानियों और क्रान्तिकारियों की यशोरक्षा के लिए समर्पित कर दी थी। शहीदों की कीर्तिरक्षा हेतु हिन्दी के सुप्रसिद्ध पत्रकार स्वर्गीय बनारसीदासजी चतुर्वेदी जिस प्रकार आजीवन समर्पित रहे, उसी प्रकार मराठी के सुप्रसिद्ध क्रान्तिगाथा लेखक श्रीयुत वि० श्री० जोशी भी शहीदों की स्मृतिरक्षा हेतु अहर्निश प्रयत्नशील रहे हैं, और उनकी यह साधना अखण्ड रूप से सन् १९३९ ई० से चालू थी। इन्हीं श्रीयुत वि० श्री० जोशीजी के उपरोक्त ग्रन्थ के पाँचवें पृष्ठ पर उद्धृत महर्षि दयानन्दजी के निम्नांकित पत्रांश से सम्बन्धित परिच्छेद पर मेरी दृष्टि गई। जो कि इस प्रकार था—

'दयानन्द सरस्वतींशी श्यामजींचा पत्र व्यवहार होई। त्यात दयानन्द संस्कृत मध्ये ही त्यांना पत्रे लिहीत। २ ऑक्टोबर १८७५ ला त्यांनी अशाच एका पत्राच्या आरम्भी 'श्रीरस्तु' अशी शुभेच्छा व्यक्त केली। पुढे म्हटले—"अग्रे मुम्बापुरीं प्रति...। परन्तु मदीयेच्छा तु गुरुजर देश प्रति गमनस्यासीत्...तन्निश्चित्य पुण्याख्यनगरे महादेव गोविन्द रानडे जजाख्यं प्रति सद्यः प्रत्युत्तरं प्रेष्यमिति।"

'अग्निपथावरील परांगदा' इस सन्दर्भित पुस्तक की प्रथमावृत्ति अगस्त १९८७ में ही निकली थी। बचपन से ही मैं क्रान्तिकारियों तथा महर्षि के विविधजीवन चरित्र साहित्य बड़े चाव और भक्तिभाव

से पढ़ता रहा हूँ। इसलिए इस पुस्तक तथा उसके प्रस्तुत पत्रांश की ओर मेरा ध्यान गया। तत्काल १ अगस्त १९९० को ही मैंने श्रीयुत वि० श्री० जोशीजी को रजिस्ट्री पत्र भेजकर चर्चित पत्रांश की यथोपलब्ध पत्र की प्रतिलिपि भिजवाने का विनम्र अनुरोध किया। तत्पश्चात् तीन अगस्त तथा स्वाधीनता दिवस १९९० पर मैंने उन्हें और एक-दो स्मरण पत्र भेजे। श्रद्धेय विष्णु श्रीधर जोशीजी का १५ अगस्त १९९० को लिखा प्रत्युत्तर तथा उसके साथ उन्हीं के हस्ताक्षरों में की गई, महर्षि दयानन्दजी द्वारा लिखित और सर्वप्रथम पुणे के केसरी संस्थान के 'द मराठा' नामक अंग्रेजी समाचार-पत्र में प्रकाशित मुद्रित पत्र की प्रतिलिपि मुझे २९-८-१९९० को मिली।

२२-८ तथा २९-८-९० को पत्र, स्मरण पत्रों द्वारा मैंने पुणे के गायकवाड़ भवन में स्थित केसरी-मराठा ग्रन्थशाला के विद्या प्रेमी ग्रन्थपाल श्री प्र० ग० फणसळकरजी को दि० २३-५-१९४१ के 'मराठा' पत्र के अंक से महर्षि दयानन्दजी के संस्कृत पत्र की फोटोस्टेट प्रति भेजने का अनुरोध किया। २०-९-९० की डाक से ग्रन्थपालजी ने पत्र की फोटोस्टेट प्रति भेजने की महती कृपा की, जिससे दयानन्दजी के संस्कृत-पत्र को सही तौर पर समझने का सौभाग्य मिला। श्री वि० श्री० जोशी द्वारा भेजे पत्र में कुछ अस्पष्टता थी, और पत्र की प्रतिलिपि करते समय कुछ अंश छूट भी गया था, पर अब पत्र को और अधिक प्रकाश में देखने के लिए महर्षि द्वारा हस्तलिखित मूल पत्र को देखने की अभिलाषा जागृत हुई। और तदर्थ विजयादशमी १९९० को फिर एक पत्र केसरी-मराठा ग्रन्थशाला के ग्रन्थपालजी को लिखा, क्योंकि दयानन्दजी के पत्र पर प्रेषण स्थान का उल्लेख और डाकखाने की मुद्रा भी हो सकती है, और हो सकता है श्री छबीलदास, श्यामजी कृष्णवर्मा आदि ने पत्र प्राप्ति की तारीख आदि का उल्लेख किया हो, तथा अन्य कुछ महत्त्वपूर्ण संकेत पत्र के आगे-पीछे या हाशिये पर पत्र प्रेषक या पत्र प्राप्तकर्त्ता द्वारा किये गए हों। कम से कम पत्र के लिए महर्षिजी ने किस प्रकार के कागज और स्याही का प्रयोग किया है—इसका तो ज्ञान होगा। और साथ ही दयानन्दजी के हस्ताक्षरों में लिखे गए मूल पत्र की प्राप्ति और उसकी सुरक्षा का भाव भी अन्तःकरण में विद्यमान था। इसी समय मेरे दिलो-दिमाग में स्वामी श्रद्धानन्दजी द्वारा दिया गया यह सन्देश घूम

रहा था कि—'बड़े आदमियों का जीवन किसी पुरुष वा जाति विशेष की जायदाद नहीं, इसलिए उसके सम्बन्ध में जो कुछ भी पता लगे उससे सर्वसाधारण को लाभ पहुँचना चाहिए।' साथ ही पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक का यह कथन भी बारम्बार ध्यान में आ रहा था कि—'कल की कौन जानता है, वर्तमान का उपयोग करना ही मानव के हाथ में है।' इसी प्रयास में मैं मेरी सहधर्मिणी वेदवती और कन्या श्रीमती विद्युल्लता अरुणकुमार कंगळे इंजीनियर के साथ २५-१०-९० को सपरिवार केसरी-मराठा ग्रन्थशाला पुणे गया। हम सबने पत्र व्यवहारों से सम्बन्धित २० फाइलों को बहुत ही ध्यानपूर्वक देखा, पर महर्षि दयानन्दजी द्वारा सम्प्रेषित और हस्तलिखित मूल पत्र उन फाइलों में नहीं मिला।

२३-५-१९४१ के अंक में 'मराठा' के सम्पादक ने अपने सम्पादकीय में लिखा है कि यह पत्र द्वितीय महायुद्ध से पूर्व सुरक्षा की दृष्टि से 'केसरी'-'मराठा' कार्यालय में श्यामजी कृष्ण वर्मा से सम्बद्ध अन्य कुछ पत्र सामग्री के साथ भेजा गया था। इस समय 'मराठा' के सम्पादक श्री गजानन विश्वनाथ केतकर थे। आप १९३५ से १९५० तक इस पत्र के सम्पादक रहे। ई० सन् १९८० में आपका निधन हो गया। 'केसरी'-'मराठा' ग्रन्थशाला के समस्त पत्र-व्यवहार विभाग में महर्षिजी का पत्र नहीं मिला। अतः अब यह कहना कठिन और असम्भव-सा है कि वह दयानन्दजी का मूल पत्र कहाँ होगा? सम्भव है मूल पत्र ही 'मराठा' में प्रकाशनार्थ कम्पोज के लिए दिया हो और फिर वह सदा-सदा के लिए नादान व्यक्तियों के हाथों अदृश्य या नष्ट हो गया हो, फिर भी हम स्वर्गीय ग० वि० केतकरजी के कृतज्ञ हैं क्योंकि उन्होंने महर्षि दयानन्दजी के संस्कृत-पत्र को 'मराठा' में मुद्रित कर सदा-सदा के लिए सुरक्षित कर दिया। दयानन्दजी द्वारा श्रीयुत छबिलदास, श्यामजी, नवीनचन्द्र राय आदि के नाम संस्कृत में सम्प्रेषित वह यथोपलब्ध पत्र पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है—

श्रीरस्तु—

स्वस्ति श्रीमच्छ्रेष्ठोपमायुक्तेभ्यः श्रीयुत छबिलदास देवीदास द्वारिकादास श्यामजी रामदासवर्मादिभ्यो हि तथा गिरिधरलाला-दिभ्य एवं श्रीयुत नवीनचन्द्र झालाख्यादिभ्यश्च दयानन्दसरस्वती-



श्रीयुत छबीलदासजी सेठ

श्रीरस्तु

स्वस्ति श्रीमच्छ्रेष्ठोपमायुक्तेभ्यः श्रीयुत छबिलदास देवीदास द्वारिकादास श्यामजी रामदास वर्मादिभ्यो हि तथा गिरिधरला आदिभ्य एवं श्रीयुत नवीन चंद्र झालाख्यादिभ्यश्च दयानन्दसरस्वती स्वामिन आशिषो भूयासुस्तमात्रथान्येभ्यश्च सर्वेभ्यः ॥

॥ अस्मिन् वर्तते, तत्रत्यं नित्यं शास्त्महे भवत्प्रेषितं पत्रं मत्सन्निधावाश्विन शुक्लपक्ष तृतीया-पांशनावागतं तदानीमेव प्रत्युत्तरं लिखितमिति बोध्यम् अपि पुण्यापुरी श्रीमतां मंदामग्रनं भव-द्भिर्विलेख्यं तन्मया स्वीकृतम् । परन्तु मदीयेच्छा तु गुर्जर देशं प्रति गमनस्यासीत् तदनादृत्य भवत्सत्कारार्थमेव तत्रागमनमिष्यत इति निश्चि-तम् ॥ मन्निवासार्थं तदेव स्थानं निश्चितं स्यात्तर्हि भद्रमेव, तत्रस्यां चेत्तदा तद्वदन्यान्निश्चेतव्यम् । तन्नि-श्चित्य पुण्याख्यनगरे महादेव गोविंद रानडे जजाख्यं प्रति सद्यः प्रत्युत्तरं प्रेष्यमिति । अद्यमा-गामि वृहस्पतिवासरे पुण्याख्यनगरं प्राप्य तत्रागमिष्यामिति वेदमनुमितम् । पूनाख्यनगरे दश-दिनपर्यंतं स्थास्याम्यधिकादधिकं पुनस्तत्राग-मिष्यामः । परन्तु मन्निवासार्थं स्थानादिकं निश्चित्य भवन्तः प्रत्युत्तरपत्रं शीघ्रं प्रेषयिष्यन्ति चेत् ।

गुणनेत्राङ्कचन्द्रेऽब्दे आश्विनस्य सिते दले ॥

शनौ वारे त्रयोदश्यां पत्रमेतदलेखि शम् ॥

पुणे के 'द मराठा' इंग्लिश दैनिक
में प्रकाशित (मे - २३, १९४१ पृष्ठ १३)

क्रान्तिकारियों की स्मृतिरक्षा के लिए सतत प्रयत्नशील
मराठी साहित्यकार स्व० श्री विष्णु श्रीधर जोशी द्वारा
१५ अगस्त १९९० को लेखक के नाम भेजा
महर्षि का एक दुर्लभ पत्र।

स्वामिन आशिषो भूयासुस्तमान्तथान्येभ्यश्च सर्वेभ्यः।

शमिह वरिवर्त्यते तत्रत्यं नित्यं चाशास्महे। भवत्प्रेषितं पत्रं मत्सन्निधावाश्विनसितपक्षतृतीयायां शनावागतं तदानीमेव प्रत्युत्तरं लिखितमिति बोध्यम्। अग्रे मुम्बापुरीं प्रति मदागमनं भवद्भिर्वञ्छितं तन्मया स्वीकृतम्। परन्तु मदीयेच्छा तु गुरुजरदेशं प्रति गमनस्यासीत् तदनादृत्य भवत्सत्कारार्थमेव तत्रागमनामिष्यत इति निश्चितम्॥ मन्निवासार्थं तदेव स्थानं निश्चितं स्यात्तर्हि भद्रमेव तन्नस्याच्चेत्तदा तद्वदन्यन्निश्चेतव्यम्। तन्निश्चित्य पुण्याख्यनगरे महादेव गोविंद रानडे जजाख्यं प्रति सद्यः प्रत्युत्तरं प्रेष्यमिति। अहमागामिबृहस्पता-वष्टम्यां पुण्याख्यनगरं प्राप्य तत्रागमिष्यामीति वेधमनुमितम्। पूनाख्यनगरेऽष्टदिनपर्यंतं स्थास्याम्यधिकादधिकं पुनस्तत्राग-मिष्यामः। परन्तु मन्निवासार्थं स्थानादिकं निश्चित्य भवन्तः प्रत्युत्तरपत्रं शीघ्रं प्रेषयिष्यन्ति चेत्।

गुणनेत्राङ्कचन्द्रेऽब्द आश्विनस्य सिते दले।
शनौ वारे तृतीयायां पत्रमेतदलेखि शम्॥

॥ भाषार्थ ॥

श्रीरस्तु

स्वस्ति श्रीमान् श्रेष्ठ उपमायुक्त श्रीयुत छबिलदास, देवीदास, द्वारिकादास, श्यामजी, रामदास वर्मा आदि को तथा गिरिधरलाल आदि को एवं श्रीयुत नवीनचन्द्र और झाला आदि को तथा अन्य सभी लोगों को दयानन्द सरस्वती स्वामी के बहुत-बहुत आशीष हों।

यहाँ कल्याण है, वहाँ के लिए भी हम नित्य कल्याण की आशा करते हैं। यह विदित हो कि आप द्वारा प्रेषित पत्र मुझे आश्विन शुक्ल पक्ष की तृतीया-शनिवार को प्राप्त हुआ, और उसी समय मैंने प्रत्युत्तर भी लिख दिया है। इससे आगे आप लोगों ने मेरे मुम्बई आगमन के लिए जो प्रार्थना की है, उसे मैंने स्वीकार कर लिया है, परन्तु सम्प्रति मेरी इच्छा तो गुजरात देश की ओर जाने की थी, पर अब मैं यह निश्चित कर चुका हूँ कि मेरी गुजरात जाने की मनोकामना को अनादृत कर आपके सम्मान के लिये ही वहाँ (मुम्बई) आऊँगा। मेरे निवास के लिए वही (पहला वालुकेश्वर) स्थान निश्चित हो जाए तो अच्छा ही है। यदि वह न हो सके तो उसी प्रकार का अन्य स्थान निश्चित किया जाए। निवास-स्थान का निश्चय होने पर पुणे नगरी

में न्यायाधीश महादेव गोविंद रानडे के नाम त्वरित प्रत्युत्तर भेजिए। मेरा यह सुनिश्चित अनुमान है कि मैं आगामी गुरुवार-अष्टमी को पुणे नगरी की ओर जाकर फिर वहाँ आऊँगा। पुणे नगरी में अधिकाधिक आठ दिन तक रुकूँगा और फिर वहाँ (मुम्बई) आऊँगा। परन्तु यह तभी होगा, जब आप मेरे स्थानादि का निश्चय कर शीघ्र ही प्रत्युत्तर भेजेंगे।

२ अक्टूबर १८७५ (विक्रमी संवत् १९३२) को आश्विन मास के शुक्ल पक्ष की तृतीया शनिवार के दिन मैंने यह पत्र लिखा है, कल्याण हो।

गुण[३] नेत्रा[२]ङ्क[९] चन्द्रे[१]ऽब्द आश्विनस्य सिते दले।
शनौ वारे तृतीयायां पत्रमेतदलेखि शम्॥

प्रस्तुत पत्र के सम्बन्ध में प्रतिक्रिया

'परोपकारी' मासिक मई १९९० के आवरण पृष्ठ एक पर स्वामी दयानन्द के नाम से प्रकाशित पत्र के अप्रामाणिक और प्रामाणिक होने की चर्चा आर्य जगत् के सुप्रसिद्ध गवेषकों पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक, डॉ० भवानीलालजी भारतीय, आदि ने आजकल के आर्यपत्रों में की है। जहाँ तक प्रस्तुत पत्र की बात है वह अपने यथावत् मूलरूप में तो नहीं है, पर फिर भी विश्वसनीय है। क्योंकि यह पत्र जहाँ महर्षि के घटनाक्रम से मेल खाता है वहाँ इसमें ऐसी किसी बात का उल्लेख होने का प्रश्न ही नहीं उठता, जो सिद्धान्तविरोधी हो, और इस पत्र की विश्वसनीयता इसलिए भी बढ़ जाती है कि जिन्होंने श्यामजी कृष्ण वर्मा के निजी संग्रह से १८७७-७९ की कालावधि में दयानन्दजी द्वारा लिखे कुल २६ पत्र प्रयाग विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रा० डॉ० धीरेन्द्रजी वर्मा को सन् १९३६ में सौंपे थे, उन्होंने ही यह पत्र केसरी-मराठा संस्थान को विश्व युद्ध छिड़ने से कुछ दिन पूर्व १९३६ में भेज दिया था। अन्तर इतना ही है कि यह संस्कृत पत्र उन पत्रों से दो वर्ष पूर्व का अर्थात् १८७५ का है। कालक्रम की दृष्टि से दो वर्ष पूर्व का होने के कारण यह पत्र अन्य पत्रों से अलग-थलग पड़ गया होगा। दयानन्दजी का पत्र केसरी-मराठा संस्थान पुणे कार्यालय को भेजने का एक कारण यह भी हो सकता है कि उनके पत्र में स्पष्ट रूप से पुणे कार्यक्रम और महादेव गोविन्द रानडे का



पण्डित श्यामजी कृष्ण वर्मा

ऋषि दयानन्द का स्वहस्त-लिखित पत्र

सं० १९३५ फा० शु० ११ मंगल ता० ४ मार्च सन १८७९

पंडित श्यामजी कृष्णवर्म्मा आनन्दित रहो तुम्हारा ता० २६ फरवरी का लिखा पत्र आया सब हाल विदित हुआ मैं बहुत शोक इस बात में करता हूं कि हमारे प्रियबन्धुवर्ग पाताल देशनिवासी लोगों को मुंबई में आ के मिल नहीं सकता क्योंकि हरद्वार में चैत्र की समाप्ति पर्य्यन्त ठहरने का नोटिस फाल्गुन शुदी ६ गुरुवार से दे चुका हूं ॥ और यहां इस बात की प्रसिद्धी भी कर चुका हूं. अब इस बात को अन्यथा नहीं कर सकता ॥ जब वे इस देश में लाहौर आदि के समाजों को देखने को आवेंगे तब यहां वा कहीं अत्यन्त प्रेम के साथ उन से मिलूंगा और बात चीतें भी यथोचित होंगी उनसे मेरा आशीर्वाद कह के कुशल क्षेम प्रेम से पूछना ॥ और जो तुमने समाज के विषय में लिखा कि न आओगे तो यहां का आर्य्यसमाज टूट जायगा क्या तुमने समाज हरिचन्द्र चिन्तामणि के ही भरोसे किया था और जो मेरे आने जाने पर ही समाज की स्थिति है तो मैं अकेला कहां २ जा आ सकता हूं जो समाज में अयोग्य प्रधान हो उसको छुड़ा कर दूसरा नियत करके समाज का काम ठीक कर चलाना चाहिये ॥ कल यहां से चल के मुन्शी समर्थदान वेदभाष्य के काम पर नियत होके मुंबई को आते हैं तुम से मिलेंगे छापेवालों और कागज वालों से ठीक २ नियम करा देना और बाबू हरिचन्द्र चिन्तामणि से भी सब पुस्तक पत्रे दिला देना सब हिसाब किताब करा के शीघ्र खुलासा करा देना और इनको मकान आदि का क्लेश कुछ भी कभी न होने पावे

दयानन्द सरस्वती

यह पत्र 'पत्र-विज्ञापन' भाग १, पृष्ठ २४६-२४७ पर छपा है।

उल्लेख है, या यह भी सम्भव है तिलक-रानडेजी द्वारा पं० श्यामजी को लिखे गए पत्रों को भेजते समय महर्षि द्वारा श्यामजी कृष्ण वर्मा को भेजा गया पत्र भी राणाजी ने पुणे भेज दिया हो।'

महर्षि के इस पत्र की प्रवास यात्रा भी बड़ी रहस्यमय और रोचक है—शहीद मदनलाल धींगड़ा के साहसी कारनामों के बाद 'इंडिया हाउस' से प्राप्त रिकार्ड लंदन से पेरिस ले जाया गया। अन्तिम विश्वयुद्ध शुरु होने पर श्यामजी जिनेवा चले गए। वर्मा दम्पति के मृत्युपत्रानुसार प्रवासी देशभक्त और श्यामजी के अनन्य मित्र बैरिस्टर श्री सरदारसिंह रेवाभाई राणा ने इसी रिकार्ड से केसरी-मराठा कार्यालय पुणे को कुछ फोटो और पेपर्स भेजे, जिनमें तिलक, रानडे द्वारा श्यामजी कृष्ण वर्मा को लिखे पत्र तो थे ही इसके अतिरिक्त सावरकर का राइफल लिये हुए एक फोटो तथा गोपाल हरि देशमुख 'लोकहितवादी' का एक दुर्लभ फोटो था। श्यामजी कृष्ण वर्मा और 'लोकहितवादी' में परस्पर पत्र व्यवहार था। श्यामजी 'लोकहितवादी' के प्रति विशिष्ट आदर भाव रखते थे। दयानन्दजी ने भी 'लोकहितवादी' को भेजे पत्रों में श्यामजी से सम्बन्धित अनेक निर्देश दिए थे। राणाजी द्वारा भेजे गए रिकार्ड में से 'लोकहितवादीजी' का दुर्लभ फोटो श्री एन० वी० वीरकर (तत्कालीन गिरगाँव के सुप्रसिद्ध फोटोग्राफर) अपने संग्रह के लिये ले गए। महर्षि द्वारा श्यामजी कृष्ण वर्मा को भेजा पत्र २३ मई १९४१ तक तो मराठा कार्यालय में सुरक्षित था। इसी दिन वह 'मराठा' के अंक में मुद्रित भी हुआ, पर फिर न जाने कहाँ चला गया। देखिए भारत के सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा ने स्वामीजी के २६+१=२७ पत्रों को पराधीनता के दुर्दिनों में किस प्रकार विदेशों में सम्भालकर रखा और अन्त में भारतवर्ष की थाती भारतीयों तक पहुँचाने की भी व्यवस्था कर दी। डॉ० भवानीलाल भारतीय लिखित जीवनी—'श्यामजी कृष्ण वर्मा' की 'भूमिका' में श्री नरेन्द्र दवेजी ने लिखा है कि श्यामजी से सम्बन्धित दुर्लभ सामग्री पुणे में लोकमान्य तिलक द्वारा सम्पादित 'केसरी' कार्यालय में है। श्री दवेजी ने इसी प्रसंग में श्यामजी व उनके साथियों से जुड़ी वस्तुओं को राष्ट्रिय धरोहर के रूप में सुरक्षित किए जाने की अभिलाषा व्यक्त की है। केसरी कार्यालय में मैंने श्यामजी के निकटतम साथी मादामकामा द्वारा फहराया भारतीय राष्ट्र-ध्वज तो देखा पर देशभक्त

राणा की डायरी इस संस्थान में आई या नहीं, मुझे मालूम नहीं। सम्भव है महर्षि का चर्चित पत्र जो मूल रूप में हमें नहीं मिला, सम्भव है आगे चलकर इसी 'केसरी' कार्यालय से अन्य किसी को मिले।

पत्र-समीक्षा

(१) प्रस्तुत पत्र का प्रारम्भ 'ओ३म्' से न होकर **'श्रीरस्तु'** शुभाशीष से हुआ है, अतः सम्भव है कतिपय व्यक्ति इस पत्र को सन्देह की दृष्टि से देखें, उन्हें मैं महर्षि दयानन्द के उपलब्ध पत्रों के आधार पर यह बताना जरूरी समझता हूँ कि दयानन्दजी २० जुलाई १८६९ से विज्ञापन पत्र के प्रारम्भ में और १ सितम्बर १८७० से विज्ञापन के अतिरिक्त अन्य पत्रों के प्रारम्भ में 'श्रीरस्तु' का प्रयोग करते थे। इस प्रकार का प्रयोग २९ मई १८७५ तक के पत्रों में मिलता है, पर यह प्रयोग केवल एक विज्ञापन और लगभग पाँच पत्रों में ही स्वामीजी ने किया है।

पत्र के प्रारम्भ में **'ओम्'** लिखने का प्रयोग के पत्रों में १९ दिसम्बर १८७६ से लगभग ८ सितम्बर १८८३ तक प्राप्त होता है। १६-१०-१८७५ के पत्र में उन्होंने 'श्रीयुक्ताः सन्तु' का भी प्रयोग किया है।

स्वामीजी के पत्रों में **'ओ३म् तत्सत्'** का प्रयोग केवल ८ मई १८७९ के पत्र में हुआ है।

'ओम् नमः सर्वशक्तिमते परमेश्वराय'—इस प्रकार का पत्रारम्भ में प्रयोग दयानन्दजी के केवल १२ सितम्बर १८७९ के पत्र में मिलता है।

'ओ३म् नमः सर्वशक्तिमते परमेश्वराय'—इस शैली का प्रयोग पत्रारम्भ में केवल १ दिसम्बर १८७९ तथा २७ दिसम्बर १८७९ के पत्रों में ही महर्षि ने किया है।

'ओं३ नमः सच्चिदानन्दादिलक्षणाय परमेश्वराय' का प्रयोग स्वामीजी ने केवल २ जून १८८३ के पत्रारम्भ में किया है।

आश्चर्य है कि दयानन्दजी ने ४ मार्च सन् १८८३ के स्वीकार पत्र-२ का प्रारम्भ **'श्री रामजी'** से किया है।

पत्रारम्भ में **'ओ३म्'** लिखने का प्रयोग स्वामीजी के पत्रों में ३० जून १८८० से २९ सितम्बर १८८३ तक लिखे गए पत्रों में

मिलता है। महर्षि ने अपने पत्रों में इस शैली का अत्यधिक प्रयोग किया है और उनके द्वारा सुप्रतिष्ठित इस शैली को ही उनके अनुयायी और आर्यसमाजी उत्तरोत्तर और अधिक व्यापक बनाते जा रहे हैं।

अतः स्पष्ट है कि प्रस्तुत चर्चित दुर्लभ पत्र के लेखन काल में महर्षि पत्रारम्भ में 'श्रीरस्तु' का ही प्रयोग करते थे, इसलिए १८७५ कालीन स्वामीजी के पत्रों की शुरुआत में 'ओ३म्' के स्थान पर 'श्रीरस्तु' का होना ही स्वामीजी के पत्रों की प्रामाणिकता या विश्वसनीयता को सिद्ध करता है।

(२) **''स्वस्ति श्रीमत् श्रेष्ठ उपमायुक्तेभ्यः........दयानन्द-सरस्वती स्वामिन आशिषो भूयासुस्तमाम्...शमिह वरिवर्त्यते तत्रत्यं नित्यं चाशास्महे''**—दयानन्दजी के १ सितम्बर १८७० से २८ मई १८८३ तक लगभग २४ पत्र ऐसे हैं, जिनके प्रथम परिच्छेद का प्रारम्भ स्वामीजी के इसी प्रकार की आशीर्वचनों और मंगल कामनाओं से परिपूर्ण होता है। प्रस्तुत चर्चित पत्रांश उसका एक उदाहरण मात्र है। पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा, पण्डिता रमाबाई जैसे संस्कृतज्ञ विद्वानों, कर्नल ऑल्काट, मैडम ब्लैवेट्स्की जैसे थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापकों, लोकहितवादी, महीपतराम जैसे महापुरुषों, राजा-महाराजाओं तथा ब्रह्मचारी रामानन्द जैसे शिष्यों को पत्र लिखते समय इस आशीर्वादात्मक शैली को महर्षि ने अपनाई है, इसके साथ ही अपना कल्याण कुशलक्षेम का समाचार देते हुए उनके कुशलक्षेम कल्याण की कामना करने वाली शैली का भी प्रयोग उन्होंने किया है।

(३) पत्र के प्रारम्भ में स्वामीजी ने कुल सात व्यक्तियों की ओर निर्देश किया है। यहाँ पर उनका क्रमशः यथोपलब्ध पर यथावश्यक परिचय दिया जा रहा है—

(१) छबीलदास लल्लूभाई—आप आर्यसमाज की स्थापना में सहयोग देने वाले उन छह प्रमुख व्यक्तियों में से एक थे, जो जाति बहिष्कृत किए जाने तथा अनेक प्रकार के भय दिखाने और दवाब डालने पर भी डगमगाए नहीं। १८७५ में स्थापित आर्यसमाज की व्यवस्थापक सभा के आप एक सदस्य थे। आपने अपनी पत्नी की स्मृति में आर्यसमाजस्थ यज्ञमण्डप का कार्य सम्पूर्ण करने के लिए दो हजार रुपए दान में दिए थे। आप श्यामजी कृष्ण वर्मा के श्वसुर थे।

आपकी गणना मुम्बई के प्रख्यात सेठों और व्यापारियों में की जाती थी। मुम्बई के दादर विभाग में स्थित एक सुप्रसिद्ध स्कूल का नामकरण आपकी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए ही—'छबीलदास लल्लूभाई हाईस्कूल' के रूप में परिवर्तित किया जा चुका है। छबीलदासजी का फोटो दामोदर सुन्दरदास लिखित, गुजराती पुस्तिका आर्यसमाज जो इतिहास तथा 'आर्यसमाज मुम्बई स्थापना शताब्दी स्मृति ग्रन्थ' में पृष्ठ ११८ के बाद क्रमांक (२०) पर देखा जा सकता है।

(२) देवीदास—जहाँ तक हमारा अनुमान है ये देवीदास, सेठ छबीलदास लल्लूभाई के सहोदर भ्राता ही होंगे, क्योंकि इनका उल्लेख डॉ० भवानीलाल भारतीय ने 'रामदास छबीलदास बैरिस्टर के चाचा' के रूप में किया है। अन्तर इतना ही है कि वहाँ उनका नाम देवीदास के रूप में न होकर देवीभक्त के रूप में अंकित है। डॉ० भारतीयजी के अनुसार श्री वेंकटेश्वराचार्य को मूर्त्ति-पूजा पर शास्त्रार्थ करने के लिए इन्होंने ही प्रेरित किया था। आर्यसमाज के सदस्यों में इनका समावेश नहीं हुआ है। सम्भवत: ये आर्यसमाज के आन्दोलन से तटस्थ या दूर ही रहे होंगे।

(३) द्वारिकादास—सेठ छबीलदास लल्लूभाई के सम्भवत: आप भी सहोदर भ्राता हैं। १८७५ से १८८३ तक आप आर्यसमाज मुम्बई के एक सक्रिय सभासद के रूप में नजर आते हैं। आपने महर्षि दयानन्दजी द्वारा लिखित 'वेदविरुद्ध मत खण्डन' का प्रकाशन किया था। इसीलिए तत्कालीन पुस्तक पर यह अंकित है—'वेदविरुद्धमतखंडनोयङ्ग्रन्थ:.....प्रसिद्धकर्त्ता वेदमतानुयायी लल्लूभाईसुत द्वारिकादास:'। महर्षि दयानन्द की सन् १८७३ की डायरी में पृष्ठ दो पर—छबिलदास-द्वारिकादास इन दोनों भाइयों का नाम एक साथ एक ही पंक्ति में लिखा गया है ('परोपकारी', मासिक, सितम्बर १९९३, पृष्ठ-३२५, प्रस्तुति—प्रा० डॉ० धर्मवीर)।

(४) श्यामजी—आज ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो क्रान्ति सेनापति श्यामजी कृष्ण वर्मा को न जानता हो? आप दयानन्दजी के शिष्य थे। कर्नल अल्काट को महर्षि ने जो संस्कृत पत्र लिखे थे उनका अंग्रेजी भाषान्तर कर उन्हें उनकी ओर भेजने का कार्य आपने ही किया था। मराठी चरित्र लेखक वि० श्री जोशीजी के अनुसार

आपका जन्म ४ अक्टूबर १८५७ और देहावसान ३० मार्च १९३० को हुआ। श्यामजी का विशेष परिचय पाने के इच्छुक व्यक्ति डॉ० भवानीलाल भारतीय लिखित 'श्यामजी कृष्ण वर्मा' की हिन्दीजीवनी श्री वि० श्री० जोशी लिखित 'अग्निपथावरील परांगदा' नामक मराठी ग्रन्थ के प्रथम प्रकरण में समाविष्ट 'पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा' की जीवनी (पृष्ठ १ से ११५ तक) और इन्दुलाल याज्ञिक लिखित 'श्यामजी कृष्ण वर्मा, लाइफ एंड टाइम्स ऑफ एन इण्डियन रेवोल्यूशनरी' नामक अंग्रेजी चरित्र का अध्ययन करें तथा प्रो० हरिदत्त वेदालंकार लिखित 'आर्यसमाज का इतिहास'—प्रथम भाग के श्यामजी से सम्बद्ध (पृष्ठ ५०७ से ५१९ तक के) अंश पढ़ें।

(५) रामदास वर्मा—आप छबीलदास लल्लूभाई के सुपुत्र और श्यामजी कृष्ण वर्मा के सहपाठी थे। कतिपय चरित्र लेखकों के अनुसार श्यामजी की प्रतिभा का परिचय सर्वप्रथम छबीलदास को अपने पुत्र रामदास क़े माध्यम से ही हुआ। रामदास अपने पिताजी और चाचाजी के साथ १८७५ में ही आर्यसमाज के सदस्य बन गए थे। महर्षि दयानन्दजी के श्री चरणों में बैठ कर आपने विविध शास्त्रों का अध्ययन भी किया था। प्रारम्भ में इनकी प्रतिभा मन्द थी, पर कालान्तर में वह खूब चमकी, आप बैरिस्टर भी बने। जब आपके चाचा से प्रेरित होकर वेंकटेश्वराचार्य नामक पण्डित ने १३ जून १८८२ के 'मुम्बई समाचार' नामक गुजराती पत्र में महर्षि को मूर्त्ति-पूजा पर शास्त्रार्थ करने की चुनौती दी, तो उसका प्रत्युत्तर बैरिस्टर रामदास ने श्लोकबद्ध संस्कृत में स्वामीजी के हस्ताक्षर के साथ भेज दिया था, जिसका एक अंश निम्न प्रकार था—

भीतः कदा नाम मृगेन्द्रशावको,
दीनं मुखं वीक्ष्य मृगांगनायाः।

अर्थात्—हिरणी के भयभीत दीन मुख को देखकर क्या कभी शेर का बच्चा घबराता है ? कभी नहीं।

बैरिस्टर रामदास वर्मा ने महर्षि के देहावसान पर शोकोद्गार के रूप में संस्कृत में २० पद्य लिखे थे, जो गोपालराव हरि पुणतांबेकर लिखित 'दयानन्द दिग्विजयार्क' के तृतीय अंक में पृष्ठ २३६-२४० पर भावानुवाद के साथ संकलित किये गए हैं। इन २० पद्यों के अतिरिक्त अन्य २६ पद्य भी 'श्री दयानन्दोदय', 'श्री दयानन्दोपकृतिः'

तथा 'महर्षि यशोगानम्' शीर्षक से आपने रचे थे, जो हरि सखाराम तुंगार लिखित मराठी जीवन चरित्र 'महर्षि दयानन्द सरस्वती यांचे चरित्र व कामगिरी' में हिन्दी अनुवाद के साथ पृष्ठ ३१ से ३६ तक उद्धृत किये गए हैं। ये श्लोक 'महर्षि-महिमा' से ओत-प्रोत हैं जिनसे दयानन्दजी के प्रति बैरिस्टर रामदासजी की अनन्य आस्था एवं परम भक्ति का परिचय मिलता है।

इस प्रकार पत्र में चर्चित उपरोक्त पाँचों व्यक्ति एक ही परिवार के हैं, क्योंकि ये सब भानुशाली वंश और भणशाली जाति से सम्बन्धित हैं। प्रथम तीनों व्यक्ति तो सहोदर भ्राता हैं, तो चौथे श्यामजी और पाँचवें सेठ छबीलदास के पुत्र रामदास हैं। इनमें से देवीदास को छोड़कर अन्य सभी मुम्बई आर्यसमाज के सदस्य थे। सेठ छबीलदास का नाम आर्यसमाज की सदस्यता सूची में तो नहीं है, फिर भी हम उन्हें आर्यसमाज का सदस्य मानते हैं, क्योंकि आर्यसमाज स्थापना काल के साथ गठित की गई आर्यसमाज व्यवस्थापक मण्डली के वे सभासद थे। भानुशाली वंश और भणशाली जाति से सम्बन्धित इन चार आर्यसमाज के सदस्यों के अतिरिक्त अन्य तीन व्यक्ति भी आर्यसमाज के सभासद थे। जिनमें से मुम्बई आर्यसमाज के तत्कालीन मन्त्री सेवकलाल कृष्णदास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस तरह स्पष्ट है कि भानुशाली वंशोद्भव इन व्यक्तियों का प्रथम आर्यसमाज की स्थापना और उसके विकास में विशेष योगदान रहा है, इसलिए भणशाली जाति का यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

'भणशाली जाति की बस्ती मुम्बई इलाके में बसी हुई है। इसी जाति का दूसरा नाम वेगु भी है। १९५० से पूर्व की गई जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या १५,००० थी। भानुशाल नामक राजा से भणशाली शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है। ये स्वयं को सोलंक (सोलंकी) राजपूत मानते हैं। भणशाली प्रायः व्यापारी हैं, पर खेती भी करते हैं। ये सब शाकाहारी माने जाते हैं और इनका लुहाणा, खत्री और कायस्थ लोगों से रोटी व्यवहार है। भणशाली परिवारों में सारस्वत ब्राह्मण उपाध्याय का काम करते हैं।'

मुझे प्रायः यह प्रतीत होता रहा है कि भानुशाली वंशोद्भव श्री श्यामजी तथा रामदासजी के साथ जो वर्मा उपनाम पाया जाता है

उसकी पृष्ठभूमि में महर्षि का यह सन्देश काम कर रहा होगा कि— 'गुण भ्रष्ट हुए तो हुए, पर कम से कम नाम भ्रष्ट तो मत हो।' जनवरी १८७५ में मुद्रित महर्षि दयानन्दजी की पुस्तक पर—'वेद-विरुद्धखण्डनोंयङ्ग्रन्थः.....स्वामिन आज्ञया वेदमतानुयायिना कृष्णदास-सूनुना श्यामजिना भाषान्तरङ्कृतम्' उल्लेख है तो इसके बाद १८७६ में स्वामी नारायण मत दोष-दर्शक 'शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण' ग्रन्थ पर यह उल्लेख मिलता है कि—'आर्यसमाजस्थेन कृष्णवर्मा सूनुना श्यामजिना भाषान्तरं कृतम्।' स्वामीजी की संस्कृत पुस्तकों के गुजराती अनुवादक श्यामजी कृष्ण वर्मा से महर्षि ने कहा होगा—*'अरे प्रिय शिष्य श्याम! तुम लोगों ने हर नाम के पीछे दास क्यों लगा रखा है— कृष्णदास, छबीलदास, देवीदास, द्वारिकादास और रामदास। अरे हम दास नहीं हैं। हमें दास नहीं बनना है, हमें क्षत्रिय बनना है। आगे से कृष्णदास के स्थान पर कृष्ण वर्मा लिखा करो। और सम्भव है तभी से श्यामजी ने कृष्णदास के स्थान पर कृष्ण वर्मा लिखना शुरू कर दिया होगा और उसी समय से उनके साथ वर्मा उपनाम का प्रचलन शुरू हो गया होगा।* 'संस्कार विधि' में भी महर्षि लिखते हैं 'यदि बालक क्षत्रिय हो तो उसका नाम देववर्मा रखे। सम्भवतः महर्षि वैश्यकुलोत्पन्न श्यामजी और रामदासजी को क्षत्रियों के समान अधिकाधिक तेजोमय-तेजस्वी रूप में देखना चाहते थे।'

(६) गिरिधरलाल—प्रस्तुत पत्र में निर्दिष्ट छठे व्यक्ति का पूरा नाम है—श्री गिरिधरलाल दयालदास कोठारी। आप मुम्बई उच्च न्यायालय के सुप्रसिद्ध वकील थे। आर्यसमाज की स्थापना से पूर्व उसकी स्थापना हेतु जो सभा हुई थी, उसके आप अध्यक्ष थे। आर्यसमाज के सिद्धान्त सम्बन्धी नियम तो महर्षि ने बनाए थे, पर विधान सम्बन्धी नियम बनाने के लिए एक त्रि-सदस्यीय समिति बनाई गई थी। उस उपसमिति ने जो विधान बनाया था उसे व्यवस्थित रूप देने का कार्य कोठारीजी ने ही किया था। महर्षि द्वारा प्रतिपादित आर्य धर्म पर आपको पूर्ण विश्वास था। अनेक प्रकार के भय, अपमान और आतंक की उपेक्षा करते हुए आप अपने आर्यसमाजी होने के दृढ़ संकल्प से डिगे नहीं, और वैदिक आन्दोलन के अग्रणी बने रहे। मुंबई आर्यसमाज का सर्वप्रथम प्रधान होने का श्रेय आपको प्राप्त है। १८७५ से १८७७ तक आप इस समाज के प्रधान रहे।

(७) नवीनचन्द्र—यहाँ नवीनचन्द्र से तात्पर्य बाबू नवीनचन्द्रजी राय से है। श्री हरि सखाराम तुंगार के अनुसार पुणे से लौटने के बाद मुम्बई में महर्षि दयानन्दजी और नवीनचन्द्ररायजी की चर्चा हुई थी। सन् १८७७ के दिल्ली दरबार के अवसर पर महर्षि दयानन्दजी द्वारा आयोजित एकता सम्मेलन में भी ब्रह्मसमाज के प्रतिनिधि के रूप में आप सम्मिलित हुए थे। मुम्बई से सन् १८८२ को लिखे पत्र में लाला जीवनदास को निर्देश देते हुए महर्षि लिखते हैं कि *''हमने सुना है कि आजकल बाबू नवीनचन्द्र राय लाहौर में हैं और विधवा विवाह में प्रयत्न कर रहे हैं और आर्यसमाज लाहौर भी इस बात में बाबूजी से सम्मत हो गया है। ये ब्रह्मसमाजी लोग भीतर और तथा बाहिर और बात रखते हैं। इनका यह भी मतलब होता है कि जैसे हम लोग क्रिश्चिनों के तुल्य अपमानित हुए हैं, वैसे आर्यसमाज भी हो जाए''*। स्वामीजी ने 'सत्यार्थप्रकाश' में आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज का अन्तर स्पष्ट किया है। डॉ० भवानीलाल भारतीय के अनुसार—'विचारों में अन्तर होने पर भी पंजाब ब्रह्मसमाज के संस्थापक राय महाशय महर्षि दयानन्द के वैदिक धर्म को पुनः स्थापित करने विषयक प्रयासों तथा राष्ट्र के उत्थान में दिए जाने वाले उनके योगदान के प्रशंसक थे।'

(८) झाला—स्वामीजी का झाला उपनाम से किस व्यक्ति से तात्पर्य है—हमें मालूम नहीं, यह एक अनुमान है कि झाला उपनाम के व्यक्ति मूलतः राजस्थान प्रान्तीय हों। पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा के सहयोगी बैरिस्टर सरदारसिंह रेवाभाई राणा (१२-४-१८८०—२८-५-१९५७) के पूर्वजों का उपनाम भी झाला ही था। उनका काठियावाड़ घराना मूलतः शूरवीरता और प्रामाणिकता के लिए प्रसिद्ध राजपूत घराने में से एक था।

जब राणा प्रताप ने स्वाधीनता के लिए मुगल सत्ता के विरुद्ध ऐतिहासिक युद्ध किया तब उस अरावली के युद्ध में राणा के पूर्वजों ने भी भाग लिया था। इस युद्ध में जब एक बार राणा प्रताप मुगलों के घेरे में घिर गए थे, तब सरदारसिंह राणा के पूर्वजों में से, किसी एक सेनाधिकारी ने, राणा प्रताप का शिरस्त्राण और रूमाल अपने सिर पर बाँधकर, मुगलों की सेना में असली राणा प्रताप के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न कर डाला था, और इस प्रकार राणा प्रताप को वहाँ से निकल

जाने में सहायता पहुँचाई थी। इस पर राणा ने खुश होकर यह कहा था कि—"आज से आप ही राणा हैं" और तभी से उनके घराने का नाम झाला कें स्थान पर राणा हो गया। (बैरिस्टर राणा द्वारा लिखे गए आत्मवृत्त पर पत्रकार ग० वि० केतकर द्वारा लिखी गई एक टिप्पणी—क्रान्तिकारी राणा का पूर्ववृत्त 'केसरी' दि० १४ अगस्त १९५१। बैरिस्टर राणा के पौत्र श्री जितेन्द्र राणा ने वि० श्री० जोशी को दी गई जानकारी के आधार पर—सन्दर्भ—अग्निपथावरील परांगदा—पृष्ठ २१४-२१५)।

ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन में स्मृत कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों का परिचय राजपूताने के प्रसिद्ध इतिहासविद् श्री ठाकुर जगदीशसिंह गहलोत, अध्यक्ष-पुरातत्त्व विभाग, जयपुर, राजस्थान ने दिया है, जिनमें झालावाड़ नरेश हिज हाईनेस महाराणा श्री जालिमसिंह झाला (१-६-१८६३—८-१०-१९१२) का भी संक्षिप्त परिचय शामिल है। प्रस्तुत पत्र लेखन काल (१८७५) में ही जालिमसिंह अपनी ११ वर्ष की अवस्था में झालावाड़ा राज्य (राजस्थान) के उत्तराधिकारी नियत हुए थे। सम्भव है उत्तराधिकारी बनने के बाद आपने मुम्बई की यात्रा की हो। राणा जालिमसिंह झाला २५ मार्च १८७६ ई० को मेयो कॉलेज अजमेर के विद्यार्थी बने थे और १९ वर्ष की आयु में मार्च १८८३ ई० में आपने कॉलेज छोड़ दिया था। महर्षि दयानन्द के पत्रों में चर्चित कच्छ दरबार के राणा जालिमसिंह और झालवाड़ राज्य के अधिकारी राणा जालिमसिंह झाला दोनों सम्भवतः दो पृथक्-पृथक् व्यक्ति न होकर एक ही होंगे। राणा जालिमसिंहजी (कच्छ दरबार) ने दयानन्दजी को १८८१ में मुम्बई बुलाने के लिए उनका और उनके सहयात्रियों की ट्रेन टिकट और विशेष खर्च की व्यवस्था कर, तत्कालीन मुम्बई आर्यसमाज के मन्त्री सेवकलाल कृष्णदास के माध्यम से, दो विशेष व्यक्तियों (कविद्वय रतनसी श्यामजी और पं० गिरिजाशंकर दुबे) को आगरा भेजा था, पर उस समय अनुकूलता न होने के कारण महर्षि मुम्बई नहीं पधार सके, पर उन्हों ने राणा जालिमसिंह को भेजे पत्र सन्देश में कहा था कि—*'आपत्ति में धैर्य से बुद्धिमत्ता के साथ, आपत्ति का निवारण करना आप्तों का काम है। जो आपने विदेश जाने का विचार किया है, वह यहीं हो सकता है वहाँ जाने का कुछ प्रयोजन नहीं'*।

इसी समय इसी सन्दर्भ में महर्षि ने तत्कालीन मुम्बई राज्य के समाजसुधारक और राष्ट्रहितैषी नेता श्री लोकहितवादी और न्यायमूर्त्ति रानडे को यह पत्र सन्देश भेजा था कि—*'आप देश के परमहितैषी हैं। हिन्दी जैसे सब देश पर दृष्टि रखते हैं। विशेष कृपा दृष्टि कच्छ-भुज देश पर भी कीजिये। जिससे यथोचित सुशिक्षा हो, सत्य सत्य (सही-सही) करेंगे यह भी आशा है, क्योंकि इस समय रावसाहब नाबालग हैं।'*

श्री पं० भगवद्दत्तजी बी० ए० के अनुसार नाबालिग रावसाहब का नाम खेंगारजी था। ये कच्छ के राजा स्वर्गीय श्री प्रागमल के उत्तराधिकारी थे और इस समय इनकी आयु लगभग १३, १४ वर्ष थी, (ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, प्रथम भाग पृष्ठ ४७४-४७५)। महर्षि दयानन्द की सन् १८७३ के पतों की डायरी में पृष्ठ ९ पर अन्य नामों के साथ कच्छ के महाराज श्री मिर्जा राजे प्रागमल्लजी का उल्लेख है (परोपकारी, सितम्बर १९९३, पृष्ठ-३२६)।

(४) प्रस्तुत संस्कृत-पत्र में महर्षि ने लिखा है कि—*'आप द्वारा प्रेषित-पत्र मुझे आश्विन शुक्ल पक्ष की तृतीया-शनिवार को प्राप्त हुआ और उसी समय मैंने प्रत्युत्तर भी लिख दिया था।'*

स्वामीजी की इस तत्परता से मुझे उनके द्वारा ही अन्यत्र किसी एक पत्र में लिखा यह भाव याद आ गया कि—*'पत्र लिखने में मैं एक क्षण का भी विलम्ब नहीं लगाता।'* प्रस्तुत पत्र एक प्रकार से उनकी इसी तत्परता का परिणाम है। हम साधारण लोगों की स्थिति तो ऐसी है कि एक तो समय पर प्रत्युत्तर देते नहीं और देते भी हैं तो यथासमय उसे डाक में नहीं डालते।

(५) *'सम्प्रति मेरी इच्छा तो गुजरात देश की ओर जाने की थी, पर अब मैं यह निश्चित कर चुका हूँ मेरी गुजरात जाने की मनोकामना को अनादृत कर अब मैं आपके सम्मान के लिये ही वहाँ आऊँगा।'*

प्रस्तुत संस्कृत पत्र के इस कथन की संगति क्या 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' इस उक्ति से लगायी जा सकती है? क्या महर्षि के अन्तर्मन में अपनी जन्मभूमि, उसके परिवेश तथा प्रान्त के प्रति आकर्षण नहीं रहा होगा? प्रस्तुत पत्र लिखने से १० महीने पूर्व ही वे १ दिसम्बर १८७४ से २९ जनवरी १८७५ तक का

काल अपनी गुजरात यात्रा को दे चुके थे।

गृहत्याग के लगभग २९-३० वर्ष बाद स्वामीजी ने अपनी जन्मभूमि गुजरात की यह यात्रा की थी। तत्कालीन प्रसंग पर टिप्पणी करते हुए महर्षि दयानन्द के अनन्य भक्त डॉ० भवानीलाल भारतीय भावविभोर होकर यह लिखते हैं कि—"वर्षों पश्चात् दयानन्द एक बार फिर अपनी जन्मभूमि गुर्जर देश आए हैं। किसे पता था कि टंकारा ग्राम का वह ब्राह्मण युवक जो संवत् १९०३ की किसी अज्ञात सन्ध्या को अपने घर परिवार के स्नेह को छोड़कर वैराग्य पथ का पथिक बन गया था, एक बार पुनः अपनी मातृभूमि के दर्शन करने आयेगा। अब यह सर्वथा नवीन रूप में आ रहा है। गृहत्याग के समय तो वह सर्वथा अपरिचित एवं अख्यात था, किन्तु इस समय देशवासी उसे अप्रतिम समाजसुधारक, युगप्रवर्तक तथा राष्ट्रपुरुष के रूप में जानते हैं।"

इन्हीं दिनों राजकोट में काठियावाड के राजाओं का एक सम्मेलन आयोजित किया गया था, जिसे महर्षि ने सम्बोधित किया था। इसी अवसर पर उनकी भेंट मौरवी नरेश सर वाघजी से हुई थी। वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने नरेश को बतलाया था कि—'वे उनकी ही प्रजा हैं।' इसी प्रकार जब ५ फरवरी १८८२ को 'हालाई भाटिया महाजनवाडी' में महर्षि का 'मनुष्योन्नति' विषय पर व्याख्यान हुआ तब सभापति के आसन पर मौरवी नरेश ठाकोर साहब वाघजी बहादुर विद्यमान थे। व्याख्यान की समाप्ति पर जब मौरवी नरेश जाने लगे तो स्वामीजी ने उन्हें रोककर कहा—'आप जाने में शीघ्रता क्यों करते हैं? अभी आपने इस व्याख्यान में जो कुछ सुना है, वह आपका ही है।' महाराज के उस अस्पष्ट कथन को जब ठाकोर साहब समझने में असमर्थ रहे, तो उन्होंने स्वयं ही स्वाभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहा कि—'इन वक्तृता को प्रस्तुत करने वाली आपके राज्य की ही प्रजा है।' (नव जागरण के पुरोधा—२३५, २४७, ४४८-४४९)।

(६) *'मेरी.... मनोकामना को अनादृत कर अब मैं आपके सम्मान के लिए ही वहाँ आऊँगा।'*

स्वामीजी के प्रस्तुत संस्कृत पत्र के इस कथन का आशय यही होगा कि—मैं अपने कार्यक्रम को स्थगित कर आपके अनुरोध के अनुसार मुम्बई आऊँगा। 'श्री श्यामजी जैसे मेधावी संस्कृतज्ञ छात्र

वेदोक्त धर्म के प्रचार-प्रसार में सहयोगी होंगे'। सम्भवतः इसी प्रकार के भावों से वशीभूत हो, महर्षि ने अपने पूर्व निर्धारित कार्यक्रम में परिवर्तन करना उचित समझा होगा। सन् १८७५ में श्यामजी विवाहबद्ध हुए हैं। मुझे यह पता नहीं चल पाया कि वे किस तारीख और किस महिने में विवाहित हुए। वर-वधू के परिणय-सूत्र में बन्ध जाने के बाद जैसे स्वागत समारोहों के आयोजन की परम्परा है, कहीं पत्रांकित सत्कार उसी प्रकार का तो नहीं है ? पर ऐसे समारोहों में महर्षि के सम्मिलित होने की सम्भावना तो आकाश-कुसुमवत् प्रतीत होती है। यहाँ 'सत्कारार्थ' से तात्पर्य श्री छबीलदासादि महानुभावों के पुनश्च मुम्बई आगमनादि के अनुरोध को स्वीकार करना मात्र ही रहा होगा। फिर भी उन कारणों पर प्रकाश डालना जरूरी है, जिनके वशीभूत हो महर्षि ने अपना अभीष्ट कार्यक्रम स्थगित किया और मुम्बई की इस तृतीय यात्रा का कार्यक्रम स्वीकार कर लिया।

(७) *'मेरे (मुम्बई) निवास के लिए वही स्थान निश्चित किया जाय तो अच्छा ही है'*—

प्रस्तुत पत्र के इस पत्रांश से सूचित होता है कि महर्षि को वालुकेश्वर (मुम्बई) का स्थल निवास हेतु अतिशय मनोनुकूल प्रतीत हुआ। इसीलिए इस स्थान को उन्होंने '**भद्रमेव**' कहा है। जब-जब भी महर्षि मुम्बई आए उनकी निवास व्यवस्था वालुकेश्वर में ही हुई। १८७४ से १८८२ तक वे पाँच बार मुम्बई पधारे। वालुकेश्वर नामक स्थान मुख्य मुम्बई नगरी से दो कोस की दूरी पर था। एक प्रकार से यह स्थान शहर से दूर होने के कारण निर्जन-जन शून्य-सा था। इस स्थान को 'परनामी मत के बाबा रेवागर कुंवरगर के मठ' के नाम से भी सम्बोधित किया जाता था। इसी स्थान के गोशाला नामक परिसर में स्थित एक जीर्ण आवास में महर्षि को ठहराया गया था। अन्तिम यात्रा में वे कुछ समय तक वर्तमान गिरगाँव=काकडवाडी की नई खरीदी गई भूमि पर बनाई गई झोपड़ी में भी रहे थे।

(८) *'पुणे नगरी में न्यायाधीश महादेव गोविंद रानडे के नाम त्वरित प्रत्युत्तर भेजिये'*—

इस पत्रांश के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि २० जून से १५ सितम्बर १८७५ तक 'पुणे-सातारा-पुणे-निवास काल' में महर्षि की महत्त्वपूर्ण डाक महादेव गोविंद रानडेजी के पते

पर ही मंगायी गई होगी। इससे यह भी अन्दाज लगाया जा सकता है कि महर्षि को पुणे कार्यक्रम का निमन्त्रण देने वालों में श्री म० गो० रानडे ही प्रमुख रहे होंगे। कुछ लेखकों ने स्वामीजी को पुणे का निमन्त्रण देने वालों में श्री गोपालराव हरि देशमुख का भी समावेश किया है और उन्हें पुणे प्रवचनों का संयोजक भी कहा है। पर यहाँ यह अवश्य स्मरण रहना चाहिए कि इन दिनों श्री देशमुख पुणे में नहीं, अपितु अहमदाबाद में थे।

(९) *'मेरा यह सुनिश्चित अनुमान है कि मैं आगामी गुरुवार अष्टमी को पुणे नगरी की ओर जाकर फिर वहाँ (मुम्बई) आऊँगा। पुणे नगरी में अधिकाधिक आठ दिन तक रुकूँगा।'*

प्रस्तुत पत्र में इस बात का उल्लेख नहीं है कि यह पत्र कहाँ से लिखा गया है। स्वामीजी विषयकजीवनियों, चरित्रात्मक लेखों, घटना क्रम या काल क्रम के पूर्व ज्ञान के आधार पर हम इसे सातारा से लिखा हुआ मानते हैं, क्योंकि उनकी इस महाराष्ट्र यात्रा का क्रम 'मुम्बई-पुणे-सातारा-पुणे-मुम्बई' रहा है। स्वामीजी के पुणे से सातारा प्रस्थान के कार्यक्रम को जानने के बाद लगभग सवा दो महिने से उनके उपदेशों का पान करने वाली प्रगतिशील पुणे की जनता ने छावनी और शहर विभाग की ओर से कृतज्ञता ज्ञापन हेतु अभिनन्दनात्मक समारोहों तथा शोभायात्रा का आयोजन किया था, इस रात कार्यक्रम स्थल पर महर्षि लगभग दस बजे तक थे और तत्पश्चात् अपने डेरे पर—शंकरसेठ निवास-वेताल पेठ चले गए थे। ५ सितम्बर को आयोजित अभिनन्दनात्मक समारोहों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ६ सितम्बर को स्वामीजी ने पुणे से सातारा के लिए प्रस्थान किया और ६ सितम्बर को ही सातारा पहुँच गए, और अब इस दुर्लभ-दस्तावेजी पत्र के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ६ सितम्बर से ६ अक्तूबर तक स्वामीजी सातारा में ही रहे और पूरा एक मास बीत जाने के बाद ७ अक्तूबर को सातारा से चलकर ७ अक्तूबर को ही पुणे पहुँच गए और तत्पश्चात् अधिकाधिक आठ दिन, अर्थात् ८ अक्तूबर से १५ अक्तूबर तक वे पुणे में रहे, और १६ अक्तूबर को ही मुंबापुरी-मुम्बई-बम्बई पहुँच गए। यह सब कथन यह मानकर किया जा रहा है कि प्रस्तुत पत्रांकित कार्यक्रम के अनुसार ही स्वामीजी की यह यात्रा सम्पन्न हुई होगी।

(१०) स्वामीजी के पत्रों में सभी जगह तिथि का प्रयोग है और सम्प्रति तारीख का प्रचलन अधिक है, अतः पाठकों की सुविधा के लिए दयानन्द जीवन काल पंचांग (संपादक—इंजीनियर आदित्यपालसिंह आर्य, प्रथम संस्करण-३१ दिसम्बर १९९०, प्रकाशक—सुरुचि प्रकाशन संस्थान, १८१, महाराणा प्रताप नगर, विभाग-९, भोपाल, पृष्ठ-३३) से पत्रांकित तिथियों से सम्बद्ध तारीख-तिथि तुलना पत्र प्रस्तुत किया जा रहा है—

तारीख (अक्तूबर-सन् १८७५)	तिथि (विक्रम-संवत् १९३२)
२ शनि	३ आश्विन शुक्ल
३ रवि	४ ,, ,,
४ सोम	५ ,, ,,
५ मंगल	६ ,, ,,
६ बुध	७ ,, ,,
७ गुरु	... ,, ,,
८ शुक्र	८ ,, ,,
९ शनि	९
१० रवि	१० ,, ,,
११ सोम	११ ,, ,,
१२ मंगल	१२ ,, ,,
१३ बुध	१३ ,, ,,
१४ गुरु	१४ ,, ,,
१५ शुक्र	१ कार्तिक कृष्ण
१६ शनि	२ ,, ,,
१७ रवि	३ ,, ,,
१८ सोम	४ ,, ,,
१९ मंगल	५ ,, ,,
२० बुध	६ ,, ,,
२१ गुरु	७ ,, ,,
२२ शुक्र	८ ,, ,,

२३ शनि	९ ,,	,,
२४ रवि	१० ,,	,,
२५ सोम	११ ,,	,,
२६ मंगल	१२ ,,	,,
२७ बुध	१३ ,,	,,
२८ गुरु	१४ ,,	,,
२९ शुक्र	१ कार्तिक शुक्ल	
३० शनि	२ ,,	,,

अब तक चरित्र लेखक और इतिहासकार इस प्रकार के संदिग्ध वाक्य लिखने के लिये विवश थे कि—'किसी एक तारीख को स्वामीजी सातारा से पुणे पहुँचे' या 'कुछ सप्ताह सातारा में निवास कर पूना होते हुए मुम्बई लौट आए।' अब प्रस्तुत पत्र और विवरण के बाद यह स्पष्ट लिखा जा सकता है कि— *स्वामीजी ६ सितम्बर को पुणे से सातारा पहुँचे और पूरा एक महीना सम्पन्न होने के बाद ७ अक्तूबर को सातारा से पुणे गए तथा ७ से १५ अक्तूबर तक पुणे निवासकर १६ अक्टूबर को मुम्बई की ओर रवाना हुए।* इसी प्रकार पुणे से मुम्बई पहुँचने की स्पष्ट तारीख मालूम न होने के कारण स्वामीजी द्वारा लिखे १६-१०-१८७५ के सन्दर्भ में—'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' तथा 'महर्षि दयानन्द सरस्वती कहाँ और कब' की पाद टिप्पणियों में लिखा गया था कि—'यह पत्र पूना से लिखा गया वा बम्बई से यह अनिश्चित है, पत्र से स्पष्ट नहीं है।' पर अब इस प्रस्तुत पत्र के बाद यह कहा जा सकता है कि *स्वामीजी १६ अक्तूबर तक मुम्बई पहुँच चुके थे और उन्होंने यह पत्र मुम्बई से ही लोकहितवादीजी को भेजा था।* १६ अक्टूबर १८७५ के पत्र में ही स्वामीजी ने यह लिखा है कि— *'एक नवीन बात यह है कि पूना में आर्यसमाज स्थापन हो गया है......हम सतारे से आये तब यह निश्चित हुआ कि महादेव गोविन्द रानडे प्रधान (और) केशवराव गोडबोले मन्त्री (होंगे)'*। प्रस्तुत चर्चित संस्कृत पत्र के उपलब्ध हो जाने से अब यह स्पष्ट हो गया है कि सातारा से पुणे लौटने के बाद स्वामीजी ७ अक्तूबर से १५ अक्तूबर तक पुणे में ही थे। *१० अक्तूबर को रविवार था। अतः अधिकतर यही सम्भावना है कि इसी दिन पुणे*

आर्यसमाज की स्थापना हुई होगी। गुरुवार १४ अक्तूबर को पूर्णिमा थी, पूर्णिमा होने के कारण इस दिन भी पुणे आर्यसमाज की स्थापना हो सकती है, पर न्यायाधीश रानडे, काशीनाथ गाडगिळ, गंगाराम भाऊ म्हस्के आदि व्यक्ति बहुत ही व्यस्त समाज-पुरुष थे, प्रार्थनासमाज का वर्ग भी अधिकतर शासकीय सेवाओं में होगा, अतः यह सम्भावना ही अधिक औचित्यपूर्ण और तर्कसंगत प्रतीत होती है कि १० अक्तूबर रविवार को पुणे आर्यसमाज की स्थापना हुई।

(१४) 'महर्षि दयानन्द के पत्र व्यवहार और विज्ञापन' के मुद्रित पत्रों के देखने से यह स्पष्ट होता है कि पत्र संग्रह में लगभग ७ पत्र (पूर्ण संख्या १०६, २९५, ३०१, ३०८, ३५१, ५३५, ६११) और ४ विज्ञापन पत्र ऐसे हैं जिनका समापन श्लोक के साथ होता है और जिनसे पत्र लेखन काल की सूचना स्वामीजी ने दी है। प्रस्तुत श्लोक में 'चन्द्रेऽब्द' प्रयोग है, जबकि स्वामीजी सर्वत्र 'चन्द्रेऽब्दे' का प्रयोग करते हैं। हमने २३-५-१९४१ के 'मराठा' अंग्रेजी समाचार पत्र के अनुसार ही संस्कृत पत्र को यहां पर यथावत् अंकित किया है। केवल दो पाठ-भेद किए हैं—'तृतीयापां' के स्थान पर 'तृतीयायां' और 'प्रत्युत्तरें' के स्थान पर 'प्रत्युत्तरं'।

(१५) प्रस्तुत 'मराठा' में मुद्रित पत्र से यह पता नहीं चलता है कि मूल पत्र महर्षि दयानन्दजी के हस्ताक्षरों में था या नहीं, या पत्रांत में उनके हस्ताक्षर थे या नहीं ? क्योंकि 'मराठा' पत्र के सम्पादक ने मूल पत्र के हस्ताक्षरों या पत्रांत के हस्ताक्षर का (ह) निर्देश कहीं पर भी नहीं दिया है। 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' के मुद्रित पत्रों को देखने पर प्रायः यह भी स्पष्ट होता है कि—महर्षि के जिन पत्रों का समापन श्लोक के साथ हुआ है, उनमें उनके निजी हस्ताक्षरों का संकेत (ह०) प्रायः कहीं पर भी नहीं है। यह भी एक सम्भावना है कि यह पत्र महर्षि ने पं० मण्डनराम मिश्र के हाथों से लिखवाकर भिजवाया हो, क्योंकि इस 'मुम्बई-पुणे-सातारा-पुणे-मुम्बई' यात्रा में दारागंज-प्रयाग निवासी पं० मण्डनराम मिश्र और पाचक बलदेव सिंह कान्यकुब्ज स्वामीजी के साथ थे। रक्तसाक्षी पं० लेखराम द्वारा संकलित प्रामाणिकजीवन चरित के पृष्ठ २८५ पर लिखा है कि...''स्वामीजी (जब) पूना से वापिस मुम्बई लौटे...उस समय

(सुलेखक या लिपिक) पंडित मंडनराम तथा बलदेवसिंह दोनों विदा होकर कानपुर में राजा जयकिशनदासजी के पास चले आये।''

(१६-१७) महर्षि दयानन्द और श्यामजी कृष्ण वर्मा में सम्पन्न हुए पत्र व्यवहार में काल क्रम की दृष्टि से अब तक के उपलब्ध पत्रों में यह सबसे पहला पत्र है। इस पत्र से पूर्व के उपलब्ध बीस पत्रों में सबसे पहला पत्र १५ जुलाई १८७८ का है। इस पत्र से प्रस्तुत उपलब्ध पत्र लगभग पौने तीन वर्ष पूर्व का है। पत्रांकित सातों महानुभावों में श्यामजी कृष्ण वर्मा का समावेश होने के कारण ही यह पत्र सम्भवतः संस्कृत में लिखा गया है। यदि इनमें श्यामजी का समावेश न होता तो शायद ही यह पत्र संस्कृत में लिखा जाता। मेरा यह दृष्टिकोण गलत भी हो सकता है, क्योंकि महर्षि ऐसी संस्कृत लिखने के पक्षपाती थे जो बालकों को भी समझ में आ जाए।

(१८) यह पत्र पं० भगवद्दत्तजी द्वारा सम्पादित और पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक द्वारा परिष्कृत एवं सम्वर्धित 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' में संकलित नहीं हो पाया है तथा इस पत्र का समावेश मुझे आर्यसमाज और महर्षि दयानन्द से सम्बन्धित साहित्य में नहीं मिला। अतः यह कहा जा सकता है कि— *अब तक यह पत्र हिन्दी संसार और आर्यजगत् की दृष्टि से ओझल और अज्ञात ही रहा है। इस पत्र की जानकारी केवल उन्हीं व्यक्तियों को होगी जिन्होंने २३ मई १९४१ के पुणे स्थित लोकमान्य तिलक के निवास से निकले अंग्रेजी समाचार-पत्र 'मराठा' को ध्यान से पढ़ा होगा। इसी दृष्टि से हमने इस पत्र को 'महर्षि दयानन्द का एक अज्ञात संस्कृत पत्र' कहा है।*

[हार्दिक आभार : ग्रन्थपाल : (१) श्री विजय जोशी, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस महाविद्यालय नांदेड, (२) (स्व०) श्रीयुत वि० श्री० जोशी, सुकृत, ब्लॉक-२, १२७ शिवाजी पार्क, डॉ० एम० बी० राउत रोड़, मुम्बई-२८, (३) ग्रन्थपाल : श्री प्र० ग० फणसलकर, केसरी-मराठा ग्रन्थशाला, ५६८ नारायण पेठ, पुणे-३०, (४) डॉ० सीताराम नारायण जोशी, संस्कृत विभागाध्यक्ष, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस महाविद्यालय, नांदेड़ (महाराष्ट्र)-४३१६०२]।

—वेदवाणी : मासिक : दिसंबर १९९० से साभार।



(५)

वेदाधिकार के कतिपय प्रयास और उसके प्रदाता

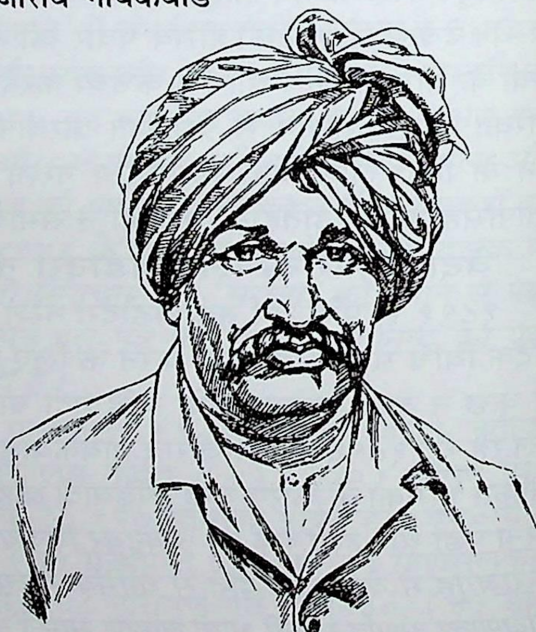
महाराष्ट्र या मराठा कुल के सामाजिक इतिहास में वेदोक्त प्रकरण का उल्लेखनीय स्थान है। ये महाराष्ट्रीय नरेश अपने राजकुल के सब संस्कार वैदिक मन्त्रों से कराना चाहते थे, पर उस समय का धर्माधिकारी रूढ़िवादी ब्राह्मण समाज उन्हें यह वेदाधिकार देने के लिए तैयार नहीं था। इस प्रकरण की जड़ें स्वराज्य संस्थापक छत्रपति शिवाजी महाराज के राज्याभिषेक काल (१६७४) तक पायी जाती हैं। १८९१ से वडोदरा नरेश सयाजीराव गायकवाड़, १८९९ से कोल्हापुर नरेश राजर्षि शाहू महाराज इस वेदाधिकार के लिए तरस रहे थे। देवास नरेश तुकोजीराव पवार को भी सन् १९०८ में वेद-मन्त्रों के घोष के साथ धार्मिक कर्त्तव्य करने के अपने अधिकार को द्वारिका के शंकराचार्य से प्रमाणित करवाना पड़ा था। वेदाधिकार पाने के लिए लालायित महाराष्ट्रीय नरेशों में सातारा के छत्रपति प्रतापसिंह का भी इतिहास-वेत्ताओं ने समावेश किया है।

वेदाधिकार के लिए वडोदरा नरेश के प्रयास

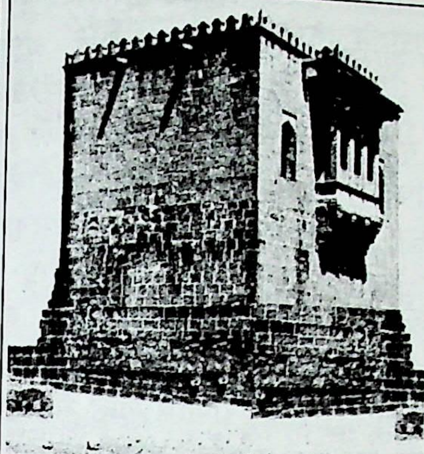
१८९१ से पाँच वर्ष तक वडोदरा नरेश सयाजीराव गायकवाड़ वैदिक विधि से धार्मिक कृत्य करने के लिए सतत परामर्श ले रहे थे, पर कुछ न कुछ बहाना करके रूढ़िवादी ब्राह्मण वेदोक्त विधि को टाल रहे थे। १८९६ में सयाजीराव गायकवाड़ द्वारा वेदोक्त प्रकरण में स्वीकृत भूमिका के कारण उन्हें रूढ़िवादी ब्राह्मणों का विरोध स्वीकार करना पड़ा था। *इसी वर्ष १५ अक्टूबर विजयादशमी के दिन वडोदरा के राजगृह में वेदोक्त पद्धति से धार्मिक कृत्य करने के लिए एक भी दाक्षिणात्य अर्थात् मराठी भाषी ब्राह्मण सामने नहीं आया तो सयाजीराव गायकवाड़ ने आदेश दिया कि 'पूजागृह में आश्रित पुरोहित यदि सरकार के उद्देश्यानुसार धार्मिक कृत्य करने के लिए अनुकूल न हों तो उन्हें पदच्युत कर नई नियुक्तियाँ की जाएँ।'* इस आदेश के



वडोदरा नरेश सयाजीराव गायकवाड



कोल्हापुर नरेश छत्रपति राजर्षि शाहू महाराज



छत्रपति शिवाजी महाराज
की जन्मस्थली : शिवनेरी दुर्ग





प्रथम दिवस आवरण FIRST DAY COVER

2-6-1974

भारतीय डाक-तार विभाग—INDIAN POSTS & TELEGRAPHS







SHIVAJI — 300th ANNIVERSARY OF CORONATION

छत्रपति श्री शिवाजी महाराज
के राज्याभिषेक की 300वीं जयंती
300TH ANNIVERSARY OF CORONATION
CHHATRAPATI SHRI SHIVAJI MAHARAJ

भारत सरकार द्वारा छत्रपति शिवाजी की याद में निकाले गए डाक टिकट तथा प्रथम दिवस आवरण

अनुसार राजाराम बुवा, नारायण शास्त्री, गणेश मोरो जोशी, बाला भट्ट, उपासनी, बालाराम द्रविड़ आदि पुरोहितों को नौकरी से हटा दिया गया और उनके स्थान पर गुजराती और मारवाड़ी ब्राह्मणों को नियुक्त किया गया। पदच्युत व्यक्तियों के स्थान पर शिवदत्त जोशी, माथुर जोशी, जयशंकर, रेवाशंकर, नारोशंकर, मोतीराम छोटालाल जोशी आदि मारवाड़ी-गुजराती ब्राह्मण गायकवाड़ के राजगृह में धार्मिक कृत्य वेदोक्त पद्धति से करने के लिए तैयार थे। भिक्षुकों की नियुक्तियाँ रद्द करना, तनखा या उनकी आजीविका बन्द करना आदि उपाय जैसे श्री गायकवाड़ ने अपनाए, वैसे ही राजर्षि शाहू महाराज ने भी अपनाए, पर शाहू महाराज को इस कारण जितनी निन्दा व प्रखर विरोध सहन करना पड़ा, उतना सयाजीरावजी के हिस्से में नहीं आया। २८ मार्च १८९८ को उमरेठ में उनके सुपुत्र का उपनयन संस्कार वैदिक विधि से करते समय किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हुई।

कुछ अप्रासंगिक-सा होते हुए भी डॉ० बाबासाहब अम्बेडकर का यह कथन ध्यान में रखने योग्य है कि 'कोई सरकार जितना जुल्म जबरदस्ती करती है, उससे भी बहुत अधिक पैमाने पर एकाध व्यक्ति पर समाज जुल्म-जबरदस्ती कर सकता है, इसकी अनेकों को संवेदनात्मक अनुभूति तक नहीं होती।' जैसे श्री भिकाचार्य ऐनापुरे ने गायकवाड़ नरेश के यहाँ वैदिक विधि करने से पहले जब विरोध किया तो उनकी तनख्वाह बन्द कर दी गई, फिर जब वे वैदिक विधि करने के लिए तैयार हो गए तो उनका वेतन बढ़ा दिया। बाद में जैसे ही उन्होंने सम्भवतः अपने मूल स्थान 'वाई' (सातारा) को अपना स्थायी निवास बनाना चाहा तो वहाँ के रूढ़िवादी ब्राह्मणों के रोष के कारण उन्हें वृद्धावस्था में वापिस वडोदरा आना पड़ा।

वेदाधिकार के लिए कोल्हापुर नरेश के प्रयास

कोल्हापुर नरेश राजर्षि शाहू छत्रपति को भी वेदाधिकार के विषय में रूढ़िवादी ब्राह्मणों से संघर्ष करना पड़ा था। लोकमान्य तिलक भी शाहू महाराज के विरोधियों का साथ दे रहे थे। उन्होंने कोल्हापुर नरेश की भूमिका के विरूद्ध अक्टूबर १९०१ के अंक में दो लेख लिखे थे। शाहू महाराज को वेदाधिकार की ओर आकृष्ट करने वाली घटना कुछ इस प्रकार से घटित हुई—

१८९९ में जब शाहू महाराज कार्तिक मास में पंचगंगा नामक नदी में स्नान करने गये हुए थे, तब उनके साथ मुम्बई के सुप्रसिद्ध समाज सुधारक राजाराम शास्त्री भागवत भी थे। उनके यह ध्यान में आया कि महाराज के स्नान के अवसर पर मन्त्रोच्चारण करने वाला पुरोहित वेदोक्त मन्त्रों के स्थान पर पुराणोक्त श्लोक बोल रहा है, तो उन्होंने सबसे पहले शाहू महाराज का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। महाराज ने इस विषय में जब पुरोहित से पूछताछ की तब उसने एक विचित्र-सा दो टूक जवाब देते हुए कहा—'शूद्रों के सामने पुराणोक्त श्लोक ही बोले जाते हैं और ये श्लोक बोलने से पूर्व पुरोहित ने स्वयं स्नान न भी किया हो तो भी कोई आक्षेप योग्य बात नहीं होती।' इस घटना के बाद शाहू महाराज ने स्वाभाविक रूप से आग्रहपूर्वक यह प्रतिपादित किया कि—'हम शूद्र नहीं, अपितु क्षत्रिय ही हैं, इसलिए हमारे घर की सभी धार्मिक विधियाँ वैदिक मन्त्रोच्चारण के साथ ही सम्पन्न होनी चाहिए।' जिन पुरोहितों ने वैदिक पद्धति से संस्कार आदि धार्मिक कृत्य करने से इंकार किया, उनकी नियुक्तियाँ रद्द कर, उन्हें सरकार से प्राप्त पद, जायदाद आदि वापिस छीनने का अभियान भी शुरू कर दिया। यह सारा विषय महाराष्ट्र के इतिहास में 'वेदोक्त प्रकरण' के नाम से विख्यात है।

वेदाधिकार के लिए छत्रपति शिवाजी के प्रयास

चाहे छत्रपति शिवाजी का काल रहा हो या शाहू महाराज का, रूढ़िवादी ब्राह्मणों की यह धारणा रही है कि 'कलियुग में ब्राह्मण व शूद्र दो ही वर्ण होते हैं, क्षत्रिय और वैश्य का इस युग में कोई अस्तित्व ही नहीं है।' इसी दृष्टिकोण के कारण छत्रपति शिवाजी को भी रूढ़िवादी ब्राह्मण पुरोहित शूद्र ही समझते थे। शिवाजी के निष्ठावान् सचिव बालाजी आवजी ने जब अपने सुपुत्र का उपनयन करना चाहा, तब काशी के विद्वान् ब्राह्मणों ने न केवल श्री बालाजी आवजी को ही शूद्र साबित किया, अपितु शिवाजी महाराज भी क्षत्रिय न होने के कारण उन्हें राज्य सिंहासन और वैदिक राज्याभिषेक का कोई अधिकार न होने का निर्णय दे दिया। पं० गागा भट्ट के इस निर्णय को लेकर जब काशी के पण्डित, भट्ट, पुरोहित आदि महाराष्ट्र की ओर निकले तो शिवाजी ने श्री नीळोयेसाजी प्रभु पारसनीस को काशी भेजा। उसके बाद स्वयं गागा भट्ट 'रायगढ़' आए। उन्होंने शिवाजी

महाराज को गायत्री मन्त्र सुनाकर राज्याभिषेक किया। प्रबोधनकार ठाकरे के अनुसार—शिव छत्रपति का भोसले घराना क्षत्रिय है और उन्हें राज्य सिंहासन का अधिकार है, यह सिद्ध करने के लिये भोसले वंशावली को तत्कालीन क्षत्रिय के रूप में सुप्रसिद्ध उदयपुर के सिसोदिया राजपूत घराने से जोड़ने का अपूर्व कार्य भी शिवाजी के सचिव श्री बालाजी आवजी ने ही किया था। वेदोक्त प्रकरण के समय सन् १९०६ में शाहू महाराज के एक अधिकारी श्री महादेव गणेश डोंगरे ने 'भोसले कुल वंशावली' प्रकाशित की थी। विद्वान् प्राध्यापक श्री विष्णु गोविन्द बीजापुरकर ने संकीर्ण रूढ़िवादी वृत्ति की शरण में जाकर यह लिखा है कि—"शककर्त्ता शिवाजी महाराज को जिन्होंने रायगढ़ में राज्याभिषेक कर उन्हें 'क्षत्रिय कुलावतंस' कहा, उन पं० गागा भट्ट का निधन शौचालय में फिसलकर हो गया।" महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री य० दि० फड़के के अनुसार रूढ़िवादी ब्राह्मणों का यह विचित्र तर्क यदि उन पर ही लागू किया जाए तो वेदोक्त प्रकरण में शाहू महाराज के एक विपक्षी श्री भाऊ शास्त्री लेले के भी सात सुपुत्र थे, उन सबका दुर्भाग्य से असमय में बहुत जल्दी निधन हो गया, उनकी पहली पत्नी का भी १९१० में ही निधन हो गया। इन सभी दुःखद घटनाओं का सम्बन्ध इसी काल में भाऊ शास्त्री लेले द्वारा की गई, सयाजीराव गायकवाड़ और शाहू छत्रपति के वैदिक मन्त्रोच्चारण का अधिकार प्रदान करने की माँग के प्रखर विरोध से जोड़ना जितना हास्यास्पद है, उतना ही शिवाजी महाराज व गागा भट्ट की मृत्यु तथा सातारा नरेश छत्रपति प्रतापसिंह के अंग्रेजों द्वारा पदच्युत करने की घटना को उन-उनके द्वारा किये गए वेदोक्त विधि या माँगों से जोड़ना हास्यास्पद ही नहीं अपितु एक प्रकार का पागलपन भी है।

वडोदरा नरेश सयाजीराव गायकवाड़ और कोल्हापुर नरेश राजर्षि शाहू महाराज आर्यसमाज से प्रभावित थे। अपनी-अपनी रियासतों में आर्यसमाज और उसकी वैदिक विचारधारा तथा साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए इन दोनों आर्य नरेशों ने अविस्मरणीय योगदान दिया था। आर्यसमाज की इस धारणा से ये दोनों प्रगतिशील नरेश सहमत थे कि—'वर्ण-व्यवस्था जन्मना नहीं अपितु गुण, कर्म, स्वभाव पर आधारित है।' अपना यह दृष्टिकोण सयाजीरावजी ने प्रत्यक्ष भाऊ

शास्त्री लेले को भी बतलाया था। इसके विपरीत लेले शास्त्री जैसे रूढ़िवादी अपनी पूरी शक्ति के साथ यह साबित करने में लगे थे कि—'वर्ण व्यवस्था जन्मना ही है, वह गुण-कर्म-स्वभाव पर बिल्कुल भी आधारित नहीं है।' शिव छत्रपति ने यदि स्वराज्य स्थापित करने हेतु क्षत्रियोचित कर्त्तव्य कर्म भी किया और क्षत्रियत्व के गुण भी साबित किए तो भी वह जन्म से शूद्र ही थे, इसी पक्ष पर लेले शास्त्री जैसे कर्मठ ब्राह्मण जोर दे रहे थे। जाति विषयक प्रश्न उपस्थित होने पर 'शिवाजी महाराज शूद्र ही थे' इसे धर्माधिकारी एक बार नहीं, अपितु अनन्त बार भी अभिव्यक्त करते रहें, तो इस कथन में क्या कोई उनका अपराध है? इस तरह का सवाल लेले शास्त्री बेहिचक पूछते थे। प्रायः वे कहते थे कि शिव छत्रपति का वेदोक्त पद्धति से राज्याभिषेक करने वाले काशी के गागा भट्ट शिवाजी महाराज के उपदेशक, गुरु या कुलगुरु नहीं, अपितु वे तो किराये के विद्वान् थे।

[विस्तृत जानकारी के लिए श्री यशवन्त दिनकर फडके लिखित 'शाहू छत्रपति आणि लोकमान्य' नामक मराठी ग्रन्थ का 'वेदोक्त प्रकरणातील विविध मत प्रवाह' नामक अध्याय पढ़िए। इस पुस्तक का प्रथम संस्करण ६ मई १९८६ को प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थ के प्रकाशक हैं—श्री विद्या प्रकाशन, २५०, शनिवार पेठ, पुणे-४११०३०]

राज्यसभा सांसद, आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध वक्ता, वैज्ञानिक अनुसन्धाता और तलस्पर्शी लेखक डॉ० रामप्रकाशजी ने बड़ी अन्तर्वेदना के साथ लिखा है कि 'राज्याभिषेक के लिए शिवाजी को जो पीड़ा सहनी पड़ी, जिस यातना से गुजरना पड़ा और जितना व्यय करना पड़ा, उसका ध्यान आते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। महीनों पण्डितों के चक्करों में बीत गए। सारा खजाना खाली हो गया और यह सब उस समय हुआ जब वीर शिवाजी स्वराज्य स्थापनार्थ औरंगजेब से लोहा ले रहे थे।' (सत्यार्थप्रकाश विमर्श, पृष्ठ १४२)। जब वेदोक्त विधि या मत की ओर आकृष्ट महाराष्ट्रीय नरेशों को ही उस समय का रूढ़िवादी ब्राह्मण समाज वेदाधिकार प्रदान करने के लिए तैयार नहीं था तो सामान्य जन को उनके द्वारा वेदाधिकार देने का विचार करना भी कठिन था। इतिहासवेत्ता प्रा० राजेन्द्र जिज्ञासु के शब्दों में—'वेदभक्त शिवाजी वेद मन्त्र सुनने के लिए तरसते रहे,

तब महर्षि दयानन्द होते तो युग का दृश्य कुछ और ही होता।' (छत्रपति शिवाजी महाराज का राज्याभिषेक, पृष्ठ-८)।

महर्षि दयानन्द द्वारा मानवमात्र को वेदाधिकार प्रदान करना

वेदाधिकार (अर्थात् ज्ञान-विज्ञान का अधिकार) न देने की इन घटनाओं के सन्दर्भ में महर्षि दयानन्द द्वारा मानव मात्र को वेदाधिकार प्रदान करने के उपकारों पर हम विचार करते हैं तो हमें यह उनका महान् कार्य घनघोर रात्रि को छिन्न-भिन्न करने वाले प्रखर सूर्य के समान तेजस्वी नजर आता है। महर्षि ने पुणे स्थित बुधवार पेठ के भिड़ेवाड़े में मंगलवार १३ जुलाई, १८७५ की रात आठ बजे 'वेद' विषय पर व्याख्यान देते हुए स्पष्ट किया था कि 'परमेश्वर ने मनुष्य की योग्यता बढ़ाने के लिए, उसे ऊँचे पद पर पहुँचाने के लिए जिस विद्या का प्रकाश किया है, वह वेद है।' (ऋषि दयानन्द सरस्वती के शास्त्रार्थ और प्रवचन-सम्पादक-युधिष्ठिर मीमांसक, पृष्ठ-३०५)। इसी प्रकार महर्षि ने मुम्बई में आर्यसमाज के लिए खरीदे गए स्थान में सोमवार २० मार्च, १८८२ की शाम सबसे पहले जिस विषय पर व्याख्यान दिया था, वह 'वेद' विषय पर ही था। अपने व्याख्यान में उन्होंने कहा था—'वेद में जो कुछ है, वह मनुष्यमात्र के ग्रहण करने योग्य है। उसमें जो कुछ लिखा गया है, वह सत्य और न्याय से युक्त तथा उस पर किसी भी प्रकार के आक्षेप का उठना भी सम्भव नहीं है। सृष्टि के प्रारम्भ का ग्रन्थ होने के कारण इसमें अन्य किसी ग्रन्थ से लिया हुआ आधार भी दिखलाई नहीं देता है। ऐसी स्थिति में वेद को बिना कारण और बिना दोष के ग्राह्य होने पर भी छोड़ देना अज्ञान और दुराग्रह का द्योतक है।' (तत्रैव-५०३)। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में महर्षि ने स्पष्ट लिखा है, 'सब मनुष्यों के हित के लिए इस वेद भाष्य का मैं विधान करता हूँ, सो यह वेद भाष्य संस्कृत और प्राकृत (हिन्दी) इन दो भाषाओं में किया जाता है।' (दयानन्द ग्रन्थमाला-परोपकारिणी सभा अजमेर, पृष्ठ-२४८)।

वैदिक सम्पत्ति पर मानवमात्र के अधिकार के प्रमाणित कर्त्ता महर्षि दयानन्द

काशी शास्त्रार्थ के अवसर पर उपस्थित पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने स्वीकार करते हुए लिखा है, 'शूद्रस्य वेदाधिकारे साक्षात् वेद

वचनमपि प्रदर्शितं स्वामी दयानन्देन-यथेमां वाचं....इति'। (ऐतरेया-लोचन, पृष्ठ-१७)। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कथाकार मुंशी प्रेमचन्द ने महर्षि के वेदभाष्य पर टिप्पणी करते हुए कहा था—'आर्यसमाज के संस्थापक ने वेदों और वेदांगों के गहन विषय को जनसाधारण की सम्पत्ति बना दिया, जिन पर विद्वानों और आचार्यों के कई-कई लीवर के ताले लगे हुए थे।' आर्यसमाज मुम्बई के प्रारंभिक सदस्य लोकमान्य तिलक के सुप्रसिद्ध अनुयायी, श्री दादासाहब खापर्डे ने 'केसरी' दैनिक में महर्षि को श्रद्धाञ्जलि देते हुए लिखा है—'देवालयात दडून ठेवलेले वेद भंडार स्वामींनी सर्व मनुष्य मात्रांना खुले केले।' अर्थात्—*'स्वामीजी ने मन्दिरों में दबा-छिपाकर रखे गए वेद भण्डार समस्त मानवमात्र के लिए खुले कर दिए।'* हिन्दी के *महाकवि स्व० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के शब्दों में 'स्वामीजी वेदाध्ययन में अधिकारी भेद नहीं रखते थे। वह सभी जाति की बालिकाओं, विद्यार्थियों को वेदाध्ययन का अधिकार देते हैं। वह संसार और मुक्ति दोनों प्रसंगों में पुरुषों के ही बराबर नारियों को अधिकार देते हैं।'* (महर्षि दयानन्द और युगान्तर-आर्यसंसार, नवम्बर-दिसम्बर, २००१, पृष्ठ-४३)। पं० गंगाप्रसादजी उपाध्याय के कथनानुसार 'यदि महर्षि दयानन्द किसी वेद का भाष्य न करते और केवल इसी मन्त्र को देकर चले जाते तो इतना कार्य भी वैदिक संस्कृति के उत्थान के लिए पर्याप्त था।' (वेद प्रवचन, पृष्ठ-४७४)। 'वेद भाष्य की पद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन' नामक अनुसन्धान ग्रन्थ के लेखक डॉ० सुधीरकुमार गुप्त के शब्दों में—'स्वामीजी ने अपने वेद भाष्य का हिन्दी अनुवाद करवाकर उसे सार्वजनिक सम्पत्ति बना दिया।' डॉ० चन्द्रभानु सोनवणे के अनुसार—'मध्यकाल में पौराणिकों ने वेदाध्ययन का अधिकार ब्राह्मण पुरुष तक ही सीमित कर दिया था। स्वामी दयानन्द ने यजुर्वेद के २६वें अध्याय के दूसरे मन्त्र के आधार पर मानव मात्र को वेद की कल्याणी वाणी का अधिकारी बना दिया। स्वामीजी इस यजुर्वेद मन्त्र के सत्यार्थ द्रष्टा महर्षि हैं। (हिन्दी गद्य साहित्य-८४)। अन्त में 'परोपकारी' के सम्पादक प्रा० डॉ० धर्मवीर की इस गम्भीर चेतावनी के साथ इस रचना प्रयास को पूर्ण विराम देता हूँ कि—*'जब तक पौराणिक लोग*

सायण, उव्वट, महीधर के वेद भाष्यों को वेद व्याख्यान समझते रहेंगे, तब तक वेदों से गोमांस और यज्ञ की रूढ़ियों से कैसे इंकार कर सकेंगे? पुराणों की गप्पों को वेद की भाँति, प्रामाणिक बतायेंगे, तो ब्राह्मणवाद की बुराइयों का कैसे उत्तर देंगे? यदि मनुस्मृति के प्रक्षेपों को दूर नहीं करेंगे, तो वर्ण-व्यवस्था की श्रेष्ठता कैसे स्थापित कर सकेंगे।'.....संस्कृत का पठन-पाठन नहीं करेंगे, तो इस भाषा की वैज्ञानिकता को कैसे प्रतिपादित करेंगे। यदि सब कुछ अच्छा है मानकर चलेंगे, तो समाज में सभी शूद्रों के साथ हुए अन्याय को अनुचित कैसे कह पायेंगे? (विवेचन-प्रकाशक, दर्शन योग महाविद्यालय, रोजड़, गुजरात-३८३३०७, पृष्ठ-७७)।

—'आर्यसमाज प्रहरी' : मासिक : संपादक : इंजीनियर आदित्यमुनि वानप्रस्थ फरवरी २००६ से साभार।



द्वितीय अध्याय
महर्षि और उनके समकालीन

(१)
महर्षि दयानन्द और महात्मा फुले

सत्यशोधक समाज (१८७३) के संस्थापक महात्मा जोतिबा फुले (१८२७-१८९०) आर्यसमाज (१८७५) के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती (१८२५-१८८३) से दो वर्ष छोटे थे, किन्तु सार्वजनिक कार्य क्षेत्र में वे महर्षि से पहले प्रवेश कर चुके थे। महर्षि दयानन्दजी ने जिस वर्ष (१८४८) संन्यास की दीक्षा ली थी, उसी वर्ष महात्मा फुलेजी ने पुणे में कन्या पाठशाला (१ जनवरी १८४८) खोली थी। आधुनिक भारत के इतिहास में कन्या पाठशाला स्थापित करने वाले वे पहले भारतीय थे। इसलिए उन्हें 'भारतीय स्त्री-शिक्षा का जनक' कहा जाता है। भारतीय स्त्री को सर्वविध दासता से मुक्त कराने के लिए वे हमेशा संघर्षरत रहे। विधवा-विवाह एवं अन्तर्जातीय विवाह के भी वे समर्थक थे। पाखण्ड एवं जातीयता के वे कट्टर विरोधी और शराब बन्दी के पक्षधर थे। अन्नदाता किसान एवं मजदूरों की भुखमरी और निर्धनता को दूर करने के लिए अपने समर्थ नेतृत्व में उन्होंने वाणी और लेखनी द्वारा जन-जागृति की थी।

सन् १८७५ में लगभग ढ़ाई महिने आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द पुणे में रहे। इस कालावधि में उनके पुणे शहर और छावनी में पचास से भी अधिक व्याख्यान हुए। अतिवृष्टि के दिनों को अपवाद रूप में छोड़कर महात्मा फुले स्वयं इन व्याख्यानों में अपने सत्यशोधक समाज के सदस्यों के साथ उपस्थित रहे थे[१]। महर्षि की प्रगतिशील विचारधारा से प्रभावित होकर उन्होंने शुक्रवार

१. महात्मा जोतीराव फुले (मराठी जीवन चरित्र), लेखक-पंढरीनाथ सीताराम पाटिल, प्रथम आवृत्ति-१९२७, द्वितीय आवृत्ति १९८९, पृष्ठ-६५।



महर्षि दयानन्द सरस्वती : अक्टूबर १८८० : देहरादून

सत्यशोधकसमाज के संस्थापक



महात्मा ज्योतिबा फुले

१६ जुलाई १८७५ को सायं सात बजे अपनी मोमिनपुरा में स्थित शूद्रातिशूद्रों की पाठशाला में महर्षि का वेद-प्रवचन आयोजित किया था[२]। इस वेद-प्रवचन तक महर्षि को पुणे पधारकर लगभग २६ दिन बीत चुके थे और वे बुधवार पेठ में स्थित भिड़ेवाड़े में 'ईश्वर', 'धर्माधर्म' और 'वेद' विषय पर पाँच प्रवचन दे चुके थे। एकेश्वरवाद, शूद्रातिशूद्रों और स्त्रियों की शिक्षा इत्यादि विषयों में महर्षि से वैचारिक ऐक्य होने के कारण और रूढ़िवादियों के साथ संगठित शक्ति के रूप में मुकाबला करने के लिए महात्मा फुले अपने अनुयायियों के साथ महर्षि के पुणे-प्रवचनों और शोभायात्रा में सदल-बल शामिल हुए थे।

महात्मा फुले और महर्षि दयानन्द दोनों भी स्त्री-शिक्षा के कट्टर समर्थक थे। महर्षि दयानन्दजी ने १८६७ में कर्णवास में हंसादेवी ठाकुर को 'गायत्री मन्त्र' का अधिकार प्रदान किया था[३]। मुम्बई के फोटोग्राफर हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के सुपुत्र का यज्ञोपवीत संस्कार सन् १८७६ में महर्षि की उपस्थिति में सम्पन्न हुआ था[४]। महाराष्ट्रीय विदुषी पण्डिता रमाबाई को महर्षि ने सन् १८८० में न्याय और वैशेषिक दर्शन के सूत्र इस आशा के साथ पढ़ाये थे कि—यह देवी शास्त्रज्ञ बनकर भारतीय महिला वर्ग की उन्नति में अपना योगदान कर सकेगी[५]। उन्होंने पण्डिता रमा को परोपकार के लिए अपना जीवन उत्सर्ग करने के प्रबल प्रेरणा भी दी थी[६]। महर्षि ने स्त्री-शिक्षा और स्त्रियों का महत्त्व वर्णन करते हुए 'सत्यार्थप्रकाश' में लिखा है कि 'स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य धारण और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिये। भारत की स्त्रियों में भूषणरूप गार्गी आदि देवियाँ

---

२. सत्यदीपिका (ईसाइयों का मराठी मासिक), सम्पादक-बाबा पद्मनजी, अगस्त १८७५, पृष्ठ ९५-९६।

३. समग्र क्रांतीचे अग्रदूत : महर्षि दयानन्द सरस्वती (मराठी जीवन चरित्र), लेखक-श्रीपाद जोशी, प्रथम संस्करण-१९९२, पृष्ठ-५२।

४. सत्यदीपिका, मई १८७६, पृष्ठ ४३-४६।

५. नवजागरण के पुरोधा-दयानन्द सरस्वती, लेखक-डॉ० भवानीलाल भारतीय, प्रथम संस्करण १९८३, पृष्ठ-४०९।

६. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, सम्पादक-पं० भगवद्दत्त बी०ए०, प्रथम भाग, तृतीय संस्करण १९८०, पृष्ठ-३३९।

शास्त्रों को पढ़कर पूरी विदुषी हुईं थीं। देखो आर्यावर्त्त के राजपुरुषों की स्त्रियाँ धनुर्वेद, युद्ध विद्या अच्छी प्रकार जानती थीं। यदि ऐसा न होता तो कैकेयी आदि स्त्रियाँ दशरथ आदि राजाओं के साथ संग्राम में कैसे जा सकती थीं ? स्त्रियों को व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित और शिल्प विद्या अवश्य सीखनी चाहिए।'

महर्षि और महात्मा दोनों ही सत्य के प्रबल पक्षधर थे। महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध वक्ता, प्राचार्य शिवाजीराव भोसले के शब्दों में, 'जोतिबा फुले' 'सार्वजनिक सत्यधर्म' (१८८८) नामक पुस्तक के लेखक थे, तो दयानन्द सरस्वती ने 'सत्यार्थप्रकाश' (१८७४) नामक ग्रन्थ की रचना की थी। तत्कालीन समाज को यथार्थ सत्य का अवलोकन करवाना ही इन दोनों रचनाकारों का धर्म था[७]। महात्मा फुले वर्ण व्यवस्था के विरोधी थे, तो महर्षि ने जन्मना वर्ण व्यवस्था का विरोध किया था।

मराठी के सुप्रसिद्ध चरित्रकार धनञ्जय कीर के अनुसार जब पुणे के समाज-सुधारकों ने स्वामीजी के सम्मानार्थ बड़ी धूमधाम से शोभा-यात्रा निकालने का निश्चय किया तो पुणे के रूढ़िवादी एवं प्रतिगामी व्यक्तियों ने विघ्न डालने का मनसूबा बाँधा। उपद्रव की सम्भावना को ताड़कर सुधारक लोग शोभा-यात्रा से एक दिन पूर्व महात्मा जोतिबा फुले से मिले और उनसे शोभा-यात्रा में भाग लेने का अनुरोध किया। महर्षि दयानन्द के समता तत्त्व व अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन महात्मा फुले के जीवनोद्देश्य से सम्बन्धित थे, अतः उन्होंने सुधारकों को शोभा-यात्रा में अपने अनुयायियों के साथ सम्मिलित होने का अभिवचन दिया। वचनानुसार वे शोभा-यात्रा की सुरक्षा के लिए अपने दल-बल के साथ जुलूस में सम्मिलित हुए थे। महर्षि की शोभा-यात्रा में महात्मा फुलेजी के जो स्नेही-सहयोगी सम्मिलित हुए उनमें से कुछ लोगों के नाम इस प्रकार हैं—सर्वश्री डॉ० सदाशिवराव बल्लाल गोवंडे (१८२४-१८८४), डॉ० विश्राम रामजी घोले (१८३३-१९००), ज्ञानोबा कृष्णाजी ससाणे (१८५१-१९३२), रामचन्द्र बापूसेठजी उरवणे (....१८८२)[८] धोडिंबा लहूजी

७. सकाळ-मराठी दैनिक, रविवार १०/१/१९९३।

८. महात्मा जोतीराव फुले-पं० सी० पाटिल, पृष्ठ-६६।



पुणे बुधवार पेठ स्थित सुप्रसिद्ध 'भिडेवाड़ा'।
जहाँ महर्षि के पन्द्रह प्रवचन हुए।



भिडेवाड़ा (संप्रति-भिड़ेचेंबर्स)







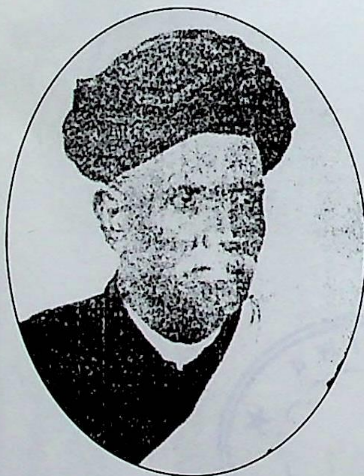
पुणे छावनी में स्थित म्हस्के भवन। जहाँ पालकी में चारों वेद रखकर महर्षि की शोभा यात्रा शुरु हुई।



डॉ० विश्राम घोले



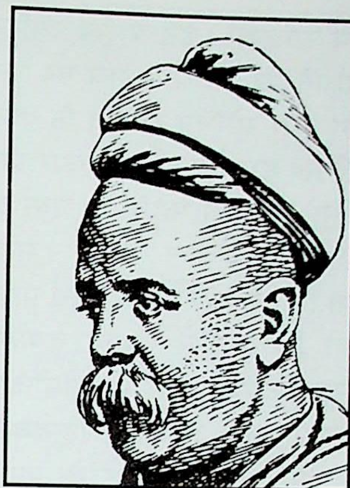
श्री लहूजी मांग



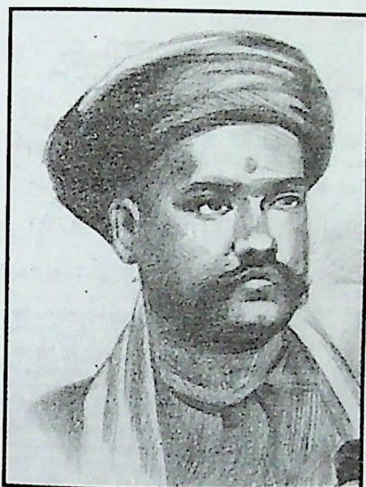
श्री कृष्णराव भालेकर



श्री राजन्ना पोलास



न्यायमूर्ति रानडे



नारायण लोखंडे



महाराष्ट्रीय नररत्न
विष्णु शास्त्री चिपलूणकर

माँग साळवे[९]। इन प्रमुख व्यक्तियों के अतिरिक्त महात्मा फुले के आह्वान पर समय-समय पर उन्हें मदद करने वाले कामाठी, महार, मांग और मोमिन समाज के कार्यकर्त्ता भी महर्षि की शोभा-यात्रा में शामिल हुए थे। इतिहासकार प्रा० हरिदत्त वेदालंकार के अनुसार इस शोभा-यात्रा में महर्षि के एक ओर न्यायमूर्ति रानडे तथा दूसरी ओर महात्मा फुले चल रहे थे[१०]। मराठी के सुप्रसिद्ध साहित्यिक, पत्रकार तथा फिल्म निर्माता आचार्य प्रह्लाद केशव अत्रे ने स्व-निर्मित महात्मा फुले चित्रपट में स्वामी दयानन्द की शोभा यात्रा का चित्रीकरण प्रस्तुत किया है, जिसमें स्वामीजी हाथी पर विराजमान हैं तथा तत्पश्चात् महात्मा फुले और श्री महादेव गोविन्द रानडे चल रहे हैं।

महर्षि दयानन्दजी के पुणे निवास काल में महात्मा फुलेजी से सम्पर्क करने के मुख्य स्थल 'पेठ जुना गंज' और 'वेताळ पेठ' थे। 'पेठ जुना गंज' में महात्मा फुलेजी का निवास स्थान था तो 'वेताळ पेठ' में उनकी पुस्तकों की दुकान थी। महर्षि भी पुणे निवास काल में 'वेताळ पेठ' स्थित नाना जगन्नाथ शंकरसेठ की वास्तु में ही ठहरे हुए थे। 'वेताळ पेठ' के सन्निकट स्थित पेठ जुनागंज की मोमिनपुरा बस्ती में शूद्रातिशूद्रों की पाठशाला में तो महर्षि दयानन्दजी का व्याख्यान भी हुआ था। तत्कालीन ईसाई मासिक पत्रिका 'सत्यदीपिका' में इस व्याख्यान के पूर्व और पश्चात् आलोचनात्मक टिप्पणियाँ लिखी गई थीं। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि महार-मांग-चमार आदि की ओर से शूद्रातिशूद्रों के विद्यालय में वेदोपदेश देने के सम्बन्ध में महर्षिजी को जो लिखित निमन्त्रण पत्र भेजा गया था, वह अप्रत्यक्ष रूप में महात्मा फुलेजी के प्रेरणा से ही लिखा गया था, क्योंकि उस विद्यालय के संस्थापक और संचालक स्वयं महात्मा फुले ही थे। सम्भव है महर्षि की जाति-भेद विरहित मानवतावादी भूमिका को महात्मा फुले अपनी कसौटी पर कसना चाहते हों, किंवा महर्षिजी के ज्ञान-कर्मनिष्ठ-अडिग व्यक्तित्त्व से प्रभावित हो उनके

---

९. आम्ही पाहिलेले फुले : सम्पादक-सीताराम रायकर, प्रथम आवृत्ति १९८१, पृष्ठ-३९।

१०. आर्यसमाज का इतिहास : डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ५२६।

प्रवचन-आशीर्वचन का कार्यक्रम अपनी पाठशाला में रखकर शूद्रातिशूद्र छात्रों को लाभान्वित व संस्कार सम्पन्न कराना चाहते हों। महर्षि दयानन्दजी जैसे सन्त-परमहंसों की वाणी ही तो यथार्थ में दलितोद्धार का सामर्थ्य रखती है।

वेताळ पेठ और पेठ जुना गंज की बस्तियाँ सन्निकट होने से महर्षि दयानन्द और महात्मा फुलेजी की अनौपचारिक रूप से एकाधिक बार भेंट हुई होगी। वेताळ पेठ से पुणे की ऊँची पहाड़ी 'पर्वती' की ओर जाने के लिये श्री शंकरसेठ ने महर्षि के पुणे आगमन से एक दशक पूर्व ही सड़क बनवा दी थी[११]। इन दोनों ही महापुरुषों को ब्राह्ममुहूर्त में घूमने की आदत थी। ऐसी स्थिति में सम्भव है कि समाज-सुधार के क्षेत्र में समविचारी इन महापुरुषों का आपस में मेल-जोल और विभिन्न विषयों पर विचार-विमर्श हुआ हो, पर आश्चर्य है कि इन दोनों के समग्र साहित्य और पत्र-व्यवहार में एक-दूसरे का उल्लेख नहीं मिलता है। हाँ 'सत्सार' नामक अक्टूबर १८८५ में लिखित पुस्तिका में महात्मा फुलेजी ने पण्डिता रमाबाई का उल्लेख ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज और आर्यसमाज की बड़ी बहन के रूप में किया है। इन सामाजिक संस्थाओं की धारणा की उपेक्षा कर पण्डिता रमाबाई ने ईसाई मत स्वीकार कर लिया था। इसी पुस्तिका के मुखपृष्ठ पर अपने 'कटाव' नामक छन्दोबद्ध मराठी पद्य में महात्मा फुले ने उपहासात्मक शैली में पण्डिता रमाबाई और आर्यों की आलोचना निम्न प्रकार की है—

धूर्त आर्यांची मति खुंटली, रमा पंडिता बरि बाटली।
मद्य पिऊनी आतां बाटली, दे ब्रांडिची मला बाटली॥

पाश्चात्य शिक्षा और ईसाई-पादरियों के विद्यालयों में प्रशिक्षित होने के कारण या संकीर्ण-रूढ़िवादी तथाकथित ब्राह्मणों की तुलना में ईसाइयों को व्यावहारिक दुनिया में अधिक उदारमतवादी पाकर महात्मा फुलेजी का झुकाव वेद की तुलना में बाइबिल की ओर अधिक था[१२], फिर भी महर्षि से पुणे-प्रवचन-काल में वे इतने

११. नामदार शंकरशेठ यांचे चरित्र, लेखक-पुरुषोत्तम बालकृष्ण कुलकर्णी, संस्करण-१९५९/वैदिक गर्जना-मासिक, १५ अगस्त १९८३, आवरण पृष्ठ-१-४।

१२. विचारशलाका-महात्मा फुले विशेषांक, सम्पादक-नागोराव कुंभार, जुलाई से दिसम्बर १९९०, पृष्ठ-१८।

अधिक प्रभावित होते हैं कि अपने द्वारा संचालित शूद्रातिशूद्रों के स्कूल में उनका वेदोपदेश अनुरोधपूर्वक रखवाते हैं। विद्यार्थी जीवन से ईसाइयों के प्रभाव में रहते हुए भी महात्मा फुले और उनके अनुयायियों ने ईसाई मत में दीक्षित होने से अपने आपको बचाए रखा था[१३]।

न्यायमूर्ति 'महादेव गोविन्द रानडे' के मराठी चरित्र लेखक श्री नरहर रघुनाथ फाटक के अनुसार सत्यशोधक समाज के अधिकांश अनुयायी महर्षि के प्रवचन सुनने जाते थे। सन् १८९१ में प्रकाशित महात्मा फुले के लघु चरित्र लेखक-शास्त्री नरोबाजी महाघट पाटिल के उल्लेखानुसार **५ सितम्बर १८७५ को महर्षि दयानन्दजी ने सत्यशोधक समाज के पुणे स्थित कार्यालय को भी भेंट दी थी**[१४]। महर्षि दयानन्द और महात्मा फुले की उपहासात्मक शैली में आलोचना करने वाले निबन्धमालाकार विष्णु शास्त्री चिपलूणकर ने भी सत्यशोधक समाज का उल्लेख पुणे प्रवचनकालीन महर्षि दयानन्द की विशिष्ट सहयोगिनी संस्था के रूप में किया है। यह तो सुनिश्चित है कि सत्यशोधक समाज के एक सक्रिय सदस्य श्री कृष्णराव पाण्डुरंग भालेकर (१८५०-१९१०) ने तत्कालीन पुणे नगरी से संलग्न अपने 'भांबुर्ड्या' नामक गाँव में श्रद्धापूर्वक महर्षि का व्याख्यान आयोजित किया था[१५]। अब यह गाँव पुणे महानगरपालिका के शिवाजीनगर विभाग में समाविष्ट है। पुणे कैम्प में महर्षि के पैंतीस व्याख्यानों का संयोजन करने वाले और महर्षि की शोभा-यात्रा के प्रमुख संयोजक श्री गंगाराम भाऊ म्हस्के वकील (१८३१-१९०१) भी न्यायमूर्ति रानडे और महात्मा फुले के घनिष्ठ मित्रों और सहयोगियों में से थे। म्हस्के वकील और सत्यशोधक समाज के अनुयायी राजन्ना लिंगू पोलास वकील (१८३९-१९१७) ने महर्षि की शोभा यात्रा को सफल बनाने में तो अपना परिपूर्ण सहयोग दिया ही था, पर वे उस सरकारी पुलिस केस में भी सहयोगी थे, जो सरकार की ओर से

१३. आम्ही पाहिलेले फुले, सम्पादक-सीताराम रायकर, पृष्ठ-४१।

१४. आम्ही पाहिलेले फुले : सम्पादक-हरि नरके, प्रथमावृत्ति-१९९३, परिशिष्ट-१, पृष्ठ-१८५।

१५. व्यक्ति आणि विचार : डॉ० य० दि० फड़के, पृष्ठ-४९-५०।

अदालत में महर्षि की शोभा-यात्रा में उपद्रव करने वाले व्यक्तियों के विरूद्ध चलाया गया था। पुणे छावनी में महर्षि का अन्तिम प्रवचन म्हस्केजी के घर पर ही हुआ था और तदुपरान्त महर्षिजी की शोभा-यात्रा भी उन्हीं के राजमार्ग पर स्थित अट्टालिका के सामने से शुरू हुई थी[१६]।

इन सब तथ्यों को देखने के बाद निःसंदिग्ध रूप से यह कहा जा सकता है कि महात्मा फुले और 'सत्यशोधक समाज' के अनुयायी महर्षि के पुणे प्रवचन काल में अनन्य सहयोगी के रूप में सक्रिय थे। 'सत्यशोधक समाज' के मुखपत्र 'दीनबन्धु' के सम्पादक श्री नारायण मेघाजी लोखण्डे (१८४८-१९१७) ने ४ नवम्बर १८८३ के अंक में महर्षि दयानन्द सरस्वती को श्रद्धांजलि देते हुए लिखा था, ***'स्वामी दयानन्द महान् विद्वान् और धर्मशास्त्रज्ञ थे। उनकी मृत्यु से उनके मित्रों, आत्मीय जनों और अनुयायियों को जबरदस्त आघात पहुँचा है, पर उससे भी अधिक धार्मिक जगत् को तीव्र आघात पहुँचा है।'*** दीनबन्धु पत्र निकलने के अन्य अनेक कारणों में से एक कारण रूढ़िवादियों द्वारा महर्षि की शोभा-यात्रा के समय किया गया अशोभनीय व्यवहार और उसका समर्थन करने वाला निबन्धमालाकार चिपलूणकर का उपहासात्मक लेखन भी था[१७]।

इस अशोभनीय घटना का नपे-तुले शब्दों में वर्णन करते हुए इतिहासकार एवं पत्रकार पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने लिखा है, '१८७५ ई० में प्रसिद्ध सुधारक श्रीयुत महादेव गोविन्द रानडे के निमन्त्रण पर महर्षि पूना गए।' पूना महाराष्ट्र का केन्द्र है, वह उन दिनों सनातन-धर्म का गढ़ था। राजाओं का प्रशासन चलाने वाले और राज्यों के

---

१६. 'जुलूस पाँच बजे छावनी से चला और ७-३० बजे भिड़ेवाड़े पर पहुँचा था', महर्षि दयानन्द सरस्वती, लेखक श्री किशोरीलाल, पृष्ठ-३१८, 'जुलूस के प्रारम्भ में तीन सौ व्यक्ति थे और जुलूस की समाप्ति स्थल पर वह संख्या तीन हजार तक पहुँच गई थी', दयानन्द चरित्र, लेखक-हरिश्चन्द्र विद्यालंकार, पृष्ठ-२५१, डॉ० भवानीलालजी भारतीय आदि चरित्र लेखकों ने प्रारम्भ की चार सौ और जुलूस समाप्ति के समय की संख्या चार हजार बतलायी है, पृष्ठ-२५५।

१७. भारतीय कामगार चळवळीचे जनक : नारायण मेघाजी लोखंडे, लेखक-मनोहर कदम, प्रथम आवृत्ति १९९५, द्वितीय आवृत्ति-१९९६, पृष्ठ-४६।

संस्थापक पूना के ब्राह्मणों से भिड़ना साहस का कार्य था। पूना में महर्षि के बड़े प्रभावशाली व्याख्यान हुए। इन व्याख्यानों के प्रहारों ने पूना के सनातनी गढ़ में हलचल मचा दी। रानडे महाशय के उद्योग से शहर में महर्षि की सवारी निकली। सबसे आगे एक पालकी में वेद रखे हुए थे और महर्षि को लिए हाथी सबसे पीछे था। सवारी बड़ी धूमधाम से निकली। इसके जवाब में विरोधियों ने गर्दभानन्दाचार्य की सवारी निकाली। इन विरोधियों में महाराष्ट्र के कई रत्न भी सम्मिलित थे। ताली पीटते और कीचड़ उछालते हुए लोग साथ जाने लगे। बड़ा हुल्लड़ मचता रहा। महर्षि और उनके साथियों पर कीचड़ फेंका गया। रानडे महाशय पर भी बहुत-सा कीचड़ पड़ा। विरोधियों ने समझा कि वे इस प्रकार सत्यवादी के मुँह को सी सकेंगे, परन्तु उन्हें पता नहीं था कि यह वह मोम नहीं था, जो हाथ लगते ही मुड़ जाता। इस व्यवहार से महर्षि का तो क्या अपमान होना था, उलटा आज तक उन्हीं महानुभावों के शुभ्र कीर्तिचन्द्र पर कालिमा का एक धब्बा लगा हुआ है, जो और सब प्रकार से आदर के योग्य थे[१८]।

रूढ़िवादी विष्णु शास्त्री चिपलूणकर ने 'निबन्धमाला' मासिक में समाजसुधारक महर्षि दयानन्द और महात्मा फुले के विषय में उपहासात्मक लेखन किया था। श्री विष्णु शास्त्री महाराष्ट्र के प्रख्यात देशभक्त साहित्यकार थे, किन्तु वे समाज-सुधारकों के संरचनात्मक कार्यों का यथोचित विवेचन करने में असमर्थ रहे।

महर्षि दयानन्द का कार्यक्षेत्र उत्तर भारत था, तो महात्मा फुले का महाराष्ट्र। महर्षि ने उत्तर भारतीय कबीर-नानक आदि सन्तों की समालोचना की है, तो महात्मा फुले ने मुकुन्दराज, ज्ञानेश्वर, रामदास आदि महाराष्ट्रीय सन्तों की आलोचना की है। महर्षि और महात्मा दोनों ही अनिवार्य शिक्षा के पक्षधर थे। महर्षि दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश' के तृतीय समुल्लास में अध्ययन और अध्यापन की चर्चा करते हुए लिखा है, 'राजनियम होना चाहिये कि पाँचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को अपने घर

---

१८. आर्यसमाज का इतिहास (प्रथम भाग), इन्द्र विद्यावाचस्पति, प्रथम संस्करण-१९२४, पृष्ठ-१०६-१०७, प्रकाशक-अर्जुन प्रेस, नया बाजार-देहली। तत्रैव-द्वितीय संस्करण-१९५७, पृष्ठ-९७, प्रकाशक सार्वदेशिक सभा-दिल्ली।

में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवे, जो न भेजे वह दण्डनीय हो। पाठशालाओं में सबको तुल्य वस्त्र, खान-पान-आसन दिए जायें, चाहे वह राजकुमार या राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र की सन्तान हो।'

महात्मा फुलेजी ने १९ अक्तूबर १८८२ को हण्टर आयोग के सामने अपना शिक्षा विषयक निवेदन प्रस्तुत किया था। इसी अवसर पर महर्षि दयानन्दजी ने राष्ट्रीय एकता और समाज-सुधार का मुख्य आधार जनभाषा हिन्दी को मानते हुए उसे फारसी और अँग्रेजी के स्थान पर राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए दो सौ से अधिक ध्यानाकर्षण प्रस्ताव आर्यसमाजों के माध्यम से हण्टर कमीशन की सेवा में भिजवाए थे।

महर्षि दयानन्द और महात्मा फुले फलित ज्योतिष का जाल फैलाने वाले स्वार्थी पाखण्डियों के विरोधी थे। पौराणिक ग्रन्थों की अस्वाभाविक कल्पनाओं की दोनों ने भी धज्जियाँ उड़ाई हैं। दोनों ही भागवत् पुराण की कथाओं को कपोलकल्पित और गप मानते हैं। योगेश्वर कृष्ण के व्यक्तित्त्व को कलंकित करने के लिए दोनों ही महापुरुषों ने भागवत्कार को दोषी माना है। सामाजिक समता के शाश्वत आदर्श की स्थापना के लिए दोनों ने ही जन्मना श्रेष्ठत्त्व की जातिवादी चौखट को तहस-नहस किया था। दोनों ही महापुरुषों ने स्वार्थी व्यक्तियों द्वारा की गई अदालती कार्यवाहियों का धैर्य के साथ सामना किया। अपने साहित्य में इन दोनों ही महामानवों ने छत्रपति शिवाजी महाराज की प्रशंसा की है। जातिगत अहंकार और भेदभाव को दूर करने की दृष्टि से दोनों ने ही हर योग्य व्यक्ति को पुरोहित के रूप में विवाह आदि संस्कार कराने के अधिकार प्रदान किए थे। भक्त और भगवान् के बीच के तथाकथित अवतारों और दलालों का दोनों ने ही विरोध किया है। *महर्षि दयानन्दजी ने 'सत्यार्थप्रकाश' में स्पष्ट निर्देश दिया है कि 'पिता-माता व अध्यापक अपने लड़का-लड़कियों को अर्थ सहित गायत्री मन्त्र का उपदेश कर दें।'* महात्मा फुलेजी ने 'गुलामगिरी' में फौजदारी और दीवानी विभाग के लिपिक, तहसीलदार और सचिव आदि ब्राह्मणों द्वारा शूद्रातिशूद्रों के सामने गायत्री मन्त्र के स्थान पर अन्य श्लोकों का प्रयोग करने पर उन्हें

धिक्कारा और फटकारा है[१९]। महात्मा फुले और महर्षि दयानन्द अपने सिद्धान्तों को केवल वाणी और लेखनी द्वारा ही प्रचारित नहीं करते थे, अपितु उन्हें वे अपने क्रियात्मक जीवन में भी चरितार्थ करते थे। वे शब्दवीर होने के साथ-साथ कर्मवीर भी थे। दोनों ही सत्य के पुजारी, व्यसन विहीन और निर्भीक थे। तथाकथित ब्राह्मणों की पाखण्डी-पोप लीलाओं की दोनों ने ही कठोर आलोचना की है।

काल क्रमानुसार महर्षि दयानन्दजी और महात्मा फुलेजी ने जो अक्षर वाङ्मय लिखा वह क्रमशः इस प्रकार है—

'सन्ध्या' (१८६३), 'भागवत् खण्डन' (१८६६), 'काशी शास्त्रार्थ' (१८६९), 'अद्वैत मत खण्डन' (१८७०), 'सत्यार्थप्रकाश' (१८७४), 'पञ्च महायज्ञविधि' (१८७४), 'वल्लभाचार्य मत खण्डन' (१८७५), 'स्वामी नारायण मत खण्डन' (१८७६), 'आर्याभिविनय' (१८७६), 'संस्कारविधि' (१८७७), 'आर्योद्देश्य-रत्नमाला' (१८७७), 'भ्रान्तिनिवारण' (१८७७), 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' (१८७८), 'ऋग्वेद-भाष्य' (१८७८-१८८३), 'यजुर्वेद-भाष्य' (१८७८-१८८३), 'संस्कृतवाक्य प्रबोध' (१८८०), 'व्यवहार भानु' (१८८०), 'गोकरुणानिधि' (१८८१), आदि रचनाएँ महर्षि दयानन्द सरस्वती विरचित हैं[२०]।

'तृतीय रत्न' (१८५५), 'ब्राह्मणाचे कसब' (१८६९), 'गुलाम-गिरी' (१८७३), 'शेतकऱ्यांचे आसूड़' (१८८३), 'इशारा' (१८८५), 'सत्सार' (१८८५) और 'सार्वजनिक सत्यधर्म' (१८८८) आदि मराठी रचनाएँ महात्मा फुलेजी द्वारा विरचित हैं।

महर्षि ने स्वदेश को 'भारत', 'भारतवर्ष', 'आर्यावर्त्त' और 'ब्रह्मावर्त्त' के नाम से सम्बोधित किया है, जबकि महात्मा फुले स्वदेश हेतु 'बलिस्थान' का प्रयोग करते हैं[२१]।

---

१९. पुरोगामी सत्यशोधक (त्रैमासिक) सम्पादक-डॉ० बाबा आढ़ाव, अक्तूबर-दिसम्बर १९९०, पृष्ठ २९।

२०. ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास : लेखक-पं० युधिष्ठिर मीमांसक, संस्करण १९८३, दयानन्द जीवन काल पञ्चाङ्ग : सम्पादक-इं० आदित्यपाल सिंह आर्य : संस्करण-१९९०।

२१. आम्ही पाहिलेले फुले) सम्पादक-रायकर, पृष्ठ-२८।

महात्मा फुलेजी द्वारा 'तुलसी-विवाह' करने का उल्लेख मिलता है, पर उनका होम-हवन में विश्वास नहीं था[२२]। जबकि महर्षि दयानन्द अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त की यज्ञ परम्परा में विश्वास रखते थे। पर्यावरण और वायु प्रदूषण को दूर करने के सम्बन्ध में महर्षि यज्ञ परम्परा की महत्त्वपूर्ण भूमिका मानते थे। महर्षि दयानन्द द्वारा प्रयुक्त 'आर्य' शब्द श्रेष्ठत्त्व का समानार्थी है तो महात्मा फुले इसका प्रयोग दुष्ट मनुष्यों के लिए करते हैं। महर्षि दयानन्द वेद को सब सत्य विद्याओं का मूल मानते हैं तो महात्मा फुले वेद को भेद-भाव का जनक समझते हैं[२३]। जबकि दोनों ही सामाजिक समता और सत्य की स्थापना करना चाहते हैं। दोनों समाज सुधारकों में चिन्तन का यह जो अन्तर आया है, उसका मूल कारण यह है कि महर्षि के चिन्तन का धरातल प्राच्य संस्कृत वाङ्मय है, जबकि व्यावहारिकजीवन में शास्त्र की दुहाई देने वाले तथाकथित ब्राह्मणों की विसंगति को देखकर महात्मा फुले के लिए आर्य, अनार्य का और वेद, भेद का समानार्थी बन गया है। वेद प्रामाण्यवादी महर्षि दयानन्द 'वेदों की ओर लौटने का सन्देश' दे रहे थे, पर महात्मा फुलेजी का झुकाव ईसाई धर्म और बाइबिल की ओर अधिक था[२४], फिर भी महात्माजी ने इस बात का अहसास कर लिया था कि तथाकथित ब्राह्मण ईसाई, दलित-ईसाइयों के साथ समता और बन्धुता का आचरण नहीं कर रहे हैं[२५]।

महात्मा फुलेजी का ध्यान समाज-सुधार की ओर अधिक केन्द्रित था, जबकि महर्षि दयानन्द का ध्यान समाज-सुधार के साथ ही राजनीतिक पराधीनता की ओर भी केन्द्रित था। स्वदेश की राजनीतिक दुर्दशा पर स्थान-स्थान पर व्यथित हृदय से वे आँसू बहाते हुए नजर आते हैं।

---

२२. तत्रैव ५२-५३, ७०।

२३. विचारशलाका (महात्मा फुले विशेषांक), पृष्ठ-२।

२४. महात्मा जोतीराव फुले, लेखक-डी० के० खापर्डे, प्रथम आवृत्ति १९९०, पृष्ठ-१४३। महाराष्ट्र साहित्य पत्रिका, अप्रैल-मई-जून १९८२, पृष्ठ १६, २६-२७।

२५. महात्मा फुले समग्र वाङ्मय : प्रथम आवृत्ति-महाराष्ट्र शासन, पृष्ठ-२५०। विचारशलाका-महात्मा फुले विशेषांक, पृष्ठ-१८।

पुणे के बुधवार पेठ स्थित भिड़ेवाड़े में महर्षि के प्रवचन हुए और महात्मा फुले की पहली कन्या पाठशाला का प्रारम्भ भी बुधवार पेठ के भिड़ेवाड़े में ही हुआ था। पर इन दोनों वाड़ों के मालिक भिड़े उपनाम से एक होते हुये भी अलग-अलग थे। दयानन्दजी ने जिस भिड़ेवाड़े में व्याख्यान दिए उसके मालिक का नाम बालकृष्ण भिड़े था[२६] और महात्मा फुलेजी ने जिस भिड़ेवाड़े में अपनी कन्या पाठशाला खोली उसके मालिक का नाम तात्यासाहब भिड़े था[२७]।

महात्मा फुलेजी ने अप्रैल १८८२ में मुम्बई के 'भायखला' क्षेत्र में आयोजित सभा में 'शेतकरयांचे आसूड़' (किसानों का कोड़ा) नामक मराठी पुस्तक पढ़कर सुनाई थी[२८]। इन दिनों महर्षि दयानन्द भी मुम्बई में थे। ३० दिसम्बर १८८१ से २४ जून १८८२ तक की कालावधि में महर्षि का मुम्बई में निवास था। इस कालावधि में मुम्बई के विभिन्न स्थानों पर उनके पच्चीस से भी अधिक व्याख्यान हुए थे। महात्मा फुलेजी का अप्रैल में मुम्बई आगमन हुआ। २ अप्रैल १८८२ को फ्रामजी कावसजी सभागृह में महर्षि ने 'आर्यसमाज तथा ब्रह्मसमाज के नियमों और सिद्धान्तों पर तुलनात्मक व्याख्यान' दिया था। मुम्बई निवास की ६ महीने की प्रदीर्घ कालावधि में केवल ५ अप्रैल को वे मुम्बई से २२ मील दूर ठाणे में 'वेद' विषय पर व्याख्यान देने गये हुए थे। ९ अप्रैल से २१ मई तक महर्षि का एक भी व्याख्यान होने का उल्लेख नहीं मिलता है। उक्त काल में मुम्बई आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों में भी महर्षि के स्थान पर अन्य विद्वानों के ही व्याख्यान हुए थे। अप्रैल मास में महात्मा फुले कितने दिन मुम्बई में रहे, इसकी हमें जानकारी नहीं है। फिर भी सन् १८७५ में एक दूसरे के सम्पर्क में आने वाले इन समाज-सुधारकों की १८८२ में मुम्बई आने पर आपस में भेंट हो पाई या नहीं, इस विषय में हमारे मन में जिज्ञासा बनी हुई है। पूर्व परिचय को प्रगाढ़ करने की

---

२६. परोपकारी मासिक, अप्रैल-१९८३, पृष्ठ-२५। कंठ स्नान आणि बलिदान, लेखक-वि० श्री० जोशी।

२७. महात्मा फुले यांचे अमर जीवन, लेखक-शास्त्री नारो बाबाजी महाघट पाटिल, प्रथम संस्करण-१८९१।

२८. महात्मा जोतीराव फुले : डी० के० खापर्डे, पृष्ठ-७३।

दृष्टि से दोनों महापुरुषों की आपस में मिलने की अभिलाषा तो सहज रूप में उत्पन्न हो सकती है। फिर भी अपनी-अपनी प्रणाली से सर्वहितकारी कार्यों में तल्लीन ये महापुरुष एक-दूसरे से मिलने की अनुकूल स्थिति में थे या नहीं, यह सब कुछ आज कह पाना बड़ा ही कठिन है।

अपने जीवन की सान्ध्यवेला में महात्मा फुले और महर्षि दयानन्द क्रमशः संस्कृत और अंग्रेजी पढ़ने का प्रयास कर रहे थे[२९]। हर भाषा के ज्ञान-विज्ञान को जानने की लालसा इन दोनों महापुरुषों में थी। महर्षि ने अन्तिम समय गायन्त्री मन्त्र और अपना प्रिय वेदमन्त्र 'विश्वानि देव' का पाठ कर 'हे ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो' कहते हुए देह त्याग किया, तो महात्मा फुले ने अन्तिम समय 'देवा'! शब्द का प्रयोग कर ईश्वर का स्मरण किया और अन्तेवासियों को भगवद् भजन करने का निर्देश देते हुए अन्तिम सांस ली[३०]।

लगभग ढाई महिने के पुणे निवासकाल में न्यायमूर्ति रानडे और महात्मा फुले के नेतृत्त्व में प्रार्थनासमाज और सत्यशोधक समाज के कार्यकर्त्ता महर्षि दयानन्द के कार्यक्रम को सफल बनाने हेतु सक्रिय थे। पुणे प्रवास के बाद महर्षि जब सातारा पहुँचे तो उनके स्वागत, निवास और भोजन आदि की व्यवस्था करने वालों में सातारा के कलैक्टरी में हैडक्लर्क तथा सत्यशोधक समाज के सदस्य श्री रामचन्द्र विठोबा धामणस्कर (१८४८-१९०६) का उल्लेखनीय सहयोग रहा[३१]। कालान्तर में धामणस्कर आर्य नरेश सयाजीराव गायकवाड़ की वडोदरा रियासत में उपसूबेदार आदि विविध पदों पर कार्यरत रहे और अन्त में वे उनके दीवान भी बने।

श्रीमन्त सयाजीराव गायकवाड़ ने महर्षि के 'सत्यार्थप्रकाश' को मराठी में प्रकाशित करने के लिये जहाँ आर्थिक सहायता प्रदान की थी, वहाँ उन्होंने महात्मा फुले से 'शेतकऱ्यांचे आसूड' सुनकर उनका द्रव्य आदि से यथोचित आदर-आतिथ्य भी किया था। कोल्हापुर

---

२९. आम्ही पाहिलेले फुले : रायकर-६१।

३०. तत्रैव-२३, ६४

३१. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन : श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, संस्करण-विक्रमी संवत्-२०५०, पृष्ठ-३२५।

नरेश राजर्षि शाहू महाराज ने हृदय से आर्यसमाजी होते हुए भी सत्यशोधक समाज के प्रगतिशील कार्यों में तन-मन-धन से सहयोग दिया था। विदर्भांचल में स्थित 'आर्यसमाज-हिवरखेड़' (जिला-अकोला) के संस्थापक किसन गुणाजी भोपळे (निधन-१९३२) 'सत्यशोधक समाज-हिवरखेड़' के भी संस्थापक थे। मराठवाड़ा विभागीय लालबहादुर शास्त्री महाविद्यालय धर्माबाद के सेवानिवृत्त प्रा० उत्तमराव सूर्यवंशी के पिताजी श्री दीपाजी शिवराम पाटिल (१९१०-१९९१) ने सत्यशोधक व आर्यसमाज के तत्त्वावधान में कार्य करते हुए हैदराबाद मुक्ति संग्राम में भी भाग लिया था। सत्यशोधक समाज और आर्यसमाज की इस अतीत कालीन स्वर्णिम परम्परा की तरह प्रगतिशील विचारधारा के समस्त कार्यकर्त्ताओं को अपने कतिपय वैचारिक मतभेद एक ओर रखकर सार्वजनिक सर्वहितकारी समस्याओं के विषय में एकजुट हो समर्पण भाव से कार्य करने की आज तो और भी अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है।

सत्यशोधक समाज के संस्थापक महात्मा फुले अपने द्वारा स्थापित समाज के सर्वप्रथम अध्यक्ष और कोषाध्यक्ष थे, जबकि आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द ने आग्रह किए जाने पर भी, न तो किसी प्रकार का पद स्वीकार किया और न ही कार्यकारिणी में अपना नाम अंकित कराया। मुम्बई आर्यसमाज के अन्य सामान्य सदस्यों की तरह वे भी एक सदस्य मात्र थे। इस अन्तर का एक कारण महात्मा फुलेजी का गृहस्थी होना और परमहंस महर्षि दयानन्द सरस्वती का चतुर्थाश्रमी संन्यासी होना है। साहित्यिक दृष्टि से महर्षि दयानन्द की तुलना में महात्मा फुले की भाषा शैली अधिक ग्राम्य है। इस भाषाई अन्तर का कारण दोनों ही महापुरुषों के शैक्षिक-सामाजिक परिवेश और कार्यक्षेत्र की भिन्नता में अन्तर्निहित है। दोनों ने ही अपनी रचनाओं में संवादात्मक प्रश्नोत्तर पद्धति को अधिक अपनाया है।

आर्यसमाज और सत्यशोधक समाज के इन दोनों ही संस्थापकों ने अपने अनुयायियों और पाठकों से यह अनुरोध किया है कि हमारे ग्रन्थों में यदि कुछ असत्य प्रतीत हो तो उस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करें, असत्य होने पर हम उसे अपने ग्रन्थों से हटा देंगे। सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में दोनों ही उन्नीसवीं सदी के महापुरुष मनसा-वाचा-कर्मणा कृतसंकल्प थे।

सत्यशोधक समाज की स्थापना २४ सितम्बर सन् १८७३ को सामाजिक गुलामी तथा रूढ़िवादी पौराणिक ग्रन्थों से शूद्रातिशूद्रों को मुक्त कराने के लिए हुई थी। सत्यशोधक समाज में राजनीतिक विषयों पर चर्चा करना पूर्णतया निषिद्ध था[३२]। १० अप्रैल १८७५ को मुम्बई में स्थापित आर्यसमाज का उद्देश्य वेद विद्या का प्रचार-प्रसार करते हुए सारे संसार का उपकार करना था। सत्यशोधक समाज की तरह आर्यसमाज के नियमों में राजनीतिक चर्चा पर प्रतिबन्ध नहीं था, पर उसका सर्वप्रथम अल्पचर्चित आर्यसमाज जो कि राजकोट में स्थापित हुआ था, उसके मंच से आशु कवि पं० गट्टूलाल द्वारा अंग्रेज प्रशासन की आलोचना किए जाने के कारण तत्कालीन शासकीय शिकंजे ने उसे इस रूप में पहुँचा दिया था कि वह अपने आप ही बन्द हो गया।

सत्यशोधक समाज के हीरक महोत्सव (१९३३) के अवसर पर प्रकाशित ग्रन्थ की प्रस्तावना में श्री भास्करराव विठोजी जाधव ने लिखा है—'ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज और सत्यशोधक समाज नाम की संस्थाएँ भारतवर्ष के अलग-अलग भागों में लगभग समान उद्देश्यों को साकार करने के लिए परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार स्थापित हुई थीं। आर्य धर्म के उदात्त तत्त्वों को लोग भूल चुके थे, जाति प्रथा जैसी अनिष्ट रूढ़ियों ने उस स्थान पर कब्जा कर लिया था, उसका समर्थन करना सम्भव नहीं हो रहा था, ऐसी स्थिति में ईसाई मत स्वीकार करने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। उस प्रवृत्ति को रोकने के लिए उक्त तीन समाजों की स्थापना हुई। तीनों ने जोर देकर कहा—मूर्ति-पूजा, जातिभेद जैसी प्रचलित रूढियाँ विशुद्ध आर्य धर्म को बिलकुल भी मान्य नहीं है[३३]। समकालीन ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज और सत्यशोधक-समाज की तुलना में ईसाइयत की बाढ़ को रोकने में आर्यसमाज को सर्वाधिक सफलता हासिल हुई।'

सन् १९९२ में महाराष्ट्र राज्य संस्कृति संवर्धन मण्डल के अध्यक्ष डॉ० यशवन्त दिनकरजी फड़के ने महाराष्ट्र सरकार द्वारा प्रकाशित

---

३२. पुरोगामी सत्यशोधक-अक्तूबर-दिसम्बर १९९०, पृष्ठ-३२। सत्यार्थप्रकाश-भूमिका-३।

३३. सत्यशोधक समाज की प्रारम्भिक द्विवार्षिक रिपोर्ट (१८७३-१८७५)।

महात्मा फुले समग्र वाङ्मय की पाँचवीं मराठी आवृत्ति का सम्पादन किया था। १५ जून १९९२ को हमने एक १६ पृष्ठीय उन्हें पत्र लिखकर समग्र वाङ्मय में महात्मा फुले और महर्षि दयानन्द से सम्बद्ध पादटिप्पणियों में असावधानीवश हुई उनकी दो-तीन गलतियों की ओर उनका ध्यानाकर्षण भी किया था। उत्तर न मिलने पर उन्हें एक और पत्र भेजा, पर उसका भी अनुकूल या प्रतिकूल कोई उत्तर नहीं मिला। तत्पश्चात् सातारा में सम्पन्न विचारवेध सम्मेलन में मैंने फिर इस ओर उनका ध्यानाकृष्ट किया। उस समय उन्होंने यह तो स्वीकार किया कि इस विषय में नांदेड़ से किसी सज्जन का पत्र आया था, पर मुझे यह प्रतीत होता है कि जो कुछ मैंने लिखा है, वह ठीक है। मैंने उनसे कहा आप सम्बन्धित स्थलों को फिर एक बार देखिए और अपनी लिखित प्रतिक्रिया से अवगत कराइए। तत्पश्चात् नांदेड़ विश्वविद्यालय की एक व्याख्यानमाला में उनके पधारने पर नांदेड़ के प्राचार्य देवदत्तजी तुंगार के सामने फिर उन्हें मैंने 'महात्मा फुले समग्र वाङ्मय' में हुई गलतियों को सुधारने के विषय में लिखित अनुरोध पत्र दिया, पर उसका भी प्रत्युत्तर न आने से महात्मा फुले समग्र वाङ्मय के पाठक भ्रम में न रहें, अत: यहाँ उन बातों का फिर से प्रकट रूप में उल्लेख किया जा रहा है।

'महात्मा फुले : समग्र वाङ्मय' में पृष्ठ ३०६ पर 'शेतकऱ्यांचे आसूड' ग्रन्थ श्री फड़केजी की पादटिप्पणी के कारण विवादास्पद बना मराठी गद्यांश इस प्रकार है—"हे सार्वजनिक पोकळ नावांच्या समाजांत एक तरी मांग—महार शेतकऱ्यास त्या समाजाचा सभासद करून त्यास आपल्या शेजारी कधी तरी घेऊन बसले होते काय? अथवा यांच्यातील गांवो गांव वेदावर पांडित्य करणाऱ्या गृहस्थापैकी एखाद्या स्वामीने तरी उघड़ जाति भेदाच्या उरावर पाय देऊन शूद्राच्या पंक्तीस बसून तेथील एखादा बरबटाचा फुरका मारून शेतकरी खर्चिक म्हणून म्हणावयाचे होते।"

महात्मा फुले लिखित इस मराठी गद्यांश का भावार्थ है—"*सार्वजनिक सभा* नामक सारहीन नाम धारण करने वाले सभा के सभासद किसी मांग-महार किसान को अपनी सभा-समाज का सभासद बनाकर क्या कभी उसे अपने सन्निकट लेकर बैठे थे? अथवा इस सार्वजनिक सभा के गाँव-गाँव जाकर वेदों पर पांडित्य

बताने वाले गृहस्थ सज्जनों में से किसी एकाध स्वामी [नेता] ने खुले रूप में जातिगत भेदभाव की छाती पर पैर रखकर शूद्रों की सहभोज पंक्ति में बैठकर उनका रायता सुड़कने का आस्वाद तो लिया था क्या ? जब वे कभी आत्मीयता से शूद्रातिशूद्र किसानों के निकट बैठे ही नहीं, तो उन्हें खर्चीले स्वभाव वाला कहने का अधिकार सार्वजनिक सभा के नेताओं को आखिर कैसे पहुँचता है।''

उपर्युक्त गद्यांश के पूर्वापर प्रसंग की उपेक्षा करके केवल वेद और स्वामी शब्द की निकटता मात्र से माननीय श्री य० दि० फडकेजी ने इस सारे प्रसंग को पादटिप्पणी द्वारा असावधानीवश स्वामी दयानन्द से जोड़ दिया है।

पहली बात तो यह है कि महर्षि दयानन्दजी केजीवन में पुणे-मुम्बई की 'सार्वजनिक सभा' की ओर से गाँव-गाँव में जाकर वेदों पर वक्तव्य देने का कोई अवसर ही नहीं आया था। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखना जरूरी है कि सनातनी-रूढ़िवादी पण्डित-स्वामियों की वैदिक व्याख्यान तो संकीर्णता के शिकार हैं, जब कि उनकी तुलना में महर्षि स्वामी दयानन्द की वैदिक व्याख्यान प्रगतिशील दृष्टि से ओतप्रोत हैं। महर्षि वैचारिक और व्यावहारिक दोनों ही स्तर पर जाति भेद के कट्टर विरोधी थे। निर्धन-किसानों से तो उनकी विशेष सहानुभूति और ममता थी। इसलिए उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' में कर (टैक्स) वसूल करने की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए लिखा था कि— ***'जो धन लेवे, तो भी इस प्रकार से लेवे, जिससे किसान आदि खाने-पीने और धन से रहित होकर दुःख न पावें।' आगे वे 'परिश्रम करने वाले किसानों' को 'राजाओं का राजा' और राजा को 'उन किसानों का रक्षक' कहते हैं***। सूरत (गुजरात) के निकटस्थ कातार गाँव के किसानों का निमन्त्रण स्वीकार करके वे उनके खेत में गए थे और वहाँ उन्होंने सबके साथ कच्ची ज्वारी का होला-हुर्डा भी खाया था।

महात्मा फुलेजी ने 'शेतकऱ्याचे आसूड' १८८३ में लिखा था और महर्षि दयानन्दजी ने 'सत्यार्थप्रकाश' का प्रणयन १८७४ में किया था। जिस नमक कानून के विरुद्ध महात्मा गाँधीजी ने सन् १९३० में आन्दोलन किया था, उस नमक कानून तथा जंगलात कानून के विरुद्ध महर्षि दयानन्दजी ने उससे पचपन वर्ष पूर्व १८७४

में 'सत्यार्थप्रकाश' में जो दुःखभरे शब्दों में सम्मति प्रकट की है, वह द्रष्टव्य है। वे लिखते हैं, 'एक तो बात यह है कि *नोन (नमक) और पौन रोटी में जो 'कर' लिया जाता है, वह मुझको अच्छा नहीं मालूम होता, क्योंकि नोन के बिना दरिद्र का भी निर्वाह नहीं होता, किन्तु सबको नोन आवश्यक होता है। और वे मजूरी-मेहनत से जैसे-तैसे निर्वाह करते हैं। उनके ऊपर भी यह नोन का कर दण्ड तुल्य रहता है। गांजा, भांग इनके ऊपर दुगना-चौगुना कर स्थापन होय तो अच्छी बात है।....... लवण आदि के ऊपर' कर नहीं चाहिये। पौन रोटी से गरीब लोगों को बहुत क्लेश होता है, क्योंकि गरीब लोग कहीं से घास छेदन करके ले आवें वा लकड़ी का भार ले आवें तो उन पर कौड़ियों (कर) के लगाने से उनको अवश्य क्लेश होगा, इससे पौन रोटी का जो कर स्थापन करना सो भी हमारी समझ में अच्छा नहीं।'*

इसी प्रकार न्यायालय के अत्यधिक स्टाम्प-कर से निर्धन प्रजा को जो दुःख सहनकर न्याय से वंचित रहना पड़ता है, उसका भी उल्लेख महर्षि दयानन्दजी ने सत्यार्थप्रकाश में किया है। वे कहते हैं, *'सरकार कागद (स्टाम्प) बेचती है और बहुत-सा कागजों पर धन बढ़ा दिया है, इससे गरीब लोगों को बहुत क्लेश पहुँचता है। सो यह बात राज्य को करनी उचित नहीं, क्योंकि इसके होने से बहुत गरीब लोग दुःख पाके बैठे रहते हैं कचहरी में बिना धन के कोई बात नहीं होती, इससे कागजों (स्टाम्प) के ऊपर जो बहुत धन लगाना है, सो मुझको अच्छा मालूम नहीं होता। इसको छोड़ने से ही प्रजा में आनन्द होगा[३४]।'*

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्दजी और महात्मा फुलेजी की किसानों और गरीबों से हार्दिक सहानुभूति थी। जातिगत भेदभाव के भी वे कट्टर विरोधी थे। शूद्रातिशूद्रों और स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकार तो महर्षि ने वेदों की अन्तःसाक्षी के आधार पर ही प्रदान किया था। इसके प्रमाण स्वरूप उन्होंने यजुर्वेद के ३६वें अध्याय का दूसरा मन्त्र अपनी तार्किक व्याख्या के साथ 'सत्यार्थप्रकाश' में प्रस्तुत किया है। अतः स्पष्ट है कि महात्माजी के उपर्युक्त मराठी गद्यांश का स्वामीजी से कोई सम्बन्ध नहीं है। केवल वेद और स्वामी

३४. सत्यार्थप्रकाश-प्रथम संस्करण, पृष्ठ-३८४, ८५, ८७।

शब्द की निकटता मात्र से माननीय श्री य० दि० फड़के ने इस सारे गद्यांश या प्रसंग को असावधानीवश दयानन्दजी से जोड़ दिया है। स्वयं महात्मा फुलेजी को भी इस प्रसंग में महर्षि दयानन्दजी से कोई शिकायत नहीं है।

'महात्मा फुले समग्र वाङ्मय' में दूसरी छोटी गलती यह हो गई कि, परिशिष्ट क्रमांक-९, निवडक (आवश्यक) सन्दर्भ सूची, पृष्ठ क्रमांक ७९१, (अ) विषय-सूची के नीचे, क्रमांक तीन पर 'आर्यसमाज ३१२' लिखा है, जबकि ३१२ पृष्ठ पर समग्र वाङ्मय में आर्यसमाज के विषय में कुछ भी नहीं लिखा गया है, और न ही उस पृष्ठ पर आर्यसमाज विषयक कोई पादटिप्पणी है। लगता है ३७२ पृष्ठ के स्थान पर मुद्रण दोष से ३१२ छप गया है। *३७२ पृष्ठ पर 'महात्मा फुले समग्र वाङ्मय' में तात्या-यशवंत (पिता-पुत्र) के संवाद में आर्यसमाज का उल्लेख हुआ है, जिसमें फुलेजी ने व्यंग्यात्मक शैली में 'पण्डिता रमाबाई को ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज और आर्यसमाज की बड़ी बहिन' कहा है।* जबकि महर्षि दयानन्दजी के जीवनी विषयक तथ्यों के अन्वेषक बंगाली बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को अपने १३ नवम्बर १९०३ के पत्र में पण्डिता रमाबाई ने लिखा था, 'महर्षि दयानन्द सर्वभावेन दयास्वरूप थे। वे प्रांशु विशाल दर्शन भद्रपुरुष थे। उनका मेरे साथ व्यवहार कृपापूर्ण और पितृतुल्य था। उनकी शिक्षा अद्वैत वेदान्त से भिन्न थी और उस समय मैं केवल उसी बात में उनसे सहमत थी।''

महात्मा फुले समग्र वाङ्मय की पाद-टिप्पणी में तीसरी गलती यह हो गई है कि [स्वर्गीय] सम्पादक श्री य० दि० फड़केजी ने महर्षि के पुणे प्रवचनों में श्री लोकहितवादी की श्रोताओं में उपस्थिति बतलाई है, जबकि वे उन दिनों पुणे में नहीं थे। ७६८ पृष्ठ पर अपनी पाद-टिप्पणी में डॉ० फड़केजी लिखते हैं, 'श्रोताओं के बीच रानडे, लोकहितवादी गोपाल हरि देशमुख के साथ जोतीराव फुले उपस्थित रहते थे।' महर्षि दयानन्द और लोकहितवादी में हुए पत्र व्यवहार से इस बात की पुष्टि होती है कि लोकहितवादी उन दिनों पुणे में नहीं, अपितु अहमदाबाद में थे। इन तथ्यों के साथ यह आशा की जाती है कि महाराष्ट्र सरकार 'महात्मा फुले समग्र वाङ्मय' का जब अगला

संस्करण निकालेगी तो निर्दिष्ट त्रुटियों का निराकरण होगा।

महर्षि दयानन्द और महात्मा फुले नामक इस अध्ययन का उद्देश्य इन दोनों में से किसी एक को वरिष्ठ तथा दूसरे को कनिष्ठ बतलाना बिल्कुल भी नहीं है। अतीतकाल में हुए महापुरुषों की शक्ति और सीमा को जाने बगैर वर्तमान और भविष्य को संवारना असम्भव-सा है। अतः समकालीन महापुरुषों के तुलनात्मक अध्ययन की प्रक्रिया की यह एक छोटी-सी शुरुआत है, इतिश्री नहीं।

—'आर्य सेवक : शताब्दी स्मारिका' : संपादक-इंजीनियर आदित्यमुनि वानप्रस्थ : अक्तूबर २००३ से साभार।



(३)

महर्षि दयानन्द-दादासाहब खापर्डे शास्त्र-चर्चा

गणेश श्रीकृष्ण (उपाख्य दादासाहब) खापर्डेजी ने अपने और स्वामी दयानन्द विषयक संस्मरणात्मक प्रसङ्गों को अत्यन्त ही संक्षिप्त में लिपिबद्ध किया है। उनके सुपुत्र [काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भूतपूर्व मराठी प्राध्यापक (१९२९-१९५१) तथा अपने पिताश्री की जीवनी लेखक श्री बा० ग० खापर्डे (उपाख्य : अण्णासाहब खापर्डे)] ने पिताजी द्वारा सुनाये गए एतद् विषयक आत्मकथन को निम्नाङ्कित रूप में प्रस्तुत किया है—

"खुद दादासाहेबांच्या तोंडूनच आम्ही ही हकीकत ऐकली आहे आर्यसमाजाचे संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती हे एल्फिन्स्टन् कॉलेजात आले होते, आणि त्यांच्याशी सस्कृतात वाद-विवाद करायचा होता, तेव्हां तो कोण करावा हा मोठा घोळ पडला त्यामुळे त्यावेळी दादासाहेब आपण होऊन तो करावयाला पुढे झाले. डॉ० रा० गो० भांडारकरांनी विचारले तुला हे जमेल का ? दादासाहेबांनी सांगितले, 'तुम्हीं पाठीशी बसा, कांही ग्रंथाचा वगैरे आधार लागला तर तो सांगायला तुम्हीं पाहिजे' डॉ० भांडारकरांनी ते कबूल केले व त्या प्रमाणे ते पाठीशी बसलेले असतांना स्वामी दयानन्दा सारख्या तेजस्वी, बुद्धिमान् व विद्वान् व्यक्तीशी दादासाहेबांनी संस्कृतातून हा वाद-विवाद केला आणि 'सवधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' ह्या श्लोकावर स्वामींना पेचात आणले व वाद-विवाद संपला, उदार व थोर हृदयाच्या स्वामीजींनी ह्या हुशार व तरतरीत मुलाचे फार कौतुक केले व फार वाखाणणी केली[१]।"

अर्थात्—"स्वयं दादासाहब के श्रीमुख से ही हमने यह हकीकत

---

१. भारतीय इतिहास आणि संस्कृती (त्रैमासिक-एप्रिल ते जून १९७८, पुस्तक ५७, वर्ष १५) पृ० २२।

सुनी है—आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती एल्फिन्स्टन महाविद्यालय में पधारे थे और जब उनसे संस्कृत में वाद-विवाद करने का प्रश्न उठा था तो तब वह कौन करे, यह एक बहुत बड़ा संकट उत्पन्न हो गया था। उस समय दादासाहब अपने आप वह वाद-विवाद करने के लिए आगे बढ़े। वाद-विवाद आरम्भ होने से पूर्व डॉ० रामकृष्ण गोपाल भांडारकरजी ने पूछा—तुम यह [वाद-विवाद ठीक तौर से या समुचित ढंग से] कर पाओगे क्या? उस समय [गणेश श्रीकृष्ण खापर्डे] दादासाहब ने कहा आप पीछे बैठिए, कुछ [प्रमाण] ग्रन्थों की आवश्यकता प्रतीत हुई तो वे बतलाने किंवा प्रस्तुत करने के लिए आपकी उपस्थिति आवश्यक है। डॉ० भांडारकरजी ने स्वीकृति दे दी और तदनुसार जब भांडारकरजी वाद-विवाद के समय खापर्डे के पीछे आसीन हुए तब स्वामी दयानन्द जैसे तेजस्वी, बुद्धिमान् और विद्वान् व्यक्ति से दादासाहब ने संस्कृत में यह वाद-विवाद किया और 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'[1] इस श्लोक के प्रसङ्ग में स्वामीजी को उलझन में डाल दिया और [इसी के साथ यह] वाद-विवाद समाप्त हो गया। उदार व महद् अन्तःकरण के स्वामीजी ने इस बुद्धिमान व तेजस्वी छात्र का बहुत अधिक कुतूहल किया और अत्यधिक प्रशंसा की।''

श्री खापर्डे ने अपने पिताश्री दादासाहब खापर्डेजी से सम्बद्ध चरित्र लेखमाला १९७८ में प्रकाशित की, पर इससे पूर्व १९७२ में प्रकाशित 'विश्रब्ध शारदा' नामक विशालकाय सन्दर्भ ग्रन्थ में इस घटना का इसी प्रकार अत्यन्त संक्षिप्त रूप में श्री गं० दे० खानोलकर ने परिचय प्रस्तुत किया है। वहाँ पर इस वाद-विवाद से सम्बद्ध जो नयी जानकारी मिलती है वह इतनी ही कि 'वाद-विवाद के लिए खापर्डेजी का चुनाव सर्वसम्मति से किया गया था और इस वाद-विवाद की सम्पन्नता के साथ ही खापर्डेजी की कीर्ति समस्त मुम्बई शहर में फैल गई थी।' श्री० गं० दे० खानोलकर का मूलाधार दादासाहब खापर्डे के ज्येष्ठ पुत्र एडवोकेट बालकृष्ण गणेश [उपाख्य अण्णा साहब] खापर्डे द्वारा लिखी सन् १९६२ में 'श्री दादासाहब खापर्डे यांचे चरित्र' नाम से प्रकाशित जीवनी है।

मराठी ग्रन्थ 'महाराष्ट्राची कालमुद्रा' में श्री मधुकर विष्णु सोवनी

१. श्रीमद् भगवद्गीता १८।६६।

ने लिखा है "आर्यसमाजाचे संस्थापक महर्षि दयानन्द हे वऱ्हाडच्या दौऱ्यात असतांना दादासाहेबांनी त्यांच्याशी संस्कृत मध्येच वाद-विवाद केला होता[1]" अर्थात्—"आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द जब विदर्भ के दौरे पर आए तो दादासाहब (खापर्डे) ने उनसे संस्कृत में वाद-विवाद किया था।"

श्री सोवनी ने दादासाहब की कर्मभूमि विदर्भ होने से यह कल्पना कर ली है कि—स्वामी दयानन्द खापर्डे का यह वाद-विवाद विदर्भ में हुआ होगा, पर यथार्थ यह है कि अपने *व्यस्त पुरोगम के कारण स्वामी दयानन्द विदर्भ की धरती पर कभी कदम भी नहीं रख सके,* वस्तुतः यह वाद-विवाद विदर्भ में तो कदापि संभव नहीं, यदि हुआ भी होगा तो मुम्बई में ही हुआ होगा।

दादासाहब खापर्डेजी के विद्वान् सुपुत्र अण्णासाहब खापर्डे द्वारा उद्धृत आत्मकथन को यदि प्रामाणिक भी मान लिया जाय, तो भी महर्षि दयानन्द सरस्वती की शास्त्रार्थ प्रणाली का सूक्ष्म अवलोकन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि—स्वामी दयानन्द एल्फिन्स्टन महाविद्यालय में पधारे थे और उनका गणेश श्रीकृष्ण खापर्डे से तथाकथित वाद-विवाद भी हुआ होगा, पर यह वाद-विवाद महर्षि के सुप्रसिद्ध काशी शास्त्रार्थ जैसे शास्त्रार्थों की कोटि में नहीं आता, क्योंकि इस वाद-विवाद का आयोजन पूर्व सूचना या विज्ञापन द्वारा नहीं हुआ था और दयानन्दजी ने गीता को कभी प्रमुख प्रमाण ग्रन्थ नहीं माना। उनके लिये तो वेद और वेदानुकूल गीता के अंश ही प्रामाणिक थे। इस सन्दर्भ में यहाँ यह कहा जा सकेगा कि स्वामीजी [वेद] शास्त्र प्रामाण्यवादी पहले और बुद्धि प्रामाण्यवादी बाद में थे। इसके साथ ही स्वामी दयानन्दजी के सन्दर्भ में इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि उनमें [वेद] शास्त्र को बुद्धि या तर्क की कसौटी पर और बुद्धि और तर्क को [वेद] शास्त्र की कसौटी पर कसने का अद्भुत सामर्थ्य था। हमारी दृष्टि से दयानन्द द्वारा एल्फिन्स्टन महाविद्यालय के नवयुवक छात्र खापर्डे से किया गया वाद-विवाद केवल माता-पिता या आचार्य की वत्स को प्रोत्साहित करनेवाली

---

१. महाराष्ट्राची कालमुद्रा, लेख—'वऱ्हाडचे नवाब दादासाहेब खापर्डे यांचे निधन, १ जुलै १९३८', पृष्ठ ३१७।

कौतूहलात्मक प्रवृत्ति का ही द्योतक है। जहाँ तक स्वामीजी को खापर्डेजी द्वारा उलझन में डालने का प्रश्न है, वह भी संदिग्ध ही है। क्योंकि वाद-विवाद में सम्पन्न प्रश्नोत्तर का क्रम क्या रहा, जब तक इसका प्रामाणिक विवरण नहीं मिलता, या जब तक श्री खापर्डे ने महर्षि के सामने अपनी कौन-सी उलझन उनको उलझाने, या उनसे सुलझाने के लिए प्रस्तुत की इसका विवरण नहीं मिलता, तब तक इस सन्दर्भ में स्पष्ट रूप से कुछ भी कहना कठिन ही है। पुनरपि जहाँ तक स्वामी दयानन्दजी को गीता के प्रस्तुत श्लोक पर उलझन में डालने का उल्लेख है, वह भी यथार्थ पर आधारित नहीं लगता, क्योंकि इस घटना से लगभग चार वर्ष पूर्व स्वामीजी प्रस्तुत श्लोक विषयक शंका का समाधान अपनी मिर्जापुर यात्रा के प्रसङ्ग में कर चुके थे।

महर्षि दयानन्द सरस्वती की जीवनी का अन्वेषण करने वाले श्रद्धेय रक्तसाक्षी पं० लेखरामजी ने एतद्विषयक मिर्जापुर की घटना का वर्णन निम्न प्रकार किया है—

"[मिर्जापुर में] रामगोपाल वैश्य ने जो वेदान्ती था, बहुत-सी टीकाएँ गीता की देखीं, परन्तु एक श्लोक के विषय में जो उसका सन्देह था, वह दूर न हुआ। अन्त में वह एक दिन हमको [विद्वान् पं० मोतीरामजी गौड को] साथ लेकर स्वामीजी के पास गया और उनसे कहा कि आपसे कुछ पूछना है? उन्होंने आज्ञा दी तब यह श्लोक पूछा—'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'। स्वामीजी ने कहा कि—'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्'[1] इस वार्तिक से वकार के आगे (परे जो) अकार रहा उसको तद्रूप हो गया, अर्थात् वह शब्द धर्म ही रहा, परन्तु वास्तव में अधर्म है, अर्थ अधर्म [ही] होगा। जिससे वह बहुत प्रसन्न हुआ और (उसने) फिर पूछा कि कोई प्रमाण भी है? स्वामीजी ने ऋग्वेद की दो-तीन श्रुतियों के प्रमाण भी दिए।"[2]

उपरोक्त आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत श्लोक

---

१. द्र०—एङि पररूपम् (६।१।९४) का महाभाष्य।
२. महर्षि दयानन्द सरस्वती, जीवन चरित्र, संग्राहक-पं० लेखराम [उपशीर्षक-मिर्जापुर की घटनायें] पृष्ठ २०८।

वाद-विवाद में स्वामीजी के लिए कदापि उलझन नहीं बन सकता था। इस वाद-विवाद के सन्दर्भ में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि दयानन्दजी तत् तत् क्षेत्रीय प्रमुख व्यक्ति से ही शास्त्रार्थ किया करते थे। बालकों से नहीं। शास्त्रोक्त उत्तर तो वे शास्त्रज्ञों को ही देना पसन्द करते थे। जय-पराजय की परीक्षा या शास्त्रार्थ ही करना होता तो वे श्री खापर्डे के गुरु प्रा० रामकृष्ण गोपाल भांडारकरजी के साथ करते। सम्भवतः मुम्बई-पुणे के सन्दर्भ में ही महर्षि ने लिखा है—*'यहाँ के लोग पीठ पीछे तो बहुत बोलते हैं, पर मैदान में सामना करने कोई नहीं आता।'* महर्षि दयानन्द के शब्दों में—*'यहाँ के पण्डित लोग सामने तो कभी नहीं आये, किन्तु दूर से बड़-बड़ किया और करते भी हैं सो जानना*[१]। १० अगस्त १८७५ को पुणे से गोपाल हरि देशमुख को लिखे पत्र से यह पत्रांश उद्धृत किया गया है। फिर भी हमारी यह धारणा नहीं है कि स्वामी दयानन्द और श्री खापर्डे के बीच वाद-विवाद हुआ ही नहीं, पर यह वाद-विवाद उस कोटि का नहीं, जिसे हम शास्त्रार्थ कहते हैं।

स्वामी दयानन्द से तथाकथित वाद-विवाद कर्त्ता दादासाहब खापर्डे १८७३ से १८८३ तक, पूर्ण दस वर्ष की अवधि से भी अधिक मुम्बई के एल्फिन्स्टन महाविद्यालय से छात्र के रूप में सम्बद्ध रहे थे। यहीं पर उन्होंने कनिष्ठ-वरिष्ठ महाविद्यालय की फेलोशिप वृत्ति प्राप्त करते हुए बी० ए० और एल० एल० बी० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण की थीं। दयानन्दजी ने लगभग इसी काल में अर्थात् १८७४ से १८८२ की कालावधि में मुम्बई की अपनी समस्त [पाँच] दिग्विजय यात्राएँ सम्पन्न की थीं। आर्यसमाज के इतिहास लेखक डॉ० श्री सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार प्रथम मुम्बई यात्रा काल के नवम्बर १८७४ में महर्षि और [गणेश श्रीकृष्ण खापर्डे के संस्कृत प्राध्यापक] डॉ० रा० गो० भांडारकर में विचार-विनिमय हुआ था[२]। यह वही काल है जब खापर्डे एल्फिन्स्टन महाविद्यालय के केवल विद्यार्थी ही नहीं थे, अपितु एल्फिन्स्टन छात्रावास में ही उनका

---

१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, प्रथम भाग, सम्पदाक-भगवद्दत्त बी० ए० पृष्ठ ६०।

२. आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ २५३।

निवास स्थान भी था। श्री गणेश खापर्डे डॉ० भांडारकर के अत्यधिक प्रिय शिष्य थे। खापर्डेजी के ज्ञान, गुण, कार्यकुशलता और प्रवीणता पर उन्हें अत्यन्त विश्वास था। महाविद्यालय में कुछ काम कराना होता, तो वे वह काम श्री खापर्डे को ही बतलाते थे। अपने पुत्र श्रीधर रामकृष्ण भांडारकर को संस्कृत पढ़ाने का उत्तरदायित्त्व भी उन्होंने श्री खापर्डे को ही सौंपा था[१]।

सुप्रसिद्ध चरित्रकार और विख्यात वाङ्मय सेवक श्री गंगाधर देवराव खानोलकर (१९०३-१९९२) के अनुसार 'स्वामी दयानन्द सरस्वती के एल्फिन्स्टन महाविद्यालय में पधारने पर उनसे वाद-विवाद करने के लिए श्री खापर्डेजी का ही सर्वसम्मति से चयन किया गया था'[२] इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि—श्री खापर्डे स्वामीजी से वाद-विवाद करने के लिए स्वयं [स्फूर्ति से] अग्रसर नहीं हुए, जैसा कि श्री अण्णासाहब खापर्डे ने अपने पिताश्री दादासाहब खापर्डे के आत्मकथन को उद्धृत करते हुए लिखा है। परन्तु उनके संस्कृत प्राध्यापक भांडारकरजी ने ऐसा कुछ वातावरण तैयार किया होगा, जिससे प्रेरित या बाध्य होकर श्री खापर्डे वाद-विवाद के लिए अग्रसर हुए होंगे। पुनरपि हमारी दृष्टि से यह वाद-विवाद पूर्वनिर्धारित न होने के कारण जय-पराजय की दृष्टि से इस पर विचार करना अनौचित्यपूर्ण व अप्रासङ्गिक है।

डॉ० भवानीलाल भारतीय के शब्दों में—"विदित होता है कि स्वामी दयानन्द किसी समय एल्फिन्स्टन कॉलेज गए थे और वहाँ के छात्र श्री खापर्डे ने उनसे संस्कृत में वाद किया था। अब यह पता लगाना चाहिए कि महाराज किस तारीख को उक्त कॉलेज गए थे[३]।" श्री खापर्डे के गुरु प्रा० भांडारकर और स्वामी दयानन्द का वेदविषयक विचार-विनिमय नवम्बर १८७४ में[४] दयानन्दजी के निवास-स्थान

---

१. भारतीय इतिहास आणि संस्कृती, जानेवारी १९७७, पृ० ६६।
२. विश्रब्ध शारदा, गं० दे० खानोलकर, पृ० १०८।
३. वेदवाणी, सितम्बर १९८९, पृ० १६।
४. इस विचार-विनिमय के अवसर पर डॉ० भांडारकर के साथ विष्णु परशुराम शास्त्री भी थे। पं० देवेन्द्रनाथ संगृहीत महर्षि दयानन्द सरस्वती जीवन चरित (पृष्ठ २८९) के अनुसार यह विचार विनिमय १३ नवम्बर १८७४ के पूर्व ही हुआ होगा।

पर ही हुआ था। अत:एव हमारा अनुमान है कि यह वाद-विवाद भी स्वामी दयानन्दजी की प्रथम मुम्बई यात्रा काल में १ नवम्बर १८७४ से ६ दिसम्बर १८७४ के मध्य कभी हुआ होगा। इसी कालावधि में दयानन्दजी मुम्बई के एल्फिन्स्टन महाविद्यालय में विशिष्ट वक्ता के रूप में निमन्त्रित किये गए होंगे। और यह निमन्त्रण भी उन्हें एल्फिन्स्टन शिक्षण संस्था से लगभग २१ वर्ष से क्रमश: छात्र और प्राध्यापक के रूप में जुड़े तथा स्वामी दयानन्द से वेदविषयक वार्त्तालाप करने के लिए उनके निवास-स्थान पर पधारे प्रा० रा० गो० भांडारकरजी द्वारा ही वार्त्तालाप के उपरान्त दिया गया होगा। इस समय एल्फिन्स्टन महाविद्यालय के प्राचार्य चटफील्ड थे, और एल्फिन्स्टन हाईस्कूल के प्राचार्य जेफर्सन थे।

जिस समय महर्षि दयानन्द एल्फिन्स्टन कॉलेज में पधारे, उस समय एल्फिन्स्टन शिक्षण संस्था में श्री गणेश श्रीकृष्ण खापर्डे के अतिरिक्त सर्वश्री सिद्धेश्वर भास्कर गोळे, रङ्गराव (रङ्गनाथ) नरसिंह उपाख्य तात्यासाहेब मुधोळकर (रावबहादुर, काँग्रेस के सभापति, व सी० पी० कौंसिल के पहले अध्यक्ष), गङ्गाधर पन्त भडभडे, भान्युबाराजे, तात्यासाहेब नूलकर[1] नारायण गणेश चन्दावरकर (सर व हाईकोर्ट के न्यायाधीश), मनोहर विष्णु पन्त काथवटे (राव साहब), विष्णुपन्त भाटवडेकर, दयाराम गिडूमल, रघुनाथ व्यंकाजी सबनीस, नाडकर्णी[2], केशव मोरेश्वर वीरकर, गोविन्द वासुदेव [कानिटकर], रामदास छबीलदास लल्लूभाई, धनवंत त्रिभुवनराम, नारुशंकर केशवराम (सभी एल्फिन्स्टन महाविद्यालय के छात्र) कानजी भगवान्जी, तुलजाराम चुन्नीलाल, दलपतराम भोपालदास (सभी एल्फिन्स्टन हाईस्कूल के छात्र) आदि विद्यार्थी एल्फिन्स्टन शिक्षण संस्था में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। इनमें से श्री खापर्डेजी तथा अन्तिम आठ छात्र स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्यसमाज मुम्बई के सभासद भी बने[3]। श्री भास्कर गोविन्द नाडकर्णी का नाम भी मुम्बई आर्यसमाज

---

१. श्रीमती काशीबाई कानिटकर, आत्म चरित्र आणि चरित्र, सरोजिनी वैद्य, पृष्ठ ७२।
२. भारतीय इतिहास आणि संस्कृती, जानेवारी १९७७, पृष्ठ ६२।
३. आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, सत्यकेतु विद्यालंकार पृष्ठ २६१-२६३।

के सभासदों में पाया जाता है, सम्भव है नाडकर्णी नामक छात्र उक्त नाडकर्णी के पारिवारिक सदस्य रहे हों।

श्री सबनीस [रघुनाथ व्यंकाजी] मुम्बई विद्यापीठ के स्नातक थे, सम्भव है ये भी एल्फिन्स्टन महाविद्यालय के विद्यार्थी रहे हों। १८७९ से १८९२ तक आप मुम्बई सरकार के शिक्षा विभाग में नौकरी कर रहे थे। इससे पूर्व आप सरकारी माध्यमिक विद्यालय 'ठाणे' में मुख्याध्यापक थे। आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द और उनके कार्य के प्रति आपकी अतिशय श्रद्धा थी। सम्भव है निश्चित रूप से इन्हें दयानन्दजी के मुम्बई निवास काल में एकाधिक बार उनके दर्शन, श्रवण और अन्तेवासी होने का भी सौभाग्य मिला होगा। ये दलित समाज के सच्चे सहयोगी, गम्भीर सत्यनिष्ठ, स्नेहिल व्यक्ति थे। संस्कृत और अंग्रेजी भाषा पर आपका अच्छा अधिकार था। १८९३ में मुम्बई सरकार ने राजर्षि शाहू महाराज के शिक्षक-राजगुरु के रूप में आपकी नियुक्ति की थी। कालान्तर में आप कोल्हापुर नरेश के दीवान भी बने। धनञ्जय कीर जैसे सुप्रसिद्ध मराठी चरित्र लेखकों ने यह अनुमान लगाया है कि—*'शाहू महाराज को [सर्वप्रथम] आर्यसमाज की ओर उन्मुख करने की पृष्ठ भूमि में कुछ अंशों तक दीवान सबनीस ही रहे होंगे, क्योंकि वे दयानन्द सरस्वती के महद् भक्त थे[1]।'*

इन तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आर्यसमाज की स्थापना से लगभग चार-पाँच मास पूर्व स्वामी दयानन्दजी एल्फिन्स्टन महाविद्यालय में नवम्बर १८७४ में पधारे थे और *उनके प्रवचन तथा श्री खापर्डे के साथ सम्पन्न वाद-विवाद का इतना अधिक प्रभाव विद्यार्थियों पर रहा कि वाद-विवाद कर्त्ता श्री खापर्डे ही नहीं, अपितु एल्फिन्स्टन महाविद्यालय के अन्य ९-१० छात्र भी श्री महर्षि दयानन्द द्वारा स्थापित मुम्बई आर्यसमाज के यथाविधि सभासद बने थे।*

श्री गणेश श्रीकृष्ण खापर्डे द्वारा इस वाद-विवाद के बाद मुम्बई आर्यसमाज का सभासदत्त्व स्वीकार करना इस बात का द्योतक है कि वे स्वामी दयानन्द की विद्वत्ता और व्यक्तित्त्व से अत्यन्त ही प्रभावित थे।

१. राजर्षि शाहू छत्रपती, पृष्ठ ३२२।

स्वामी दयानन्दजी के बलिदान के ठीक दस वर्ष बाद १८९३ की दीपावली पर गणेश श्रीकृष्ण खापर्डे उपाख्य दादासाहब खापर्डे (तत्कालीन विदर्भ-मध्य प्रान्तीय परिषद् के सभापति) द्वारा ६-११-१८९३ को केसरी दैनिक में अंकित की गई श्रद्धांजलि उनकी स्वामी दयानन्द विषयक आस्था को और भी अधिक मुखरित करती है। उनके द्वारा शब्दांकित की गई श्रद्धांजलि निम्न प्रकार है—

"महर्षि दयानन्दांनी कोणते ही नवीन मत न स्थापितां प्राचीनतेचे पुनरुज्जीवन करण्याचा विडा उचलला होता, हे कार्य स्वामींनी अति उत्तम रीतिने पूर्ण केले। देवालयात दडून ठेविलेले वेद भण्डार स्वामींनी सर्व मनुष्य मात्रांना खुले केलें। स्वामी दयानन्दांनी हिंदु धर्माचे झाड मोठ्या योग्यतेने कलम करून अधिक फलदायक केले। मी आपली भक्ति-पुष्पाञ्जली त्या महान् दार्शनिक, महान् संन्यासी, तसेच विचार शक्ति व देशभक्तिचे पूजनीय आचार्य जे दयानन्द सरस्वती त्यांचे चरणी अर्पण करतो[1]।"

अर्थात्—"महर्षि दयानन्द ने किसी भी नये मत की स्थापना करने का नहीं, अपितु प्राचीन [वेदमत] का ही पुनरुज्जीवन करने का बीडा उठाया था, यह कार्य स्वामीजी ने अत्युत्तम रीति से पूर्ण किया। स्वामीजी ने मन्दिरों में दबा-छिपाकर रखे गए वेद भंडार समस्त मानव मात्र के लिए खुले कर दिए। स्वामी दयानन्द ने हिन्दू धर्म के वृक्ष को भी महद्-योग्यता से [कांट-छांट] कलम करके उसे और भी अधिक फलदायक बनाया। उस महान् दार्शनिक, महान् संन्यासी, तद्वत् महान् वैचारिक क्षमता रखने वाले देशभक्ति के पूजनीय आचार्य दयानन्द सरस्वतीजी के चरणों में मैं अपनी भक्ति भावपूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।"

इस प्रकार हमने श्री खापर्डे से सम्बद्ध उद्धरणों से स्वामी दयानन्द के एल्फिन्स्टन महाविद्यालय जाने और उनके पिताश्री दादासाहेब खापर्डे से वाद-विवाद करने के विषय में हमें जो भी सन्दर्भ मिले हैं वे या उन्हें उजागर करने वाले अन्य सन्दर्भों को इस 'दयानन्द-खापर्डे : शास्त्र चर्चा' लेख में प्रस्तुत किया है। हमारी दृष्टि से प्रस्तुत वाद-विवाद शास्त्रार्थ की कोटि में नहीं आता। अतः इस वाद-विवाद को

१. लोकमान्यांचे बोल, सद्धर्म प्रचारक ग्रन्थमाला, पुष्प २, पृष्ठ ४।

शास्त्रार्थ कहने की अपेक्षा 'महर्षि दयानन्द-दादासाहब खापर्डे : शास्त्र चर्चा' कहना ही अधिक ठीक होगा।

[प्रस्तुत लेख हेतु सौजन्यतापूर्वक पूरक सामग्री प्रदानकर्ता अग्रिम व्यक्तियों एवं ग्रन्थालयों का मैं हार्दिक कृतज्ञ हूँ—१. स्वर्गीय हरि सखाराम तुंगार, नांदेड. २. डॉ० सीताराम नारायण जोशी, संस्कृत विभागाध्यक्ष, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस महाविद्यालय, नांदेड, ३. श्री माणिकरावजी टोंपे, आर्यसमाज के पास, उदगीर ४१३५१७, ४. नेताजी सुभाषचन्द्र बोस महाविद्यालयीन ग्रन्थालय, नांदेड, ५. हुतात्मा पानसरे स्मारक ग्रन्थालय पीपल्स महाविद्यालय, नांदेड, ६. श्यामलाल स्मारक आर्य शिक्षण संस्था, सार्वजनिक वाचनालय, उदगीर ४१३५१७।]

—वेदवाणी : मासिक : जनवरी १९९० से साभार।



(३)

महर्षि दयानन्द सरस्वती और फादर नेहेम्या गोरे

फादर गोरे : संक्षिप्त परिचय—

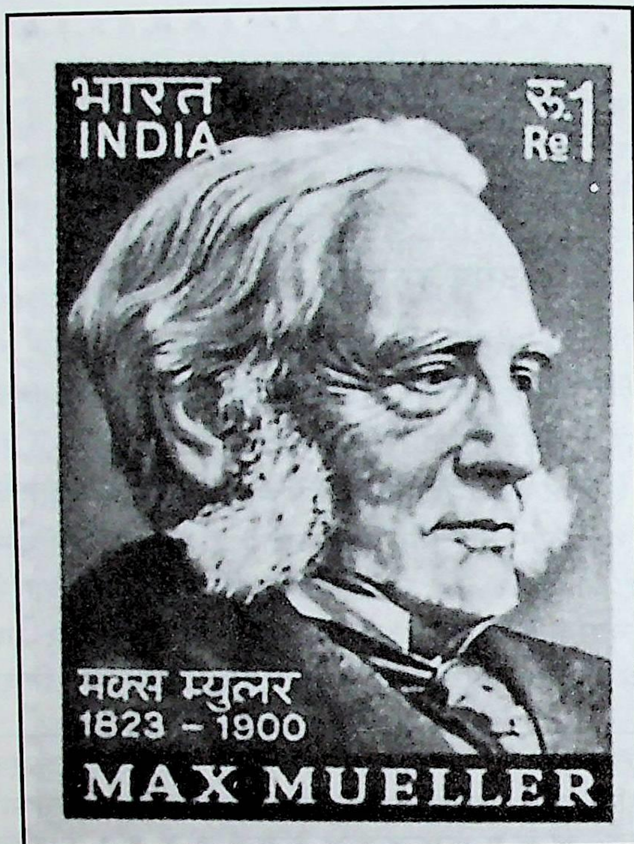
पं० नीलकण्ठ शास्त्री गोरे ईसाई मत ग्रहण कर चुकने के बाद फादर नेहेम्या[१] गोरे के नाम से प्रसिद्ध हुए।

सन् १८७४-७५ में आपकी स्वामी दयानन्द सरस्वती से शास्त्र-चर्चा हुई थी, आपका जन्म ८ फरवरी १८२५ ईस्वी में बुन्देलखण्ड अंचल में झाँसी से ५० मील की दूरी पर, पूर्व दिशा में स्थित, काशीपुर नामक गाँव में हुआ था। यह परिवार मूलतः महाराष्ट्रीय कोकणस्थ ब्राह्मण परिवार था[२]। इनके पूर्वजों का मूल निवास स्थान

---

१. बाइबिल (पुराने नियम) के १४वें परिच्छेद में नेहेमिया नामक एक सन्त का उल्लेख मिलता है। जिसने जले हुए जेरुसलम को फिर से बसाया था। इन्हीं के वंशज चर्च के पुजारी बनते थे। डेनियल जोन्स द्वारा सम्पादित 'इंग्लिश प्रोनाउसिंग डिक्शनरी' के अनुसार नेहेम्या के तीन मानक उच्चारण हैं— नीइमाय्, नीहिमाय्, नीहमाय्। मराठी के तीन सुप्रसिद्ध लेखकों ने इस नाम का उल्लेख तीन अलग-अलग प्रकार से किया है। नेहम्या (गोविन्द तलवलकर), नहेम्या (सरोजिनी वैद्य), नेहमिया (वि० ग० कानिटकर)। पर हमने श्री गोरे द्वारा लिखित और उनके जीवनकाल में ही प्रकाशित 'तुकारामाचे धर्माविषयी ज्ञान' (१८९२) के अनुसार लेख में सर्वत्र 'नेहेम्या' का ही प्रयोग किया है।

२. स्वयं फादर गोरे ने लिखा है—'पुणे शहर तो मुझे अपना निजी घर ही प्रतीत होता है। यहाँ मेरे प्रपितामह रहते थे और इसी शहर में मेरे पिताजी का जन्म हुआ था, और जब वे छोटे थे तब उनके पिताजी अर्थात् मेरे पितामह उन्हें उत्तर भारत ले आए थे। पुणे के कोकणस्थ ब्राह्मणों और पेशवों के समान हमारे पूर्वज भी शुरुआत में कोकण से यहाँ आए थे'—नेहेम्या गोरे द्वारा सन् १८७५ में पुणे से लन्दन भेजे गए एक पत्र का अंश। सन्दर्भ-रेवरेंड नेहम्या गोरे यांचे संक्षिप्त चरित्र (१८९६), निर्णय सागर मुद्रणालय : पृष्ठ ३।



मैक्समूलर : "यदि आप यहाँ जर्मनी आवें तो बड़ी कृपा होगी और वहाँ के धन्य भाग हैं, जहाँ आपने जन्म लिया है ।"

महर्षि : "मोक्षमूलर ! मेरी आने की इच्छा अवश्य थी । परन्तु यहाँ के लोग मुझे अभी नास्तिक कहते हैं । जब तक मैं इस देश को अच्छी प्रकार न बतला दूँ कि कैसा नास्तिक हूँ, तब तक नहीं आ सकता ।"

(जब मैक्समूलर की चिट्ठी मुंबई आई थी, तब वहाँ के भाटियों ने अपने जहाज पर ले जाने का वचन भी दिया था, परन्तु महर्षि स्वयं नहीं गए ।)



पं० नीलकंठ शास्त्री गोरे
(फादर नेहेम्या गोरे)

'रत्नागिरी' जनपदान्तर्गत राजापुर तहसील में खेड़ नामक गाँव है[३]। सन् १८३७ में १२ वर्षीय नीलकण्ठ गोरे का विवाह बनारस की सहस्त्रबुद्धे की पार्वती नामक षट्वर्षीय कन्या के साथ सम्पन्न हुआ, पर जल्दी ही उनकी पत्नी का देहान्त हो गया। १८४४ में उन्होंने लक्ष्मीबाई जोगळेकर नामक सप्तवर्षीय कन्या के साथ पुनर्विवाह किया[४]। जो भारतीय कर्मठ ब्राह्मण विद्वान् ईसाई बने, उनमें सम्भवतः आपका सर्वप्रथम स्थान है[५]। १४ मार्च १८४८ को आपने रेवरण्ड रॉबर्ट हाज से ईसाई मत की दीक्षा ग्रहण की थी[६]। ईसाइयों से शास्त्रार्थ में पराजित होने के बाद आप ईसाई बने थे[७]। सर्वप्रथम श्रीरामपुर के मिशनरियों से उनका धार्मिक वाद-विवाद हुआ था। उस समय उनकी यह सुनिश्चित धारणा थी कि वैदिक तत्त्वज्ञान की तुलना में ईसाई मत की तात्त्विक बातें केवल बचपना हैं[८]। १ दिसम्बर १८५३ को श्री गोरे की धर्मपत्नी व कन्या एलन लक्ष्मी ने भी ईसाई मत की दीक्षा ग्रहण की। लगभग इससे आठ महिने पूर्व पंजाब के महाराजा दिलीपसिंह, जिनका पालन-पोषण ईस्ट इण्डिया कम्पनी करती थी, ने ३ मार्च १८५३ को ईसाइयत को स्वीकार कर लिया था। १९ अप्रैल १८५४ को नेहेम्या गोरे महाराजा दिलीपसिंह के शिक्षक व दुभाषिए के रूप में विलायत गए। इसी समय उनकी भेंट महारानी विक्टोरिया, प्रिंस अल्बर्ट और प्रख्यात विद्वान् मैक्समूलर से हुई। विलायत में महाराज के परिवार के साथ और अधिक रहना

---

३. रेवरेण्ड नेहम्या गोरे यांचे संक्षिप्त चरित्र, (१८९६) प्रकाशक—मुम्बई उमरखाडी यहूदा समाज—पृष्ठ ३।
४. सुवृत्त प्रसार—मराठी मासिक अगस्त १९६३, लेख—रेवरेण्ड फादर नेहम्या तथा नीलकण्ठ शास्त्री गोरे। लेखक—भास्कर सदानन्द जाधव।
५. 'होरपळ' (फादर गोरे के प्रारम्भिक ३२ वर्षीय जीवन पर आधारित वि० ग० कानिटकर लिखित एक मराठी उपन्यास) का अन्तिम परिशिष्ट—इस कादम्बरी के विषय में—पृष्ठ २२८।
६. प्रतिष्ठान (मराठवाडा साहित्य परिषद् का मराठी मासिक पत्र—मार्च १९७४ पृष्ठ ३।
७. निर्णय के तट पर : द्वितीय भाग : अमर स्वामी सरस्वती : पृष्ठ २२०।
८. संक्रमण : सरोजिनि वैद्य [लेख : एक सामाजिक शोकनाट्याची नायिका : पण्डिता रमाबाई सरस्वती मेधावी डोंगरे] पृ० ४८।

उन्हें उचित प्रतीत नहीं हुआ। वे १६ नवम्बर १८५५ को भारत वापिस आ गए तथा काशी जाने से पूर्व उन्होंने मुम्बई, पुणे और अहमदनगर में कुछ समय तक निवास किया। इसी समय पुणे में निबन्धमालाकार विष्णु शास्त्री चिपळूणकर के पिता कृष्ण शास्त्री चिपळूणकर से धर्म विषय पर उनका वाद-विवाद हुआ। इस वाद-विवाद के विषय में संक्षिप्त जानकारी देते हुए कृष्ण शास्त्री चिपळूणकर ने लिखा है कि—"काशी निवासी ईसाई श्री नेहेम्या गोरे एक असामान्य व्यक्ति हैं। जोकि बहुत बड़े विद्वान् मर्मज्ञ और अन्वेषक हैं.....पर आश्चर्य इस बात का है कि ईसाइयों के सम्प्रदाय में यह सुप्रसिद्ध व्यक्ति आखिर कैसे फँस गया[१] ?"

स्वामी वेदानन्द तीर्थ (१८९२-१९५६) की गवेषणापूर्ण जीवनी लेखक श्री आचार्य सत्यानन्द शास्त्री एम० ए० (अमरीका) ने पं० नीलकंठ शास्त्री के ईसाई होने की व्यथा का वर्णन इस प्रकार किया है—

"एक दिन पण्डित नीलकण्ठ शास्त्री तीव्रगति से अपनी पीठिका की ओर जा रहे थे। रास्ते में उन्हें एक परिचित भंगी और उनकी पत्नी सड़क की सफाई करते हुए दिखाई पड़े। उनका नन्हा बच्चा पास खड़ा चीख-पुकार कर रहा था। थोड़ी देर बाद वहाँ भगदड़ मच गई। एक इक्के का घोड़ा काबू के बाहर हो बेतहाशा दौड़ने लगा। इक्केवाले ने शोर मचाया—"बचो-बचो, घोड़ा काबू से बाहर हो गया है।" सहमे हुए लोग रास्ता छोड़ सड़क के किनारे हो गए। काबू से बाहर घोड़ा सरपट दौड़ता आगे ही आगे बढ़ा चला आ रहा था। इक्केवाला बागें खैंच रोकने की सरतोड़ कोशिश कर रहा था। घोड़ा रुकता ही न था, दौड़ता ही चला आ रहा था। भंगी का नन्हा मासूम बच्चा भी माँ-बाप को पास न पा रोता हुआ सरकता-सरकता उस समय सड़क के ऐन बीच आ खड़ा हुआ। पास से गुजर रहे पं० नीलकण्ठ शास्त्री को लगा कि बच्चा घोड़े के पैरों तले कुचला जाएगा। उनके मन में दया आई। आगे बढ़कर उन्होंने बच्चे को उठाना चाहा, किन्तु अन्त्यज भंगी के बच्चे को छूने से धर्मभ्रष्ट होने के भय से हिचकिचा

१. कृष्ण शास्त्री चिपळूणकर द्वारा अंग्रेजी से मराठी में अनूदित—'अरेबियन नाइट' ग्रन्थ का प्राक्कथन।

पीछे हट गए। उनके मन में पुनः दया ने जोर मारा। वे कभी बच्चे को उठाने के लिए आगे बढ़ते और फिर पातक लग जाने के डर से घबराकर पीछे हट जाते। धर्मसंकट में पड़ी बुद्धि निश्चय न कर पा रही थी। इतने में काबू से बाहर हुआ सरपट दौड़ता घोड़ा बच्चे के बिल्कुल समीप आ पहुँचा। दयाभाव से प्रेरित पं० नीलकण्ठ शास्त्री बच्चे को उठाऊँ या न उठाऊँ, इस दुविधा में अभी उलझे हुए थे। इससे पहले कि घोड़ा आगे बढ़ बच्चे को पैरों तले रौंद देता, सड़क की दूसरी ओर से दयाद्रवित एक पादरी आगे बढ़ा। झपट्टा मार उसने बच्चे को अपनी ओर खैंच लिया। बच्चा और भी अधिक चीखो-पुकार करने लगा। घोड़ा तांगा आनन-फानन उनके सामने से होकर गुजर गया। बच्चे को सही सलामत देख पं० नीलकण्ठ शास्त्री बहुत प्रसन्न हुए। किन्तु उनकी यह प्रसन्नता अधिक समय तक स्थिर न रह सकी। शीघ्र ही उन्हें आत्मग्लानि ने आ दबाया। उन्हें लगा कि वे अपना कर्त्तव्य निभा नहीं पाए। बच्चे को बचाने के लिए बार-बार मन में उठी सच्ची धर्मभावना को अपनी झूठी धर्मभीरूता के कारण तिरस्कृत कर उन्होंने घोर पाप किया है। पश्चात्ताप के कारण रात भर उन्हें नींद नहीं आई। इसी उधेड़-बुन में वे सारी रात लगे रहे कि इस पाप का कैसे प्रायश्चित् किया जाए। सबेरा होते ही वे बिस्तर से उठे। नहा-धो सीधे गिरजाघर पहुँचे और वहाँ पादरी से बत्ति स्मा ले ईसाई बन गए। दिल में बैठे पाप-ताप से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने जो पहला काम किया वह सुललित सुबोध संस्कृत में पवित्र बाइबल का अनुवाद था। पं० नीलकण्ठ शास्त्री द्वारा अनूदित बाइबल का यह संस्कृत संस्करण जब छपकर दुनिया के सामने आया तो आधुनिक संस्कृत साहित्य की उत्कृष्टतम कृति के रूप में सर्वत्र अभिनन्दित हुआ। आज भी ईसाई लोग इस संस्कृत बाइबल की प्रतियाँ संस्कृतज्ञों तक पहुँचाना अपना धार्मिक कर्त्तव्य मानते हैं*।''

२० दिसम्बर १८६० को कलकत्ता के बिशप मिलमन ने श्री नेहेम्या गोरे को उपाचार्य (डीकन) की दीक्षा दी। तत्पश्चात् वे

---

* सन्दर्भ : 'शान्तिधर्मी' हिन्दी मासिक, सम्पादक-चन्द्रभानु आर्य, सितम्बर २००७, पृष्ठ-२१, प्रकाशक-शान्तिधर्मी कार्यालय-७५६/३, आदर्शनगर, सुभाष चौक, जीन्द (हरियाणा), पिन-१२६१०२।

मध्यप्रदेश के महू, इन्दौर आदि स्थानों में प्रचारार्थ गए और तभी से वे ईसाई पादरियों की तरह श्वेत वस्त्र (चोगा) पहनने लगे। १८६७ में उनकी ब्रह्मसमाज के नेता श्री केशवचन्द्र सेन से भेंट हुई। ईसाई मत ग्रहण करने के बाद आपने बाइबिल का संस्कृत में भाषान्तर किया था[१०]। 'षड्दर्शन दर्पण' 'शास्त्र तत्त्व निर्णय', 'दि होली गोस्पेल्स' इत्यादि अनेक रचनाएँ आपने लिखी हैं। आप भारतीय ईसाई विचारक के रूप में विख्यात हुए[११]। १८७५ में आप लगभग ५-६ महीने पुणे में थे। इस समय उन्होंने सरकारी फौजी आचार्य [चापलेन] रेवरण्ड एस स्तीद के अनुरोध पर भारतीय ईसाई आचार्यों और उपदेशकों में अध्यापन का कार्य किया। पुणे के पंच हौज परिसर के सन्निकट स्थित पवित्र नाम देवालय (चर्च) का अधिकांश बाँधकाम हो चुकने के बाद २४ दिसम्बर १८८५ की मध्यरात्रि को जब पहली उपासना के लिए लोग एकत्रित हुए तो उसमें प्रथम शास्त्र का पठन भी आपने ही किया था। सर्दियों के दिन और जमीन गीली होने के कारण आपको सर्दी-जुकाम हो गया था, और भक्तगण भी प्रार्थना होने के बाद तत्काल चर्च से बाहर निकल पड़े थे। इसी पुणे के पवित्र नाम देवालय में सन् १८८९ से १८९३ तक आपने फादर के रूप में अपनी सेवाएँ सौपीं थीं। मुम्बई के उमरवाडी स्थित एंग्लिकन चर्च में २९ अक्टूबर १८९५ को आपका ७० वर्ष की अवस्था में निधन हो गया।

महर्षि दयानन्द सरस्वती और फादर नेहेम्या गोरे

महर्षि दयानन्द के एकाधिक जीवन चरित्र इस बात के प्रमाण हैं कि महर्षि और फादर नेहम्या गोरे में सन् १८७४ में प्रयाग में वेद और बाइबिल मत के सन्दर्भ में परस्पर विचार-विमर्श हुआ था। इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि सन् १८७५ में पुणे में स्वामीजी के व्याख्यानों का प्रभाव निष्प्रभ करने का बीडा फादर गोरे ने उठाया था,

---

१०. सत्यार्थप्रकाश : सम्पादक : युधिष्ठिर मीमांसक : पृ० ७१९—['बिब्लिऑग्राफी आफ ऑरिजनल क्रिश्चन राइटिंग्स इन इण्डिया इन संस्कृत' के संग्राहक श्री भा० स० जाधव के अनुसार] विलियम करी ने १८०८ से १८२१ के बीच बाइबिल (पुराना नियम) का संस्कृत अनुवाद किया था।

११. द नेशनल बायोग्रोफिकल डिक्शनरी आफ इण्डिया—पृ० ९९।

जिसमें वे पूर्णतया असफल रहे थे। इस तथ्य की पुष्टि पौराणिक विद्वान् पं० विष्णु शास्त्री चिपळूणकर द्वारा सम्पादित 'निबन्धमाला' मराठी मासिक से तथा नरहर रघुनाथ फाटक लिखित 'न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे' नामकजीवन चरित्र से होती है।

प्रयाग में महर्षि कुल सात बार पधारे थे। छटी बार १ जुलाई १८७४ से सितम्बर १८७४ के अन्त तक रहे। इसी अवधि में स्वामीजी से सर्वप्रथम मिलने वाले चर्चित व्यक्तियों में म्योर कॉलेज के एक शिष्टमण्डल का उल्लेख आता है, जिसमें प्रोफेसर काशीनाथ शास्त्री, कुछ विद्यार्थी तथा महाराष्ट्रीय ब्राह्मण[१२] फादर गोरे शामिल थे। श्री गोरे से वेदार्थ के विषय में चर्चा हुई। वे अपने साथ मैक्समूलर का ऋग्वेदभाष्य यह बतलाने के लिए लाए थे कि—अग्नि शब्द केवल आग का वाचक है, ईश्वर का नहीं। प्रो० मैक्समूलर ने अग्नि का केवल आग अर्थ ही ग्रहण किया। स्वामीजी ने प्रत्युत्तर में कहा—*प्रो० मोक्षमूलर ईसाई मत के पक्षपाती हैं, अतः उन्होंने वेदों के अर्थों का अनर्थ किया है। उनके तो वेदभाष्य का उद्देश्य ही यह था कि भारतवासी वेदभाष्यों को देखकर भ्रम में पड़ जायें तथा वेदमत को छोड़कर ईसाई मत ग्रहण कर लें।* इसलिए उनके अनुवाद को विश्वसनीय नहीं माना जा सकता[१३]। स्वामीजी ने इसी प्रसंग में ईसाइयों के ईश्वर विषयक विचार किस प्रकार अज्ञानमूलक हैं, यह बतलाने के लिये तौरेत की एक कहानी का उल्लेख किया, जिसमें यह लिखा है कि—'एक बार बाबल नगर के लोगों ने एक बहुत ऊँचा बुर्ज बनाकर स्वर्ग या देवमाला में प्रविष्ट होने के उद्देश्य से बुर्ज (मीनार) बनाना प्रारम्भ किया, जिसे देखकर बाइबिल के परमेश्वर को भय हुआ कि कहीं वह आसमान पर चढ़ न जावें। इसलिए उसने उनकी भाषा में ऐसी गड़बड़ उत्पन्न कर दी, जिससे वे एक-दूसरे की बात को समझने में असमर्थ हो जायें और बुर्ज बनाना छोड़ दें, तथा

---

१२. स्वामी दयानन्द जी के अनेक जीवन चरित्रों में गोरे को मराठा-मरहट्टा लिखा है, पर वे 'ब्राह्मण' थे। उत्तर भारतीय : महाराष्ट्र के निवासियों को स्थूल रूप में प्रायः 'मराठा' ही कहते, मानते और समझते हैं।

१३. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र-बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय-पृष्ठ-२७७।

वह स्वयं भी मनुष्य के बर्बरता पूर्ण आक्रमण से बच जाए।' स्वामीजी ने इस कहानी पर टिप्पणी करते हुए कहा कि इससे 'बाबल' निवासियों की यह मूर्खता ही स्पष्ट होती है कि वे आसमान को ठोस पदार्थ समझकर उस पर चढ़ने का प्रयत्न करने लगे और उनके ईश्वर को भी यह ज्ञात न हुआ कि आसमान जब ठोस पदार्थ है ही नहीं, तो वे उस पर चढ़ेंगे कैसे? ईसाइयों के ईश्वर का अपने ही उत्पन्न किये जीवों से डर जाना आश्चर्यजंनक व हास्योत्पादक है। इससे यही स्पष्ट होता है कि ईसाइयों का ईश्वर सर्वव्यापी नहीं, अपितु एकदेशी है। स्वामीजी के इस आक्षेप का उक्त महाराष्ट्रीय ब्राह्मण ईसाई ने कोई भी उत्तर न दिया और मौन साध लिया।

फादर गोरे स्वामी दयानन्द की इस धारणा से सहमत थे कि वेद में मूर्त्ति-पूजा नहीं है, परन्तु उनकी यह मान्यता थी कि—वेदों में अग्नि आदि जड़ पदार्थों को देवता मानकर पूजा करने का विधान किया गया है और अग्नि को अन्य देवों से छोटा माना गया है। अत: वेद बहुदेवतावादी है। स्वामीजी इस मान्यता को सर्वथा अस्वीकार करते थे और इस पक्ष की स्थापना करते थे कि वेद तो केवल मात्र एक ब्रह्म का ही प्रतिपादन करनेवाले एकेश्वरवादी हैं। 'अग्नि' आदि शब्द ईश्वर के पर्यायवाची के रूप में वेदों में आये हैं और ईश्वर के गुणविशेष का बोध करानेवाले हैं। सन्ध्याकालीन उपासना का समय हो जाने के कारण चर्चा यहीं समाप्त हो गई। ऐतरेय ब्राह्मण के 'अग्निर्वै देवानामऽवमो विष्णुः परमः' (१।१)[१४] सन्दर्भ को प्रस्तुत करते हुए फादर गोरे ने देवों के बड़े-छोटे होने के जो आक्षेप उठाए थे, उनका उत्तर अगले दिन स्वामीजी ने लिखित रूप में भेज दिया। जिसका कोई प्रत्युत्तर न देते हुए श्री गोरे ने फिर एक बार मौन साध लिया।

इलाहाबाद के बाद स्वामीजी और फादर गोरे दोनों का भी १८७५ में अपनी-अपनी विचारधारा का प्रचार करने के लिए मुम्बई और पुणे में आगमन हुआ। फादर गोरे मुम्बई में स्वामीजी के सन्निकट आये थे या नहीं, कुछ भी पता नहीं चलता, पर पुणे में इन दोनों धर्म प्रचारकों की व्याख्यान स्थली एक ही रही। अत: परस्पर दोनों के

१४. नवजागरण के पुरोधा : डॉ० भवानीलाल भारतीय—पृ० २१४।

आमना-सामना होने की या शास्त्र-चर्चा होने की पूरी सम्भावना थी। इस सन्दर्भ में ईसाइयों के 'सत्यदीपिका' नामक मराठी मुख पत्र के सम्पादक बाबा पद्मनजी ने लिखा है कि—"गत मास [अर्थात् जुलाई १८७५ में] पुणे में दो विद्वत् पुरुषों ने जनता के सामने अपनी-अपनी विद्वत्ता का प्रकाश किया। रेवरण्ड नीलकण्ठ शास्त्री गोरे व पं० दयानन्द सरस्वती ये दोनों भी संस्कृत भाषाभिज्ञ हैं। उन्होंने जो पुणे शहर में व्याख्यान दिए, उन्हें सुनने के लिये बहुत से लोग एकत्रित होते थे। शास्त्री महाराज के व्याख्यान ईसाई धर्म के प्रतिपादनार्थ थे और पण्डितजी के व्याख्यान वैदिक धर्म के मण्डनार्थ थे। स्वामीजी का एक व्याख्यान सुनने के लिए हम स्वयं [मुम्बई से पुणे] गये थे...जिस व्याख्यान में हम उपस्थित रहे उसका विषय 'वेद' था[१५]।"

स्वामी दयानन्द और फादर गोरे के व्याख्यानों के सन्दर्भ में पौराणिक विद्वान् निबन्धमालाकार विष्णु शास्त्री चिपळूणकर ने 'वक्तृत्त्व' निबन्ध में पादटिप्पणी अंकित करते हुए लिखा है कि—"गत जुलाई मास में हिन्दू क्लब में [अर्थात् भिडेवाडे] में बड़ा संघर्ष चल रहा था। [एक ही स्थान पर] पहले दिन स्वामीजी के और दूसरे दिन रेवरण्ड महाराज के व्याख्यान होते थे, उसमें कुछ विचित्र मजे की बात यह होती थी कि—स्वामीजी के व्याख्यान के समय तो दीवानखाने [भिडेवाडे] में आनेवाले श्रोताओं की भीड़ लगी रहती थी, पर रेवरण्ड महाराज के व्याख्यान काल में चाहे तो प्रत्येक श्रोता अपना-अपना बिस्तरा लगाकर आराम से प्रभु ईसामसीह का ध्यान लगाने की भी योजना बना लेता, तो भी सभागृह में जगह शेष ही रह जाती थी।" सारांश में चिपळूणकर के अनुसार "स्वामीजी की तुलना में रेवरण्ड नीलकण्ठ शास्त्री के व्याख्यानों की दशा बहुत ही दयनीय थी।"[१६]

न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे के सुप्रसिद्ध चरित्र लेखक श्री न० र० फाटक ने इस सन्दर्भ में लिखा है कि—पुराणमताभिमानी महामहोपाध्याय राम शास्त्री आप्टे के अतिरिक्त एक और सज्जन

१५. सत्यदीपिका : अगस्त सन् १८७५ पृ० ९३।
१६. निबन्धमाला : अंक-२३ : नवम्बर १८७५।

दयानन्द के उपदेशों को निष्प्रभ बनाने के लिये प्रयत्नशील थे। वे धार्मिक दृष्टिकोण से ईसाई होने के बावजूद भी जन्मना-जाति से हिन्दू ही थे। उनका नाम था—रेवरण्ड नीलकण्ठ शास्त्री। जिस स्थान पर दयानन्दजी के भाषण होते थे, उसी स्थान पर दूसरे दिन रेवरण्ड महाराज के व्याख्यान होते थे, पर उनके व्याख्यानों में प्रायः श्रोताओं का अभाव ही रहता था। हिन्दू धर्माभिमानी और ईसाई धर्माभिमानी ये दोनों भी समान रूप से समाज सुधारकों से अत्यधिक ईर्ष्या-द्वेष करते थे—यह घटना इस बात की प्रातिनिधिक उदाहरण है[१७]।

इस प्रकार बाबा पद्मनजी, विष्णु शास्त्री चिपळूणकर और न० र० फाटक के इन सन्दर्भों को पढ़ने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि—पुणे में स्वामी दयानन्दजी और फादर गोरे लगभग एक ही समय में अप-अपनी धार्मिक विचारधारा का प्रचार कर रहे थे, पर यहाँ उनको प्रत्यक्ष आमना-सामना होने के प्रमाण उपलब्ध नहीं होते हैं। फादर गोरे ने भी सीधे स्वामीजी से शास्त्र-चर्चा या शास्त्रार्थ करने का तरीका न अपना कर केवल ईसाई धर्म प्रतिपादक व्याख्यानों के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूपेण स्वामीजी के व्याख्यानों के प्रभाव को निष्प्रभ करने का प्रयास किया, जिसमें उन्हें प्रचण्ड असफलता ही हाथ लगी।

आर्यसमाज और फादर गोरे

'रेवरण्ड नेहम्या गोरे यांचे संक्षिप्त चरित्र' (सन् १८९६) के अनुसार 'अमृतसर निवास काल में फादर गोरे का ध्यान दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हुआ। उनके अन्तर्मन में आर्यसमाजियों को [ईसाइयत का] सही-सही ज्ञान कराने की तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। इस दिशा में कुछ न कुछ प्रयत्न करते रहने का उन्होंने दृढ़ निश्चय किया[१८]।' जब फादर गोरे अमृतसर पहुँचे तो उस समय वहाँ के आर्यसमाजियों की संख्या एक हजार से भी अधिक थी।

फादर गोरे ने ५ मार्च १८८० को लाहौर के आर्यसमाजियों के सामने एक व्याख्यान दिया, जिसमें यह प्रतिपादित किया कि वेदों में

---

१७. न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे यांचे चरित्र—पृ० १४९।

१८. रेव्हरंड नेहम्या गोरे यांचे संक्षिप्त चरित्र : निर्णय सागर मुद्रणालय—पृ० २४।

अन्तर्विरोध पाया जाता है। जहाँ वेदों में देव और मानव में अभिन्नत्व बतलाया है, वहाँ यह भी लिखा है कि मनुष्य ने देव पूजा करनी चाहिए क्योंकि देव और मनुष्य भिन्न-भिन्न हैं[१९]।

रेवरण्ड दि० शं० सावरकर के अनुसार—श्री खड़कसिंह बी० ए० नामक एक आर्यसमाजी था, जिसने कालान्तर में संन्यास धर्म की भी दीक्षा ली थी। एक दिन जब उसने फादर गोरे का व्याख्यान सुना तो बहुत प्रभावित हुआ और 'नया नियम' पुस्तक खरीदकर उसे पूरा पढ़ लिया। पढ़ते समय जो-जो शंका उपस्थित हुईं, उन सबका निराकरण फादर गोरे से करवा लिया और पूर्ण विश्वास होने के बाद उसने ईसाई धर्म की दीक्षा ग्रहण की। कालान्तर में वे धर्मोपदेशक बने और फिर डॉ० मार्टिन क्लार्क के सहयोग से 'आर्यसमाज प्रिंसिपल्स एण्ड टीचिंग' (आर्यसमाज के सिद्धान्त और सीख) नामक पुस्तक लाहौर से प्रकाशित करवाई। इस प्रकार इस पुस्तक के निर्माण में फादर गोरे की उल्लेखनीय भूमिका और प्रेरणा रही[२०]।

अब यह एक ऐतिहासिक तथ्य बन गया है कि स्वामी दयानन्दजी से बौद्धिक चर्चा (१८७४-१८७५) करने के उपरान्त भी पं० नीलकण्ठ शास्त्री गोरे ईसाई धर्म से पराङ्मुख नहीं हुए। इसी प्रकार सन् १८८० में धार्मिक दृष्टि से अपने आपको अव्यवस्थित समझने वाली पण्डिता रमाबाई भी मेरठ में तीन सप्ताह से भी अधिक स्वामीजी के श्रीचरणों में बैठकर दार्शनिक ज्ञान का अवगाहन करती रही, पुनरपि वह धर्म के बारे में व्यवस्थित नहीं हो पायी, जिसे स्वामीजी उपनिषद्कालीन ब्रह्मवादिनी गार्गी की तरह वैदिक धर्म और आर्यसमाज की उपदेशिका के रूप में खड़ाकर स्त्री जाति का उत्थान करना चाहते थे। वह भी कालान्तर (१८८३) में ईसाई धर्म में दीक्षित हो गई। आश्चर्य इस बात का है कि पण्डिता रमाबाई को ईसाई बनाने का न्यूनाधिक श्रेय स्वयं पण्डिता ने फादर गोरे को प्रदान किया है। इस सन्दर्भ में पण्डिता रमाबाई ने अपने स्नेही मित्र को भेजे पत्र में लिखा है कि—

---

१९. रेवरंड फादर नहेम्या (नीलकण्ठ शास्त्री) गोरे ह्यांचे संक्षिप्त चरित्र : सन् १९४१—पृ० ६६-६७।

२०. रेवरण्ड फादर नेहम्या गोरे ह्यांचे संक्षिप्त चरित्र—पृ० ८७।

यह जानकर तुम्हें सन्तोष होगा कि मैं 'ईसाई-धर्म-संशोधक' बन गई हूँ। मैं जब हिन्दुस्तान में थी तब फादर गोरे से इस विषय में [सन् १८८२ में] चर्चा होती थी। उनकी विनम्रता और मधुर वाणी का मुझ पर बहुत प्रभाव हुआ है। ईसामसीह की वार्त्ताओं को अभिव्यक्त करने में वे अतिशय कुशल हैं। मुझे यह प्रतीत होता है कि हिन्दू धर्म से मुझे परावृत्त करने में फादर गोरे के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति इस भूतल पर नहीं था, जो यशस्वी हो सकता था[२१]। पर सर्वाधिक आश्चर्य की यह बात है कि जिस फादर गोरे ने पण्डिता रमाबाई सरस्वती को मेरी रमा बनाया, स्वयं उसका ही ईसाइयत पर शत-प्रतिशत विश्वास नहीं था। ईसासमीह के देवत्व पर जो कुछ विश्वास था, वह भी डगमगा रहा था। इस सन्दर्भ में अपने देहान्त से छह-सात वर्ष पूर्व २४ अक्तूबर १८८९ को स्वयं फादर गोरे ने लिखा था कि—*"[ईसाई बनने के बाद] १८५६-५७ के आस-पास ईसा-मसीह के देवत्व के प्रति शङ्काओं ने मुझे परेशान करना शुरु कर दिया, मुझे यह प्रतीत होता था कि मैंने इन शङ्काओं का सन्तोषजनक और समाधानकारक उत्तर प्राप्त कर लिया था, पर आज सन् १८८९ में भी ये शङ्कायें मुझे फिर से परेशान करने लगी हैं*[२२]।

इलाहाबाद में फादर गोरे और महर्षि दयानन्द

फादर गोरे और स्वामी दयानन्द अपनी-अपनी धर्म-प्रचार-यात्राओं के सिलसिले में एकाधिक बार इलाहाबाद में आये। गङ्गा-यमुना-सरस्वती के त्रिवेणी सङ्गम के रूप में सुप्रसिद्ध प्रयाग नगरी को बहुत पहले से ईसाई-पादरियों ने स्वमत प्रचार-प्रसार केन्द्र का सुदृढ़ गढ़ बना लिया था। उनका उत्तरभारतीय एक प्रमुख प्रकाशन केन्द्र भी प्रयाग में ही था। जिसका नाम 'मिशन प्रेस' या 'नॉर्थ इण्डिया क्रिश्चियन बुक एण्ड ट्रैक्ट सोसाइटी' था।

फादर गोरे का इलाहाबाद आने का एक प्रमुख कारण तो यही था कि इलाहाबाद ईसाई धर्म और साहित्य के प्रचार-प्रसार का मुख्य केन्द्र था। फादर गोरे की 'षड्दर्शन-दर्पण' नामक सुप्रसिद्ध ३५० पृष्ठ की पुस्तक १८६० में इलाहाबाद से ही प्रकाशित हुई थी। इस

२१. रेवरण्ड फादर नेहम्या गोरे ह्यांचे संक्षिप्त चरित्र—पृ० ७२।
२२. होरपळ : वि० ग० कानिटकर, पृ० २३०।

हिन्दी पुस्तक का अंग्रेजी रूपान्तर भी १८६२ में ही प्रकाशित हो गया था। दूसरा प्रमुख कारण यह था कि उनकी प्रिय इकलौती कन्या एलन लक्ष्मी गोरे भी इलाहाबाद में मिशन हस्पताल का काम करते-करते ईसाई-मत की सेवा में निमग्न थीं। तीसरा प्रमुख कारण यह था कि फादर गोरे के अतिशय प्रिय अनुज गोविन्दराव भी इलाहाबाद में ही रहते थे। गोविन्दराव को ईसाई बनाने के लिए फादर गोरे उनसे आजीवन वाद-विवाद करते रहे। इन दोनों बन्धुओं की अन्तिम भेंट फादर गोरे के देहावसान से तीन-चार महीने पूर्व हुई थी, पर फादर अपने अनुज को ईसाई बनाने में असफल ही रहे। इस सन्दर्भ में एक बार श्री गोरे ने कहा था—'मैंने अपने अनुज के विषय में प्रभु से एक प्रार्थना ४२ वर्ष तक की, पर आज तक भी उसने मेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं की[२३]।'

स्वामी दयानन्द का सन् १८५६ (जुलाई-अगस्त), १८६८ (सितम्बर-अक्तूबर), १८७० (फरवरी-मार्च), १८७३ (अक्तूबर), १८७४ (मई), १८७४ (जुलाई-अक्तूबर) और १८७९ में कुल मिलाकर सात बार इलाहाबाद में आगमन हुआ। जब वे छठी बार इलाहाबाद आए थे, तभी फादर गोरे से उनकी शास्त्र-चर्चा हुई थी। इस भेंट से कुछ समय पूर्व या पश्चात् स्वामीजी बाइबिल के हिन्दी व संस्कृत के अनुवाद पढ़ चुके थे,[२४] क्योंकि स्वामी दयानन्दजी ने इलाहाबाद नगरी में ही रचे सत्यार्थप्रकाश में स्पष्ट लिखा है कि—इस [बाइबिल] पुस्तक के भाषान्तर बहुत से हुए हैं, जो कि इनके मत के बड़े-बड़े पादरी हैं, उन्होंने किए हैं। उनमें से देवनागरी [हिन्दी] व संस्कृत भाषान्तर देखकर मुझको बाइबिल में बहुत-सी शंकायें हुईं, उनमें से कुछ थोड़ी-सी तेरहवें समुल्लास में विचारार्थ लिखी हैं[२५]।

---

२३. रेवरण्ड फादर नहेम्या गोरे ह्यांचे संक्षिप्त चरित्र—रे० दि० शं० सावरकर-८५।

२४. श्री भास्कर सदानन्द जाधव द्वारा संकलित 'बिब्लियोग्रॉफी ऑफ ऑरिजनल क्रिश्चन राइटिंग्स इन इण्डिया इन संस्कृत' के अनुसार डॉ० विलियम कॅरी (१७६१-१८३४) का संस्कृत अनुवाद १८२१ तक प्रकाशित हो चुका था।

२५. सत्यार्थप्रकाश : महर्षि दयानन्द सरस्वती : सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक, पृ० ७१९।

स्वामी दयानन्दजी ने जिस बाइबिल के संस्कृत अनुवाद की चर्चा की है, वह निश्चित रूप से डॉ० विलियम कॅरी आदि द्वारा किया गया होगा। महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिर मीमांसकजी ने लिखा है कि 'नीलकण्ठ शास्त्री ने ईसाई मत ग्रहण करने के बाद बाइबिल का संस्कृत भाषान्तर किया था'। पर समस्त ईसाई संस्कृत साहित्य की हस्तलिखित सूची के निर्माता श्री भास्कर सदानन्द जाधव पुणेकर के अनुसार 'फादर गोरे द्वारा अनूदित बाइबिल के संस्कृत ग्रन्थ का उल्लेख अब तक मुझे कहीं पर भी नहीं मिला है।' श्री महेश प्रसाद मौलवी आलिम फाजिल के अनुसार सत्यार्थप्रकाश के तेरहवें समुल्लास में जो बाइबिल की समीक्षा की गई है, वह क्रमशः सन् १८६६ व १८७४ में मिशन प्रेस इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित 'पुराने नियम' और 'नये नियम' के पाठ पर आधारित है।

सन् १८७४ से १८९९ के बीच जो भी बाइबिल के हिन्दी संस्करण निकले, उनका पाठ भी सत्यार्थप्रकाश के १३वें समुल्लास में उद्धृत पाठों से मिलता है। यहाँ यह स्मरण रहना चाहिए कि—सत्यार्थप्रकाश के तेरहवें समुल्लास में जो बाइबिल के उद्धरण हैं, वे प्रोटेस्टेंट ईसाइयों द्वारा कराये गए हिन्दी अनुवाद के आधार पर हैं, क्योंकि दयानन्दजी के समय तक रोमन कैथोलिक ईसाइयों द्वारा बाइबिल का कोई भी हिन्दी अनुवाद प्रकाशित नहीं हुआ था[२६]। प्रोटेस्टेंट ईसाई सम्पूर्ण बाइबिल में ६६ ग्रन्थ मानते हैं। स्वामीजी महाराज ने उनमें से केवल १४ ग्रन्थों पर १३३ समीक्षाएँ लिखी हैं[२७]।

महर्षि दयानन्द सरस्वती का जन्म १२ फरवरी १८२५[२८] को गुजरात में हुआ। उनसे केवल चार दिन पूर्व ८ फरवरी १८२५ को पं० नीलकण्ठ शास्त्री गोरे (फादर नेहम्या गोरे) का जन्म उत्तरप्रदेश में हुआ। दोनों भी अपने-अपने युग और परिवेश में संस्कृत विद्वान् के रूप में सुप्रतिष्ठित हुए। स्वामी दयानन्द शैवमतावलम्बी ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए और अन्त में वेदमतानुयायी बने। श्री फादर गोरे

---

२६. ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास, सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक, पृ० ५१।

२७. तत्रैव—पृ० ४९।

२८. महर्षि दयानन्द सरस्वती की प्रामाणिक जन्मतिथि : डॉ० ज्वलन्त कुमार शास्त्री : पृ० ३५।

वेदों के प्रति असाधारण आस्था रखनेवाले, ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए और अपनेजीवन के यौवन में ईसाई मतावलम्बी बन गए। जैसे दोनों का जन्म एक ही महीने फरवरी में हुआ वैसे निधन भी एक ही महीने अक्टूबर में हुआ, पर महर्षि का निधन ५८ वर्ष की अवस्था में ३० अक्तूबर १८८३ को हुआ और फादर गोरे का निधन ७० वर्ष की अवस्था में २९ अक्टूबर १८९५ को हुआ।

पं० नीलकण्ठ शास्त्री गोरे जैसे वैदिक संस्कृतज्ञ ब्राह्मण को ईसाईमत के मिशनरी प्रचारक या वकील के रूप में देखकर महर्षि दयानन्द की आत्मा निश्चित रूप से व्यथित हुई होगी। दयानन्दजी के अनेक जीवन चरित्र लेखकों ने लिखा है कि—'स्वामीजी के प्रचार कार्य का क्षेत्र इस [प्रयाग=इलाहाबाद] काल में केवल हिन्दुओं तक ही सीमित नहीं था[२९]। प्रोफेसर इन्द्र विद्यावाचस्पति के अनुसार 'इन दिनों स्वामीजी बड़े जोर से ईसाई और इस्लाम मत का खण्डन कर रहे थे[३०]। स्वामीजी के ईसाई मत खण्डन के विषय में जो उग्रता आई, उसकी पृष्ठभूमि में अन्य कारणों के अतिरिक्त एक प्रमुख कारण पं० नीलकण्ठ शास्त्री जैसे संस्कृतज्ञ वैदिक ब्राह्मणों का ईसाई हो जाना भी रहा होगा। स्वामीजी ने अपने काशीस्थ वैदिक यन्त्रालय (प्रेस) को भी अन्त में प्रयाग में स्थानान्तरित कर लिया था।'

स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज की बाइबिल विषयक लिखित और मौखिक समीक्षाओं से श्री फादर गोरे तथा अन्य पादरी लोग कितने अधिक प्रभावित हुए थे, इसका यत् किंचित् अनुमान हम फादर गोरे लिखित सन् १८८५ व १८८८ के दुर्लभ पत्रों से प्राप्त कर सकते हैं[३१]।

(1)

"I do not entertain any sanguine hope about success among the Arya-samajists, any more than among the Brahmos and the Prarthana-samajists. But though we succeed in nothing, yet we ought to be doing something; ought we not? It is on this principle

---

२९. सत्यकेतु विद्यालङ्कार : आर्यसमाज का इतिहास : पृ० २३४।

३०. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र—पृ० ९१।

३१. फादर सी० ई० गार्डनर : लाइफ ऑफ फादर गोरे (सन् १९००) पृष्ठ-३२१-३२४।

that I do what I do. I thought I may try a new field. I have a great detestation for the Arya-samajists. The founder of this sect, Dayanand Saraswati, who is now dead, has invented this religion by putting false, glaringly false, interpretation on the passages of the Vedas. It is built on downright falsehood. Brahmism is not such. It is true the Brahmos are blind to the truth and excellence of Christianity. They are persuaded that Christianity is also like other religions, invented by men, and that the Bible, like the Puranas, is made up of truth and legends. I can hardly blame the Brahmos for not being able to believe in the Bible. Being trained up as they are from their childhood—from the time they enter into an English school—in rationalistic ideas, and being thrown in the society of rationalistic men, I do not see how they can believe in the Bible. They than rely on their own reason, and are led by their instinct, and have formed for themselves the best religion they could. But their efforts are all honest. And there are some very excelent, earnest, pious men among the Brahmos and Prarthanasamajists, and I feel great respect for them. But the Arya-samajism is a faleshood. Since Christianity and the English education have been introduced in India, a great revolution has been going on in the minds of thinking natives. Everywhere there are men to be found who are dissatisfied with the old religion, with the legends of the Puranas, the foolish stories of their incarnations (Avatars), and the idolatry. The wicked Dayanand Saraswati took advantage of this state of things, and he began to tell people that 'all these foolish things which the Hindus believe and practise now have been lately introduced. Nothing of it is to be found in the Vedas. They teach the worship of the one true God.' Of course such a teaching is liked by people at once. They find that the true religion is to be found in their own books, and they can embrace it without ceasing to be Hindus, and without embracing a foreign religion. This is the secret of Dayanand's success. And, indeed, he has had very great success, especially in North India. His followers are to be found in all large cities. When I was at Agra I was told he had some five hundred followers there. At Delhi many are drawn towards his teaching. The Cambridge missionaries at Delhi told me that one or two lectures delivered there

by his disciples turned the hearts of the students of their College. When I was there lately I gave them a lecture. At Amritsar there are more than a thousand of his followers, and so also at Lahore. And the Christians of these places say that Arya-samajism is now actually hindering the progress of Christianity."

"It is therefore of very great importonce that some one who is qualified for it should undertake to work among them. I do not think that one. can hope to turn the hearts of the leaders among them. They are determined to build their new religion on their false interpretation. But one may try and see if one can enlighten the eyes of those who, themselves being ignorant, are simply misled by their leaders. However, I tell you that I do not think I am qualified to undertake such a work. One must be thoroughly up in the vast Vedic literature, out of Which Dayanand Saraswati has brought passages to support his interpretations. But Vedic literature is quite a distinct field in the Hindu religion. As I have to go to Allahabad for the Prayer-book work, I thought I would just try to do something among them. But I fear you will soon hear that I have given it up. However, from the state of my health I have been feeling doubtful whether I would be able to go to Allahabad. Now I have told you what is Arya-samajism, and why it is that I think it of great importance that some one should work among them. and I have also told you that I have not a very sanguine hope that I shall be able to work among them or will have success, but that I only just thought of trying it. My own idea now has been that the high castes will not become Christians soon, for the English education has spoilt them. Missionaries ought to convert the low caste as much as they can, and build up a Church. After two or three generations the high caste will follow them, when they willsee the evil results of their ways and the good fruits of Christianity." "Nehemiah Goreh"

(2)

"Allahabad, July 16, 1888"

"MY DEAR FATHER PAGE"

"I am still very weak, and being very weak, any little thing affects me and makes me worse. I have been so far these three or

four days. I Wish to see something of the people of Allahabab, but in such a state I can do nothing. As regards going to Delhi, I have written to Mr. Lefroy of the Cambridge Mission, to inquire what the present state of the people there, and of the students of the Mission College in particular, is; whether they are still drawn towards Arya-samajism, as I was told they were when I visited Delhi some two or three years ago, and whether it would be worth while for me to go there now, and whether it is the right time to go. Those who are carried away by the teaching of Dayanand Saraswati, the founder of the Arya samaj, are a very important field for a missionary to work in, By the preaching of Christianity and the spread of English education, there are now to be found men everywhere in India who are dissatisfied with Hinduism, its superstitions, its foolish stories, etc. Dayanand Saraswati told such men that the Hinduism which is now practised, is not the true Hinduism, nor the religion of Aryas. "The religion taught in the ancient books the Vedas, was the true religion of the Aryas, and that is very pure. It teaches only the worship of the one true God, etc." But in this he told a falsehood. He put altogether a false interpretation on the words of the Vedas. He not only told the people that the Vedas taught a pure religion, but he also pretended that all the modern discoveries of science were to be found in the Vedas! Thus he deceived the people. And such a teaching was most welcome to them, for they found that a pure religion was to be had in their own home, and they did not need to go to Christianity for that. This was the reason why Dayanand had such a marvellous success in those parts of India. These people are ignorant; they know nothing of the Vedas, the language of which is so difficult that it cannot be understood even by learned pandits, except by the help of commentaries. Now, there are hundreds of men who are thus deceived by Dayanand and are now being deceived by his disciples. I thought that it would be a great thing to undeceive these people in this respect and show them that the teaching of the Vedas is not what Dayanand told them. They do not teach the worship of the one true God, but their religion is Polytheism. This will be the means of turning them towards Christianity. Dayanand may be said to have prepared many men for Christianity."

"This was the reason why I entertained so great a desire for going to Delhi and in those parts, and of working among these people. But there are among Dayanand's disciples some who are far more learned than I am, and I may not be able to cope with them. Do you remember my asking you if you will allow me to take some learned pandit with me from Benares? I think you said at the time that you would. I have also written to Mr. Williams, who was formerly at Ahmednagar, and is now working near Delhi, for he knows a great deal about the Vedas, and he can also lend me books; for some big books are necessary for this work."

"NEHEMIAH GOREH"

अंग्रेजी पत्रों का हिन्दी-अनुवाद

(१)

दि० ०-०-१८८५[३२]

[मेरे प्रिय फादर पेज ![३३]]

"मुझे इसकी कोई आशा नहीं है कि ब्रह्मसमाज और प्रार्थनासमाज की तुलना में आर्यसमाजियों में [हमें काम करते हुए] कोई किसी प्रकार का यश प्राप्त होगा। यदि हमें किसी भी [कार्य] में यश नहीं मिला, पुनरपि हमें कुछ तो करते ही रहना चाहिए, क्या [यह] आवश्यक नहीं ? मैं जो भी करता हूँ वह इसी तत्त्व [के आधार] पर ही करता हूँ। मुझे यह प्रतीत हुआ कि मैं एक नवीन क्षेत्र में प्रवेश करूँ। मुझे आर्यसमाजियों से अत्यन्त तिरस्कार है। इस पंथ के संस्थापक दयानन्द सरस्वती, जिनका अब निधन हो चुका है, ने इस नये धर्म का निर्माण वेदों के अवतरणों [मन्त्रों] का असत्य, सरासर झूठ भाष्य करके किया है। वेदों का यह भाष्य सरासर असत्य पर आधारित है। ब्रह्मसमाजवाद इस प्रकार का नहीं है। यह सच है कि ब्रह्मसमाजी ईसाइयत के श्रेष्ठत्व व सच्चाई के प्रति [अज्ञानी] अन्धे हैं, उन्हें यह समझाया गया है कि—ईसाइयत अन्य धर्मों की तरह ही मानव

---

३२. प्रस्तुत काल नीलकण्ठ शास्त्री [नेहेम्या] गोरे के अग्रिम १६ जुलाई १८८८ के पत्र में दिये गए निर्देशानुसार अंकित किया गया है।

३३. उक्त सम्बोधन भी अग्रिम पत्र में अपनायी गई शैली के आधार पर लिखा गया है।

निर्मित है और बाइबिल भी पुराणों के समान सत्य तथा दन्तकथाओं पर आधारित है। [यदि] ब्रह्मसमाजी बाइबिल पर विश्वास नहीं कर सकते, तो इसलिए मैं उन्हें दोष नहीं दे सकता। उनका बचपन जिस वातावरण में पला और पुष्ट हुआ, जिस समय उन्होंने इंग्लिश स्कूल में प्रवेश किया, इस कारण वे बुद्धि प्रामाण्यवादी विचारों में ढले और तत्पश्चात् बुद्धिवादी समाज में ढकेले गए। ऐसी स्थिति में मुझे यह प्रतीत नहीं होता कि वे बाइबिल पर विश्वास कर सकेंगे। बुद्धि प्रामाण्यवाद और आन्तरिक प्रवृत्ति के आधार पर यथासम्भव उन्होंने अपने लिए सद्धर्म (श्रेष्ठधर्म) का निर्माण कर लिया है, पर आर्यसमाजवाद तो असत्य की नींव पर खड़ा है। भारत में ईसाइयत और अंग्रेजी शिक्षा शुरु होने के बाद एक बहुत बड़ी क्रान्ति भारतीय विचारकों के मन में निर्माण हुई। प्रत्येक स्थान पर ऐसे व्यक्ति पाये गए जो पुराने धर्म के प्रति, पुराणों की दन्तकथाओं के प्रति, मूर्खतापूर्ण अवतारों की कथाओं तथा मूर्ति-पूजा के प्रति असन्तुष्ट थे। इन बातों का फायदा दुष्ट दयानन्द सरस्वती ने उठाया और उसने लोगों को कहना शुरु किया कि ये सब मूर्खतापूर्ण विचार, जिन पर हिन्दू विश्वास और तदनुसार आचरण करता है, मूलधर्म में नहीं है, अपितु बाद में प्रक्षिप्त किये गए हैं। इस प्रकार की बातें वेदों में नहीं मिलतीं, क्योंकि वेद तो एकेश्वर की उपासना का ही पाठ पढ़ाते हैं। स्वाभाविक रूप से लोगों को इस प्रकार की सीख पसन्द आई, और उन्होंने यह पाया कि सत्य धर्म तो उनके अपने ग्रन्थों [वेदों] में ही है। हिन्दू रहते हुए तथा विदेशी धर्म को न अपनाते हुए भी इस [वैदिक] धर्म को वह अपना सकते हैं। दयानन्द की सफलता का यही एक रहस्य है। सचमुच इसी कारण उसे बड़ी सफलता मिली, विशेष रूप से उत्तर भारत में। उसके अनुयायी सभी बड़े शहरों में मिलते हैं। जब मैं आगरा में था तब मुझे बतलाया गया कि उसके पाँच सौ शिष्य हैं। दिल्ली में भी बहुत से लोग उसकी शिक्षाओं की ओर आकृष्ट हुए हैं। दिल्ली के कॅम्ब्रिज मिशनरियों ने मुझे बतलाया कि उसके शिष्यों के एक-दो भाषणों के कारण उनके महाविद्यालयीन विद्यार्थियों के हृदय परिवर्तित हो गए। इधर अभी कुछ समय पूर्व जब मैं वहाँ पर था तब मैंने वहाँ एक व्याख्यान दिया। अमृतसर में उनके एक हजार

से भी अधिक अनुयायी हैं और इसी प्रकार लाहौर में भी, [एक हजार से अधिक अनुगामी हैं]। इन सभी स्थलों के ईसाई कहते हैं कि सचमुच आर्यसमाजवाद ईसाइयत की प्रगति में बाधा उत्पन्न कर रहा है।

इसलिए यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है [अत्यावश्यक है] कि कोई व्यक्ति जो इसके लिए योग्य हो, इस कार्य को हाथ में ले और वह उन [आर्यसमाजियों] में कार्य करे। मुझे यह प्रतीत नहीं होता कि कोई उनके नेताओं का हृदय परिवर्तित कर सकेगा, [क्योंकि वेदों के] मिथ्या भाष्य करके अपने नये धर्म का निर्माण करने का उनका दृढ़ निश्चय है। फिर भी जिस आम जनता को अज्ञानी होने के कारण गुमराह किया गया है, उसे सच्चे प्रकाश की ओर लाने की कोशिश की जा सकती है। मैं यह कहूँगा कि मुझे यह प्रतीत नहीं होता कि मैं किसी भी प्रकार से इस कार्य का उत्तरदायित्त्व वहन करने के योग्य हूँ। [हम मिशनरियों में से] किसी को तो इस विस्तृत वैदिक वाङ्मय का समग्र अध्ययन करना होगा, जिसके आधार पर दयानन्द सरस्वती ने वैदिक सूक्तों का भाष्य किया है। यह वैदिक वाङ्मय हिन्दू धर्म का एक विशिष्ट (सुनिश्चित) क्षेत्र है। मुझे प्रार्थना-पुस्तक (प्रेयर बुक) का कार्य करने के लिए इलाहाबाद जाना ही है। मुझे यह प्रतीत हुआ था कि मैं उनमें कुछ कार्य कर सकूँगा, पर मुझे यह आशंका है कि आप जल्दी ही यह सुनोगे कि मैंने यह काम छोड़ दिया है। मेरे स्वास्थ्य को देखते हुए मुझे यह सन्देह है कि मैं इलाहाबाद जा भी सकूँगा या नहीं, अब तक मैंने तुम्हें यह बता दिया है कि आर्यसमाजवाद क्या है और मेरी दृष्टि से उन [आर्यसमाजियों] में किसी का कार्य करना इतना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण क्यों है? मैंने तुम्हें यह भी बता दिया है कि मुझे इस बात की कोई विशेष आशा नहीं कि मैं उनमें काम कर सकूँगा या मुझे [उस कार्य में] यश मिल पायेगा, फिर भी मैंने केवल इस दिशा में प्रयत्न करने का कुछ विचार किया है। सम्प्रति मेरा यह निजी मत है कि उच्चवर्णीय लोग जल्दी ईसाई नहीं बनेंगे, क्योंकि उन्हें अंग्रेजी शिक्षा ने बिगाड़ दिया है। मिशनरियों ने यथासम्भव ज्यादा से ज्यादा निम्न जाति के लोगों को धर्मान्तरित करना चाहिए और गिरजाघरों [चर्चों] का निर्माण करना चाहिए। दो या तीन पीढ़ियों के बाद जब उच्चवर्णीय लोगों को उनके अपने मार्गों

के बुरे परिणाम और ईसाइयत के अच्छे परिणाम (फल) नजर आयेंगे, तब ये उच्चवर्णीय लोग भी ईसाइयत को स्वीकार करेंगे।''

—नेहेम्या गोरे

(२)

इलाहाबाद १६ जुलाई १८८८

''मेरे प्रिय फादर पेज!

मैं अभी भी बहुत अशक्त हूँ और इसीलिए कोई छोटी-सी बात भी मुझ पर असर डालती है तथा मेरे स्वास्थ्य को और बिगाड़ती है। तीन-चार दिन से मेरी ऐसी दशा हो गई है कि इलाहाबाद के लोगों से मिलने की उत्कण्ठा है, पर मैं कुछ भी कर सकने की स्थिति में नहीं हूँ। अपने दिल्ली जाने के विषय में मैंने कॅम्ब्रिज मिशन के मिस्टर लेफ्राय को चौकसी करने को लिखा और पूछा था कि वहाँ के लोगों की वर्त्तमान स्थिति क्या है? जब मैं दो-तीन वर्ष पूर्व दिल्ली गया था, तब मुझे विद्यार्थियों के सन्दर्भ में, विशेष रूप से मिशन कॉलेज के छात्रों के सम्बन्ध में यह बतलाया गया था कि वे आर्यसमाजवाद की ओर आकृष्ट हो रहे हैं। क्या अब मेरा वहाँ जाना योग्य होगा या नहीं? और क्या यह समय मेरे वहाँ जाने के लिए अनुकूल है? जिन लोगों को आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द की शिक्षा बहाकर ले जा रही है, उस क्षेत्र में मिशनरियों का काम करना अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। ईसाइयत के सन्देश के कारण और अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के कारण भारत में सभी जगह ऐसे लोग दिखाई देते हैं, जो हिन्दुत्त्व तथा उसके अन्धविश्वासों और उसकी मूर्खता से परिपूर्ण कथाओं इत्यादि से असन्तुष्ट हैं। दयानन्द सरस्वती ने उन लोगों से यह कहा है कि—हिन्दू धर्म के नाम से अभी जो आचरण किया जा रहा है, वह न तो सच्चा हिन्दू धर्म है और न ही वह आर्यों का धर्म है। ''प्राचीन वेद-ग्रन्थों में जो धर्म प्रतिपादित किया गया है, वही आर्यों का सत्य और अतिशय शुद्ध [विशुद्ध] धर्म है। वह केवल एक ही ईश्वर की उपासना का प्रतिपादन करता है—इत्यादि''। पर दयानन्द का यह स्पष्टीकरण सरासर असत्य है। वेदों के शब्दों [मन्त्रों] का उन्होंने जो भाष्य प्रस्तुत किया है, वह बिल्कुल [पूरी तरह] असत्य है। उन्होंने केवल इतना ही नहीं कहा

कि—वेद विशुद्ध धर्म की शिक्षा देते हैं, अपितु यह भी ढोंग किया कि आधुनिक विज्ञान द्वारा किये गए समस्त शोध [मूलतः] वेदों में उपलब्ध होते हैं[३४]!! इस प्रकार उन्होंने लोगों को फँसाया। उनकी यह शिक्षा उन [हिन्दुओं] के लिये स्वागतार्ह सिद्ध हुई, क्योंकि उन्होंने यह पाया कि शुद्ध धर्म तो अपने ही घर [देश] में विद्यमान है। अतः उन्हें उस [विशुद्ध धर्म] के लिए ईसाइयत की ओर जाने की जरूरत बाकी नहीं रही। यही कारण था कि दयानन्द को उन [उत्तरी] भागों में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हुई। ये [हिन्दू] लोग अज्ञानी हैं, वेदों के बारे में उन्हें कुछ भी मालूम नहीं है, और इन वेदों की भाषा इतनी कठिन है कि भाष्यों के सहयोग के बिना विद्वान् पण्डित भी इन्हें समझ नहीं पाते। ऐसे सैकड़ों लोग हैं, जो इस तरह दयानन्द के द्वारा फँसाये गए हैं और अब उनके शिष्यों द्वारा फँसाए जा रहे हैं। मैंने इस सन्दर्भ में यह सोचा है कि यह [एक] बहुत उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण बात होगी कि ऐसे फँसे हुए (पथभ्रष्ट) लोगों को [हमें] सही दिशा बतानी चाहिए और उन्हें यह भी बतला देना चाहिए कि दयानन्द ने उन लोगों से जो कुछ कहा है, वह वैदिक शिक्षा नहीं है। वे [वेद] वस्तुतः एकेश्वर की उपासना करना नहीं सिखाते, अपितु उनका धर्म तो बहुदेवतावाद (पालिथिज्म) है। उन्हें ईसाइयत की ओर आकृष्ट करने के लिए [वेदों में एकेश्वरवाद नहीं, अपितु बहुदेवतावाद है] यह [धारणा] हमारा साधन बनेगी। [हमारे लिए सहायक होगी]। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि दयानन्द ने [एक प्रकार से] ईसाइयत की ओर आने के लिये [उन] लोगों को तैयार किया[३५]।

इसी कारण मैंने दिल्ली और उस भाग में (जहाँ दयानन्द ने काम किया है) जाने तथा उन लोगों में काम करने की अभिलाषा

---

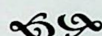
३४. (क) स्वामीजी की वेदविषयक भूमिका को गहराई से जानने की जिज्ञासा वाले पाठक उनके द्वारा लिखित 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' ग्रन्थ का अवलोकन-अवगाहन करें।

३५. फादर नेहेम्या गोरे का उक्त कथन का तात्पर्य सम्भवतः यह होगा कि स्वामी दयानन्द ने वेदों की दुर्बलता को छिपाने का प्रयास कर उसे और भी अधिक प्रकाशित कर दिया है। जिससे वेदों की आलोचना कर भारतीयों को ईसाई बनाना हमारे लिए आसान होगा।

अन्तर्मन में संजोयी हुई थी। परन्तु *दयानन्द के शिष्यों में कुछ शिष्य ऐसे हैं, जो मुझसे भी अधिक विद्वान् हैं और मैं उनसे बहस [शास्त्रार्थ] न हीं कर सकूँगा,* और क्या मेरी कही हुई यह बात तुम्हें याद है कि मैंने बनारस के किसी पण्डित को मेरे अपने साथ ले जाने की तुमसे अनुमति माँगी थी ? मुझे ऐसा लगता है कि उस समय ऐसी अनुमति देने का आपने आश्वासन दिया था। मैंने मिस्टर विलियम्स को लिखा है—जो पहले अहमदनगर में थे और अब दिल्ली के निकट काम कर रहे हैं, क्योंकि वे वेदों के बारे में बहुत कुछ जानते हैं और वे मुझे ग्रन्थ भी दे सकेंगे, क्योंकि इस कार्य के लिए कुछ बड़े ग्रन्थों की आवश्यकता है[३६]।

—नेहेम्या गोरे[३७]''

—वेदवाणी : मासिक : अप्रैल, मई, जून : १९९३ से साभार।



३६. प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद प्रा० सादोद्दीन सिद्दीकी, डॉ० अशोक सिरसीकर और श्रीमती वेदवती शास्त्री (नांदेड़) के सहयोग से किया गया है।

३७. **मूल सन्दर्भ**—ग्रन्थ नाम : लाइफ ऑफ फादर गोरे। लेखक—सी० ई० गार्डनर। प्रकाशनकाल—ईस्वी सन् १९००। प्रकाशक—लौंगमन्स ग्रीन एण्ड कम्पनी, ३९ पैटर नोस्टर रा, लन्दन। कुल पृष्ठ संख्या ४०३+२०+=४२३। पहला पत्र—पृष्ठ संख्या ३२१-३२२, दूसरा पत्र ३२२-३२४। सौजन्य : (१) श्री वि० ग० कानिटकर, १३६२ सदाशिव पेठ, पुणे-३०, (२) [स्मृतिशेष] श्री श्याम आढ़ाव, मंगल-धाम, शरणपुर, नासिक—४२२००२, (३) श्री भास्कर सदानन्द जाधब, १/३ साधु वासवानी कुंज, साधु वासवानी पथ, पुणे—४११००१, (४) श्री विजय जोशी : ग्रन्थपाल नेताजी सुभाषचन्द्र बोस महाविद्यालय-नांदेड़, (महाराष्ट्र), पिन-४३१ ६०२।





प्रथम दिवस आवरण FIRST DAY COVER



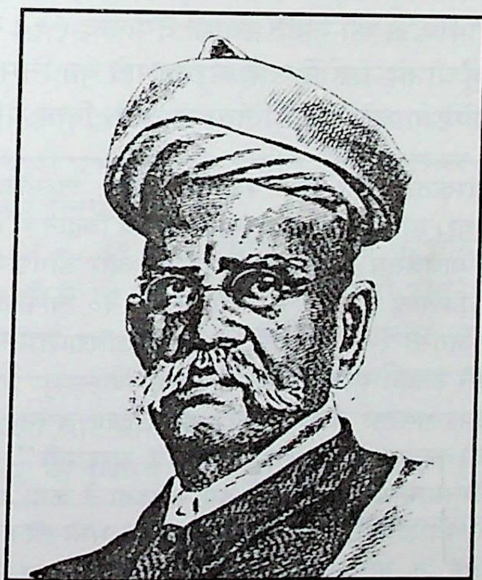
पंडिता रमाबाई PANDITA RAMABAI



पंडिता रमाबाई सरस्वती



न्यायमूर्ति रानड़े



डॉ० रामकृष्ण गोपाल भांड़ारकर

(४)

महर्षि दयानन्द सरस्वती और पण्डिता रमाबाई सरस्वती

पण्डिता रमाबाई (१८५८-१९२२) केजीवन का लगभग पूर्वार्द्ध यायावरी और विद्याध्ययन में ही बीता। जब वे छह महीने की थीं, तभी से उनकी यह यायावरी शुरु हुई थी। उनके यायावर माता-पिता[१] ने उन्हें बेंत की टोकरी में डालकर अपनी पहले से चली आ रही यात्रा को पूर्ववत् चालू रक्खा था। मंगरूळ-गंगामूळ (कर्नाटक), मद्रास, कश्मीर, आसाम, ढाका आदि प्रदेशों में विचरण करती हुई वह कोलकत्ता पहुँची। उसी समय पण्डिता ने अपने पाण्डित्य और आशुकवित्त्व[२] से कोलकत्ता शहर की सुप्रसिद्ध विद्वन्मण्डली को आश्चर्यचकित कर समस्त भारतवर्ष का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। जब पण्डिता की कीर्ति स्वामी दयानन्द (१८२५-१८८३) के कानों तक पहुँची तो उन्होंने उन्हें मेरठ आने का निमन्त्रण ही नहीं दिया, अपितु पण्डिता को सादर लिवा लाने के लिए पण्डित देवदत्त

---

१. पण्डिता के संस्कृतज्ञ माता-पिता का नाम क्रमशः लक्ष्मीबाई और अनन्त शास्त्री डोंगरे था। डोंगरे माध्व मतानुयायी वैष्णव विद्वान् थे। लक्ष्मीबाई वाई (सातारा) के माधवराव अभ्यङ्कर की पुत्री थी और डोंगरे की द्वितीय पत्नी थीं। —विश्रब्ध शारदा : सम्पादक : गं० दे० खानोलकर, पृ० २६१

२. पण्डिता जब अगस्त १८७८ में कोलकत्ता विश्वविद्यालय पधारीं, तब प्रो० टॉने महोदय ने उनका स्वागत करते हुए कहा था—

"यया भवत्या चकिताः, पण्डिता ईदृशा वयम्।
ततो मन्यामहे साक्षात्, वर्त्ततेऽत्र सरस्वती"॥

स्वागत का विनम्रता से प्रत्युत्तर देते हुए पण्डिता ने कहा था—

"भवद्भिर्यानि पुष्पाणि, प्रक्षिप्तानि ममोपरि।
अहं न तत्पात्रभूता, न तथैवास्मि पण्डिता॥
पर्वताकारसदृशा, भवद्भिर्मे गुणाः स्मृताः।
परमाणुसमास्ते स्युः, किन्त्वेतद् गुणगौरवम्॥"

—तत्रैव, पृ० २५६

शास्त्री को भी कोलकत्ता भेजा[३]। पण्डिता सन् १८८० में स्वामीजी के श्रीचरणों में मेरठ पहुँची।

जिस समय पण्डिता रमाबाई स्वामीजी के पास पहुँची तब उनके माता, पिता, भ्राता आदि आत्मीय जनों का निधन हो चुका था। पण्डिता के मेरठ निवास काल में उनके [भावी ?] पति श्री विपिन-बिहारीदास 'मेधावी' भी उनके साथ थे[४]। जब ४ फरवरी १८८२ को इनका भी निधन हो गया, तब प्रगतिशील महाराष्ट्र के साग्रह निमन्त्रण को ध्यान में रखते हुए पण्डिता रमाबाई ने मुम्बई होते हुए अप्रैल १८८२ में महाराष्ट्र की काशी विद्वद् नगरी पुणे को अपना केन्द्र बनाया। पुणे में इन्होंने 'आर्य महिला समाज' की स्थापना की। जिसकी शाखायें मुम्बई, सोलापुर, पंढरपुर और अहमदनगर में भी खुलीं। पुणे में पण्डिता ने एक और महत्त्वपूर्ण कार्य किया वह यह कि हण्टर कमीशन के सामने भारतीय महिलाओं की व्यथा-कथा को अपनी मातृभाषा मराठी में प्रस्तुत किया और उसे दूर करने की जबरदस्त अपील की। २० अप्रैल १८८३ को वे विशेष अध्ययन के लिए मुम्बई से इंग्लैण्ड की ओर रवाना हुईं। रवाना होने से पूर्व उन्होंने यह आश्वासन दिया था कि—'सब धर्मों में कुछ न कुछ गलतियाँ हैं, अतः मैं हिन्दू धर्म को छोड़कर कदापि ईसाई नहीं बनूँगी।' पर अभी छह महीने भी पूरे नहीं हुए थे कि वहाँ के ईसाइयों के सेवा कार्य से प्रभावित हो उन्होंने २९ सितम्बर १८८३ को ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया।

१८८३ से १८८९ तक विदेश में रहने के बाद पण्डिता रमाबाई जब स्वदेश लौटीं तो महाराष्ट्र ने उसे 'मेरी रमा' के रूप में पाया। रमा ने ११ मार्च १८८९ को मुम्बई में 'शारदा-सदन' की स्थापना की। इसी वर्ष मुम्बई में सम्पन्न कांग्रेस के अखिल भारतीय अधिवेशन में भी वे पहली बार महिला प्रतिनिधियों के साथ उपस्थित हुईं और समाज-सुधार के विषय में उन्होंने एक प्रभावपूर्ण भाषण दिया[५]।

---

३. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र, लेखक देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, पृष्ठ ६१४।

४. तत्रैव पृष्ठ ६१४।

५. संक्रमण : लेख—एका सामाजिक शोकनाट्याची नायिका, लेखिका-सरोजिनी वैद्य, पृष्ठ ३३।

कुछ समय मुम्बई में रहने के बाद फिर उन्होंने पुणे को ही अपनी कर्मभूमि बनाया। 'शारदा सदन' संस्था के माध्यम से पुणे (नवम्बर १८९०) में उपेक्षित नारियों को सुशिक्षित करने तथा उनके उपेक्षा के घावों को भरने का अभियान पण्डिता द्वारा शुरु करते ही परम्परावादी महाराष्ट्र को ही नहीं, अपितु प्रगतिशील महाराष्ट्र को भी उनके कार्य से धर्मान्तर की गन्ध आने लगी। फलस्वरूप लोकमान्य तिलक की लेखनी गरम हुई और रानडे-भांडारकर की प्रार्थनासमाजी जोड़ी ने भी पण्डिता रमाबाई की 'शारदा-सदन' संस्था से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया।

तत्पश्चात् पण्डिता ने 'एकला चलो रे' की भावना से पुणे से ४० किलोमीटर की दूरी पर केडगाँव में 'नारी-मुक्ति-सदन' की स्थापना की। अपने स्नेही-सहयोगियों और पुणे को राम-राम करने से पूर्व उन्होंने एक और महत्त्वपूर्ण कार्य किया। १८९६ में पुणे में फैले प्रलयी-प्लेग के समय ब्रिटिश सैनिकों ने नागरिकों पर जो अत्याचार किए थे, उसके विरुद्ध उन्होंने पूर्ण स्वाभिमान के साथ अपनी आवाज बुलन्द की, जिससे प्रभावित होकर लन्दन में स्थित गोपाल कृष्ण गोखले ने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध अपना अभियान शुरु किया। फलस्वरूप जाँच-समिति भारत आई, पर उसने सारे आरोप झूठे सिद्ध कर दिए। जब प्रमाण देने के लिए श्री गोखले महोदय को कोई भी भारतीय मित्र नहीं मिला और जब उन्हें यह महसूस होने लगा कि अब ब्रिटिश सरकार से 'प्रकट क्षमा' माँगनी पड़ेगी, तब एक भारतीय महिला मेरी रमा ही ऐसी थी, जिसने धैर्य और तेजस्विता के साथ श्री गोखले का साथ दिया था[६]।

मेरी रमा ने अपना सारा जीवन केडगाँव के 'नारी-मुक्ति-सदन' के लिए 'इदन्नमम' की भावना से समर्पित कर दिया। 'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी' को दूर करने के लिए अब वह पूर्णतया स्वतन्त्र थी। 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' हो जाने के बाद अब उनके धर्मान्तर के अभियान पर किसी के द्वारा अंकुश लगाने का प्रश्न ही शेष नहीं रह गया था। पुणे में प्लेग फैला, गुजरात-मध्यप्रदेश में भयंकर अकाल पड़ा। जहाँ-जहाँ भी आवश्यकता हुई 'मेरी रमा' दौड़ी-दौड़ी पहुँची।

६. तत्रैव, पृष्ठ ६५।

केडगाँव के मिशन में भूखे-रोगी कंकालों की सैकड़ों-हजारों की संख्या में भीड़ आने लगी। सन् १९०५ में २२० कुमारी माता उनके मुक्ति-सदन में थीं[७]। अपने मिशनरी सहयोगियों की सहायता से 'मेरी रमा' ने इन सबको माँ का ममत्व दिया, वात्सल्य दिया।

काश, ईसाइयों की तुलना में उस समय का भारतीय समाज महिलाओं के प्रति अधिक उदार होता तो उसे 'पण्डिता रमाबाइयों' को 'मेरी रमाओं' में कदापि परिवर्तित होते हुए देखना न पड़ता। पण्डिता का यह दौर्भाग्य रहा कि ज्ञानी पिता, स्नेही माता, सरल भ्राता, रसिक पति, स्वामी दयानन्द से गुरु और रानडे-भाण्डारकर-महात्मा फुले जैसे सहयोगी मिलने के बावजूद भी उनका समस्त जीवन रूखा-सूखा, वीरान और उपेक्षित-सा ही रहा और उनके द्वारा अधीत संस्कृत विद्या का लाभ भारतीय महिलाओं के लिए उल्लेखनीय रूप में उपयोगी नहीं हो सका।

पण्डिता रमाबाई के विषय में मराठी के सुप्रसिद्ध पत्रकार आचार्य प्रह्लाद केशव अत्रे ने लिखा है कि—'यह सत्य है कि पण्डिता ने हिन्दू-धर्म का त्याग कर अन्त में ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया, पर केवल इसी कारण उनके शेष महद् कर्त्तृत्व को बाधा पहुँचती है—ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं कह सकता[८]।' इसी विषय में आगे वे लिखते हैं—'पण्डिता ने ईसाई धर्म स्वीकार कर निस्सन्देह भारतीय ईसाई समाज की बहुत बड़ी सेवा की है, पर जिस हिन्दू समाज में उनका मूल रूप से जन्म हुआ था, जिस हिन्दू समाज ने उनके पाण्डित्य का विशेष गुण-गौरव किया, उस समाज को उनकी असाधारण बुद्धि का, ज्ञान और कर्त्तृत्व का बिल्कुल भी फायदा नहीं हुआ। यह खेद के साथ कहना पड़ता है कि धर्मान्तर न करते हुए यदि पण्डिता ने विद्यादान और समाज-सुधार का कार्य स्व-समाज में किया होता तो विष्णु शास्त्री चिपळूणकर, रानडे, तिलक, आगरकर और महर्षि कर्वे की मालिका में पण्डिता रमाबाई का नाम भी निस्सन्देह पिरोना पड़ता[९]।'

---

७. तत्रैव, पृष्ठ ६६। सुप्रसद्धि मराठी साहित्यकार आचार्य प्रह्लाद केशव अत्रे द्वारा प्राप्त जानकारी के अनुसार २०वीं सदी के पाँचवें दशक में मुक्ति-सदन में १५०० महिलायें शिक्षा प्राप्त कर रहीं थीं। मराठी माणसे मराठी मने, पृष्ठ ४२।

८. मराठी माणसे मराठी मने, पृष्ठ ४३।

९. तत्रैव, पृ० ४७।

स्वामी दयानन्द की तुलना में पण्डिता रमाबाई के जीवन-वृत्त से सामान्य पाठक सुपरिचित नहीं हैं, अतः पण्डिता का संक्षिप्त परिचय उपरोक्त पंक्तियों में दिया गया है।

पण्डिता रमाबाई (१८५८-१९२२) और स्वामी दयानन्द (१८२५-१८८३) दोनों भी १९वीं सदी के सुप्रसिद्ध संस्कृतज्ञ और प्रगतिशील विचारक थे। दोनों ने ही एक दूसरे की विद्वत्ता की कीर्त्ति परोक्षरूप से सुनी थी। स्वामीजी ने यह सोचकर कि—'महिलाओं को संस्कृत पढ़ाने तथा वैदिकधर्म का प्रचार-प्रसार करने हेतु पण्डिता जैसी विदुषी महिला महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकेगी', उन्हें मेरठ पधारने के लिए पत्र लिखे, जिन्हें पाकर पण्डिता रमाबाई मेरठ पधारीं थीं। इस समय स्वामीजी की आयु ५५ वर्ष और पण्डिता की आयु २२ वर्ष थी।

मेरठ में लगभग एक मास तक पण्डिता ने स्वामीजी के श्रीचरणों में बैठकर उनसे दर्शन ग्रन्थों के कतिपय सूत्रों के अतिरिक्त आर्यसमाज के सिद्धान्तों का भी परिचय प्राप्त किया, पर पण्डिता न तो संस्कृत की अध्यापिका बनीं और न ही वैदिकधर्म की प्रचारिका। इस विषय में उन्होंने अपनी असमर्थता बतलाते हुए या स्वस्थान से वापिस लौटकर फिर विचार करने का अभिवचन देकर सदा-सदा के लिए स्वामीजी से छुट्टी ले ली। इसी के साथ स्वामीजी के पण्डिता रमाबाई के माध्यम से स्त्रियों को सुशिक्षित करने के उपाय सदा-सदा के लिये चकनाचूर हो गए।

स्वामी दयानन्द और पण्डिता रमाबाई का जो पत्रव्यवहार मिलता है, उससे यह तो स्पष्ट है कि दोनों ओर से परस्पर एक-दूसरे को तीन-तीन पत्र लिखे गए[१०], परन्तु स्वामीजी का तीसरा पत्र, जिसका

१०. स्वामीजी ने पण्डिता को पहला पत्र २८ जून १८८० को और दूसरा पत्र २१ जुलाई १८८० को लिखा था। तीसरा पत्र अज्ञात व दुर्लभ है। जिसके लिखे जाने की सूचना पण्डिता के तीसरे पत्र से मिलती है। उक्त दोनों संस्कृत के मूल पत्र हिन्दी भाषानुवाद के साथ पं० भगवद्दत्त बी० ए० द्वारा सम्पादित 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' (प्रथम भाग) नामक ग्रन्थ में पृ० ३३९ से ३४२ तक तथा ३५४ से ३५६ तक मुद्रित हैं। स्वामीजी के प्रत्युत्तर में पण्डिता ने पहला पत्र ९ जुलाई १८८० को और दूसरा पत्र १ अगस्त १८८० को लिखा है। तीसरा पत्र 'अ-तिथि' है। स्वामीजी के पास लगभग

प्रत्युत्तर पण्डिता रमाबाई ने दिया है, आज तक भी अप्राप्त है और उसका मूल स्वरूप निश्चित रूप से क्या रहा होगा, यह कह सकना कठिन है। स्वामीजी के अन्तिम पत्र के उत्तर में पण्डिता ने जो प्रत्युत्तर दिया है, उसका तद्युगीन प्रसङ्ग और परिवेश में विचार-विमर्श करने के बाद कतिपय प्रश्न उभरे हैं, जिनसे कुछ उलझी हुई समस्याएँ सामने आई हैं, जिन्हें समझने और सुलझाने का प्रयास इस लेख में किया जा रहा है।

पहला प्रश्न यह है कि—स्वामीजी ने पण्डिता द्वारा स्वयं चुने हुए एम० ए० बी० एल० उपाधिधारी सुशिक्षित वर (पति) को यदि शूद्र कहा भी होगा तो क्यों कहा होगा? क्या स्वामी दयानन्द प्रतिगामी थे, जो सिद्धान्त रूप में गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्ण-व्यवस्था मानते हुए भी कभी-कभी जन्मना वर्णव्यवस्था का भी समर्थन करते थे? दूसरा प्रश्न यह है कि पण्डिता ने श्री विपिनबिहारी के साथ हुए वाग्दान (या विवाह विषयक बातों) को छुपाकर यह क्यों कहा कि मैं आजीवन कुमारी रहना चाहती हूँ? पण्डिता रमाबाई और विपिन बिहारी बंगाली के विवाह की जो तीन अलग-अलग तारीखें पायी जाती हैं, आखिर उनमें से सही तारीख कौन-सी है? पण्डिता विवाह से पूर्व ईसाई बनीं या विवाह के बाद? स्वामीजी और पण्डिता रमाबाई दोनों भी सामान्यजन के लिए आप्त पुरुषवत् और दृढ़निश्चयी के रूप में सुपरिचित हैं, ऐसी स्थिति में आखिर किसकी भूमिका को सही माना जाए। इन सब अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने का एक स्वल्प-सा प्रयास यहाँ पर किया जा रहा है।

महर्षि और पण्डिता का पत्रव्यवहार इस तथ्य को उजागर करता है कि स्वामीजी पण्डिता रमाबाई को तीन रूपों में देखना चाहते थे। १. वैदिकधर्म और आर्यसमाज की प्रचारिका के रूप में। २. वैदिक कालीन विदुषी ब्रह्मवादिनी गार्गी की तरह आजन्म ब्रह्मचारिणी के

एक मास तक दर्शन ग्रन्थों का अध्ययन कर स्वस्थान लौट चुकने के बाद सम्भवतः श्रीहट्ट (पूर्वी बंगाल) से तीसरा पत्र भेजा गया है। उपरोक्त तीनों संस्कृत के मूल पत्र हिन्दी भाषानुवाद के साथ पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित—'ऋषि दयानन्द सरस्वती को लिखे गये पत्र और विज्ञापन' (प्रथम भाग) नामक ग्रन्थ में क्रमशः १०२ से १०४ तक, १११ से ११३ तक व ११३ से ११५ तक प्रकाशित हुए हैं।

रूप में तथा ३. स्त्री जगत् का उपकार करनेवाली अध्यापिका या उपदेशिका के रूप में।

महर्षि के इन तीन सपनों में से प्रथम सपना तो बिल्कुल भी पूरा नहीं हुआ, पर इतना निश्चित है कि केवल १९ महीने का गृहस्थ जीवन जीने के उपरान्त विधवा होने के कारण पण्डिता का शेषजीवन एक समर्पित कार्यकर्त्री के रूप में ही बीता। वे चाहतीं तो पुनर्विवाह कर पुनश्च गृहस्थी बन सकती थीं। सम्भव है जब-जब पुनर्विवाह के विचार उनके मन में उठते होंगे तब-तब स्वामीजी द्वारा विवाह से पूर्व पत्र द्वारा अभिव्यक्त विचारों की अनुगूँज उन्हें बार-बार सुनाई देती रही होगी कि—जैसे आर्यावर्त्तीय सती विदुषी गार्गी आदि कुमारियों ने ब्रह्मचर्य में स्थित होकर स्त्रीजनों को जितना सुख लाभ प्राप्त कराया है, वैसा उतना सुख आप विवाह करने पर अनेक प्रतिबन्धों के कारण प्राप्त नहीं करा सकेंगी[११]। (यथाऽऽर्य्यावर्त्तीयाः सत्यो विदुष्यो गार्ग्यादयः कुमार्यो ब्रह्मचर्ये स्थित्त्वा स्त्रीजनादिभ्यो यावान् सुखलाभः प्रापितवत्यस्तथा तावान् विवाहे कृतेऽनेकप्रतिबन्धक-प्राप्त्या प्रापितुमशक्यः)।

स्वामी दयानन्द का तीसरा सपना था कि पण्डिता रमाबाई को स्त्रीजाति का उपकार करनेवाली अध्यापिका या उपदेशिका के रूप में देखने का। इस तथ्य से तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि पण्डिता ने स्वामीजी की 'स्त्री जाति का कल्याण' करने की कामना को यथाशक्ति पूर्ण ही किया है, परन्तु उनके उस कार्य के साथ-साथ भारतीयों को ईसाई बनाने का जो सूत्र जुड़ गया, उससे सभी कुछ किया-कराया मिट्टी में मिल गया। इस प्रकार की घटनाओं से वेदाभिमानी स्वामीजी का सहमत होना तो स्वप्न में भी सम्भव नहीं था।

पण्डिता रमाबाई चाहे स्वामी दयानन्द के सपनों को पूर्ण न कर पायी हों, पर इतना निश्चित कहा जा सकता है कि—अपने जीवन के अन्तिम चरण में भी वे स्वामीजी की प्रशंसक बनी रहीं। पण्डिता ने १ मई १८८२ को पुणे में 'आर्य महिला समाज' की स्थापना की थी।

११. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, प्रथम भाग, सम्पादक पं० भगवद्दत्त, पृष्ठ ३४१।

आर्यसमाज से मिलते-जुलते इस नाम को स्वीकार करने की पृष्ठभूमि में भी सम्भव है पण्डिता का आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द के प्रति श्रद्धाभाव ही प्रमुख प्रेरक कारण रहा हो। मराठी की सुप्रसिद्ध लेखिका मृणालिनि जोगळेकर का भी कुछ ऐसा ही अनुमान रहा है[१२]। 'आर्य महिला समाज' का उद्देश्य था—'भारतवर्ष की समस्त सभ्य स्त्रियों पर बहुत दिनों से चले आ रहे बाल-विवाह, अशिक्षा और उससे उत्पन्न पराधीनता आदि अन्ध परम्पराओं के कारण जो अत्याचार हो रहे हैं, उनसे स्त्रियों को मुक्ति दिलाना तथा स्त्रियों की धर्म, नीति, व्यवहार आदि की वर्त्तमान शोचनीय स्थिति को समाप्त कर उनकी उन्नति के लिये सतत संघर्षशील रहना'[१३]।

पण्डिता रमाबाई ने १३ नवम्बर सन् १९०३ को स्वामी दयानन्द के बंगाली चरित्रकार पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को जो पत्र लिखा था, उसमें भी उन्होंने स्वामीजी विषयक निजी सम्मति निम्न प्रकार प्रकट की थी—

"मैं मेरठ में आर्यसमाज के एक सभासद्—बाबू छेदीलाल के गृह पर ठहरी थी।........स्वामीजी के सम्बन्ध में जो भाव मेरे मन पर अङ्कित हैं, वे वास्तव में बहुत उत्तम हैं, वे सर्वभावेन दयास्वरूप थे। वे प्रांशु-विशाल-दर्शन भद्रपुरुष थे। वे सच्चे और शुद्ध भावयुक्त पितृ प्रकृति के पुरुष थे। उनका मेरे साथ वर्त्ताव कृपापूर्ण और पितृतुल्य था। वे शुद्ध भाषा प्रभावोत्पादक स्वर में बोलते थे। वे कभी हिन्दी और कभी संस्कृत में बातें किया करते थे, परन्तु संस्कृत उनकी प्यारी भाषा थी।.....उनकी शिक्षा अद्वैत वेदान्त से भिन्न थी और उस समय मैं केवल एक इसी बात में उनसे सहमत थी।.....उन्होंने मुझसे यह कहा था कि मैं चाहता हूँ कि तुम आर्यसमाज में सम्मिलित हो जाओ। मैं तुम्हें शिक्षा दूँगा। और तुम्हें आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रचार के लिये तैयार करूँगा। मैं [उस समय] धार्मिक विषयों में

---

१२. १ दिसम्बर १९९२ को लेखक को लिखे पत्र में मराठी की सुप्रसिद्ध लेखिका [स्वर्गीया] मृणालिनी जोगळेकर ने लिखा है कि—पण्डिता ने पुणे जाने के बाद 'आर्य-महिला समाज' की स्थापना की। इसका दयानन्दजी के आर्यसमाज से कोई मेल है ? इस नाम की प्रेरणा उन्हें कहाँ से मिली होगी ?

१३. विश्रब्ध शारदा, सम्पादक गं० दे० खानोलकर, पृष्ठ २७१।

अव्यवस्थित थी। अतः मैंने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।''
इसी पत्र में वे आगे लिखती हैं—

''स्वामी दयानन्द स्त्रियों के लिए धर्म की आवश्यकता स्वीकार करते थे। वे कहते थे कि स्त्रियाँ वेद पढ़ सकती हैं। उसकी हिन्दू धर्म आज्ञा नहीं देता था। इस कारण से कि हिन्दू धर्म स्त्रियों और शूद्रों से द्वेष करता था, मेरी आत्मा उसकी विद्रोही बन गई थी। जहाँ तक उनकी शिक्षा का—स्त्रियों को वेद, दर्शन और धर्मशास्त्रों के पढ़ने का—अधिकार देने से सम्बद्ध था, वहाँ तक मैं उनसे प्रसन्न थी[१४]।''

इस प्रदीर्घ पत्र में पण्डिता रमाबाई ने स्वामी दयानन्द तथा थियोसॉफिकल सोसाइटी के संस्थापक कर्नल आल्कॉट और मैडम ब्लैवेट्स्की की उस बातचीत का भी किंचित् विस्तार से उल्लेख किया है, जो उनके सामने हुई थी और जिसमें स्वामीजी ने ईश्वर और वेदों के अपौरुषेयत्त्व पर अविश्वास जतलाने के कारण कर्नल अल्कॉट और मैडम ब्लैवेट्स्की की थियोसोफिकल सोसाइटी से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखने का निश्चय व्यक्त किया था[१५]।

स्वामीजी के पास एक मास से भी कुछ अधिक समय तक[१६] अन्तेवासिनी शिष्या के रूप में रहने के बाद जब पण्डिता रमाबाई मेरठ से विदा होने लगीं तब उन्हें विदा करने के उपलक्ष्य में एक सभा का आयोजन किया गया था, जिसमें प्रत्युत्तर देते हुए पण्डिता

---

१४. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित : देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, पृ० ६१६।

१५. थियोसॉफिकल सोसाइटी के संस्थापक कर्नल हेनरी स्टील आल्कॉट ने अपने संस्मरणात्मक ग्रन्थ 'ऑल्ड डायरी लीव्ज' में सोसाइटी और आर्यसमाज के सम्बन्धों के विषय में जो संस्मरण लिखे हैं, वे भी पण्डिता के कथन की यत्किंचित् पुष्टि करते हैं। कर्नल लिखते हैं—''स्वामी दयानन्द और मेरी आर्यसमाज तथा थियोसॉफिकल सोसाइटी के अध्यक्ष के रूप में सुदीर्घ, गम्भीर तथा गुप्त बातचीत बहुत देर तक हुई। इसका परिणाम इस प्रकार निकला हममें से कोई एक दूसरे के विचारों के लिये उत्तरदायी नहीं है। दोनों संस्थाएँ सहयोगी होकर भी स्वतन्त्र हैं।''

—वेदवाणी-मासिक, जनवरी १९८६, पृ० ५८

१६. पण्डिता ने स्वामी दयानन्द के बंगाली चरित्रकार देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को १३ नवम्बर १९०३ को भेजे पत्र में लिखा है कि—''मैं मेरठ में [स्वामीजी के पास] तीन सप्ताह से अधिक रही पर स्वामीजी के पण्डिता के अतिरिक्त अन्यों को ९ अगस्त तथा ८ सितम्बर को लिखे पत्रों से स्पष्ट है कि—९

रमाबाई ने स्वामीजी की बहुत प्रशंसा की थी तथा उन्हें 'बृहस्पति की उपमा'[१७] देते हुए उत्तम कोटि का मनुष्य बतलाया था।

पण्डिता रमाबाई ने आजन्म ब्रह्मचारिणी रहते हुए अध्यापिका-उपदेशिका का महत्कार्य करने में अपने आपको असमर्थ बताते हुए जो कुछेक कारण प्रस्तुत किए थे, वे निम्न प्रकार थे—

(१) मेरे पिताजी साठ-सत्तर हजार रुपये का ऋण छोड़ गए हैं, जिसे अभी मुझे चुकाना है[१८]। (२) एक स्त्री होने के कारण मेरे लिए उपदेशिका के रूप में सर्वत्र घूमना सम्भव नहीं है[१९]। (३) गार्गी आदि आजन्म ब्रह्मचारिणियों और ब्रह्मवादिनियों-सी महत्तम क्षमता मुझ में नहीं है[२०]। (४) धार्मिक मामलों में मैं सुदृढ़ होने की अपेक्षा अव्यवस्थित अधिक हूँ।

इन चार कारणों में से जो प्रथम आर्थिक कारण है, उसे स्वामी दयानन्द और उनका आर्यसमाज दूर करने के लिए तैयार था। स्वामीजी ने पण्डिता को भेजे अपने प्रथम निमन्त्रण में स्पष्ट लिखा था कि—'यदि श्रीमती की इच्छा हो कि सर्वत्र उपदेश के लिए यात्रा करें तो आर्यावर्त्त में सर्वत्र यात्रा के अर्थ और योगक्षेम के लिए इस स्थान के निवासी आर्य पुरुष आपको धन दे सकते हैं। इसमें कुछ भी शंका

अगस्त से पूर्व पण्डिता के दो व्याख्यान मेरठ में हो चुके थे तथा ८ सितम्बर तक वे मेरठ में ही थीं और पण्डिता ९ सितम्बर को मेरठ से स्वस्थान की ओर प्रस्थान करनेवाली थी। पण्डिता के कोलकत्ता से १-८-८० को लिखे पत्र में लिखा है कि—श्रीमत्पादों के दर्शनार्थ पूर्वरात्रि के अढाई मुहूर्त व्यतीत होने पर वाष्पीय यान में चढ़कर चलने की इच्छा है।.....चार-पाँच दिन के भीतर श्रीमत्पादों के दर्शन से अपना जन्म कृतार्थ करूँगी—यह संकल्प है। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि ६ अगस्त १८८० तक पण्डिता मेरठ पहुँच चुकी थी, और ९ अगस्त तक उनके दो व्याख्यान सम्पन्न हो चुके थे। स्पष्ट है कि पण्डिता रमाबाई स्वामीजी के निकट अन्तेवासी के रूप में एक मास से भी कुछ अधिक समय तक रहीं।''

१७. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र, देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, पृ० ६१५।

१८. तत्रैव, पृ० ६१५। १९. तत्रैव, पृ० ६१५।

२०. ऋषि दयानन्द को लिखे गए पत्र और विज्ञापन, सम्पादक पं० युधिष्ठिर मीमांसक, पृ० १०४।

नहीं[२१] (यदि श्रीमत्युपदेशाय सर्वत्र यात्रां चिकीर्षेत् तर्हि एतत् स्थानादिनिवासिन आर्य्या भवत्या: सर्वत्रार्य्यावर्त्तयात्रायै योगक्षेमाय च धनं दातुं शक्नुवंति नात्र काचिच्छंकास्ति)। आजन्म ब्रह्मचारिणी रहते हुए उपदेशिका बनने में पण्डिता रमाबाई ने जो असमर्थता का दूसरा कारण प्रस्तुत किया है, वह यह कि—'एक स्त्री होने के कारण मेरे लिये सर्वत्र घूमना सम्भव नहीं है।' परन्तु इस धारणा को तो स्वयं पण्डिता ने अपने भावी जीवन से मिथ्या सिद्ध कर दिया था। वह स्वयं अकेली ही १८८३ से १८८९ तक लन्दन और अमेरिका में ज्ञानार्जन के लिए विचरण करती रही, तत्पश्चात् 'केडगाँव' (पुणे) में उपेक्षित विधवाओं के उद्धार के लिए उन्होंने आजीवन अकेले ही संघर्ष किया था। इतना साहस जिस महिला ने बतलाया, उसे स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज जैसे संगठन के साथ रहते 'एक स्त्री मात्र होने के कारण उपदेशिका के रूप में घूमने में किसी प्रकार की कठिनाई होती' इस धारणा पर विश्वास ही नहीं होता। आखिर पण्डिता तो वह स्त्री थी, जिसने जन्म से स्वामी दयानन्द के पास आने तक का स्व-जीवन खानाबदोश होने के कारण यायावरी में ही बिताया था।

आजन्म ब्रह्मचारिणी रह उपदेशिका न बन पाने का तीसरा कारण देते हुए पण्डिता ने विनम्रता के साथ यह स्वीकार किया है कि—'गार्गी जैसी विदुषी तपस्वी ब्रह्मचारिणियों-सी क्षमता मुझ में नहीं है, अत: उनसे मेरी तुलना करना ठीक नहीं।' इस विषय में उन्होंने जो चौथा कारण बताया, उसमें तो पण्डिता ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि—'धर्म के सन्दर्भ में उस समय मैं अव्यवस्थित थी। किंकर्त्तव्यविमूढ़ थी कि किस धर्म को स्वीकार किया जाए।' इस सन्दर्भ में उनके मन की और न ही बुद्धि की कोई निश्चित भूमिका बन पाई थी। इस प्रश्न को लेकर सम्भवत: उनके मन में अनेक अन्तर्द्वन्द्व उठ रहे होंगे। कभी पौराणिक सनातनधर्मी बने रहने का विचार आता होगा, कभी वैदिकधर्मी, कभी ब्रह्मसमाजी और कभी ईसाई।

पण्डिता रमाबाई के घटनाक्रम को सूक्ष्मता से देखा जाए तो

२१. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, प्रथम भाग, पृ० ३४२।

लगता है ये सब कारण उन्होंने स्वामीजी से केवल कहने के लिए कहे होंगे। अपने एक असत्य को छिपाने के लिए उन्हें अनेक बहाने बनाने के लिए विवश होना पड़ा होगा। मूल कारण तो यह रहा होगा कि वे विपिनबिहारी बंगाली के इतनी नजदीक आ चुकी होंगी कि उनसे दूर रहना उनके लिये तब सम्भव ही नहीं होगा। उक्त बंगाली युवक के साथ जाने-अनजाने बन्धी सांसारिक प्रणय ग्रन्थि को छोड़कर ब्रह्मचारिणी रह पाना तब पण्डिता के लिए शायद कदापि सम्भव नहीं होगा। यदि अनेक विश्वसनीय ग्रन्थों में निर्दिष्ट १३ जून १८८० को ही पण्डिता रमाबाई की विवाह की सही तारीख मानी जाए तो यह स्वीकार करना होगा कि पण्डिता स्वामीजी के पास आने से पूर्व ही विवाहिता हो चुकी थीं। महर्षि दयानन्द को लिखे गए पत्रव्यवहार में पण्डिता की विवाह की तारीख १३ अक्टूबर १८८० छपी है तथा अन्यत्र भी कहीं-कहीं यही विवाह की तारीख नजर आती है, पर यह तारीख गलत प्रतीत होती है कि क्योंकि अधिकांश ग्रन्थ-लेखकों ने पण्डिता रमाबाई के विवाह की तारीख १३ जून १८८० ही मानी है। यदि १३ अक्टूबर या १३ नवम्बर १८८० की तिथि को ही सही मानने का हठ किया जाए तो यह स्वीकार करना कठिन हो जाता है कि पण्डिता की इकलौती कन्या मनोरमा का जन्म १५ अप्रैल १८८१ को हुआ[२२]। जब कि मनोरमा का जन्म सभी लेखकों ने उक्त काल में ही माना है। केवल ५ महिने २ दिन या ६ महिने २ दिन में अपवादात्मक रूप से कुछ विरले बच्चों का ही सम्भवतः जन्म होता होगा। ऐसी विवादात्मक स्थिति में हम स्व० श्री गं० दे० खानोलकर जैसे प्रामाणिक चरित्र लेखकों द्वारा स्वीकृत १३ जून १८८० को ही सही मानकर चलते हैं,[२३] और इस अनुमान पर पहुँचते हैं कि—पण्डिता रमाबाई ने स्वामी दयानन्द सरस्वती के साक्षात्कार के लोभवश स्वामीजी से यह सत्य छिपा लिया था कि वह विवाहबद्ध हो गृहस्थी हो चुकी है।

२२. प्रायः इस तथ्य से सभी सहमत हैं कि पण्डिता की कन्या मनोरमा का जन्म १५ अप्रैल १८८१ को हुआ। केवल आचार्य प्र० के० अत्रे इसके अपवाद हैं। वे लिखते हैं—'पति निधन के समय रमाबाई गर्भवती थी।' (मराठी माणसे मराठी मने, पृ० ४४), पर उनका यह कथन विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता।

२३. विपिन-रमा विवाह की तारीख १३ जून १८८० को सही मानने का एक कारण यह है कि विपिनबिहारी के निकटतम सम्बन्धी श्री हेमेन्द्रनाथ दास ने (जिनके सहयोग के आधार पर पद्मिनीसेन गुप्ता ने १९७० में 'पण्डिता

सम्भवत: पण्डिता को यह भय रहा होगा कि—यदि वह यह कह देती कि मैं विवाहबद्ध हो चुकी हूँ तो उसे स्वामीजी से साक्षात्कार करने और उनकी अन्तेवासिनी शिष्या बनकर अध्ययन का अवसर शायद ही मिल पाता? पण्डिता रमाबाई ने स्वामीजी को भेजे अपने सर्वप्रथम पत्र में लिखा भी था कि—'आज मुझे आर्यावर्त्त में आये प्राय: तीन-चार वर्ष हुए तब से मैं श्रीमत्पादों के ज्ञानगौरव को बराबर सुनती रही और आपके चरणों के दर्शन के लिए मन अतीव उत्सुक था, परन्तु इतने काल तक इस संशय के दोला (झूले) पर आरूढ़ मन ने हृदय-उत्साह के वेग को रोके रक्खा कि न जाने चतुर्थ आश्रम में स्थित श्रीमत्पाद इस बालबुद्धि मुझ स्त्री पर दर्शन दान के प्रसाद से कृपा करेंगे वा नहीं। आज भवत्पादों के पत्र ने मेरे संशय अन्धकार को दूर कर दिया[२४]।' (अद्य प्रायस्त्रिचतुर्वत्सराणि यावदन्तरा-र्यवर्त्त समागताया मम निरन्तरं शृण्वन्त्या: श्रीमत्पादानां ज्ञानगौरवमतीव

रमाबाई शत सांवत्सरिक समिति' के तत्त्वावधान में पण्डिता का (जीवन-चरित्र लिखा था) सन् १९३६ में प्रकाशित 'श्रीहट्ट सम्मीलनीर हीरक जयन्ती स्मृति पुस्तिका' में अपने 'पण्डिता रमाबाई ओ श्री हट्ट' नामक बंगाली लेख में यह लिखा है कि—'विवाह के उन्नीस मास बाद अकस्मात् विपिन बिहारी विषूचिका की बीमारी में परलोकवासी हो गए। इसी बीच उनकी एक कन्या का जन्म हुआ।' (विवाहेर उन्नीस मार परे विपिनबिहारी अकस्मात् कॉलरा रोगे परलोक गमन करेन। इति मध्ये ताहादेर एक्टि कन्या जन्मिया छिलो—पृष्ठ ८०)। यहां यह बात ध्यान में रखना जरूरी है कि विपिन बिहारी के वैवाहिक जीवन को १९ महीने तभी हो सकते हैं जब उनकी विवाह की तिथि १३ जून १८८० और निधन तिथि ४ फरवरी १८८२ मानी जाए। पण्डिता और विपिन के वैवाहिक जीवन को कई अन्य लेखकों ने भी १९ महीने का ही स्वीकार किया है। १३ जून १८८० को सही विवाह की तिथि मानने का एक और कारण यह है कि—पण्डिता के विवाह के बारे में एक और मान्यता यह है कि—'रमाबाई के अग्रज श्रीनिवास शास्त्री के निधन (८ मई १८८०) के छह सप्ताह बाद पण्डिता का विवाह सम्पन्न हुआ' [रमाबाई : ज्योत्स्ना देवघर, पृ० ५७] यह कथन भी पण्डिता के विवाह की तीन तारीखों (१३ जून, १३ अक्तूबर, १३ नवम्बर) में से १३ जून १८८० की ही पुष्टि करता है। यह बात अलग है कि १३ जून को श्रीनिवास शास्त्री के देहान्त को छह सप्ताह नहीं, अपितु पाँच सप्ताह सम्पन्न होते हैं।

२४. ऋषि दयानन्द सरस्वती को लिखे गए पत्र और विज्ञापन : प्रथम भाग, पृ० २०४।

सौत्सुक्यमासीन्मनस्तत्र भवत्पाददर्शनाय। परमेवान्तं कालं न जाने तत्र भवत्पादाश्चतुर्थाश्रमपरिग्रहा अतो बालिशधियं स्त्रियं मां दर्शनदान-प्रसादेनानुग्रहीष्यन्ति वा न वेति संशयदोलारूढमना: कथमपि निजग्राह हृदयौत्सुक्यवेगम्। अद्य भवत्पादानां पत्रमन्तर्दधे मम संशयान्तान्)।

जब पण्डिता रमाबाई ने स्वामीजी के सामने ब्रह्मचारिणी रहकर वैदिक धर्म का प्रचार करने तथा स्त्रियों की शिक्षा और उद्धार हेतु अपना जीवन समर्पित करने के प्रति असमर्थता बतलाई तब पश्चात्ताप करते हुए स्वामीजी ने कहा था—यदि हम जानते कि रमाबाई स्वदेश के पुनरुद्धार के लिए कार्य करना स्वीकार नहीं करेगी तो हम कदापि अपने चतुर्थाश्रमी नियम विरुद्ध उसे अपने सामने बिठाकर शास्त्र पढ़ाने के लिए उद्यत न होते[२५]। स्वामीजी उस समय पण्डिता से इतने हताश और निराश हो गए कि रमाबाई के इस अनुनय-विनय को कि—'मुझे आपके साथ रहकर अन्य शास्त्र पढ़ने की आज्ञा दी जाए[२६]'—को स्वामीजी ने यह कहकर कठोरता से अस्वीकृत कर दिया कि—'आज से मेरा तुम्हारे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है[२७]।' काश स्वामीजी पण्डिता रमाबाई को उनकी इच्छानुसार कुछ और दिन के लिए शास्त्र पढ़ाने की अनुमति देते तो सम्भव है कि स्वामीजी का ज्ञानाधार पाकर पण्डिता ईसामसीह के शरण में कदापि न जाती, पर शायद यह सब नहीं होना था, क्योंकि इस काल में जहाँ स्वामीजी को पण्डिता के चञ्चल-क्रोधी स्वभाव का पता चल गया था, वहाँ अन्य सहयोगियों ने सुनाई वार्ताओं के आधार पर पण्डिता रमाबाई और विपिनबिहारी बंगाली के चारित्रिक सम्बन्धों पर भी सन्देह हो गया था। यदि पण्डिता ने अपने वाग्दान या विवाह हो जाने की जानकारी यथासमय स्वामीजी को दे दी होती तो उन्हें और उनके सहयोगियों को इस प्रकार का सन्देह कदापि नहीं होता। इधर चतुर्थाश्रमी स्वामीजी से साक्षात् ज्ञान प्राप्ति के लिये उत्कण्ठित पण्डिता रमा अपने वैवाहिक सत्य को छिपाने के लिये विवश थी तो उधर

---

२५. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र, लेखक देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, पृष्ठ ६१५।

२६. तत्रैव, पृष्ठ ६१५। २७. तत्रैव, पृष्ठ ६१५।

चञ्चल मतिवाली और दुनियादारी की ओर आकृष्ट हो रही पण्डिता रमा में ब्रह्मवादिनी गार्गी जैसी विदुषियों-सी असामान्य-अलौकिक-क्षमता को न पाकर स्वामीजी भी पूर्णतया निराशा की ओर अग्रसर हो रहे थे। सारे संसार का उपकार करने के लिए निकले संन्यासी के पास, विशेष उत्तरदायित्वों को वहन करने में अपनी असमर्थता बतलानेवाली अस्थिरमति महिलाओं के लिए इतना अवसर ही नहीं था कि वे उन्हें अपना और अधिक समय दे पाते।

स्वामी दयानन्दजी के अन्यों को लिखे पण्डिता रमाबाई विषयक पत्रों से यह पता चलता है कि किस प्रकार स्वामीजी उत्तरोत्तर पण्डिता के विषय में आशा से निराशा की ओर उन्मुख होते चले गए। स्वामीजी ने अपने ९ अगस्त १८८० के पत्र में लिखा है कि— "आर्यदर्पण" में यह भी छाप देना कि रमाबाई के दो व्याख्यान मेरठ में बहुत ही अच्छे हुए। सब लोगों ने सुनके प्रशंसा की। आशा है कि स्त्री लोगों में उपदेश करेगी तो बड़ी उन्नति की बात है। इसका हाल आगे लिखा जायेगा[२८]। फिर १८ अगस्त १८८० के पत्र में लिखते हैं—"आजकल रमाबाई यहाँ कलकत्ते से आके ठहरी है। आज उसका व्याख्यान समाज में 'स्त्रियों के कर्त्तव्याकर्त्तव्य' विषय में है। दूसरा आगामी शनि को भी होगा। यह संस्कृत पढ़ी है, बहुत अच्छा संस्कृतभाषण भी करती है। इसका विशेष आगे लिखेंगे[२९]।" तत्पश्चात् ८ सितम्बर १८८० को स्वामीजी ने लिखा है—कर्नल अल्काट साहब और मैडम भी कल यहाँ से चले गए। रमा भी कल यहाँ से जायेगी... 'रमाबाई अपने घर जाने को कहती है। यहाँ समाज से १२५ रुपये और एक मलमल का थान देकर सत्कार किया। कल [९ सितम्बर १८८० को] यहाँ से दिल्ली और दिल्ली से इलाहाबाद, वहाँ से घर जायेगी। अभी किसी [आर्य] समाज [में प्रबोधनार्थ] नहीं जाने की बात कहती है, शायद वहाँ से [स्वदेश से वापिस] आये तो [आर्यसमाजों में] जाए। इसके भाई के मरने से इसकी [चाल] कुछ कुचाली हो गई है। ऐसा लोग संशय करते हैं। चित्त भी चञ्चल है।

---

२८. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन : प्रथम भाग, पृ० ३७९।
२९. तत्रैव, पृ० ३८९।

शरीर पतला, निर्बल[३०] और रोगी है। गुस्सा भी बहुत है। इसकी कुचाली में जो लोग शङ्का करते हैं, वह लिखने योग्य नहीं है। हमने इसको वैशेषिक और न्यायदर्शन के कुछ सूत्र पढ़ाये हैं। समझाया भी

३०. जिस समय पण्डिता मेरठ में थी, उसी समय (३० अगस्त से ९ सितम्बर १८८० तक) थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापक कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवेट्स्की भी स्वामीजी के अतिथि के रूप में मेरठ में रुके थे। स्वामीजी के बंगाली चरित्र लेखक देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अनुसार उनकी निवास-व्यवस्था भी बाबू छेदीलाल के घर पर ही की गई थी, जहाँ पण्डिता रमाबाई रुकी थी। जबकि स्वयं कर्नल ने अपने संस्मरणों में छेदीलाल के घर के स्थान पर भूल से शिवनारायण के घर का उल्लेख किया है। स्वामीजी की तरह कर्नल को भी यह पता नहीं है कि उस समय पण्डिता का विवाह सम्पन्न हो चुका था। पण्डिता द्वारा विवाह के तथ्य छुपाने की पुष्टि कर्नल के संस्मरण से भी होती है। संस्मरण में कर्नल ने रमाबाई के अपने भाई के साथ मेरठ आने का उल्लेख किया है, पर तथ्य यह है कि उस समय तक उनके निजी भाई का देहान्त हो चुका था। हाँ, पण्डिता द्वारा स्वामीजी को कलकत्ता से प्रेषित पत्र से पता चलता है कि—कलकत्ता में पण्डिता के साथ उनका एक 'कृतक भ्राता' (माना हुआ भाई) था। श्री हेमेन्द्रनाथ दास के अनुसार—पण्डिता के इस 'कृतक भ्राता' का नाम बंकाबिहारी शर्मा था। [सम्भवतः बंगाल में] ब्राह्मणों को ठाकुर कहने की प्रथा थी। यह एक बहुत अच्छा रसोइया था। भविष्य में उसे पण्डिता अपने साथ [महाराष्ट्र के अतिरिक्त] इंग्लैण्ड [भी] ले गईं थीं। स्वामी दयानन्द के पत्रों से पण्डिता का जो परिचय मिलता है, लगभग वैसा ही परिचय कर्नल के संस्मरणात्मक ग्रन्थ 'ओल्ड डायरी लीव्ज' में मिलता है। पण्डिता रमाबाई से सम्बद्ध संस्मरण कर्नल के शब्दों में प्रस्तुत है—

"हमें शिवनारायण के घर पर प्रसिद्ध पण्डिता रमाबाई से मिलने का अवसर भी मिला। रमाबाई ने कालान्तर में एक बंगाली वकील से विवाह कर लिया था, किन्तु उस समय वह अपने भाई के साथ भ्रमण करती हुई मेरठ आई थी। रमाबाई का नाम तथा इतिवृत्त अब संसार में इतना विख्यात हो गया है कि उसके सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त है कि उस समय वह गीता तथा रामायण में व्युत्पन्न थी। संस्कृत भाषा आशु गति से बोलने तथा लिखने में भी उसे योग्यता प्राप्त थी तथा वह किसी भी बताये गए विषय पर अपने अध्ययन की सीमा में श्लोक रचना कर सकती थी। ६ सितम्बर को मेरे व्याख्यान के बाद उसने प्रथम हिन्दी में अपने विचार प्रकट किए और पुनः आग्रह करने पर वह संस्कृत में बोली। दोनों भाषाओं में उसका भाषण समान रूप से प्रवाहपूर्ण था। उस समय तक उसे अंग्रेजी का ज्ञान नहीं था,

बहुत है। आशा है कि कुचाली को छोड़कर उपदेश मार्ग में प्रवृत्त हो जायेगी। इसके साथ में बंगाली लोग [विपिनबिहारी] है, वही इसकी कुमति का कारण है। कहती है कि मैं देश में जाकर वहाँ से अपने किसी कुटुम्बी एक पुरुष और एक औरत—रोटी करनेवाली साथ में लेकर आऊँगी। [स्वामीजी के इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि पण्डिता ने अपनी विवाहविषयक बातें स्वामीजी के सामने नहीं कही होंगी] इसकी बुद्धि बहुत अच्छी और सुबोध है। काव्यालङ्कार, कुछ व्याकरण, वाल्मीकि रामायण, महाभारत इतना पढ़ी है[३१]। संस्कृत बहुत अच्छा

किन्तु वह संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, मराठी, गुजराती तथा कन्नड़ में भाषण दे लेती थी। कन्नड़ उसकी मातृभाषा थी। उस समय उसकी आयु २२ वर्ष की थी। वह उस समय पीत दुर्बल, कृशकाय तथा वैराग्योन्मुख स्त्री की भाँति दिखाई देती थी। किन्तु अब वर्षों बाद जब मैंने उन्हें पूना में श्रीमती बेसेण्ट के भाषण में देखा तो वे भिन्न प्रकार की महिला नजर आईं, जिन्हें पहचानना भी कठिन था। इस समय वे मजबूत कदकाठी की व्यवहारकुशल महिला दीख रही थी। १८८० की रमाबाई उच्च (साधना सम्पन्न) ब्राह्मण कन्या तुल्य थी। जबकि पूना की रमाबाई पाश्चात्य व्यवसायी की भाँति दिखाई दी, जो साहित्य की अपेक्षा अपने (शारदा आश्रम के) बही-खातों का अधिक ध्यान रखती है।''

'ओल्ड डायरी लीव्ज' में कर्नल ने पण्डिता रमाबाई विषयक संस्मरणों को दो स्थानों पर अङ्कित किया है। दोनों का भाव एक जैसा ही है। अन्तर है तो इतना ही कि प्रथम संस्मरण में कर्नल ने अपने और पण्डिता के व्याख्यान की तारीख ७ सितम्बर बतलाई है, तो द्वितीय संस्मरण में ६ सितम्बर। प्रथम संस्मरण में दुर्बल पीत के साथ 'तेजस्विनी' लिखा है, तो द्वितीय संस्मरण में तेजस्विनी के स्थान पर 'वैराग्योन्मुख स्त्री'। प्रथम संस्मरण में षट्भाषा में 'सरलता' से व्याख्यान देती थी, लिखा है, तो द्वितीय संस्मरण में सरलता शब्द का उल्लेख नहीं है। 'ओल्ड डायरी लीव्ज' के स्वामी दयानन्द विषयक समस्त संस्मरणों का अनुवाद डॉ० भवानीलाल भारतीय ने किया है, जो वेदवाणी-मासिक (जनवरी १९८६) दयानन्द विशेषाङ्क में प्रकाशित हो चुके हैं। पण्डिता रमाबाई विषयक कर्नल का यह संस्मरण भी वहीं से (अर्थात् पृष्ठ ५७, ५८, ५९ से) साभार उद्धृत है।

३१. 'अर्वाचीन वाङ्मय सेवक' नाम्नी मराठी ग्रंथमाला के सम्पादक (स्व०) गं० दे० खानोलकर के अनुसार—'पण्डिता को भागवतपुराण के १८ हजार श्लोक कण्ठस्थ थे और पाणिनि का पहला भाग [अष्टाध्यायी का प्रथमाध्याय] कण्ठस्थ था।' पर स्वामीजी के पास आने तक पण्डिता ने ऋग्वेद आदि

बोलती है। व्याख्यान बहुत अच्छा देती है। परसों रविवार [५ सितम्बर १८८०] को गोपालराव हरि [देशमुख लोकहितवादी] ने इसके बुलाने के लिये चिट्ठी भेजी थी। सो यह कहती है अभी तो हम

चारों वेदों का अध्ययन नहीं किया था। यह बात अलग है कि ब्रह्मसमाज के सम्पर्क में आने के बाद पण्डिता और उनके अग्रज एकेश्वरवादी हो गए थे तथा जातिगत भेदभाव और स्पृश्यास्पृश्यता को उन्होंने तिलाञ्जलि दे दी थी। स्वामीजी के पास आने तक पण्डिता ने चारों वेदों में से कोई एक भी पूरा वेद पढ़ा होता तो वेदभक्त स्वामीजी अपने पत्रों में उसका उल्लेख जरूर करते। बाद में तो धीरे-धीरे पण्डिता ईसाई मत की ओर उन्मुख होने लगीं। अतः तत्पश्चात् उनके वेदाध्ययन का प्रश्न ही नहीं उठता और न ही इस विषय में अन्य कोई विश्वसनीय सन्दर्भ प्राप्त होता है। रमाबाई जब प्रथम बार (अगस्त १८७८ में) ब्रह्मसमाज के नेता केशवचन्द्र सेन से मिली तब (१८७३ में वेदप्रामाण्यवादी स्वामी दयानन्द के साथ लगभग एक मास तक सम्पर्क में रहनेवाले) केशवचन्द्रसेन ने उन्हें विदा करते समय ऋग्वेद की एक प्रति भेंट करते समय पूछा था कि—क्या तुमने वेद पढ़े हैं? रमाबाई ने नकारात्मक ग्रीवा हिलाते हुए कहा था—स्त्रियाँ वेदाध्ययन करने की पात्र नहीं हैं। यह सुनकर मुस्कराते हुए केशवचन्द्र सेन ने पण्डिता को वेदाध्ययन और उपनिषदों का पठन करने की सूचना दी। इस भेंट के बाद १८८० में पण्डिता स्वामीजी के पास अन्तेवासी के रूप में मेरठ रहीं थीं। वह उस समय स्वामीजी से भविष्य में वेदाध्ययन के लिये सहयोगी होनेवाले ग्रन्थ उपाङ्ग (न्यायशास्त्र) पढ़ रही थी। कर्नल अल्काट ने भी अपने संस्मरणों में पण्डिता के वेदाध्ययन करने का उल्लेख नहीं किया है। यह स्पष्टीकरण इसलिए किया गया है कि कतिपय लेखकों ने स्थूल रूप में यह उल्लेख किया है कि पण्डिता रमाबाई वेद पढ़ी थीं।

हाँ, यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि चाहे पण्डिता ने चारों वेद या उनमें से कोई भी एक पूरा वेद न पढ़ा हो, पर केशवचन्द्रसेन द्वारा प्रदत्त ऋग्वेद (या यजुर्वेद) का कतिपय अंश उन्होंने जरूर पढ़ा था। स्वयं पण्डिता ने लिखा है कि—'मैंने उपनिषद् वेद-वेदान्त पढ़ना शुरु किया' (माझी साक्ष-पृ० १६)। यहाँ इस बात का आश्चर्य होता है कि पण्डिता ने उपनिषद् 'वेदान्त-वेद' शब्द का प्रयोग न करके उपनिषद् 'वेद-वेदान्त' शब्द का प्रयोग क्यों किया? (माझी साक्ष, पृ० १६, २०) जबकि निर्धारित प्राच्य परम्परागत पाठ्यक्रमानुसार उपनिषद् वेदांत पढ़ने के बाद ही विधिवत् वेदों का अध्ययन किया जाता है। पुणे में हम पण्डिता को पुराणों पर प्रवचन करते हुए देखते हैं, पर कहीं पर भी वे वेदों पर प्रवचन करती हुई नहीं दिखलाई देतीं। यदि प्रवचन करती भी तो उस समय का रूढ़िवादी समाज एक स्त्री द्वारा किए जा







महर्षि दयानन्द सरस्वती : १८७५ : मुंबई : रेखाचित्र



ब्रह्मसमाज के नेता : श्री केशवचंद्र सेन

[स्व] देश को जायेंगे, फिर वहाँ से आवेंगे तब देखी जायेगी। जादा क्या लिखना और तो सब प्रकार से अच्छा है, परन्तु 'जैसे चन्द्रमा में ग्रहण लग जाए' ऐसा हाल है। रमा के इस हाल को प्रसिद्ध हर जगह

रहे वेद-प्रवचन को सुनने का साहस शायद ही कर पाता। पण्डिता ने वेदों के विषय में कुछ अनुकूल-प्रतिकूल मत व्यक्त किया हो तो उसकी हमें जानकारी नहीं है। वेदग्रन्थों से सम्बन्धित उनकी एक घटना उनके जीवन में निम्न प्रकार से मिलती है—

''नवम्बर १८९० में पण्डिता को ईसाई मत की दीक्षा ग्रहण किए सात वर्ष हो चुके थे। इस समय जब अपनी शिक्षण संस्था 'शारदा सदन' को मुम्बई से पुणे स्थानान्तरित कर रहीं थीं, तब मुम्बई के स्त्री समाज की ओर से उन्हें ससम्मान उत्कृष्ट जिल्द का 'ऋग्वेदभाष्य' भेंट में प्रदान किया गया था। इस अवसर पर वेदभाष्य स्वीकार करते हुए पण्डिता ने अपने भाषण में कहा था—''

''कुछ वर्ष पूर्व मुझे यह प्रतीत होता था कि—'स्त्रियों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है।' तब मैंने अपना यह विचार केशवचन्द्र सेन के सामने अभिव्यक्त भी किया था। उस समय उन्होंने मुझे यजुर्वेद की प्रति भेंट में दी थी। आज आप लोग मुझे वेदभाष्य की प्रति भेंट में दे रहे हो। उस समय (अगस्त १८७८ में) मुझे जो केशवचन्द्रसेन ने वेदाध्ययन का अधिकार दिया था, आज वह अधिकार मुझे मेरे देश की बहिनों ने दिया है। इससे यही सिद्ध होता है कि आपने वेदाध्ययन का अधिकार मुझे देने से पूर्व वह अधिकार स्वयं प्राप्त कर लिया था। स्त्री जाति के कदमों को इतने आगे बढ़ते देखकर मुझे अतिशय सन्तोष हुआ है।''

यहाँ पर पण्डिता ने केशवचन्द्रसेन द्वारा 'यजुर्वेद' दिए जाने का उल्लेख किया है। हमें यह मालूम नहीं कि मूलतः पण्डिता की अभिव्यक्ति में गलती हुई या उपरोक्त प्रसङ्ग के लेखक ने भूल से 'ऋग्वेद' के स्थान पर 'यजुर्वेद' का उल्लेख कर दिया है। (द्रष्टव्य : महाराष्ट्राची तेजस्विनी : पण्डिता रमाबाई : लेखक देवदत्त नारायण तिलक, पृ० १६५, मूल सन्दर्भ : 'नवयुग' मराठी मासिक : अप्रैल-मई १८९२ संयुक्ताङ्क)। यदि मुम्बई में 'ऋग्वेदभाष्य' या 'यजुर्वेदभाष्य' दिया हो तो सम्भव है वह आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत हो, क्योंकि इस समय तक स्वामीजी का 'ऋग्वेदभाष्य' और सम्पूर्ण 'यजुर्वेदभाष्य' विविध अङ्कों के रूप में प्रकाशित हो चुका था।

श्री हेमेन्द्रनाथ के अनुसार—''केशवचन्द्रसेन के कहने पर पण्डिता ने वेद पढ़ना शुरु किया और धीरे-धीरे एकेश्वरवादिनी बन गयी।.......वेद पढ़ने के बाद उनका मन मूर्ति-पूजा से विरक्त हो गया। श्रीनिवास भी मूर्ति-पूजा

न होना चाहिये। उनके भाई का शोक तो निवृत्त हो गया है[३२]।'' पुनश्च सबसे अन्त में १२ सितम्बर १८८० को स्वामीजी लिखते हैं—''रमाबाई का हाल इतना ही है। व्याकरण, काव्यालङ्कार पढ़ी है। संस्कृत भी अच्छा बोलती है। व्याख्यान भी अच्छा देती है और बड़ी बुद्धिमती है। [परन्तु कुछ] अकथनीय अनुचित दोष हैं। इससे वहाँ के [मेरठ के आर्य] सभासदों की उपेक्षा हुई है। हमने तो उसको बहुत समझाया है, जो उसका भाग्य होगा और सुधर जायेगा तो इसमें उसकी बड़ी प्रतिष्ठा होगी और उसके उपदेश से स्त्री उपकार भी बड़ा होगा। यह रमाबाई का हाल कहीं छपवा न देना, नहीं तो उसकी दुर्दशा होगी[३३]।''

स्वामीजी के पास जब पण्डिता मेरठ पधारी थीं तब उनके साथ एक सेवक और सेविका भी थी। इन सबके मेरठ पहुँचने के कुछ दिन बाद ही श्री विपिनबिहारीदास बंगाली आये थे और पण्डिता रमाबाई के साथ ही रहने लगे थे। स्वामीजी ने अपने पत्र में पण्डिता के 'कुचाली' होने के जो दो कारण बताए हैं, उनमें से पहला कारण है—पण्डिता के मार्गदर्शक अग्रज का देहान्त हो जाना और दूसरा बङ्गाली विपिनबिहारी का पण्डिता के साथ होना[३४]।

का घोर विरोध करने लगे और इसी समय उन्होंने स्पृश्यास्पृश्यता के संकीर्ण विचारों का परित्याग कर दिया।'' (प्रवासी. फाल्गुन, बङ्गाली संवत् १३६६, पृष्ठ ५४६)।

३२. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन : प्रथम भाग, पृष्ठ ४०२।

३३. तत्रैव, पृष्ठ ४०९।

३४. स्वामीजी ने सीधे ब्रह्मचर्याश्रम से संन्यासाश्रम में प्रवेश किया था। पण्डिता को भी वे 'स्त्री-जगत्' के लिए एक आजन्म ब्रह्मचारिणी के रूप में समर्पित देखना चाहते थे। उसे इस दिशा से विमुख होने के कारण भी उन्होंने पण्डिता के सन्दर्भ में 'कुचाली' और 'कुमति' का शब्द प्रयोग किया है। यदि पण्डिता विपिनबिहारी के साथ विवाहित होने का संकल्पित हार्द या विवाहित हो जाने के तथ्य यथासमय स्वामीजी के सामने प्रस्तुत करती तो स्वामीजी तत्काल पण्डिता से विशेष अपेक्षा करना छोड़ देते और ऐसी स्थिति में उनके द्वारा 'कुमति' और 'कुचाली' जैसे शब्दों का प्रयोग करने का प्रश्न ही उत्पन्न न होता, पण्डिता के अग्रज श्रीनिवास शास्त्री ने देहान्त (८ मई १८८०) से पूर्व पण्डिता से कहा था कि यदि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम विपिनबिहारी से शादी कर सकती हो। विपिनबिहारी के आप्त हेमेन्द्रनाथ

इस सन्दर्भ में प्रकाश डालते हुए श्री विपिनबिहारी के सखा साथी सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्री विपिनचन्द्रपाल ने लिखा है कि—"विपिनबिहारी ने रमाबाई का पीछा कभी नहीं छोड़ा, वह जहाँ-जहाँ जाती वहाँ-वहाँ विपिनबिहारी जाते थे। आखिर विपिनबिहारी का प्रयास फलीभूत हुआ। विपिनबिहारी दीखने में रोबीले, प्रभावशाली और तेजस्वी थे। वे लम्बे ऊँचे तो थे ही, उनकी शरीरयष्टि भी सुदृढ़ थी। सारांश में उनका डील-डौल अनुपातयुक्त और आकर्षक था। उन जैसे दर्शनीय पुरुष पर स्त्रियाँ मोहित हुई हों, तो इसमें आश्चर्य करने लायक कोई बात नहीं थी। राजपुरुषोचित दर्शनीय शानदार शरीर के साथ-साथ उनका बौद्धिक स्तर भी अतिशय श्रेष्ठ था। ऐसी स्थिति में पण्डिता रमाबाई के हृदय और बुद्धि को विपिनबिहारी ने आकृष्ट कर लिया हो तो वह अस्वाभाविक और आश्चर्यजनक नहीं है[३५]।"

चाहे पण्डिता रमा और श्री विपिन बाबू के विवाह की तारीख सन् १८८० की १३ जून हो या १३ अक्टूबर हो, या १३ नवम्बर ही क्यों न हो, स्वामीजी के लिए तो पण्डिता रमा का यह वचन ही प्रमाण था कि—"आज पर्यन्त मैं कुमारी हूँ और मेरी अभिलाषा है कि यावज्जीवन कुमारी रहूँ[३६]।" (अहमद्यावधि कुमारी। यावज्जीवं

दास के शब्दों में—मृत्युकाल में अपनी एकान्त प्रिय बहिन को [अग्रज ने] कहा यदि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम विपिनबिहारी से शादी कर सकती हो। (मृत्युकाले श्रीनिवास शास्त्री ताहान एकान्तो स्नेहपात्री भगिनी के बोलिया जान जे इच्छा कोरिले विपिनबिहारी के विवाह करिते पारेन—सन्दर्भ : पण्डिता रमाबाई ओ श्रीहट्ट : श्रीहट्ट सम्मीलनीर हीरक जयन्ती स्मृति पुस्तिका (बंगाली भाषा में) पृष्ठ ८०)।

३५. महाराष्ट्र टाइम्स : १८ अक्टूबर ९२ : रविवारीय-मैफल-परिशिष्ट : पृष्ठ १।

३६. पण्डिता का सम्पूर्ण मूल कथन इस प्रकार है—'जनप्रवाद के अनुसार आज पर्यन्त मैं कुमारी हूँ। मेरी अभिलाषा है कि यावज्जीवन कुमारी रहूँ, परन्तु नहीं जानती कि भविष्यत्काल में प्रबल विधि के नियोगवश से क्या होगा। (यथाजनप्रवादमहमद्यावधि कुमारी। यावज्जीवं कौमार्यमेवावलम्ब्यमिति ममाभिलषितम्। भविष्यत्काले प्रबलविधिनियोगवशात् किं भविष्यतीति न वेद्मि। ऋषि दयानन्द सरस्वती को लिखे गये पत्र और विज्ञापन—पृ० १०४) यहाँ पण्डिता ने 'जनप्रवाद' शब्द का जो प्रयोग किया है, वह स्थूल रूप में तो लगता है उन्होंने लोक में प्रचलित विशिष्ट भाषा शैली की रूढि के

कौमार्यमेवावलम्ब्यमिति ममाभिलषितम्) स्वामीजी ने भी उसे इसी अभिलाषा से पढ़ाना प्रारम्भ किया था कि—पण्डिता आजन्म ब्रह्मचारिणी रह वैदिक धर्म की उपदेशिका बन स्त्री जगत् का उपकार करेगी, परन्तु जब उन्होंने पण्डिता रमा और विपिन बाबू के विवाह पूर्व प्रेम-सम्बन्धों की चर्चाएँ सुनीं तो उनके दिव्य-भव्य सपनों का महल चकनाचूर हो गया। अतः उन्होंने अपनी आशाएँ पूर्ण न होते देख उन्हें जिस सम्मान से निमन्त्रित किया था, उसी सम्मान से विदा करने का निश्चय कर लिया। इस घटना से स्पष्ट है कि "स्वामीजी विद्वत्ता की तुलना में चरित्र को अधिक महत्त्व देते थे[३७]।" विदाई के अवसर पर उन्हें द्रव्य-वस्त्र के अतिरिक्त स्वामी दयानन्द लिखित 'सत्यार्थप्रकाश', 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका', 'संस्कारविधि' आदि पुस्तकें भी भेंट में दी गईं। मराठी की सुप्रसिद्ध लेखिका मृणालिनी जोगळेकर ने लिखा है कि—'स्वामी दयानन्दजी और पण्डिता रमाबाई दोनों ही सुधारक और प्रगतिशील विचार के थे, दोनों का मेल होता तो पण्डिता रमाबाई का जीवन बहुत ही बदल जाता।' उस स्थिति में पण्डिता को ईसामसीह के आधार की बिल्कुल भी जरूरत न होती, पर जो होनी थी वह हो गई। इस सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द को दोष बिल्कुल भी नहीं दिया जा सकता। बस यही कहा जा सकता है कि—वह सुदिन पण्डिता रमाबाई और भारत के भाग्य में नहीं था।

अनुसार किया है, जिसमें 'जनप्रवाद' केवल बोलने के लिये बोला जाता है, वह प्रयोग हो या न हो आशय में कोई परिवर्त्तन नहीं आता। उस 'जनप्रवाद' के पीछे कोई विशेष आशय नहीं छिपा रहता, पर यहाँ यह संशय निर्माण होता है कि कहीं पण्डिता ने यह प्रयोग यह सोचकर तो नहीं किया है कि—मैं तो रजिस्टर पद्धति से बांकीपुर के मजिस्ट्रेट के सामने १३ जून १८८० को विवाहबद्ध हो चुकी हूँ, पर इस बात की अभी अधिकांश लोगों को जानकारी नहीं है, अतः जनता मुझे कुमारी ही समझती-कहती है और उस 'जनप्रवाद' के अनुसार मैं कुमारी हूँ। वस्तुतः तो मैं सम्प्रति कुमारी नहीं हूँ। स्वामीजी की अन्तेवासिनी (शिष्या) बनकर उनसे ज्ञान प्राप्त करने की अनुकूलता बनाने की दृष्टि से साथ में यह भी कह दिया है कि—'मेरी अभिलाषा है कि यावज्जीवन कुमारी रहूँ।' पर अपनी सुविधा को ध्यान में रखते हुए फिर यह भी कह दिया है कि—'पता नहीं भाग्य मुझे कहाँ ले जायेगा।'

३७. आर्यसमाज का इतिहास : हरिदत्त वेदालङ्कार, प्रथम भाग, पृष्ठ ५३४।

स्वामी दयानन्द और पण्डिता रमाबाई में जून १८८० से सितम्बर १८८० तक परस्पर पत्र-व्यवहार हुआ था। दोनों ओर से तीन-तीन पत्र लिखे गए थे, जिनमें से स्वामीजी का अन्तिम पत्र आज भी दुर्लभ है। मेरठ आर्यसमाज की कन्या पाठशाला के लिये एक अध्यापिका की आवश्यकता थी, अतः पण्डिता रमाबाई की संस्कृत वक्तृत्त्व कला व विद्वत्ता की चर्चा सुनकर सर्वप्रथम पत्र स्वामीजी ने ही कलकत्ता भेजा था। तत्पश्चात् स्वामीजी से मेरठ में एक मास तक विद्या-ग्रहण कर स्वस्थान पर लौट चुकने के बाद स्वामीजी के अन्तिम पत्र के उत्तर में पण्डिता रमाबाई ने जो प्रत्युत्तर दिया है, उसके आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि पण्डिता के द्वारा स्वयंवरित, सुशिक्षित एम० ए०, बी० एल० उपाधिधारी पति को स्वामीजी ने स्वलिखित उपदेश पत्र में शूद्र लिख दिया होगा, जिससे क्षुब्ध होकर, बौखलाकर पण्डिता रमाबाई ने स्वामीजी को एक करारा पत्र भेजते हुए लिखा है—"सम्पूर्ण शिक्षित ही ब्राह्मण होते हैं" इसका बार-बार उपदेश करते हुए भी आज आपकी ऐसी परस्पर विरुद्ध वाणी किस प्रकार चलती है...आश्चर्य है कि आज तक भी ब्राह्मणवंश में उत्पन्न ब्राह्मण और शूद्रवंश में उत्पन्न शूद्र, यह वंशानुक्रमिक कुसंस्कार श्रीमानों के हृदयाकाश में जागृत है[३८]।" (सम्पूर्ण शिक्षिता एव ब्राह्मणा इति मुहुरुपदिशतामपि भवतामियमद्य ईदृशी परापरविरुद्धा कथमिव वाक् प्रसरति ?...अहह ! किमद्यापि अयं ब्राह्मणवंशजो ब्राह्मणः शूद्रवंशजः शूद्र इति वंशानुक्रमिकः कुसंस्कारः श्रीमतां हृदयाकाशे जागर्ति ?)।

इस पत्र को पढ़कर मृणालिनी जोगळेकर ने यह अन्दाज लगाया है कि—'स्वामीजी के उक्त पत्र के परिणामस्वरूप यावज्जीवन कुमारिका रहने की इच्छा व्यक्त करनेवाली पण्डिता रमाबाई ने एक विद्रोह के रूप में श्री विपिनबिहारी से चटपट ताबड़तोड़ विवाह का निर्णय ले लिया होगा[३९]।' उन्होंने मुझे इस सन्दर्भ में २० अक्टूबर को प्रेषित पत्र

---

३८. ऋषि दयानन्द सरस्वती को लिखे गये पत्र और विज्ञापन : प्रथम भाग : पृष्ठ ११५, पूर्ण संख्या-१९३।

३९. मृणालिनी जोगळेकर : लेख—दयानन्द सरस्वती व पण्डिता रमाबाई एक 'निर्णायक' पत्रव्यवहार, लोकसत्ता मराठी दैनिक २५ अक्टूबर १९९२ : रविवारीय परिशिष्ट लोकरङ्ग, पृष्ठ ५।

में लिखा है कि 'कुछ भी हो स्वामीजी शूद्र शब्द का उल्लेख न करते तो अच्छा होता!' इस विषय में हमारा यह कहना है कि—स्वामीजी ने पण्डिता रमाबाई की तुलना में 'तर-तम' की दृष्टि से विपिनबिहारी को शूद्र कहा है। पण्डिता के पत्र से ही स्पष्ट है कि वह स्वामीजी के वर्णव्यवस्था विषयक दृष्टिकोण से सुपरिचित थीं। उन्हें यह अच्छी तरह पता था कि स्वामीजी जन्मना नहीं, अपितु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं। फिर भी स्वामीजी ने पण्डिता को प्रेषित पत्र में शूद्र कहा है तो उसका यही आशय है कि—'तुम संस्कृत की विदुषी हो, मुझे तुमसे स्त्री जगत् के कल्याण की व वेदोद्धार और देशोद्धार की बहुत आशा है। गृहस्थ के चक्कर में पड़कर तुम ये सब काम न कर सकोगी। फिर जिस प्रकार तुम संस्कृत की विदुषी हो, प्राच्यविद्या को जानती हो, उस तुलना में विपिनबिहारी न तो संस्कृत के विद्वान् हैं और न ही प्राच्यविद्या को जानते हैं। इसलिए वह कितनी भी आधुनिक आंग्ल विद्या क्यों न पढ़े हों, विधि विद्या भी क्यों न जानते हों, मेरी दृष्टि में तो वे तुम्हारी प्राच्य संस्कृत विद्या की दृष्टि से शूद्र ही हैं।' स्वामीजी को लगा होगा कि पण्डिता रमाबाई श्री विपिनबिहारी से विवाह करने के बाद स्त्री जाति में वेदविद्या का प्रचार बिल्कुल भी न कर पायेगी। विपिनबिहारी के स्थान पर अन्य कोई संस्कृतज्ञ वर होता तो शायद स्वामीजी की दृष्टि में वह वेद-विद्या का प्रचार विवाहित होने के बावजूद भी कर पाती। ध्यान रहे स्वामीजी ने २८ जून १८८० को पण्डिता को जो सर्वप्रथम पत्र भेजा था, उसमें उन्होंने लिखा था कि—"मैंने सुना है कि आप विवाह के लिये स्वयंवर विधि से अपने तुल्य—गुण-कर्म-स्वभाव वाले कुमार उत्तम पुरुष को ढूँढ़ रहीं है, यही सही है वा नहीं? क्या विवाह किए बिना ब्रह्मचर्य में रहना सम्भव नहीं है[४०]?" (श्रुतं मया सा स्वयंवरविधिना विवाहाय स्वतुल्य—गुण-कर्म-स्वभावसहितं कुमारं पुरुषोत्तम-मन्विच्छतीती सत्यमाहोस्विन्न? किमेतदकृत्त्वा ब्रह्मचर्ये स्थातुम-शक्यमस्ति?)

पण्डिता रमाबाई के जीवन-क्रम का सूक्ष्मता से अवलोकन

४०. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, प्रथम भाग, पृष्ठ ३४१, पूर्ण संख्या-४१२।

करने के बाद हमारी तो यह धारणा बनी है कि—पण्डिता जब स्वामीजी के पास पहुँची तब या तो वह विवाहबद्ध हो चुकी थीं या विवाह के लिये उत्सुक थीं। इसलिए स्वामी दयानन्द के बंगाली जीवन चरित्रकार पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के इस कथन से हम सहमत हैं कि—'रमाबाई का महाराज के पास आने का मुख्य प्रयोजन यह था कि महाराज उसके उस बंगाली युवक के साथ विवाह को शास्त्र-सम्मत स्वीकार कर लें। रमाबाई जानती थी कि ऐसे विवाह को केवल स्वामीजी ही शास्त्र-सम्मत बता सकते हैं, क्योंकि वह यह मानते थे कि प्राचीन भारत में वर्णव्यवस्था गुण-कर्म-स्वभाव पर निर्भर थी[४१]।'

संस्कृत-विद्या-विभूषिता पण्डिता रमाबाई की तुलना में श्री विपिनबिहारी को शूद्र कहे जाने के पीछे आंग्लविद्या से प्राच्य संस्कृत विद्या को अधिक महत्त्व देनेवाले या 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है' की घोषणा करनेवाले महर्षि दयानन्द सरस्वती का जो भाव रहा होगा, उसे पण्डिता न समझ पाये—इस बात का आश्चर्य होता है, स्वामीजी का उच्च तथा सूक्ष्म आशय को न समझ पाने का हमें एकमात्र कारण पण्डिता का शादी के लिये उत्सुक होना या तदर्थ शास्त्रीय मान्यता पाना ही प्रतीत होता है, और ऐसी स्थिति में जब कि उन्हें स्वामीजी से श्री विपिनबिहारी को शूद्र कहे जाने पर, वह बौखलाई-सी प्रतीत होती है। इस बौखलाहट के पीछे उसका चञ्चल-क्रोधी स्वभाव ही मूल कारण है। इसी स्वभाव के कारण ही आजीवन कुमारी रहने की अभिलाषा व्यक्त करने वाली पण्डिता रमा स्वयम् चटपट विवाहबद्ध हो गई। इसी चपल स्वभाव के कारण महाराष्ट्र (भारत) छोड़ने से पूर्व—'सभी धर्मों में कुछ न कुछ गलतियाँ हैं, मैं हिन्दू धर्म कदापि न छोड़ूँगी[४२]'—का आश्वासन देनेवाली पण्डिता रमाबाई 'मेरी रमा' बन गई। स्वामीजी अपने मेरठ निवास काल में पण्डिता के इस क्रोधी-चञ्चल स्वभाव से अच्छी तरह सुपरिचित हो गए थे। हमारी दृष्टि से पण्डिता के वैवाहिक निर्णय की पृष्ठभूमि में स्वामीजी का शूद्र शब्द कदापि जिम्मेदार नहीं है, अपितु रमाबाई का उपरोक्त चपल-क्रोधी स्वभाव ही इस सबके लिये जिम्मेदार है[४३]।

४१. म० द० स० का जीवन-चरित्र, देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, पृष्ठ ६१५।

४२. संक्रमण : एका सामाजिक शोकनाट्याची नायिका : सरोजिनी वैद्य ३१।

४३. १३-४-१८८२ को ईसाइयों के 'ज्ञानोदय' नामक मराठी पत्र के सम्पादक ने

श्री विपिनबिहारीदास ने जिस कायस्थ जाति में जन्म लिया, उसी कायस्थ कुलोत्पन्न (तथाकथित शूद्र) के घर-घाट पर, सन् १८६८ में ही स्वामीजी कानपुर में रह चुके थे[४४]। जिन्होंने १८७५ में महात्मा फुले द्वारा स्थापित शूद्रातिशूद्रों की पाठशाला में वेदोपदेश

अपने—'**प्रख्यात ब्राह्मणी विदुषी रमाबाई**' नामक लेख में जो कुछ लिखा है, उससे यही संकेत मिलता है कि स्वामीजी के पास आने से पूर्व पण्डिता का विवाह सम्पन्न हो चुका था, बस विवाह पर जब स्वामीजी की सम्मति पण्डिता ने ली तब उन्हें वह सम्मति सन्तोषजनक नहीं लगी। प्रतीत होता है पण्डिता ने विवाह होने के बावजूद भी 'मैं कुमारी हूँ' कहकर स्वामीजी से विद्याध्ययन किया और विदा होने से कुछ समय पूर्व (या मेरठ नगरी छोड़ने के बाद पत्र द्वारा) यह रहस्योद्घाटन किया कि—'मैं आपके पास आने से पूर्व ही विवाहबद्ध हो चुकी थी। आपके श्रीचरणों में बैठकर मैं ज्ञानार्जन करना चाहती थी। बस इसी प्रलोभनवश मैंने आपसे यह मिथ्या कह दिया था कि—'मैं कुमारी हूँ' मेरे इस अपराध के लिए आप मुझे क्षमा कीजिए और मेरे द्वारा किये गए विवाह पर आप अपनी वर्णव्यवस्था के अनुसार सम्मति दीजिए।' सम्भव है तब पण्डिता की योग्यता की तुलना में स्वामीजी ने विपिन को शूद्र कहा-लिखा हो। ज्ञानोदयकार के उपरोक्त लेख का सम्बन्धित अंश इस प्रकार है—''रमाबाई ने ब्राह्मण कन्या होते हुए भी शूद्र से विवाह किया। इस कारण पण्डित दयानन्द सरस्वती को छोड़कर शेष सब सुधारक पंथी हिन्दुओं को बहुत ही सन्तोष हुआ''—सन्दर्भ—ज्ञानोदय-मराठी मासिक : मार्च १९६४, लेख—पण्डिता रमाबाई, लेखक—भास्कर सदानन्द जाधव।

४४. नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती : लेखक—डॉ० भवानीलाल भारतीय, पृ० १३०-१३१। तथाकथित शूद्र के रूप में चर्चित अनेक कायस्थ व्यक्तियों के सम्पर्क में स्वामीजी आए थे। मुंशी केवलकृष्ण जन्मना कायस्थ कुलोत्पन्न थे। महर्षि के उपदेशों को सुनकर उन्होंने मद्य मांसादि सभी दुर्व्यसनों को छोड़ दिया था और आर्यसमाज के दृढ़ अनुयायी बन गए थे। वे कई वर्षों तक आर्यसमाज गुजराँवाला के प्रधान रहे (महर्षि दयानन्द के भक्त प्रशंसक और सत्सङ्गी : लेखक—डॉ० भवानीलाल भारतीय, पृ० ८३)। स्वामीजी के प्रभाव से कायस्थ कुलोत्पन्न चीफ कांस्टेबिल पुलिस ने अपनी शालिग्राम की मूर्ति कानपुर की नदी में प्रवाहित कर दी थी। (महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र, लेखक—पं० लेखराम, अनुवादक—रघुनन्दनसिंह निर्मल, पृ० १३३), जिस समय स्वामीजी कानपुर में कायस्थ के यहाँ रुके हुए थे, उसी समय श्री कैलाश पर्वत नामक सज्जन भी जुगलकिशोर ब्राह्मण के यहाँ कानपुर में उतरे हुए थे। श्री कैलाशजी को जब किसी विषय में सन्देह

दिया था[४५]। जिन्होंने सन् १८७४ में 'सत्यार्थप्रकाश' में यह स्पष्ट लिखा था कि—'अब भी जो उत्तम विद्या स्वभाववाला होता है, वही ब्राह्मण के योग्य होता है, और मूर्ख शूद्र के योग्य होता है।' जिन्होंने प्राच्य वाङ्मय के सन्दर्भों को उद्धृत करते हुए कहा कि—"अन्य वर्णस्थ माता-पिता की सन्तान भी ब्राह्मण हो सकती है—जैसे छान्दोग्योपनिषद् (४-४-२-५) में जाबाल महर्षि अज्ञातकुल, महाभारत में विश्वामित्र क्षत्रिय वर्ण (महाभारत अनु० ४, ४८, ४९, ५२ चित्रशाला प्रेस पुणे संस्करण) और मातंग महर्षि चाण्डाल कुल से ब्राह्मण हो गए थे[४६]।" जिन्होंने पाँच-सात पीढ़ियों की जन्मना वर्णव्यवस्था बतलानेवालों का उपहास करते हुए कहा था—'जो तुम पाँच-सात पीढ़ियों के वर्तमान व्यवहार को सनातन व्यवहार मानते हो और हम वेद तथा सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त [गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्णव्यवस्था] की परम्परा मानते हैं।' जिन्होंने जन्मना वर्णव्यवस्था का पर्दाफाश करते हुए कहा था कि—'देखो जिसका पिता श्रेष्ठ उसका पुत्र दुष्ट और जिसका पुत्र श्रेष्ठ उसका पिता दुष्ट तथा कहीं दोनों श्रेष्ठ व दुष्ट देखने में आते हैं। [इतना होने पर भी] तुम लोग [जन्मना वर्णव्यवस्था के] भ्रम में पड़े हो[४७]।' जिन्होंने

उत्पन्न हुआ तो स्वामीजी ने संदेशा भेजा कि वे हमारे डेरे पर आकर सन्देह निवारण कर लें। इस पर श्री कैलाश ने यह कहते हुए डेरे पर आने से इन्कार कर दिया कि 'हम शूद्र के घर नहीं आ सकते' यह सुनकर स्वामीजी ने प्रत्युत्तर में कहा कि—'फिर तुम म्लेच्छ [विदेशी अंग्रेजों] के राज्य में क्यों आये हो?' [प्रसङ्गान्तर ही क्यों न हो, स्वामीजी के इस कथन से यह भी सूचित होता है कि—भारत में विदेशी शासन के प्रति उनके मन में क्या भाव थे?]। उपरोक्त इन सब उदाहरणों से स्पष्ट है कि स्वामीजी न तो कायस्थों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे और न ही वे जन्मना वर्णव्यवस्था के पक्षधर थे। ऐतिहासिक दृष्टि से भी स्वामीजी का यह कहना था कि—'कायस्थ वास्तव में वैश्य हैं, पर मद्य-मांस का सेवन करने से वैश्यों से पृथक् होकर शूद्र माने जाने लगे हैं। यदि वे अपने आचरण ठीक कर लें, तो वे शूद्र नहीं रहेंगे।' (आर्यसमाज का इतिहास : डॉ० सत्यकेतु विद्यालङ्कार, पृ० २११)।

४५. सत्यदीपिका : मराठी मासिक : अक्टूबर १८७५, पृ० १२५।

४६. सत्यार्थप्रकाश : सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक, पृ० १२४-१२५।

४७. तत्रैव, पृ० १२६।

आह्वानात्मक भाषा में कहा है कि—'जो कोई रज-वीर्य के योग से वर्णाश्रम व्यवस्था माने और गुण-कर्मों के योग से न माने तो उससे पूछना चाहिये कि जो कोई अपने वर्ण को छोड़ के नीच, अन्त्यज [जन्मना नहीं कर्मणा] अथवा क्रिश्चीन, मुसलमान हो गया हो उसको भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते? यहाँ यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिये, इसलिए वह ब्राह्मण नहीं, इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं वे ही ब्राह्मणादि और जो नीच भी उत्तम गुण-कर्म-स्वभाववाला होवे तो उसको भी उत्तम वर्ण में, और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच कर्म करे तो उसको नीच वर्ण में अवश्य गिनना चाहिये[४८]।' अन्त में इसी सिलसिले में उन्होंने मनुस्मृति का अग्रिम प्रमाण देते हुए लिखा था कि—"शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैव शूद्रताम्" (१०-६५) अर्थात् स्व-स्व गुण-कर्म-स्वभावानुसार शूद्र ब्राह्मणत्त्व को और ब्राह्मण शूद्रत्त्व को प्राप्त होता है।" स्वामीजी के इन सब स्पष्ट विचारों को अच्छी प्रकार जानने के बावजूद भी अपने और विपिनबिहारी के प्रसंग में तुलनात्मक या 'तर-तम' की दृष्टि से स्वामीजी द्वारा प्रयुक्त शूद्र शब्द को पण्डिता रमाबाई यथोचित रूप में ग्रहण न कर बौखला उठी, वस्तुतः यह आश्चर्य की बात है। जबकि अपने पत्र में पण्डिता ने स्वयं यह दावा किया है कि—"मैं मेरठ में स्वामीजी के पास तीन सप्ताह से भी अधिक रही और इस कारण मुझे आर्यसमाज के मुख्य मन्तव्यों को स्वयं उसके प्रवर्त्तक से सीखने का अवसर मिला है[४९]।" इतना सब होने के बावजूद भी विदुषी पण्डिता रमाबाई द्वारा स्वामीजी के सूक्ष्माशय को न समझकर बौखला उठना जहाँ उनके क्रोधी-चञ्चल स्वभाव का सूचक है, वहाँ इस तथ्य का भी सूचक है कि वह उस समय स्वामीजी से अपने बंगाली युवक के साथ विवाह को शास्त्र-सम्मत स्वीकार कराना चाहती थी। इसके अतिरिक्त वह इस सन्दर्भ में और कुछ सुनने और समझने की मनःस्थिति में न थी। ऐसी स्थिति में यह कथन विश्वसनीय नहीं माना जा सकता कि—स्वामीजी ने विपिन

४८. तत्रैव, पृष्ठ १२७।

४९. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र, लेखक-देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, पृष्ठ ६१६।

बिहारी को शूद्र लिखा[५०] और इसी कारण पण्डिता ने स्वामीजी की कथनी-करनी में विरोधाभास महसूस कर एक विद्रोह के रूप में विपिनबिहारी बंगाली के साथ चटपट-ताबड़तोड़ शादी करने का निर्णय ले लिया। विवाह तो उनका प्रायः विपिनबिहारी से पहले से ही सुनिश्चित था, सम्भवतः विवाह हो भी चुका था। अब तो केवल पण्डिता के मन में सम्पन्न विवाह के विषय में स्वामीजी की शास्त्रीय या निजी सम्मति जान लेने का ही भाव शेष था।

उपरोक्त विषय में यथोचित छानबीन और विश्लेषण करने के बाद हम इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि—सितम्बर सन् १८८० में स्वामीजी को तेज-तर्रार पत्र लिखने के कारण निश्चित रूप से कालान्तर में पण्डिता रमाबाई को पश्चात्ताप हुआ होगा। यदि पश्चात्ताप न होता तो पण्डिता न तो अपनी सामाजिक संस्था का नाम आर्यसमाज से मिलता-जुलता 'आर्य-महिला-समाज' रखती और न ही स्वामीजी के बंगाली चरित्रकार पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के पास श्रद्धा एवं आदर भाव युक्त पत्ररूपी प्रदीर्घ आदराञ्जलि सन् १९०३ में कदापि

---

५०. कई बार व्यक्ति शब्द के विशेष आशय को ध्यान में न रखते हुए भी सहजता से रूढ़ शब्दों का प्रयोग कर देता है। जैसे स्वामीजी ने पुणे प्रवचन में भूल से ही क्यों न हो 'आर्य' शब्द के स्थान पर 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग कर दिया था। वैसे ही (यदि पण्डिता की तुलना में विपिन के शूद्र होने की बात को थोड़ी देर के लिए नजरअन्दाज कर भी दिया जाए तो) सम्भव है विपिनबिहारी के सम्बन्ध में भी शूद्र शब्द का प्रयोग हो गया हो। हमारी दृष्टि से स्वामीजी की विचारधारा से सुपरिचित होने के बाद भी पण्डिता ने 'शूद्र' शब्द को अनावश्यक तूल दे दिया है। स्वामीजी की बात छोड़िए, आश्चर्य तो यह है कि स्वयं पण्डिता ने भी विपिनबिहारी को जाने-अनजाने ही क्यों न हो, शूद्र कह दिया है। पण्डिता ने स्वयं 'मेरी गवाही' में लिखा है—''मैंने शूद्र जाति के बंगाली सज्जन से शादी की थी। (आई मैरीड ए बंगाल जेंटलमेन ऑफ दी शूद्रा कास्ट—टेस्टिमनी, एडीशन १९३६, पेज १२)। इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर भी पण्डिता ने लिखा है—'एक शूद्र से विवाह करने के कारण मुझसे कोई सम्बन्ध स्थापित करने के लिये तैयार न था।' चाहे स्वामीजी हों या पण्डिता हो, या अन्य कोई हो, ऐसा कभी-कभी हो जाता है। अतः वक्ता के जीवन-दर्शन, दृष्टिकोण व अभिप्राय को जान लेने के बाद हमें यथोचित प्रसङ्गोचित अर्थ ही ग्रहण करना चाहिये, अर्थ का अनर्थ नहीं करना चाहिए।

भेजती और उक्त पत्र में यह तो कदापि न लिखती कि—

"स्वामीजी के सम्बन्ध में जो भाव मेरे मन पर अङ्कित हैं, वह वास्तव में बहुत उत्तम हैं। वे सर्वभावेन दयास्वरूप थे। वे प्रांशु-विशाल-दर्शन, भद्रपुरुष थे, वे सच्चे और शुद्ध भावयुक्त पितृ-प्रकृति के पुरुष थे। उनका मेरे साथ बर्त्ताव कृपापूर्ण और पितृतुल्य था।"

पण्डिता के विषय में यह गलत धारणा पायी जाती है कि उनका विवाह ईसाई मत ग्रहण करने के उपरान्त हुआ। इस धारणा का खण्डन करके इस प्रदीर्घ हो रहे लेख को हम पूर्णविराम देते हैं। स्वामी दयानन्द के शिष्य पं० ज्वालादत्त ने अपने २१ नवम्बर १८८० के पत्र में स्वामीजी को जो यह सूचना दी थी कि—'१३ अक्तूबर १८८० को रमाबाई ने ईसाई मत स्वीकार करके विपिनबिहारी बंगाली से विवाह कर लिया[५१]'—वह पूर्णतया ठीक नहीं, क्योंकि यह विवादास्पद है कि पण्डिता रमाबाई का विवाह विपिनबिहारी से सन् १८८० में १३ जून को हुआ, १३ अक्टूबर को हुआ या १३ नवम्बर को हुआ। इन तीनों विवादास्पद तारीखों में १३ का साम्य आश्चर्यजनक है। लगता है विवाह निश्चित रूप से सन् १८८० में १३ तारीख को ही हुआ होगा, बिना स्पष्ट प्रमाण के यह कहना कठिन है कि यह विवाह जून मास में, अक्टूबर मास में, नवम्बर मास में हुआ या अन्य किसी मास में हुआ। पर इतना निश्चित है कि यह विवाह न तो ईसाई मत स्वीकार करके हुआ और न ही ईसाइयों की पद्धति से हुआ, क्योंकि रमाबाई ने तो ईसाई मत की दीक्षा २९ सितम्बर १८८३ को इंग्लैण्ड प्रवास काल में ग्रहण की थी और श्री विपिन अपने जीवनकाल में कभी भी ईसाई न हुए और न रहे। यह विवाह तो १८७२ के सिविल मैरेज एक्ट के अनुसार बाँकीपुर के रजिस्ट्रार के सामने किसी भी प्रकार की परम्परागत साम्प्रदायिक पद्धति को न अपनाते हुए शासकीय रजिस्ट्री पद्धति से अंकित किया गया था[५२]।

---

५१. ऋषि दयानन्द को लिखे गये पत्र और विज्ञापन, प्रथम भाग, पृ० १७०।

५२. रमा-विपिन विवाह के अवसर पर गवाह के रूप में बंगाल के सुप्रसिद्ध इतिहासकार मिस्टर बेभारीज. आई. सी. ए. सपत्नीक उपस्थित थे। श्री हेमेन्द्रनाथ दास ने अपने लेख में लिखा है कि—'प्रसिद्ध ऐतिहासिक मि० बेभारीज आई. सी. एस. ओ ताहात पत्नी ए बिबाहेर साक्षी रूपे उपस्थित छील।'—श्रीहट्ट सम्मीलनीर हीरक जयन्ती स्मृति-पुस्तिका : लेख—पं० रमाबाई ओ श्रीहट्ट, पृ० ८०।

उक्त सन् १८७२ का कानून ब्रह्मसमाज के अनुयायियों के लिए मुख्यरूप से बनाया गया था, क्योंकि ब्राह्म अपने आपको हिन्दू कहने के लिए तैयार न थे। इस कानून के अनुसार विवाहबद्ध होनेवाले वर-वधू को यह शपथपूर्वक कहना पड़ता था कि—'हम किसी भी धर्म विशेष के अनुयायी नहीं है। हम हिन्दू-मुसलमान, ईसाई, यहूदी, जरदुश्त इनमें से कुछ भी नहीं हैं[५३]।'

पण्डिता रमाबाई को इस प्रकार की शपथ लेने में कोई कठिनाई नहीं थी, क्योंकि उनका हिन्दू-धर्म पर से विश्वास उठ गया था, और ईसाई धर्म स्वीकार करने का विचार भी उस समय उनके मन में परिपक्व नहीं था। श्रीहट्ट की अदालत के वकील श्री विपिनबिहारी बंगाली सनातनी होने के बावजूद अपने विद्यार्थी जीवन में ब्रह्मसमाज के प्रभाव में आ चुके थे, पर पण्डिता की तरह उनका मन हिन्दू धर्म से विरक्त नहीं हुआ था। इस सन्दर्भ में भूतपूर्व सुप्रसिद्ध समाजवादी सांसद और पत्रकार श्री मधु लिमये ने कहा है कि—'पण्डिता रमाबाई की प्यार की लहर में बह जाने के कारण १८७२ के कानून के अनुसार विपिनबिहारी बंगाली विवाह करने के लिए विवश हो गए।' इस सिविल मैरेज एक्ट का सहारा लिए बिना विपिनबिहारी और रमाबाई के लिए अन्य कोई उपाय भी शेष नहीं था, क्योंकि हिन्दू-धर्म के अनुसार साहा[५४] जाति के विपिनबिहारी और ब्राह्मण जाति

---

५३. पं० रमाबई सरस्वती : एक अज्ञात पृष्ठ, लेखक—मधु लिमये-महाराष्ट्र टाइम्स : मराठी दैनिक, १८ अक्टूबर १९९२, रविवारीय परिशिष्ट, मैफल पृष्ठ ३।

५४. 'मेरा जीवन : मेरा समय' नामक आत्मकथा के लेखक श्री विपिनचन्द्रपाल (भारतीय स्वाधीनता संग्राम की सुप्रसिद्ध लाल-बाल-पाल की त्रिमूर्ति में से एक, जो कि विपिनबिहारी के सहयोगी भी थे) ने विपिन को साहा जाति का बतलाया है। उनके अनुसार ''बंगाल का हिन्दू समाज दो भागों में बंटा हुआ था। एक विभाग ब्राह्मण कायस्थ और वैद्य का था तो दूसरा साहा आदि का था। साहा जाति के लोग समृद्ध होने के बावजूद भी उच्चवर्णीय लोग उनसे सम्बन्ध रखने के लिए तैयार न थे। उनके प्रति लोगों में यह गलतफहमी थी कि वे शराब बनाने-बेचने वाले कलाल हैं, पर उनके पूर्वजों द्वारा बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिए जाने के कारण ब्राह्मण समाज ने उन्हें शूद्रों की श्रेणी में डालकर तिरस्कृत किया था'' (महाराष्ट्र टाइम्म १८ अक्टूबर ९२, पृष्ठ १)। श्री विपिनचन्द्रपाल के अतिरिक्त अधिकांश लेखकों ने

की पण्डिता रमाबाई का अन्तर्जातीय विवाह विधिसम्मत नहीं माना जा सकता था और उनकी सन्तति अवैध सन्तान मानी जाती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि पण्डिता रमाबाई का विवाह ईसाई मत ग्रहण करने के बाद वा ईसाई पद्धति से नहीं हुआ, अपितु ब्रह्मसमाज के अनुयायियों के लिए रचे गए ब्राह्ममत द्वारा अनुमोदित रजिस्टर पद्धति से हुआ। महर्षि दयानन्द के मतानुसार ब्रह्मसमाज की विचारधारा भी ईसाई मताभिमुखी थी[५५]।

सिल्चर (आसाम) में अपने गृहस्थी जीवन में तल्लीन होने के बाद अचानक एक दिन कभी ब्रह्मसमाज में सक्रिय रहे श्री विपिन-बिहारी दास द्वारा संकलित ग्रन्थ संग्रह में पण्डिता रमाबाई को 'लुक का शुभ वर्त्तमान' नामक हिन्दू-धर्म की श्रद्धा नष्ट करनेवाली और ईसाई धर्म के प्रति जिज्ञासा-निर्माण करनेवाली, बंगाली भाषा में लिखी एक छोटी-सी पुस्तिका प्राप्त हुई, जिसे उन्होंने बड़े चाव से पढ़ना शुरु किया। पण्डिता रमाबाई को यह मालूम नहीं था कि आखिर यह पुस्तक श्री विपिनबिहारी के पुस्तक-संग्रह में कैसे आ गई? सिल्चर में एलन नामक एक बाप्टिस्ट मिशनरी रहते थे, जो विभिन्न अवसरों पर घर आकर पण्डिता रमाबाई को 'शुभ वर्त्तमान' पढ़ाते थे। प्रारम्भ में विपिनबिहारी इस विद्याग्रहण के अनुकूल थे, पर जब पण्डिता रमाबाई ने प्रकट रूप में यह कहा कि—ईसाई धर्म

विपिनबिहारी को कायस्थ कुलोत्पन्न कहा है। जो जिज्ञासु कायस्थ जाति के विषय में विशेष अध्ययन करना चाहें, वे हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री हरिवंशराय बच्चन लिखित—आत्मकथा—'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' के प्रारम्भिक अंश पढ़ें। स्वामी विवेकानन्द को भी कायस्थ कुलोत्पन्न होने के कारण तत्युगीन रूढिवादियों ने शूद्र माना था और साथ में यह भी कहा था कि—एक शूद्र को विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रचार करने का कोई हक नहीं है।

५५. 'सत्यार्थप्रकाश' में स्वामीजी ने ब्रह्मसमाज के जो १६ दोष बतलाए हैं, उनमें छह ऐसे दोष हैं, जिनमें ब्रह्मसमाजियों को स्वामीजी ने ईसाइयत का अनुकरण करते हुए बतलाया है (सत्यार्थप्रकाश : सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक, पृ० ५७२ से ५८२)। मृणालिनी जोगळेकर द्वारा इन पंक्तियों के लेखक को लिखे २०-१०-१९९२ के पत्रानुसार पण्डिता रमाबाई ने स्वयं यह कहा है कि—'यदि मूल स्रोत से डायरेक्ट (ईसाई धर्म से) पानी मिलता है तो मैं उसे नल (ब्रह्मसमाज) से लेने का प्रयास क्यों करूँ?'

स्वीकार करने की मेरी इच्छा है, तो वे बहुत ही क्रुद्ध हुए थे और उन्होंने यह कहा था कि—'फादर एलन को मैं यह कहूँगा कि आगे फिर कभी वे हमारे घर में कदम न रखें[५६]।'

विवाहोपरान्त पण्डिता रमाबाई और श्री विपिनबिहारी के इस संघर्ष से स्पष्ट है कि—विवाह से पूर्व पण्डिता रमाबाई ने ईसाई मत स्वीकार नहीं किया था। लगता है पण्डिता और विपिन की ये मानसिक-धार्मिक संघर्ष की कथाएँ सत्य-असत्य का मिश्रित रूप धारण कर अफवाहों के रूप में महर्षि दयानन्द के शिष्य पं० ज्वालादत्त तक पहुँची होंगी। तदनुसार पण्डित ज्वालादत्त ने स्वामीजी को यह सूचित कर दिया कि—'रमाबाई ने ईसाई मत स्वीकार करके विपिनबिहारी बंगाली से विवाह कर लिया है।' जब कि सत्य तो यह है कि पण्डिता ने सन् १८८० में नहीं, अपितु १८८३ में, वह भी इग्लैण्ड में, ईसाई मत की दीक्षा ग्रहण की थी। १८८२ में तो हम उसे जहाँ महादेव गोविन्द रानडे के घर पर पुराण की कथा करते हुए पाते हैं, वहाँ आर्यसमाज के नाम से मिलती-जुलती 'आर्य महिला समाज' की स्थापना कर न्यायमूर्ति रानडे की पत्नी के साथ पुणे की तत्युगीन असूर्यपश्या नारी जगत् में जागृति का शंखनाद करते हुए देखते हैं।

—वेदवाणी : मासिक : सितंबर-अक्तूबर : १९९३ से साभार।



५६. माझी साक्ष : पण्डिता रमाबाई द्वारा लिखित 'टेस्टिमनी' का मराठी अनुवाद, अनुवादक—रेवरंड आर. जोशी : संस्करण १९६८, पृ० २२-२३।
सन्दर्भ सहयोगी-व्यक्ति एवं संस्था : १. (स्व०) श्री श्यामसुन्दर आढाव—नासिक, २. प्रा० डॉ० अशोक सिरसीकर नांदेड़, ३. प्रा० डॉ० जगदीश आचार्य नांदेड़, ४. प्रा० सत्यकाम पाठक नांदेड़, ५. श्रीमती वेदवती शास्त्री शेष सभी नांदेड़ निवासी, ६. ग्रन्थपाल—हुतात्मा पानसरे स्मारक ग्रन्थालय : पीपल्स कॉलेज, नांदेड़ (महाराष्ट्र)।

तृतीय अध्याय
जिन्होंने महर्षि का सान्निध्य पाया

(१)
नाना जगन्नाथ शङ्करसेठ

प्रार्थनासमाज मुम्बई के मराठी मुखपत्र 'सुबोध पत्रिका' साप्ताहिक की फाइल देखने का जब मुझे अवसर मिला तब मैंने पाया कि आर्यसमाज के कार्यक्रम पालवा [गिरगाँव] के शंकरसेठ भवन के परिसर में स्थित गोविन्द विष्णु की पाठशाला में सम्पन्न होते थे। मुम्बई आर्यसमाज काकड़वाडी स्थापना शताब्दी स्मृति ग्रन्थ में भी लिखा है, आर्यसमाज मुम्बई के साप्ताहिक अधिवेशन गिरगाँव रोड पर श्री जगन्नाथ शंकरसेठ के विशाल भवन के पास श्री गोविन्द विष्णु के प्राइवेट इंग्लिश स्कूल में होने लगे थे[१]। तत्कालीन मुम्बई की जनता इस स्थान से इतनी अधिक सुपरिचित हो गई थी कि आर्यसमाज के भावी कार्यक्रमों की पूर्व सूचना हेतु कार्यक्रम स्थली- शंकरसेठ भवन, पाठशाला या स्कूल का एकाधिक बार स्पष्ट निर्देश न होने पर भी इस स्थान को आर्यसमाज के कार्यक्रमों का स्थल समझती थी। उदाहरण के रूप में तत्कालीन दो-तीन सूचना-समाचार प्रस्तुत हैं—

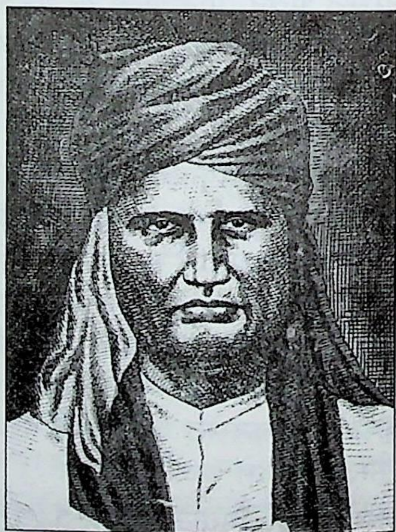
"आज सायंकाळी चार वाजता आर्यसमाजात कवि नर्मदाशंकर लालशंकर हे 'अभिमान' या विषयावर व्याख्यान देणार आहेत[२]।"

"येत्या बुधवारी सायंकाळी ५.३० वाजता आर्यसमाजाचा तृतीय वार्षिकोत्सव नेहमीच्या स्थळी होणार आहे[३]।"

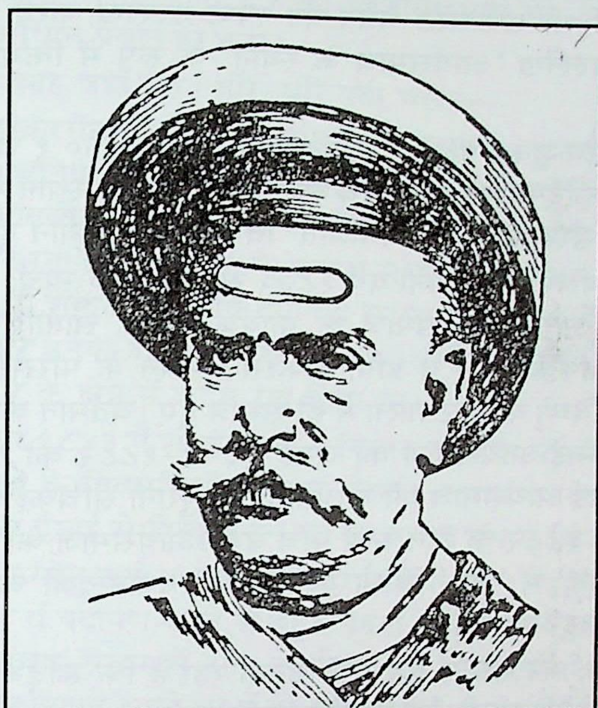
"देशहितैषी राजमान्य राजश्री गोपाल नरसिंह देशपांडे का व्याख्यान आर्यसमाज की ओर से गत बुधवार को रात आठ बजे पालवा के शंकरसेठ वाडे में स्थित राजमान्य राजश्री गोविन्द विष्णु की पाठशाला में हुआ[४]।"

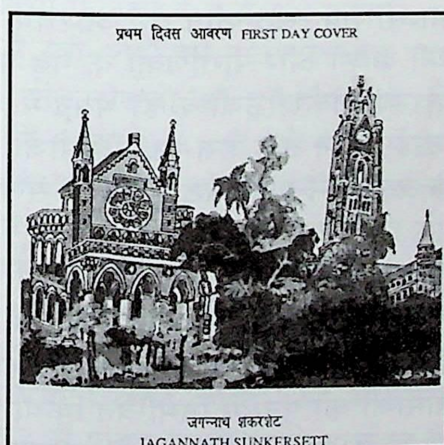
स्वामी दयानन्द कालीन मुम्बई आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशनों की, जो कार्यवाही हस्तलिखित रजिस्टर के रूप में सुरक्षित





महर्षि दयानन्द सरस्वती




प्रथम दिवस आवरण FIRST DAY COVER
जगन्नाथ शंकरशेट
JAGANNATH SUNKERSETT


भारत
INDIA
2.00
JAGANNATH SUNKERSETT

नाना शंकरसेठ

है, उसमें भी शंकरसेठ भवन का स्पष्ट उल्लेख करने के बजाय उसका उल्लेख 'आर्यसमाज के स्थान' के रूप में किया गया है। यथा—

"पौष शुक्ल पक्ष १२, रविवार, सं० १८३८ ता० १ जनवरी सन् १८८२ के दिन सायं साढ़े पाँच बजे आर्यसमाज के स्थान में [स्वामी दयानन्द सरस्वती का] 'धर्मोन्नति' विषय पर व्याख्यान हुआ[५]।"

आर्यसमाज स्थापना वर्ष १८७५ से लेकर २० मार्च, १८८२ से पूर्व जो अनेक आर्यसमाज के कार्यक्रम और साप्ताहिक सत्संग आयोजित किये गए वे प्रायः शंकरसेठ भवन के परिसर में स्थित गोविन्द विष्णु की पाठशाला में ही सम्पन्न हुए। वर्तमान काकडवाडी स्थित मुम्बई आर्यसमाज की जगह १३-२-१८८२ को खरीदी गई थी। मुम्बई आर्यसमाज की कार्यवाही की पुरानी संचिका के अनुसार २० मार्च १८८२ के दिन सायं पाँच बजे 'आर्यसमाज के नये खरीदे गए मकान' में 'वेद' विषय पर [स्वामी दयानन्दजी का पहला] व्याख्यान हुआ था[६]।

प्रायः मेरे मन में यह प्रश्न उठता रहा है कि रूढ़ियों से जर्जर उस युग में स्वामीजी जैसे निर्भीक क्रान्तिकारी सुधारक को व्याख्यानों के लिए अपने परिसर का खुलकर उपयोग करने की सुविधा प्रदान करने वाले प्रगतिशील और साहसी शंकरसेठ कौन थे? आश्चर्य तो इस बात का है कि महाराष्ट्र की काशी और पौराणिकों के गढ़ पुणे में भी स्वामीजी की निवास व्यवस्था शंकरसेठजी के ही भवन में की गई थी। वहाँ उनका लगभग ढाई महीने तक डेरा था, स्वामीजी के जीवन चरित्रों में पुणे विषयक प्रसंगों में शंकरसेठ विषयक सन्दर्भ निम्न प्रकार अंकित हैं—

बाबू श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय लिखते हैं, 'स्वामीजी पूना में विट्ठल पेठ में पंच हौस[७] के पास शंकरसेठ के मकान में ठहरे'।

प्रो० किशोरीलाल एम० ए० ने लिखा है, 'स्वर्गीय रानडे आदि सुधारक दल के नेताओं ने स्वामीजी को पूना में निमन्त्रित किया था और विट्ठल पेठ में पञ्च हाऊस के पास शंकरसेठ के मकान में ठहराया।'

इन अंशों को पढ़ने पर मुम्बई और पुणे दोनों ही स्थानों पर महर्षि दयानन्द सरस्वती के लिए अपने पलक-पांवडे बिछाने वाले

ये महामना शंकरसेठ कौन हैं? का जिज्ञासा भाव मेरे अन्तर्मन में और भी अधिक प्रबल हो उठा।

जहाँ चाह वहाँ राह। धीरे-धीरे पता चला—

श्री शंकरसेठ महाराष्ट्र के प्रारम्भिक समाज-सुधारकों में से एक हैं, आधुनिक मुम्बई के निर्माताओं में आप सर्वाग्रणी हैं। संस्कृत प्रेमी एवं दानवीर के रूप में आज भी उन्हें सारा महाराष्ट्र श्रद्धा के साथ याद करता है[९]। महाराष्ट्र के समाज सुधारकों में सबसे वयोवृद्ध एवं सुप्रसिद्ध शंकरसेठ महर्षि दयानन्द सरस्वती से आयु में २२ वर्ष बड़े थे, और उनके आविर्भाव से पूर्व १९२१ में ही उन्होंने जनसेवा और व्यापार के क्षेत्र में कदम रख दिया था।

नवम्बर १८४३ में शंकरसेठजी ने निजाम राज्य के *परली वैजनाथ* नामक कस्बे के निवासी श्री नारायण शेषाद्रि नामक देशस्थ ब्राह्मण को शुद्ध कर ईसाई से हिन्दू बनाने का सराहनीय प्रयास किया था[१०]।

श्री शंकरसेठ सती प्रथा के भी कट्टर विरोधी थे[११]। महर्षि दयानन्द के महाराष्ट्र में पदार्पण करने से बहुत पहले पुनर्विवाह[१२] और स्त्री-शिक्षा के प्रचार-प्रसार में आप सर्वाग्रणी रहे। महिलाओं के लिए पहला स्कूल आपने अपने घर में ही खोला था[१३]। आपकी प्रगतिशील दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर ही महाराष्ट्रीय स्त्री शिक्षा के जनक महात्मा फुलेजी ने उन्हें १४ फरवरी, १८५२ को एक पत्र लिखकर उनसे स्त्री-शूद्रों की पाठशाला हेतु जगह की माँग की थी[१४]।

शंकरसेठजी की दानवीरता के तो अनेकशः प्रमाण उपलब्ध होते हैं—सन् १८६४ में पुणे नगरी में स्थित बुधवार पेठ नामक चौक में तथा पुणे रेल्वे स्टेशन पर विशाल दीवार घड़ी लगवाने के लिए उन्होंने तीन-तीन हजार रुपयों का दान दिया था[१५]। यात्रियों की सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए उन्होंने पुणे रेल्वे स्टेशन के सामने का रास्ता बाँधने के लिए पाँच हजार रुपये दान में दिए थे। पुणे में वेताल पेठ के पीछे श्री शंकरसेठ का एक बंगला था। वहाँ से पुणे के एक पर्यटन स्थल 'पर्वती' की ओर अनायास जाने के लिए उन्होंने १८६३ में पन्द्रह हजार रुपये खर्चकर एक राजमार्ग बनवाया था[१६]। श्रावण वर्षाकाल में गरीबों को दान और विद्वानों को शाल-दुशाले भी आप नियमित रूप से देते थे। 'चातुर्मास' में नियमित रूपेण प्रतिदिन तत्कालीन तीस रुपए तो आपके दान-धर्म के लिए ही

अर्पित होते थे[१७]। आपने गुजराती फोर्बर्स सभा मुम्बई के ग्रन्थालय को १८६५ में पाँचसौ रुपये दान में दिए थे[१८]।

कला कौशल और उद्योग-धन्धों के प्रति भी आपकी विशेष अभिरुचि थी। चहुँमुखी विकास के आप हिमायती थे। इस दिशा में आपकी ही प्रेरणा से मुम्बई में जे० जे० स्कूल ऑफ आर्ट[१९] प्रिंस अल्बर्ट म्यूजियम[२०], विक्टोरिया गार्डन[२१] तथा 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' की स्थापना हुई[२२] आपने 'मुम्बई स्टीम नेवीगेशन कम्पनी'[२३] तथा प्रथम 'इनलैण्ड रेल्वे एसोसिएशन'[२४] की स्थापना की। इसी संस्था ने अंग्रेजों को मुम्बई से ठाणे तक रेल लाइन बिछाने के लिए राजी किया था। यही रेल्वे बाद में 'ग्रेट इण्डियन पेनिनसुलर रेल्वे' और उसके बाद 'मध्य रेल्वे' बनी। रेल्वे की स्थापना में आपके सहयोग को स्वीकार करते हुए आपको इसके प्रथम भारतीय निदेशक मण्डल में सम्मिलित किया गया था। सन् १८५७ में स्थापित मुम्बई विद्यापीठ के आप संस्थापक सभासद थे[२५]।

आप मातृभाषा मराठी के साथ-साथ राष्ट्रभाषा हिन्दी के भी पक्षधर थे। आपने मराठी, गुजराती, हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी भाषा में विशेष दक्षता प्राप्त की थी। एक शिक्षाशास्त्री के रूप में आप इस तथ्य से भली-भाँति सुपरिचित थे कि अंग्रेजों से लड़ने के लिए भारतवासियों को अंग्रेजों के समान विद्याविभूषित होना ही चाहिए इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आपने मुम्बई में 'नेटिव एज्युकेशनल सोसाइटी'[२६] को शक्ति दी और 'एलफिंस्टन कॉलेज' की स्थापना की[२७]। आपके कारण ही 'ग्रांट-मेडिकल कॉलेज मुम्बई' की स्थापना हुई[२८]। आपने कमजोर और छोटी जातियों के परिवारों के बच्चों की शिक्षा के लिए, वैसे ही अवसर, समान रूप से उपलब्ध कराने के लिए अनेक कार्य किए, जो सम्पन्न वर्गों के बच्चों को सुलभ थे।

श्री शंकरसेठ अपने समय में मुम्बई के लोकप्रिय मन्त्री (ऑनरेबल) के रूप में भी ख्याति प्राप्त कर चुके थे[२९]। वे शासकों और शासितों को परस्पर जोड़ने वाली कड़ी थे। उन्होंने दोनों वर्गों में एक दूसरे के प्रति विश्वास की भावना उत्पन्न की और बड़ी कुशलता-पूर्वक दोनों वर्गों को देश की समृद्धि के लिए कार्य करने हेतु प्रेरित-प्रोत्साहित किया। भर्तृहरि के शब्दों में हम उन्हें 'नृपति जनपदानां दुर्लभः कार्यकर्त्ता' के विरुद से विभूषित कर सकते हैं। नाना के व्यक्तित्त्व से अंग्रेज शासक अतिशय मन्त्रमुग्ध थे। उदाहरण के रूप

में एक दो घटनाएँ काफी हैं। प्रथम तथ्य यह है कि मुम्बई के सन् १८४२ से १८४५ तक गवर्नर रहे सर जॉर्ज आर्थर ने भारत से लौटने के १९ वर्ष बाद जब उन्हें पुत्र लाभ हुआ तो उसका नाम—'लिओनार्ड राबर्ट शंकरसेठ' रखा था[३०]। दूसरी घटना इस प्रकार है, १८५७ के प्रथम स्वाधीनता संग्राम के समय मुम्बई से बाहर के अनेक लोग अपने संकटापन्न प्राण बचाने के लिए (शंकरसेठजी की माताजी की स्मृति में बनाये गए) भवानीशंकर मन्दिर में शरणार्थी के रूप में पधारे थे। उन सबकी सर्वविध व्यवस्था नाना की ओर से ही की गई थी, परिणामस्वरूप अंग्रेज पुलिस भी आपके पीछे पड़ गई थी, पर फोर्जेट नामक पुलिस कमिश्नर ने जाँच पड़ताल के बाद नाना को निर्दोष सिद्ध कर दिया था। मुम्बई के ताडदेव परिसर में स्थित भवानीशंकर मन्दिर के पास ही फोर्जेट गिल रोड है[३१]।

मुम्बई की पहली राजकीय संस्था 'बोम्बे एसोसिएशन' के आप अध्यक्ष थे और आपके सुपुत्र श्री विनायकराव संयुक्त सचिव थे। यह संस्था २६ अगस्त १८५२ को स्थापित हुई थी। इतिहासकार प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने इसे राजनीतिक अधिकारों के लिए आन्दोलन करनेवाली मुम्बई की सबसे पहली और भारतवर्ष की दूसरी संस्था माना है। 'बोम्बे एसोसिएशन' से पूर्व कलकत्ता में 'ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन' की स्थापना हो चुकी थी[३२]।

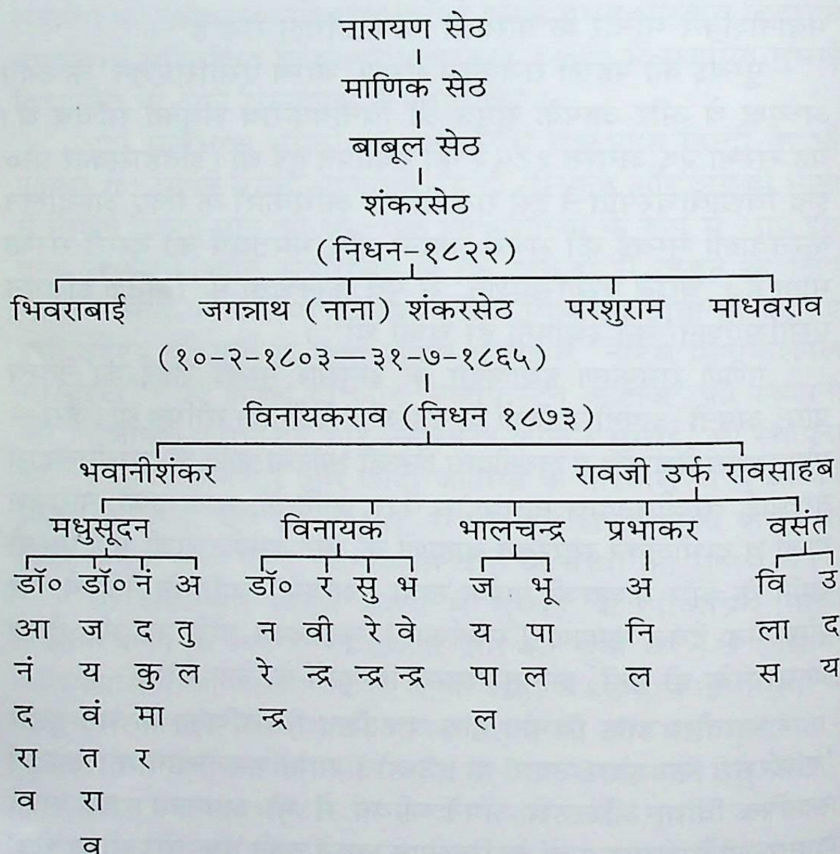
गणेश रामकृष्ण हवालदार के अनुसार मुम्बई शहर का नेतृत्त्व प्राय: अपनी-अपनी जातियों के महाजन-सेठों तक सीमित था। जैसे—गोकुलदास तेजपाल व लक्ष्मीदास क्षेमजी भाटिया जाति के, सरमंगलदास नथुभाई, वरजीवनदास माधवदास वैश्य जाति के, भाऊ दाजी, नारायण दाजी व दाभोलकर सारस्वत ब्राह्मणों के, सर जमशेटजीजी भाई पारसी जाति के और केशवजी नाईक खत्री [क्षत्रिय] जाति के नेता थे, पर शंकरसेठ दैवज्ञ ब्राह्मण [स्वर्णकार] कुलोत्पन्न होने पर भी, दैवज्ञ ब्राह्मणों के ही नहीं, अपितु समस्त हिन्दुओं के नेता थे[३३]।

भारतीय डाक विभाग द्वारा प्रकाशित विवरणिका के मतानुसार 'शंकरसेठ का हृदय उदार था। उन्होंने सामाजिक न्याय का आदर्श स्थापित किया और उसे अपने जीवन में भी अपनाया। वह सभी प्रकार की असमानताओं के खिलाफ लड़ने वाले एक वीर योद्धा थे।'

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि व्याख्यानों तथा निवास के

कारण महर्षि दयानन्द सरस्वती का क्रमशः जिन मुम्बई-पुणे के स्थलों से सम्बन्ध आया उनके मालिक का पूरा नाम था—'श्री जगन्नाथ (नाना) शंकरसेठ मुर्कुटे।' मुम्बई की जनता उन्हें आदर और श्रद्धा से 'नाना' कहती थी। मूलतः शंकरसेठ, तो 'नाना के पिताजी का नाम था, और वही 'नाना' तथा उनके वंशजों के नाम के साथ उपनामवत् जुड़ने लगा। वस्तुतः उनका मूल उपनाम 'मुर्कुटे' था, जिसका प्रयोग उनके नाम के साथ नगण्य और अल्प प्रचलित-सा ही रहा। जगन्नाथ शंकरसेठ से चार पीढ़ी पूर्व की तथा उनसे चार पीढ़ी पश्चात् की वंशावली पाठकों के अवलोकनार्थ प्रस्तुत है—

वंशावली



सर्वश्री नारायण सेठ से वसंतराव तक की वंशावली 'नामदार

नाना शंकरसेठ यांचे चरित्रः काल व कामगिरी' (लेखक-पुरुषोत्तम बालकृष्ण कुलकर्णी-परिशिष्ट-५) से उद्धृत की गई है। शेष जानकारी प्रत्यक्ष श्री भालचन्द्र शंकरसेठ से प्राप्त की है। सन् १९५२ में भालचन्द्रजी महाराष्ट्र विधान सभा के सदस्य चुने गए थे।

मैंने श्री शंकरसेठ के ऐतिहासिक (पर जीर्णोद्धार के कारण रूपान्तरित निवास स्थान [३८०/८२ नाना शंकरसेठ स्मृति, ५वीं मंजिल, जगन्नाथ शंकरसेठ रोड, मुम्बई-४०० ००२] पर उनके वंशज श्री भालचन्द्रजी की उपस्थिति में जब 'नाना' शंकरसेठ के जीवन चरित्र का निम्नांकित परिच्छेद पढ़ा तो स्वामी दयानन्द विषयक प्रथमस्तरीय प्रामाणिक जानकारी मिलने की खुशी में मेरा मन-मयूर आल्हादित हो उठा। वह परिच्छेद निम्न प्रकार है—

"सौ या सवा सौ वर्ष पूर्व जितने भी धार्मिक आन्दोलन और परिवर्तन हुए उन सबकी ओर नाना शंकरसेठ बड़ी सतर्कता से ध्यान देते थे। उनके समय में दयानन्द सरस्वती, केशवचन्द्र सेन जी जैसे महान् और पूज्य धर्म सुधारक मुम्बई पधारे, उन्होंने अपने-अपने विचार जनता के सामने प्रस्तुत किए। उनका एक भी व्याख्यान या प्रवचन ऐसा नहीं रहता था, जिसमें 'नाना' उपस्थित न होते हों, और श्रद्धा भाव से उन जैसों से धार्मिक चर्चा करने का अवसर प्राप्त न करते हों[३४]।'

उपरोक्त परिच्छेद को पढ़कर मैं बड़ी ही प्रसन्नता के साथ इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि अभी तक शासकीय एवं अशासकीय अभिलेखों में तथा मराठी साहित्य में श्री नाना शंकरसेठ का जो सन् १८६५ निधन काल दिया गया है, वह सर्वथा गलत है, क्योंकि स्वामीजी की मुम्बई प्रचार यात्रा सन् १८७४ से १८८२ तक होती रही और इन कार्यक्रमों में नाना शंकरसेठ की उपस्थिति से यह स्पष्ट होता है कि उनकी जीवन-लीला का पटाक्षेप १८६५ में नहीं, अपितु १८७५ या १८८२ में हुआ था[३५], पर बारम्बार एकाधिक स्थानों पर १८६५ ही उनकी निधन तिथि पाकर हमारा 'भ्रमोच्छेदन' और 'भ्रान्ति निवारण' हुआ[३६]।'

स्वामीजी के महाराष्ट्र आने से नौ वर्ष पूर्व ही 'नानाजी' अपने नश्वर शरीर को छोड़कर परलोक सिधार चुके थे। ऐसी स्थिति में

उनके द्वारा स्वामीजी के व्याख्यान सुनने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। भ्रम का मूल कारण 'नानाजी' के जीवन-चरित्र के उपरोक्त परिच्छेद को हमारे द्वारा सतर्कता और सूक्ष्मता से न पढ़ा जाना है। वस्तुतः उक्त परिच्छेद में 'दयानन्द सरस्वती, केशवचन्द्र सेन जैसे धर्म सुधारक' का प्रयोग हुआ है, पर इस 'जैसे' की ओर गम्भीरता से ध्यान न जाने के कारण हमें यह भ्रम हुआ कि स्वामी दयानन्द के मुम्बई आने पर उनके व्याख्यानों में श्री 'नाना' शंकरसेठ उपस्थित रहते थे, अतः हमने यह धारणा बना ली थी कि उनका निधन स्वामीजी की मुम्बई प्रचार यात्राओं के बाद १८७५ या १८८२ में हुआ था।

यह ठीक है कि स्वामी दयानन्द के महाराष्ट्र आगमन से पूर्व ही श्री 'नाना' शंकरसेठ इस दुनिया से चल बसे थे, पर उनका यशः शरीर तो विद्यमान था ही। और अभी इतना समय भी न बीता था कि मुम्बई की जनता अपने इस लोकप्रिय नेता के महद् व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व को पूरी तरह से भुला पाए। यह तो सुनिश्चित है कि महर्षि दयानन्दजी ने पुणे[३७] में निवास हेतु और मुम्बई में व्याख्यान हेतु जिन प्रासादों को पुनीत किया था वे दोनों भी 'नाना' शंकरसेठजी के ही निजी भवन थे।

नाना शंकरसेठ की पैतृक सम्पत्ति के ही नहीं, अपितु उनके विचारों और संस्कारों के उत्तराधिकारी थे, श्री विनायकराव शंकरसेठ, आप १८५२ से पूर्व ही मुम्बई के सामाजिक, आर्थिक, राष्ट्रीय और शैक्षिक जीवन से जुड़ गए थे। आपकी गणना भी मुम्बई के नेताओं में की जाती थी। पिताजी द्वारा प्रारम्भ किये गए विविध सार्वजनिक कार्यक्रमों में आपका भी सक्रिय सहभाग था। जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है मुम्बई की पहली राजनीतिक संस्था के नाना शंकरसेठ अध्यक्ष थे, तो संयुक्त सचिव श्री विनायकराव जगन्नाथ शंकरसेठ थे।

अनुमान के आधार पर मैं यह धारणा बना रहा था कि श्री 'नाना' शंकरसेठ ने नहीं, तो उनके सुपुत्र श्री विनायक शंकरसेठ ने ही मुम्बई में स्वामीजी द्वारा स्थापित प्रगतिशील आर्यसमाज के विविध कार्यक्रमों के लिए अपनी जगह तथा पुणे में क्रान्तिदर्शी स्वामी दयानन्द की निवास व्यवस्था हेतु अपना भवन प्रदान किया था, परन्तु मेरी यह धारणा उस समय निर्मूल सिद्ध हुई, जब मुझे पता चला कि

नाना शंकरसेठ के सुपुत्र श्री विनायक शंकरसेठ का भी महर्षि दयानन्द के महाराष्ट्र आगमन (१८७४) से एक वर्ष पूर्व (१८७३) ही निधन हो गया था। अत: स्वामीजी के मुम्बई प्रवचन काल (१८७४-१८८२) और पुणे निवास काल (१८७५) में उनकी ओर से किसी प्रकार की सुविधाएँ दिये जाने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

पिता 'नाना' शंकरसेठ और पुत्र विनायक शंकरसेठ के परलोक-वासी हो जाने के कारण यह कहना अनुचित न होगा कि स्वामी दयानन्द के मुम्बई-पुणे आगमन काल में श्री शंकरसेठ के प्रपौत्र रावसाहब शंकरसेठ ही विद्यमान थे, पर उस समय उनकी आयु केवल पाँच वर्ष की थी। इतना निश्चित है कि प्रपौत्र शंकरसेठ के अल्पायु बालक होने के कारण घर के प्रशासन के सभी सूत्र उनके सिवाय शंकरसेठ परिवार के अन्य किसी महिला सदस्य या अन्य किसी आत्मीय परिजन या कार्यकर्त्ता के हाथ में रहे होंगे। अत: स्वामी दयानन्द के मुम्बई-पुणे आगमन काल में शंकरसेठ घराने से जो सुविधाएँ मिलीं उनका श्रेय शंकरसेठ घराने को तो दिया जा सकता है पर केवल कुमार प्रपौत्र रावसाहब शंकरसेठ को दिया जाना सम्भव नहीं। हाँ यह सम्भव है कि प्रपौत्र शंकरसेठ कभी अपने अभिभावक की ऊँगली पकड़कर या खेलते-खेलते अपने प्रासाद के परिसर में हो रहे स्वामी दयानन्द का प्रवचन सुनने भी गए होंगे, पर उसे भी जानने का अब कोई साधन हमारे पास नहीं है।

इन सब वास्तविकताओं के बावजूद इससे नकारा नहीं जा सकता कि स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज के १८७४ से १८८२ तक के अधिकांश कार्यक्रम शंकरसेठ भवन के परिसर में स्थित गोविन्द विष्णु की पाठशाला में ही सम्पन्न हुए थे, तथा पुणे-प्रवचन-काल (१८७५) में श्री स्वामी दयानन्दजी सरस्वती लगभग ढाई महिने तक पुणे के वेताळपेठ (गुरुवार पेठ) स्थित शंकरसेठ वाड़े में ही विराजे थे। नाना शंकरसेठ की प्रगतिशीलता, उदारता, दानवीरता, सम्पन्नता, लोकप्रियता का ही यह अप्रत्यक्ष परिणाम था कि उनके निधन के १०-१७ वर्षों के बाद भी तत्कालीन समाज-सुधार में विश्वास रखने वाले महामति रानडे आदि महापुरुषों ने क्रान्तिकारी दयानन्द के कार्यक्रमों के लिए श्री शंकरसेठजी के मुम्बई-पुणे के स्थलों को सभी दृष्टि से समुचित समझा था।

श्री शंकरसेठजी के स्वामित्त्व के स्थल मुम्बई में स्वामीजी के प्रवचनों और पुणे में स्वामीजी के निवास के निमित्त बने, एतदर्थ शंकरसेठ परिवार के प्रति आर्यसमाज सदैव कृतज्ञ रहेगा। तत्कालीन रूढ़िवादी युग का विरोध सहन कर क्रान्तिकारी स्वामी दयानन्द को अपने यहाँ आश्रय देना एक प्रकार से खतरा मोल लेना ही था, और यह खतरा शंकरसेठ परिवार ने लिया था, अतः स्वामी दयानन्द के प्रति कृतज्ञता भाव जतलाने वाले व्यक्ति भला शंकरसेठ परिवार के प्रति क्यों न कृतज्ञ रहेंगे ? शंकरसेठ परिवार के ये जो स्वामी दयानन्द से सम्बद्ध मुम्बई-पुणे के स्थल हैं, वहाँ पर उस प्रकार की वर्तुलाकार ऐतिहासिक स्मारक शिला-पट्टियाँ लगानी चाहिए जैसी लंदन में लोकमान्य तिलक, पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा, स्वातन्त्र्यवीर सावरकर और माननीय डॉ० अम्बेडकरजी के निवास स्थलों से सम्बन्ध वास्तुओं पर लगायी गईं हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत लेख में हमने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि—१. स्वामी दयानन्दजी केजीवन-चरित्रों में अंकित 'शंकरसेठ' यह नाम स्वामीजी के कार्यकाल से ही शंकरसेठ के वंशजों के साथ उपनाम के रूप में जुड़ने लगा था। जब कि मूल पुरुष शंकरसेठ का निधन तो स्वामीजी के जन्म से पूर्व १८२२ में ही, हो चुका था। २. नाना शंकरसेठ के बहुमुखी कार्यों के कारण 'शंकरसेठ' उपनाम असाधारण लोकप्रियता को प्राप्त हुआ था। ३. स्वामी दयानन्द ने मुम्बई में जिस शंकरसेठ भवन के परिसर में व्याख्यान दिए तथा पुणे में जिस शंकरसेठ भवन में निवास किया था। उनका निर्माण नाना शंकरसेठ के समय ही हो चुका था। ४. स्वामी दयानन्द के मुम्बई-पुणे आगमन काल में 'नाना' शंकरसेठ और उनके सुपुत्र विनायक शंकरसेठ परलोक सिधार चुके थे। 'नाना' जगन्नाथ के पौत्र शंकरसेठ के प्रपौत्र श्री रावसाहब शंकरसेठ स्वामी दयानन्द के मुम्बई आगमन काल में मुम्बई में ही थे, पर उस समय वे अतिशय अल्पायु बालक थे, अतः ५. मुम्बई-पुणे के शंकरसेठ भवनों में क्रमशः स्वामी दयानन्दजी के प्रवचनों और निवास की व्यवस्था महामति महादेव गोविन्द रानडे, गोपालराव हरि देशमुख लोकहितवादी, कुंटे बंधुओं आदि प्रभावशाली व्यक्तियों के अनुरोध पर शंकरसेठ परिवार के कर्त्ता-धर्त्ताओं या सूत्रधारों ने की होगी।

सन्दर्भ

१. आर्यसमाज काकडवाड़ी मुम्बई, स्थापना शताब्दी स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ ३२ पर और मुम्बई आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों की कार्यवाही रजिस्टर में १९ व २० मार्च १८८२ की कार्यवाही का गुजराती में इस प्रकार उल्लेख हुआ है—''फाल्गुन कृष्ण पक्ष ना वार रवि १९३८ ता० १९ की मार्च सने १८८२ अंग्रेजी ए रोज आर्यसमाज रा० रा० गोविन्द विष्णु की शाला माँ सांज ना चार वज्यों मल्यों हतो, प्रथम वेद मंत्रे ईश्वर स्तुति अने गवैया ए स्तुति गायन करवा बाद वर्तमान पत्र मा आपेली जाहेर खबर प्रमाणे कवि कृष्णराय इच्छाराम 'देशोन्नति' विषय पर सुरस भाषण अप्यु हथु ते पीछे बीजे दिवस अटले चैत्र शुक्ल पक्ष प्रतिपदाने वार सोम सं० १९३८ ता० २० मार्च ने सने १८८२ ने रोजे आर्यसमाजजी जन्मदिवस होना महोत्सव करवाया आव्योहितो–ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन–२ भाग, भगवद्दत्त–बी० ए०, पृष्ठ १५६।

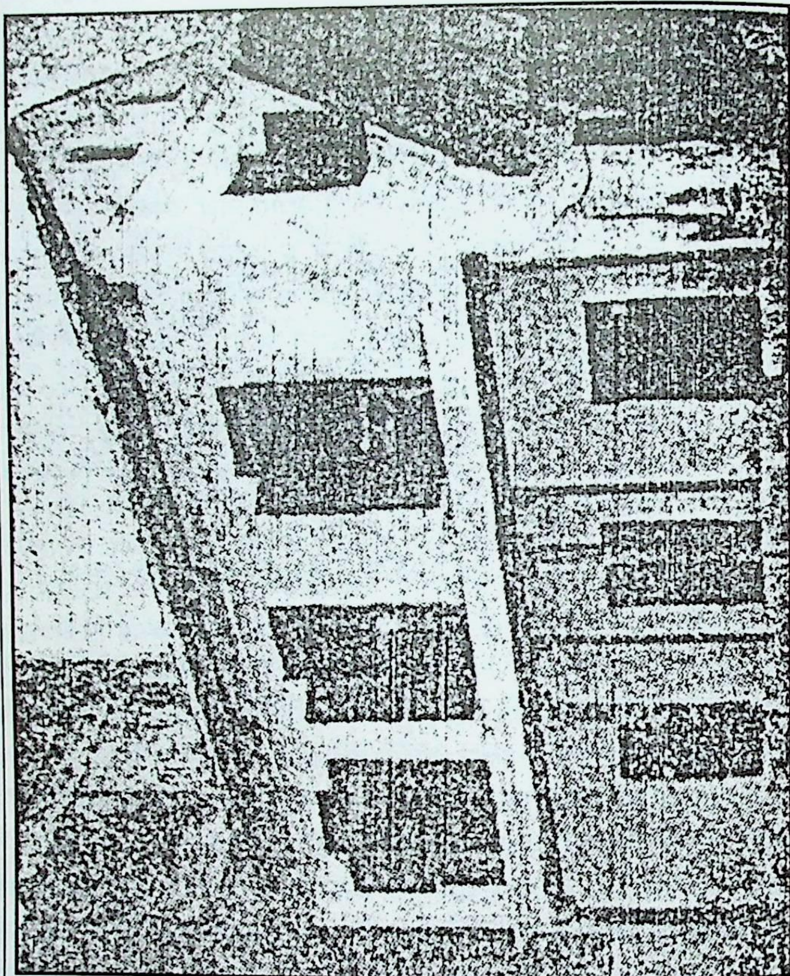
२. सुबोध पत्रिका : साप्ताहिक : १६ दिसम्बर, १८७७।

३. तत्रैव ३१ मार्च, १८७८।

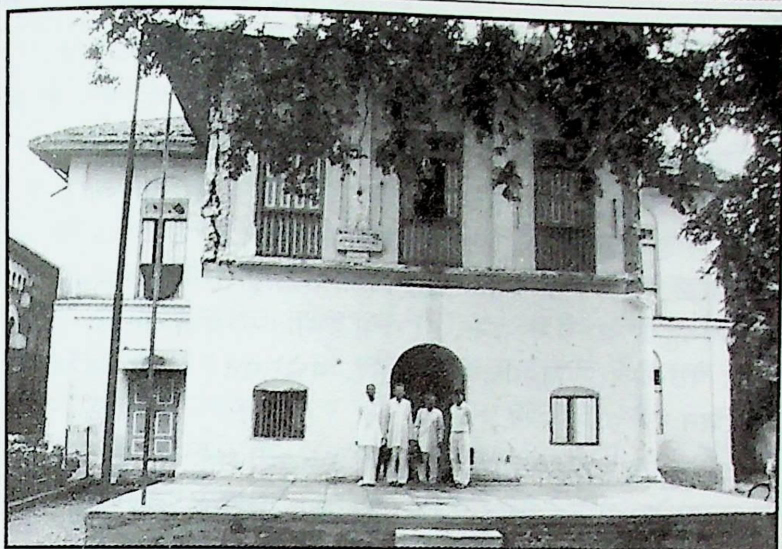
४. तत्रैव (मूल मराठी समाचार का हिन्दी अनुवाद) २२ सितम्बर, १८७८। इस समाचार से स्पष्ट है कि गोविन्द विष्णु की पाठशाला का परिसर मूलतः शंकरसेठ भवन का ही एक भाग था।

५. दयानन्द प्रवचन संग्रह : सम्पादक द्वय : डॉ० भवानीलाल भारतीय एवं पं० युधिष्ठिर मीमांसक, पृष्ठ ४८७।

६. तत्रैव–५०३। 'आर्यसमाज के नये खरीदे गए मकान में' इस अंश से स्पष्ट है कि फरवरी १८८२ में मुम्बई आर्यसमाज के लिए जो जगह खरीदी गई थी, वहाँ पर कोई मकान था। लगता है यह मकान जीर्ण–शीर्ण रहा होगा और उसे कुछ समय बाद गिरा दिया गया होगा। क्योंकि 'लोकहितवादी'जी ने लिखा है 'स्वामीजी ने दो वर्ष पूर्व [१८८२ में] आर्यसमाज मुम्बई के खुले मैदान में व्याख्यान दिए थे।' (लोकहितवादी–मासिक–जनवरी–फरवरी–१८८४) और जब स्वामी श्रद्धानन्दजी पहली बार (सन् १८८७ में) मुम्बई आर्यसमाज पधारे थे, तब वहाँ केवल उन्हें एक चबूतरा ही नजर आया था, मन्दिर नहीं। (कल्याण मार्ग का पथिक–पृष्ठ १४३–ज्ञानमण्डल



गिरगांव में स्थित गोविंद विष्णु के प्राइवेट इंग्लिश स्कूल का स्थान । १८८१ तक जो आर्यसमाज मुंबई के साप्ताहिक सत्संग का स्थल रहा ।





पुणे के वेताळ (गुरुवार) पेठ में स्थित नाना शंकरसेठ का वह भवन जहाँ महर्षि ने लगभग ढाई महिने निवास किया। (ऊपर, सामने से लिया गया एवं नीचे, दूसरी ओर से लिया गया चित्र)

प्रकाशन-काशी।

७. स्वामीजी के जीवन चरित्रों में 'वेताळ पेठ' को विट्ठल पेठ और 'पंच हौद' को पंच हौस या पंच हाउस लिखा है जो कि गलत है। पुणे में विट्ठल पेठ नामक पेठ न पहले कभी था और न ही वर्तमान में है। जिस पेठ में शंकरसेठ का मकान है, उस पेठ का सही नाम वेताळ पेठ है। सम्भवत: रोमन लिपि के प्रयोग के कारण वेताळ पेठ का विट्ठल पेठ में रूपान्तर हो गया होगा। सम्प्रति वेताळ पेठ क्षेत्र गुरुवार पेठ क्षेत्र में समाविष्ट है और 'पंच हौद' के स्थान पर पुणे कार्पोरेशन का हॉस्पिटल है।

८. सन् १९११ में 'मोबरे एण्ड कम्पनी-लंदन' से प्रकाशित और फादर इ० एफ० एल्विन द्वारा लिखित पुस्तक 'थर्टी फॉर ईयर्स पूना सिटी' के अनुसार नाना शंकरसेठ का यह बंगला और उसका खुला परिसर ईसाइयों द्वारा गिरजाघर की स्थापना की दृष्टि से १८७७ में खरीद लिया गया। आज इस परिसर में जो भव्य गिरजाघर है उसका नाम है—'पवित्र नाम देवालय।' 'अस्मिता' मासिक (१५ मार्च, १९८५) के सम्पादक भास्कर सदानन्द जाधव के अनुसार २४ दिसम्बर, १८८५ की मध्यरात्रि को फादर नेहेम्या गोरे (पं० नीलकण्ठ शास्त्री गोरे) ने इस चर्च में बाइबिल का पहिला पाठ पढ़ा था। फादर गोरे का इलाहाबाद में महर्षि दयानन्द सरस्वती से शास्त्रार्थ हुआ था। इलाहाबाद के अतिरिक्त पुणे में भी एकाधिक बार फादर गोरे ने अपने प्रवचनों द्वारा महर्षि को निष्प्रभ करने का असफल प्रयास किया था।

९. 'मराठी माणसे मराठी मने' के लेखक-आचार्य प्रह्लाद केशव अत्रे-पृष्ठ ४ के अनुसार-महाराष्ट्र में दसवीं परीक्षा में संस्कृत विषय में सर्वाधिक अंक प्राप्त करनेवाले छात्र को दी जाने वाली नाना शंकरसेठ छात्रवृत्ति सन् १८६९ में गणेश जनार्दन आगाशे को प्राप्त हुई थी, श्री आगाशे तथा महादेव मोरेश्वर कुंटे ने ही सन् १८७५ में महर्षि दयानन्द के पुणे प्रवचन लिपिबद्ध किए थे।

१०. नामदार शंकरसेठ यांचे चरित्र : पु० बा० कुलकर्णी पृष्ठ ४८२।

११. तत्रैव।

१२. ज्ञानोदय १ जुलाई १८५३, प्रभाकर १८५३, नाना शंकरसेठ की सम्मति व सहयोग से श्री गंगाधर शास्त्री फड़के ने पुनर्विवाह विषयक

पुस्तिका गणपत कृष्णाजी छापाखाने से प्रकाशित की थी। डॉ० भाऊ दाजी : व्यक्ति काल व कर्तृत्व : अनन्त काकबा प्रियोळकर-१८६।

१३. नाना शंकरसेठजी ने अपने प्रासाद के परिसर में ही स्थित मराठी पाठशाला का पूर्ण व्यय १ जनवरी १८५९ से देने की घोषणा की थी। कालान्तर में इसी पाठशाला का नाम 'जगन्नाथ शंकरसेठ कन्या पाठशाला' रखा गया था। सन्दर्भ—डॉ० भाऊ दाजी-१८६, सर्वश्री नाना शंकरसेठ, दादाभाई नौरोजी और डॉ० भाऊ दाजी लाड की प्रेरणा से सन् १८४८ में पाँच कन्या पाठशालाएँ प्रारम्भ हुई थीं, जिनमें कुल मिलाकर पाँच सौ कन्याएँ पढ़ रहीं थीं। —पुरोगामी सत्यशोधक-त्रैमासिक-जनवरी-मार्च १९९१-पृष्ठ २७।

१४. ज्ञान प्रकाश : २० अक्टूबर, १८६४, पृष्ठ-४।

१५. द टाइम्स ऑफ इण्डिया, ७ सितम्बर १८६३ / शुभसूचक (सातारा) ३०, ९, १८६४।

१६. शुभसूचक-२८ अगस्त १८६३।

१७. डॉ० भाऊ दाजी : व्यक्ति काल व कर्तृत्व : अ० का० प्रियोळकर-१८१।

१८. तत्रैव-१८१ / १९. तत्रैव-३३।

२०. तत्रैव-२७३-२७५ / २१. तत्रैव-१०९-२४९।

२२. जगन्नाथ शंकरसेठ : विवरणिका : भारतीय डाक विभाग, १५-२-१९९१ / २३. तत्रैव।

२४. डॉ० भाऊदाजी : व्यक्ति काल व कर्तृत्व : अ० का० प्रियोळकर-२२८ / २५. तत्रैव-१२।

२६ तत्रैव-१२ / २७. तत्रैव-३३।

२८. वैदिक गर्जना : वैदिक सेवा आश्रम : वाजेगांव : नांदेड़ : १५ अगस्त १८९३।

२९. अनोळखी मुम्बई-यशवंत रायकर : महाराष्ट्र टाइम्स १४-७-१९८६। ३०. तत्रैव-४ अगस्त, १९९६।

३१. भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, इन्द्र विद्यावाचस्पति-२९।

३२. रावसाहेब विश्वनाथ नारायण मंडलिक चरित्र-ग० रा० हवालदार, पृष्ठ १२२९।

३३. नामदार नाना शंकरसेठ यांचे चरित्र, पु० बा० कुलकर्णी-४७७।

३४. वेदवाणी (दयानन्द विशेषांक-२) मार्च १९८५, पृष्ठ २२, महर्षि दयानन्द के भक्त प्रशंसक और सत्संगी, पृष्ठ ५९।

३५. असा घडत होता नवा महाराष्ट्र (लेखांक चौदवा) : दुर्लभ आदर्श कार्यकर्त्ता : गं० दे० खानोलकर, महाराष्ट्र टाइम्स : रविवार २१ फेब्रुवारी १९८८, पृष्ठ-८।

३६. शंकरसेठ के उस ऐतिहासिक भवन के दो चित्र, जहाँ अपने पुणे निवासकाल में स्वामीजी अढ़ाई महिने विराजे थे, परोपकारी मार्च, १९९३ के आवरण पृष्ठ एक पर प्रकाशित हो चुके हैं। इन दो चित्रों के साथ शंकरसेठ भवन का एक ओर चित्र इंजीनियर आदित्यपालसिंह आर्य द्वारा सम्पादित 'आर्य सेवक : शताब्दी-स्मारिका' अक्तूबर २००३ पृष्ठ ३०४ और ३०६ पर देखे जा सकते हैं।

—परोपकारी : मासिक : संपादक : प्रा० डॉ० धर्मवीर : जनवरी १९९७ से साभार।

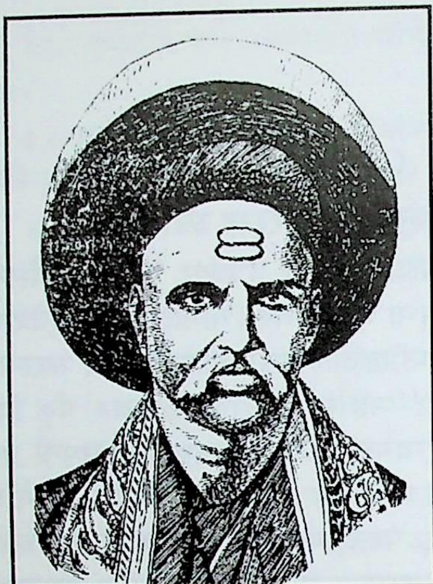


(२)

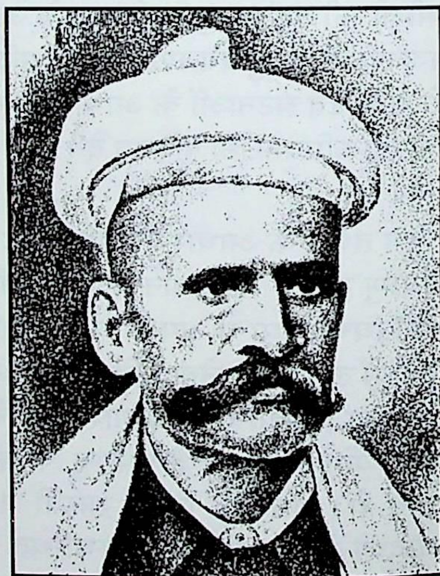
पण्डित विष्णु परशुराम शास्त्री

महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध समाज सुधारक, पत्रकार, मुम्बई आर्यसमाज के पूर्व प्रधान, परोपकारिणी सभा के विश्वस्त गोपालराव हरि देशमुख '**लोकहितवादी**' ने अपने 'पण्डित स्वामी श्रीमद्दयानन्द सरस्वती' नामक निबन्ध में लिखा है, ''महाराष्ट्रीय विद्वान् स्व० पं० विष्णु शास्त्रीजी ने एक बार स्वामी दयानन्दजी के साथ हुई अपनी प्रथम भेंट का लिखित रूप में वर्णन करते हुए, स्वामीजी के विरोध में एक आक्षेपात्मक लेख लिखा था, परन्तु कालान्तर में जब उन्हें स्वामी दयानन्दजी की विद्वत्ता और तपस्या का परिचय मिला तो उन्होंने स्वामीजी के विरोध में एक शब्द भी नहीं लिखा और वे खुले दिल से स्वामीजी की प्रशंसा करने लगे। हमने तो अनेक बार उनके मुँह से स्वामीजी की प्रशंसा सुनी थी। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा सम्पादित व सञ्चालित '**इन्दु प्रकाश**' नामक पत्रिका में भी अहमदाबाद आदि नगरों में घटित घटनाओं के आधार पर स्वामीजी सम्बन्धी स्तुति और उनकी लोकप्रियता का परिचय देने वाले अनेक (वार्त्ता) पत्र प्रकाशित हुए थे।''

इन तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि पं० विष्णु शास्त्री का दयानन्दजी के प्रति अनुकूल मत हो गया था। जिनकी विचारधारा से अपनी विचारधारा प्रतिकूल हो, ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध में लगातार अनेक महिनों तक अपनी पत्रिका में अभिनन्दनीय प्रशंसात्मक विस्तृत लेख प्रकाशित करने वाला उदार पत्रकार हमारी दृष्टि में कोई भी नहीं है। परन्तु पत्रकार पं० विष्णु शास्त्री इसके अपवाद थे। जब पं० विष्णु शास्त्री ने अनेक महिनों तक स्वामी दयानन्दजी के गुण गौरव से सम्बन्धित अनेक लेख, पत्र व समाचार प्रकाशित किए थे तथा मेरे साथ सम्पन्न हुई अनेक वार्ताओं में उन्होंने स्वामीजी के प्रति श्रद्धाभाव व्यक्त किया था, तो उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अब दयानन्द विरोधी आक्षेपकर्त्ताओं की श्रेणी में उनकी

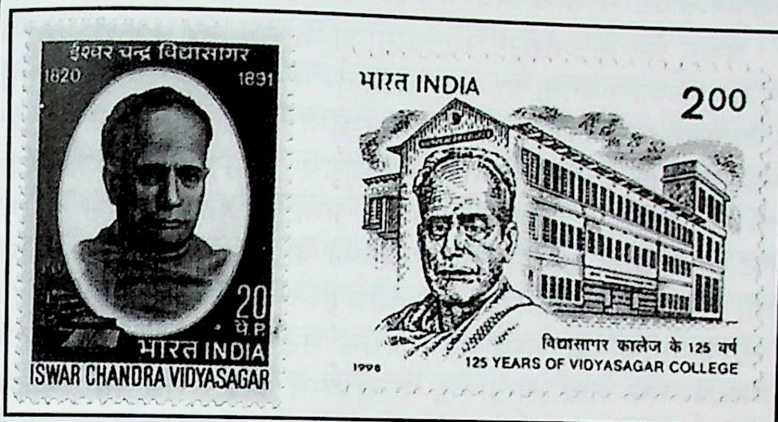


पं० विष्णु परशुराम शास्त्री



डॉ० रामकृष्ण गोपाल भांडारकर

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर





पंडित शंकर पांडुरंग

गणना करना ठीक नहीं है। हमारी दृष्टि में तो दयानन्द विरोधी आक्षेपकर्त्ताओं में से उनका नाम निकाल देना ही ठीक होगा।

प्रथम भेंट के अवसर पर स्वामीजी के सम्बन्ध में लोगों का जो विरुद्ध दृष्टिकोण बनता था, वह कालान्तर में स्वयं धीरे-धीरे परिवर्तित हो जाता था। इसका यथार्थ विवरण स्वामीजी के देहावसान पर ठाणे (महाराष्ट्र) से निकलने वाले 'अरुणोदय' नामक पत्र में प्रकाशित हुआ था, उससे तथा अन्य समाचार-पत्रों के अभिप्राय से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि निरन्तर स्वामीजी के सम्पर्क में रहने के बाद लोगों के मत किस प्रकार से परिवर्तित हो जाते थे। पं० विष्णु शास्त्री ने भी स्वामीजी के सम्बन्ध में प्रथम भेंट में हुई गलतफहमी के आधार पर एक लेख लिखा था, परन्तु इसमें कोई संशय नहीं कि बाद में सर्व संशयों के छिन्न-भिन्न हो जाने पर उनका स्वामीजी के सम्बन्ध में उज्ज्वल मत हो गया था। यह बड़े सन्तोष और प्रसन्नता की बात है।

समझदार और निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने वाले पुरुषों का यही स्वभाव होता है। वे पहले से बने हुए भ्रष्ट और दूषित मत के लिए किसी भी प्रकार का दुराग्रह न रखकर सद्-असद् विचारपूर्वक अपने पूर्व दूषित मतों को परिवर्तित करने के लिए भी तत्पर हो जाते हैं। इस कथन में हमें कोई आपत्ति नहीं है कि पं० विष्णु परशुराम शास्त्री (१८२७-१८७६) समझदार और तटस्थ दृष्टि से विचार करने वाले (पत्रकार) पुरुष थे।'' (महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज से सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण अभिलेख-संकलयिता पं० युधिष्ठिर मीमांसक, प्रकाशक—रामलाल कपूर ट्रस्ट, गाँव—रेवली, सोनीपत-१३१००१ (हरियाणा) प्रकाशन काल-मार्च १९८२)।

ईसाई पत्र 'सत्यदीपिका' नामक मराठी मासिक के सम्पादक श्री बाबा पद्मनजी ने यह स्वीकार किया है कि ''मुम्बई में हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के सुपुत्र के उपनयन संस्कार में वेद शास्त्र सम्पन्न राजमान्य राज्यश्री पं० विष्णु परशुराम शास्त्री भी उपस्थित थे, उन्होंने भी स्वामी दयानन्दजी के मत का अनुसरण करते हुए बहुत से वेद मन्त्रों का उच्चारण किया।'' —(वेदवाणी मासिक जुलाई, १९८६, पृष्ठ-५)।

पं० विष्णु शास्त्री का जन्म महाराष्ट्र प्रान्तीय सातारा जिले के 'बावधन' नामक गाँव में हुआ था। सातारा के सुप्रसिद्ध विद्वान्

राघवेन्द्राचार्य गजेन्द्रगढ़कर और उनके सुपुत्र नारायणाचार्य से आपने न्याय और व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया था। तत्पश्चात् पुणे की शासकीय पाठशाला में आपने अंग्रेजी का अध्ययन किया। सन् १८७५ से सांस के अन्तिम क्षण तक स्वामी दयानन्द की कटुतापूर्ण आलोचना करने वाले निबन्धमालाकार विष्णु शास्त्री चिपळूणकर के पिता कृष्ण शास्त्री के आप सहपाठी थे। आश्चर्य है श्री चिपलूणकर के पिता श्री सुधारक प्रवृत्ति के प्रगतिशील व्यक्ति थे, जबकि उनके सुपुत्र निबन्धमालाकार रूढ़िवादी थे। पं० विष्णु परशुराम शास्त्री ने सन् १८४८ में शासकीय शिक्षा विभाग की नौकरी ग्रहण की। वहाँ वे शिक्षक, अनुवादक और अनुवाद-परीक्षक की भूमिका निभाते रहे। सन् १८६४ में शासकीय सेवा का त्यागपत्र देकर आप मुम्बई के समाजसुधारवादी मराठी पत्र 'इन्दुप्रकाश' के सम्पादक बने।

पुनर्विवाह को शास्त्रों से प्रमाणित करते हुए उन्होंने अनेक व्याख्यान दिए, जो सन् १८७० में पुस्तक के रूप में भी प्रकाशित हुए। पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने पुनर्विववाह का शास्त्रीय आधार सिद्ध करते हुए जो ग्रन्थ लिखे थे, उनके आधार पर पं० विष्णु परशुराम शास्त्री ने सन् १८६५ में '**विधवा विवाह**' नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया था। उन्होंने 'क्रानिकल ऑफ नाना फ़डणवीस' और अन्य कतिपय ग्रन्थों के आधार पर 'नाना फडणवीस की संक्षिप्त जीवनी' (१८५९) भी लिखी थी। मिस्टर मरे कृत 'हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया' के दस से लेकर चौदहवें प्रकरण के आधार पर सन् १८६१ में 'हिन्दुस्तान का इतिहास' लिखा था। इन मराठी भाषा में लिखे ग्रन्थों के अतिरिक्त आपने सन् १८६४ में 'अंग्रेजी मराठी कोश' सन् १८६५ में 'संस्कृत और महाराष्ट्र धातु कोश' आदि ग्रन्थ भी लिखे थे। पण्डित शङ्कर पाण्डुरङ्ग की सहायता से आपने सन् १८६९ और १८७३ में मराठी 'सन्त तुकाराम की अभङ्ग काव्य गाथा' का सम्पादन भी किया था।

बाल विवाह, पुनर्विवाह, विधवा केश मुण्डन, अनमेल-जरठ-कुमारी विवाह आदि विषयों पर अपने प्रगतिशील समाज सुधारक विचारों का आपने स्पष्टता के साथ प्रतिपादन किया था। एतदर्थ आपने प्राचीन धर्म ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया था। महिलाओं के उत्थान हेतु वे सदैव छटपटाते रहे, पुनर्विवाह के वे केवल समर्थक

ही नहीं थे, प्रत्युत एक विधवा से विवाह कर उन्होंने अपने विचारों को क्रियात्मक रूप प्रदान किया था। सन् १८७० में पुणे में श्रीमत् शङ्कराचार्यजी की अध्यक्षता में सम्पन्न पुनर्विवाह विषयक शास्त्रार्थ में भाग लेकर उन्होंने अपने एतद् विषयक शास्त्रीय और तार्किकता से परिपूर्ण विचारों को प्रतिपादित किया था (मराठी विश्व कोश खण्ड-९, पृष्ठ-१५, सहयोगी लेखक-श्री अनिरुद्ध कुलकर्णी)।

पं० विष्णु परशुराम शास्त्री भी स्वामी दयानन्दजी की तरह सुधारक पक्ष के ही थे। पर स्वामीजी आदित्य ब्रह्मचारी और विष्णु शास्त्री परिपूर्ण गृहस्थी थे। स्वामीजी ने जैसे पण्डिता रमाबाई से यह आशा की थी कि वे आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर महिलाओं में वैदिक धर्म का प्रचार-प्रसार करेंगी, वैसे ही विष्णु शास्त्री से भी पुनर्विवाह के प्रसंग में यह कहा था कि सामान्य व्यक्ति पुनर्विवाह करें तो कोई बात नहीं, पर विद्वान् ब्राह्मण को पुनर्विवाह के चक्र में न पड़कर वैदिक धर्म के उत्थान में अपना जीवन समर्पित कर देना चाहिए। स्वामीजी और शास्त्रीजी दोनों भी पुनर्विवाह के पक्ष में थे, पर अध्ययन-अध्यापन करने वाले ब्राह्मण से स्वामीजी पुनर्विवाह की नहीं, अपितु संयमी, त्यागी और वेदोद्धार हेतु समर्पित जीवन की आशा रखते थे। लगता है, इस सूक्ष्म अन्तर को नजर अन्दाज करने के कारण ही पं० विष्णु परशुराम शास्त्री स्वामीजी से खिन्न और नाराज हो गए थे।

पण्डित लेखराम कृत 'महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र' में लिखा है कि विष्णु शास्त्री से स्वामीजी का पूना में 'नियोग और पुनर्विवाह' पर शास्त्रार्थ हुआ था। वे पुनर्विवाहं को मानते थे। स्वामीजी ने कहा कि आपत्काल अर्थात् मृत्यु आदि विपत्ति के आने पर ग्यारह तक पुनर्विवाह करने की वेद में आज्ञा है। कुछ निर्णय नहीं हुआ था। पूना के शास्त्रार्थ में तीस-चालीस पण्डित उपस्थित थे।' (प्रकाशक—आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, ४५५, खारी बावली, दिल्ली-६, प्रथम संस्करण, विक्रम संवत्-२०३४, पृष्ठ-२६५) हमें यह प्रतीत होता है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती और पं० विष्णु परशुराम शास्त्री में शास्त्रार्थ तो नहीं हुआ होगा, हाँ शास्त्र चर्चा अवश्य हुई होगी। सोमवार १० अगस्त १८७५ को पुणे से लिखे पत्र में स्वामीजी श्री गोपाल हरि देशमुख आदि को अपना आशीर्वाद देते हुए पत्र के अन्त

में लिखते हैं, 'यहाँ के पण्डित लोग सामने तो कोई भी नहीं आये, किन्तु दूर से बड़-बड़ किया और करते भी हैं, सो जानना।' (ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, प्रथम भाग, सम्पादक—श्री पं० भगवद्दत्त बी० ए०, परिष्कर्त्ता एवं परिवर्धक—श्री युधिष्ठिर मीमांसक-तृतीय संस्करण, नवम्बर सन् १९८०, पृष्ठ-६०)।

पं० विष्णु परशुराम शास्त्री द्वारा सम्पादित मुम्बई के 'इन्दु प्रकाश' पत्र में ही सर्वप्रथम स्वामी दयानन्दजी के नासिक कार्यक्रम की अद्‌भुत और प्रदीर्घ समालोचनात्मक प्रशंसा लेख रूप में प्रकाशित हुई थी। (द्रष्टव्य—महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, सम्पादक—स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, प्रकाशक—गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली, संस्करण-२०५० विक्रमी, पृष्ठ २६६-२६८ तथा आर्यसमाज का इतिहास प्रथम भाग, लेखक—डॉ० सत्यकेतु विद्यालङ्कार, दूसरा संस्करण-सन् १९८९, पृष्ठ २३६-२३७) स्वामीजी का मुम्बई राज्य या महाराष्ट्र में पदार्पण ही नासिक से शुरू हुआ था। महाराष्ट्र में नासिक का बहुत बड़ा महत्त्व है। वह महाराष्ट्र प्रान्त का एक बड़ा तीर्थ स्थल है। यह स्थान संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन के लिए विख्यात है। हरिद्वार-उज्जैन की तरह यहाँ पर भी अखिल भारतीय कुम्भ मेला लगता है। ऐसे स्थानों पर वैदिक धर्म की पताका फहराने और पाखण्ड खण्डिनी की पताका गाड़ने के लिए स्वामीजी निश्चित रूप से पहुँचते थे। १६ अक्टूबर से १९ अक्टूबर, १८७४ तक स्वामीजी नासिक में थे। (प्रायः हर बारह वर्ष बाद नासिक में कुम्भ मेला लगता है)।

श्री बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा बंगाली में लिखित और पं० श्री घासीराम एम० ए० द्वारा हिन्दी में अनूदित 'महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन चरित्र' में पण्डित विष्णु परशुराम शास्त्री और डॉ० भण्डारकर का संयुक्त और संक्षेप में परिचय देते हुए लिखा है, "पं० विष्णु परशुराम शास्त्री की संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डितों में गणना थी। ऐसे ही डॉक्टर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् समझे जाते थे।....पं० विष्णु परशुराम शास्त्री और डॉ० भण्डारकर दोनों ही प्रार्थनासमाज के सभासद थे। ये दोनों महानुभाव सुधारक दल के नेता थे।"

"पं० विष्णु परशुराम शास्त्री मूर्त्तिपूजा में विश्वास नहीं रखते थे और विधवा-विवाह के घोर समर्थक थे। वे स्वभाव से क्रोधी, असहिष्णु और चिड़चिड़े थे। उन्हें और डॉक्टर भण्डारकर को अपनी विद्या का बड़ा अभिमान था।......दोनों ही वेदों को बहुदेववाद का समर्थक समझते थे। १३ नवम्बर, १८७४ से कुछ समय पूर्व की बात है, पं० विष्णु परशुराम और डॉ० भण्डारकर स्वामीजी से मिलने गए। (समाज-) सुधार कार्य और वेदों के बहुदेववाद पर बातचीत हुई। स्वामीजी ने द्विजों के विधवा-विवाह से असहमति प्रकट की। इस पर शास्त्रीजी रुष्ट हो गए।"

स्वामीजी से हुई उपर्युक्त दोनों की मुलाकात के विषय में और अधिक विस्तार के साथ स्वामी दयानन्द के गैर आर्यसमाजी बंगाली चरित्रकार श्री देवेन्द्र बाबू को लिखे अपने एक पत्र में डॉ० भण्डारकर ने लिखा था—"जब स्वामी दयानन्द मुम्बई में थे, तो मैं (स्वर्गीय) पं० विष्णु परशुराम शास्त्री के साथ उनसे मिलने गया था। हमने उनके इस सिद्धान्त की आलोचना की थी कि—वेदों में अमिश्रित एकेश्वरवाद है। मैंने ऐतरेय ब्राह्मण के काण्ड ७, खण्ड १५ का उद्धरण प्रस्तुत किया था, जिसमें कहा गया है कि जब शुनःशेप को यूप से बाँध दिया गया और उसका वरुण के लिए बलिदान होने का समय निकट आया तो उसके विषय में कहा गया है कि उसने अपने आपको छुड़ाने के लिए एक देवता के पश्चात् दूसरे देवता की आराधना की और प्रत्येक देवता ने उसे दूसरे देवता की आराधना करने के लिए कहा। अन्त में जब उसने उषा की आराधना की तो वह छूट गया। इस पर मैंने कहा कि यहाँ स्पष्ट अक्षरों में अनेक देवताओं का वर्णन है, इसके होते हुए यह कहना सम्भव नहीं कि वेद अमिश्रित एकेश्वरवाद की शिक्षा देते हैं। पं० विष्णु परशुराम शास्त्री ने भी कुछ प्रश्न किए और विवाद इतना उत्तेजनापूर्ण हो गया कि सबसे पहले स्वामीजी ने कठोर शब्दों का प्रयोग किया। विष्णु शास्त्री ने भी वैसे ही कठोर शब्दों में उत्तर दिया। यह स्मरण नहीं है कि मुझे स्वामीजी ने क्या उत्तर दिया। उस समय यह प्रतीत नहीं होता था कि वे ब्राह्मण ग्रन्थों को ईश्वर वाक्य नहीं मानते थे। उक्त उद्धरण में जिन देवताओं का वर्णन है, उन्हें सम्बोधित करके ऋक् संहिता में बहुत से मन्त्र आए हैं और जिन मन्त्रों का कर्त्ता शुनःशेप को कहा

गया है, उनकी ओर सङ्केत किया गया है।

इसके कुछ समय पश्चात्—स्वामी दयानन्द ने एक व्याख्यान हिन्दी में प्रार्थनासमाज के हाल में दिया था और उस समय उन्होंने हमारे चित्त पर जो प्रभाव डाला, वह अच्छा था।''

महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन चरित्र के बंगाली लेखक बाबू श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय कीजीवनी को अन्तिम और व्यवस्थित रूप देने वाले पं० श्री घासीराम एम० ए० के अनुसार ''स्वामीजी द्विजों के लिए विधवा विवाह को अवैध मानते थे। उनके लिए वे नियोग को ही वेद सम्मत समझते थे। शूद्रों के लिए पुनर्विवाह की वे आज्ञा देते थे।''

बाबू देवेन्द्रनाथ के अनुसार बहुदेवतावाद का आक्षेप कोई नया नहीं था। ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में स्वामीजी ने उसका भली प्रकार खण्डन कर दिया है। डॉ० भण्डारकर का यह विचार कि उस समय ऐसा प्रतीत नहीं होता था कि स्वामीजी ब्राह्मण ग्रन्थों को परमेश्वर का वाक्य नहीं मानते थे, ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि स्वामीजी इससे पूर्व प्रकट कर चुके थे कि 'ब्राह्मण' वेद नहीं है?

देवेन्द्र बाबू यह भी लिखते हैं कि एकेश्वरवाद और बहुदेववाद की चर्चा में स्वामीजी ने प्रथम कठोर शब्दों का प्रयोग किया हो, इस पर भी हमें विश्वास नहीं होता। वस्तुतः बात यह थी कि विष्णु परशुराम शास्त्री अत्यन्त असहिष्णु प्रकृति के पुरुष थे। दूसरे जब डॉ० भण्डारकर से उनकी बातचीत हुई तो उनके मुख से महर्षि-मुनियों की निन्दा सुनकर स्वामीजी से न रहा गया और उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि महर्षि-मुनियों के विषय में कुछ न जानते हुए और वेदों को अच्छी तरह पढ़े बिना आप जैसे महानुभावों का ऐसा कहना अनुचित है।

स्वामीजी ने डॉक्टर महोदय की रचित 'संस्कृत मार्गोपदेशिका' की कुछ गलतियाँ भी उन्हें दिखलाई थीं। डॉक्टर साहब ने 'कौमुदी' के आधार पर उनको सिद्ध करने का यत्न किया, परन्तु स्वामीजी ने उनके कथन का 'अष्टाध्यायी' और 'महाभाष्य' के आधार पर खण्डन कर दिया, जिसका वे कोई उत्तर न दे सके। डॉ० महोदय को अपनी विद्वत्ता का बड़ा घमण्ड था। पर जब स्वामीजी ने उसे विचूर्णित

करके रख दिया तो उनको अत्यन्त ही रोष हुआ। स्वामीजी के इन्हीं उपर्युक्त प्रकरण या शब्दों के विषय में डॉ० भण्डारकर कहते हैं कि— स्वामीजी ने कठोर शब्द का प्रयोग किया। अस्तु, परिणाम यह हुआ कि दोनों ही महानुभाव स्वामीजी से रुष्ट होकर चले गए।'' डॉ० रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर (१८३७-१९२५) और स्वामीजी में मतभेद का मूल कारण यह था कि स्वामीजी आर्ष प्रणाली के पक्षधर थे और डॉ० भण्डारकर अनार्ष प्रणाली का अनुसरण कर रहे थे।

विष्णु परशुराम शास्त्री और स्वामीजी में मतभेद का कारण यह था कि स्वामीजी विशेष रूप से उन द्विजों के लिए जो प्रथम बार गृहस्थाश्रम की प्रक्रिया से गुजर चुके हैं, यह आशा रखते थे कि उन्होंने अपना जीवन सर्वजनहिताय समर्पित कर देना चाहिए। इधर समाज सुधारक विष्णु परशुराम शास्त्री लगभग पाँच वर्ष से विधवा विवाह और पुनर्विवाह के समर्थन में लेखनी, वाणी और शास्त्रार्थ प्रणाली के माध्यम से सक्रिय थे। वे केवल वक्ता सुधारक ही नहीं अपितु कर्त्ता सुधारक थे। अपने जीवन में भी पत्नी वियोग के दुर्दिन आ पड़ने पर उन्होंने विधवा से विवाह कर एक आदर्श प्रस्तुत किया था, जबकि समाज सुधारक के रूप में सुप्रसिद्ध न्यायमूर्ति रानडे अपने गृहस्थ जीवन में पत्नी के चिरवियोग का संकट आ पड़ने पर भी विष्णुशास्त्रीवत् आदर्श प्रस्तुत नहीं कर पाए थे। अन्य सब क्षेत्रों में स्वजीवन द्वारा उच्चादर्श प्रस्तुत करने के बावजूद भी श्री रानडे द्विज होते हुए भी पुनर्विवाह (वह भी अनमेल जरठ कुमारी विवाह) के चक्र में फँस गए थे। ऐसी स्थिति में विष्णु शास्त्री स्वामीजी से कुतूहल और प्रशंसा के शब्द सुनना चाहते थे, उसके स्थान पर स्वामीजी महाराज से यह सन्देश सुनकर कि द्विजों को विधवा विवाह या पुनर्विवाह के चक्र में न फँसकर सार्वजनिक कार्य में स्वजीवन को समर्पित कर देना चाहिए, खिन्न हो गए। सम्भव है स्वामी दयानन्दजी को इन दोनों प्रार्थनासमाजी समाज सुधारकों का व्यक्तिगत जीवन मालूम न भी हो, पर स्वामीजी के उपर्युक्त कथन का परिणाम यह हुआ कि श्री पं० विष्णु परशुराम शास्त्री स्वामीजी से अत्यन्त ही रुष्ट हो गए।

बंगाली चरित्रकार बाबू श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के शब्दों में....''शास्त्रीजी तो स्वामीजी के पूरे शत्रु हो गए और उनसे चिढ़ते

रहे। पहले वे यह मानते थे कि वेदों में मूर्त्ति-पूजा नहीं है, परन्तु उस दिन के मिलन के पश्चात् कहने लगे कि अब मैं यह भी नहीं मानता कि वेदों में मूर्त्ति-पूजा नहीं है। यही नहीं उन्होंने अपने द्वारा सम्पादित 'इन्दु प्रकाश' पत्र में जिसमें वे स्वामीजी की चार दिन की नासिक यात्रा के प्रसङ्ग में अद्भुत प्रशंसात्मक लेख छाप चुके थे। अब उसी पत्र में स्वामीजी के विरुद्ध लिखना आरम्भ कर दिया और स्वामी को गाली देने और उन पर मिथ्या दोषारोपण करने तक में उन्होंने संकोच नहीं किया। उन्होंने स्वामीजी को उद्धत, कर्कशभाषी, धूर्त्त और असत्यवादी तक लिख डाला। एक बार उन्होंने लिखा कि स्वामीजी 'दूरस्थाः पर्वता रम्याः' की लोकोक्ति के समान दूर से ही भले लगते हैं और यह कि स्वामीजी अपने को सर्वज्ञ समझकर अभिमान करते हैं। इस सबको देखकर यदि स्वामीजी ने कोई कठोर शब्द विष्णु शास्त्री के सम्बन्ध में कह भी दिया हो तो आश्चर्य ही क्या है?''

शास्त्रीजी ने 'दूरस्थाः पर्वता रम्याः' शीर्षक से जो कुछ मराठी पत्र 'इन्दुप्रकाश' में लिखा उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—''दूरस्थ लेखों से दयानन्द सरस्वती की जो झलक दिखाई देती थी, वह यहाँ पर दयानन्द सरस्वती के अङ्ग-प्रत्यङ्ग से कुछ भी दिखलाई नहीं दी। अनेक समझदार विवेकवान् व्यक्तियों की उनके साथ सम्पन्न विभिन्न प्रत्यक्ष भेंटवार्त्ताओं में जो अनुभव आया है, वह यही कि 'सर्वज्ञत्व का गर्व, औद्धत्य, वाचालत्व, असम्बद्ध प्रलापत्व, मिथ्या-वाद-धूर्तता इत्यादि-इत्यादि। 'न भेतव्यं न बोद्धव्यं, न श्राव्यं वादिनो वचः। झटिति प्रतिवक्तव्यं सभासु विजीगीषुभिः' यह कथ्य इन पर पूरी तरह चरितार्थ होता है। समक्ष जाने पर यह यद्वा तद्वा बोलते हैं और लिखित प्रश्नों का उत्तर देने की वेला में टालमटोल करते हैं। हमें स्वयं ऐसा अनुभव आया है। इनके जो मत हमें समझ में आए हैं, उनमें से कुछ एक मान्य हैं और सम्भव है उनका ये व्याख्यान द्वारा कदाचित् प्रतिपादन भी करते होंगे। परन्तु उन मतों को स्थापित करने वाले व्यक्तित्त्व में जो गाम्भीर्य, शान्ति, सभ्यता आदि गुणों से युक्त अगाध पाण्डित्य की आवश्यकता है, वह इनमें बिलकुल भी नजर नहीं आती है। इसलिए केवल प्रेमभाव से हम यह सूचित करते हैं कि दयानन्द सरस्वती के लिए श्रेयस्कर यह होगा कि सर्वप्रथम वे उन गुणों को पाने के लिए प्रयास करें और फिर ऐसी [प्रचार]

यात्रा पर निकलें।'' —(इन्दुप्रकाश : २३ नवम्बर, १८७४)।

इस खटपट या संघर्ष के बाद स्वामीजी और विष्णु शास्त्री में लगभग दो सवा दो महिने बाद, जो दूसरी खटपट हुई, उसका प्रसङ्ग इस प्रकार है—अहमदाबाद के श्री बेचरदास अम्बादास ने वहाँ के पौराणिक पण्डितों से कहा, ''यदि मूर्त्ति-पूजा आपको शास्त्रानुकूल प्रतीत होती है तो आप इस विषय पर स्वामीजी से शास्त्रार्थ क्यों नहीं कर लेते?'' शास्त्रार्थ न करने का कारण बतलाते हुए पौराणिक पण्डितों ने कहा कि स्वामीजी ने यजुर्वेद के मन्त्र का अर्थ अशुद्ध किया है। उक्त वाद-विवाद से सम्बद्ध मन्त्र इस प्रकार है—

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो, निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च।
हिरण्ययेन सविता रथेन, देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

यजुर्वेद के ३३वें अध्याय के इस ४३वें मन्त्र के प्रसङ्ग में लोगों ने पौराणिक पण्डितों से यह कहा कि आप अपना अर्थ प्रतिपादित करो, जिससे यह पता चले कि स्वामीजी ने गलती की है, साथ ही आपके द्वारा किए गए अर्थ के साथ अपने हस्ताक्षर भी कर दीजिए।

चर्चित मन्त्र का स्वामीजी ने जो अर्थ किया, वह निम्न प्रकार का था—

''(**आकृष्णेन**) आकर्षणात्मना (**रजसा**) रजोरूपेण रजत स्वरूपेण वा (**रथेन**) रमणीयेन (**देवः**) द्योतनात्मकः (**सविता**) प्रसवकर्त्ता वृष्ट्यादेः (**मर्त्यम्**) मर्त्यलोकम् (**अमृतम्**) ओषध्यादि रसं (**निवेशयन्**) प्रवेशयन् (**भुवनानि पश्यन्**) दर्शयन् (याति) रूपादिकं विभक्तं प्रापयतीत्यर्थः (हिरण्ययेन) ज्योतिर्मयेन।

(**सविता**) सर्वस्य जगत उत्पादकः (**देवः**) सर्वस्य प्रकाशकः (**मर्त्यम्**) मर्त्यलोकस्थान् मनुष्यान् (**अमृतम्**) सत्योपदेश रूपं (**निवेशयन्**) प्रवेशयन् सर्वाणि (**भुवनानि**) सर्वज्ञतया (**पश्यन्**) सन् (**आकृष्णेन**) सर्वस्याकर्षण स्वरूपेण परमाणुनां धारणेन वा (**रथेन**) रमणीयेनानन्दस्वरूपेण वर्तमानः सन् (**याति**) धर्मात्मनः स्वान् भक्तान् सकामान् प्रापयतीत्यर्थः।'' संवत् १९३१, पौष वदी षष्ठी, बुधवार, ७ काल ४० मिनट, सही-सम्मतिस्त्र दयानन्द सरस्वती स्वामिनः। ईस्वी सन् के अनुसार हस्ताक्षर का यह दिन २७ जनवरी, १८७५ का है। (ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन-प्रथम

भाग, पृष्ठ-५०-५१)।

पौराणिक पण्डितों द्वारा किया गया उक्त मन्त्र का प्रस्तुत अर्थ निम्न प्रकार का था—'(आकृष्णेन) ईषत्कृष्णेन (रजसा वर्तमानः) सहित (सविता देवः) सूर्यः (अमृतं) स्वर्गं (मर्त्यं) भूलोकं (निवेशयन्) स्व-स्व प्रदेशेषु स्थापयन् (हिरण्ययेन रथेन) स्यन्दनेन (भुवनानि पश्यन् याति) गच्छति। सही—लल्लूभाई बापू शास्त्रिगणः सम्मतोऽयमर्थः शास्त्री सेवकराम रामनाथ सम्मतिरत्र भास्कर शास्त्रिणः, सम्मतिरत्र अमृतराम शास्त्रिणः।

पं० युधिष्ठिर मीमांसकजी की पाद टिप्पणी के अनुसार यह अर्थ पौराणिक शास्त्रार्थेच्छुक पण्डितों ने बुधवार २७ जनवरी, १८७५ को सायं ७ बजकर ४० मिनट पर लिख कर दिया था। (ऋषि दयानन्द सरस्वती को लिखे गए पत्र और विज्ञापन तृतीय भाग, पृष्ठ-३)।

२७ जनवरी, १८७५ को अहमदाबाद में रावबहादुर विट्ठलदास के घर पर स्वामीजी का अभिनन्दन एवं विदाई समारोह आयोजित किया गया था। जिसमें सर्वश्री बैचरदास अम्बादास, गोपालराव हरि देशमुख, भोलानाथ, साराभाई, अम्बालाल सागरलाल आदि महानुभाव उपस्थित थे। इसी विदाई समारोह में मूर्त्ति-पूजा में विश्वास रखने वाले, स्वामीजी से प्रतिकूल मत रखने वाले पौराणिक भाई सर्वश्री लल्लूभाई बापूजी शास्त्री, सेवकराम रामनाथ शास्त्री, भोलानाथ भगवान् आदि तथा इनके अतिरिक्त कई पादरी भी उपस्थित थे। इसी समय श्री बेचरदास अम्बादास ने पौराणिक भाइयों को स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने की बात कही थी। पौराणिक पण्डितों ने शास्त्रार्थ को यह कहकर टाल दिया था कि स्वामीजी ने **'आकृष्णेन'**—इस यजुर्वेद के मन्त्र का अर्थ अशुद्ध किया है, तब उपस्थित लोगों के कहने पर वहीं पर स्वामीजी ने और विपक्षी पौराणिक भाइयों ने अपने-अपने अर्थ लिखित रूप में हस्ताक्षर करके एक-दूसरे को प्रदान किए थे। सर्वश्री लोकहितवादी, भोलानाथ, अम्बालाल आदि ने दोनों के अर्थों को देख और समझकर यह मत व्यक्त किया था कि पौराणिक शास्त्रीगण, अविवेकी और दुराग्रही हैं, स्वामीजी का किया अर्थ ही ठीक है।

चर्चित मन्त्र का स्वामीजी ने और पौराणिक भाइयों ने जो अर्थ

किए वे अहमदाबाद से किसी ने 'इन्दुप्रकाश' के सम्पादक पं० विष्णु परशुराम शास्त्री के पास मुम्बई भेज दिए। स्वामीजी के अकारण वैरी बने पं० विष्णु शास्त्री ने योग्यता न होते हुए भी स्वामीजी द्वारा किए गए मन्त्रार्थ पर बहुत से आक्षेप किए और उसे अशुद्ध बताया। इस पर स्वामीजी का मन्यु जागृत हो गया। मंगलवार १६ मार्च १८७५ को मुम्बई से अहमदाबाद गोपालराव हरि देशमुख 'लोकहितवादी' को भेजे गए पत्र में उन्होंने लिखा कि—

'इन्दुप्रकाश' के सम्पादक विष्णु शास्त्री के पास आप लोगों में से किसी ने 'आकृष्णेनेति' मन्त्र का हमारे द्वारा किया गया अर्थ निश्चयार्थ पत्र द्वारा भेजा होगा। उस पर उसने जो कुछ लिखा, सो सब मिथ्या ही है और यह विष्णु शास्त्री धूर्त, विद्याहीन, हठी, दुराग्रही, मिथ्याचारी है। इसमें सन्देह नहीं। उस विष्णु शास्त्री के विषय में एक वानगी (नमूना) लिखते हैं कि ऐसी मूर्खता कोई विद्यार्थी भी नहीं करेगा। (वह लिखता है) 'ऋ गतिप्रापणयोः' इस धातु से रथ शब्द सिद्ध हुआ है, 'रमु क्रीडायाम्' इस धातु से नहीं। इससे यह अर्थ निर्युक्तिक और निर्मूल है। "इस अन्धे की भीतर और बाहर की दोनों आँखें फूट गईं। पाणिनि मुनि रचित उणादिगण सूत्र (का) प्रमाण हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् (उणादिगण २।२) हथः। कुष्ठः। नीथः। रथः। काष्ठम्॥ यास्को निरुक्तकारः 'रथो रंहतेर्गति कर्मणः (निरुक्त ९।११) इत्यत्र 'रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वेति।' इससे 'रमु' धातु से ही रथ शब्द सिद्ध होने से 'रमणीयो रथो रमतेऽस्मिन्निति वा। अतएव विष्णु शास्त्री का कहना व्यर्थ ही हुआ और उसको सभा के लिए निमन्त्रण भी दिया है, परन्तु (वह) वहाँ किसलिए आवेगा? वह तो झूठा-झूठा घर से बैठा बकेगा। जिसने उसके पास पत्र भेजा सो भी व्यर्थ किया। क्योंकि ऐसे मिथ्यावादी मूर्ख के कहने का क्या ठिकाना? इसका खण्डन सभा में हमने सबको सुना दिया तथा लिख(वा) भी दिया है। परन्तु वह धूर्त अपने पत्र में छापेगा नहीं और जो छापेगा तो उसको आप लोग लिखना कि हमारा किया समाधान और उसका खण्डन छापे। जो विष्णु शास्त्री न छापेंगे, तो फिर अन्यत्र छपाया जाएगा।"

"आप लोग इन नष्ट बुद्धि वाले पक्षपातियों से निश्चय करने के लिए पूछते हो, सो सायणाचार्यादिकों को ही यथावत्

वेदार्थ का बोध नहीं है, तो उसके पीछे चलने वालों को यथावत् ज्ञान कहाँ से होगा? इसीलिए इन धूर्तों को मध्यस्थ हम नहीं करते। क्योंकि इन पण्डितों की बुद्धि व विद्या लोभादि दोषों से नष्ट हो गई है और सब अहमदाबाद के पण्डितों से उन्नीस वा बीस तथा वैसे ही सब पण्डितों का स्वभाव जानना। हमारा नाम सुनते ही वे और विपरीत उलटे चलते हैं। सो जिस पण्डित से पूछोगे वह झूठा ही कहेगा। इन पण्डितों को वेदार्थ का ज्ञान लेशमात्र भी नहीं है।'' (सम्पादक—पं० भगवद्दत्त बी० ए०, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन (प्रथम भाग) पृष्ठ ५३ से ५५ तृतीय संस्करण सन् १९८०)।

'मुम्बई से ही निकलने वाले 'इन्दुप्रकाश' नामक मराठी पत्र के सम्पादक श्री विष्णु परशुराम शास्त्री हमारे वक्तव्य-स्पष्टीकरण या खण्डन-मण्डन का प्रत्युत्तर देंगे। इस बात की स्वामीजी ने लगभग पच्चीस दिन तक प्रतीक्षा की। प्रदीर्घकाल लौटने के बाद भी जब विष्णु शास्त्री ने किसी प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की, तो फिर उन्होंने 'लोकहितवादी' को अपने ११ अप्रैल, १८७५ के पत्र में लिखा—'इन्दुप्रकाश' वाले विष्णु शास्त्री सुधारे वाला तो नहीं, किन्तु कुधारे वाला मालूम पड़ता है। उसका प्रत्युत्तर करके उसके पास भेजा था, परन्तु उसने नहीं छापा। इससे पक्षपाती भी दीखता है। अब वह अन्यत्र छपवाया जायेगा। (तत्रैव-पृष्ठ-५६, प्रकाशक—रामलाल कपूर ट्रस्ट, रेवली, सोनीपत-१३१००१ (हरियाणा)।''

इस प्रकार दयानन्द सरस्वती और पं० विष्णु परशुराम शास्त्री में सन् १८७४ और १८७५ में पुनर्विवाह और वेदमन्त्र की अर्थ प्रक्रिया को लेकर एक दो बार खटपट-अनबन या तुनकमिजाजी हुई थी, जिसे एक छोटी-सी भिड़न्त, मुठभेड़ या नोक-झोंक भी कह सकते हैं। परन्तु इसकी मूल जड़ में स्वामीजी नहीं, अपितु पं० विष्णु परशुराम शास्त्री का स्वभाव ही था जो गोपाल हरि देशमुख 'लोक-हितवादी' के कथनानुसार स्वामीजी की अगाध विद्वत्ता और तपोबल का परिचय पाकर परिवर्तित हो विनम्रता में बदल गया। अज्ञान आदि दोष के वशीभूत होकर 'इन्दुप्रकाश' के सम्पादक पं० विष्णु शास्त्री ने केवल दो बार उनकी कटु आलोचना की थी। पर यथार्थ स्थिति के पता चलने पर 'इन्दुप्रकाश' नामक मराठी पत्र में एकाधिक बार

उन्होंने स्वामीजी की प्रशंसा में अनेक लेख और पत्र छापे थे। सन् १८७६ में मुम्बई में ही स्वामीजी के आचार्यत्त्व में सम्पन्न श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के सुपुत्र के उपनयन संस्कार के अवसर पर राजमान्य राज्यश्री पं० विष्णु परशुराम शास्त्री को हम उद्गाता, ऋत्विक या पुरोहित के रूप में वैदिक मन्त्रोच्चारण करते हुए पाते हैं। (सत्यदीपिका मई, १८७६ पृष्ठ-४३-४६)।

दयासागर दयानन्द 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' थे। पं० विष्णु शास्त्री के परिवर्तित स्वभाव और उन्हें सन्मार्ग पर चलते देख 'बीती ताहि विसार कर' स्वामीजी ने उन्हें गले लगाया। पं० लेखरामजी आदि स्वामीजी के चरित्र लेखकों ने स्वामीजी के साथ पं० विष्णु शास्त्री के 'पुनर्विवाह और नियोग' आदि विषयों पर शास्त्रार्थ होने की बात लिखी है, पर हमें वह गलत स्थान पर जुड़ी हुई घटना प्रतीत होती है। सन् १८७० में पुणे में श्रीमत् शङ्कराचार्य की अध्यक्षता में पुनर्विवाह विषय पर आपने अन्य किसी विद्वान् के साथ शास्त्रार्थ जरूर किया था। पर स्वामीजी के साथ आपकी इन विषयों पर शास्त्र चर्चा जरूर हुई थी, पर उसे शास्त्रार्थ की कोटि में नहीं रखा जा सकता है।

खेद है कि सन् १८७६ में ही पं० विष्णु परशुराम शास्त्री का निधन हो गया। यदि वे दीर्घायु होते तो गोपाल हरिदेशमुख 'लोकहितवादी' की तरह महाराष्ट्र में आर्यसमाज के एक विशेष दीपस्तम्भ सिद्ध होते। मराठी विश्व कोश में यह अङ्कित किया गया है कि—'ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज [सत्य शोधक समाज] के कतिपय कार्यकर्त्ता स्वामी दयानन्दजी की ओर आकृष्ट जरूर हुए, पर वे आर्यसमाज में विलीन नहीं हो सके।' जो प्रार्थना समाज के सभासद आर्यसमाज में विलीन हुए उनमें 'लोकहितवादी', आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें श्री विष्णु परशुराम शास्त्रीजी की भी आर्यसमाज में समाविष्ट होने की सम्भावना बढ़ रही थी, पर खेद है कि उन्हें स्वामी दयानन्दजी सरस्वती के साथ सत्सङ्गति करने हेतु दीर्घायु नहीं मिल पाई।

—आर्य सेवक : मासिक : ऋष्यांक : संपादक : इंजीनियर आदित्यमुनि वानप्रस्थ : नवंबर २००४ से साभार।



(३)

श्री वामन आबाजी मोडक

महर्षि दयानन्द सरस्वती के प्रशंसक श्री वामन आबाजी मोडक (१८३५-१८९७) मुम्बई विश्वविद्यालय के प्रारम्भिक स्नातकों में से एक थे। सन् १८५७ के जुलाई मास में मुम्बई विश्वविद्यालय की विधिवत् स्थापना की गई थी। १ मई १८६२ को मुम्बई के टाउन हॉल में इन छात्रों का दीक्षान्त समारोह सम्पन्न हुआ था। राज्यपाल और विश्वविद्यालय के कुलपति सर हेनरी बार्टल फ्रियर के हाथों जिन चार स्नातकों को बी० ए० की उपाधि दी गई थी, उनके क्रमशः नाम हैं, सर्वश्री (१) महादेव गोविन्द रानडे, (२) रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर, (३) बाळ मंगेश वागळे और (४) वामन आबाजी मोडक। सर्वश्री जनार्दन सखाराम गाडगिल और कृष्णा बापूजी बाळ आदि भी कभी मोडक के सहपाठी रह चुके थे।

श्री वागळे के विषय में हमें अत्यावश्यक चरित्रात्मक जानकारी प्राप्त नहीं हुई है। अतः वे महर्षि दयानन्द के प्रशंसकों में से थे या नहीं, हम कुछ निश्चित रूप से नहीं कह सकते। अन्यथा हमें यह कहने में आत्माभिमान होता कि जो मुम्बई विश्वविद्यालय के सर्वप्रथम स्नातक बने वे कालान्तर में सभी के सभी महर्षि की विद्वत्ता और व्यक्तित्त्व पर मन्त्रमुग्ध थे। वैसे हमारा अनुमान है कि श्री वागळे भी दयानन्दजी के प्रशंसकों में शामिल होंगे। अनुसन्धान के लिए अनुकूल समय न मिल पाने के कारण और **'नामूलं लिख्यते किञ्चित्'** की धारणा से प्रतिबद्ध होने के कारण हम निश्चित रूप से कुछ कह पाने में सम्प्रति असमर्थ हैं।

मुम्बई विश्वविद्यालय में सर्वाधिक अंक प्राप्त करने वाले, स्वर्ण पदक विजेता और सर्वप्रथम स्नातक न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे को तो सन् १८७५ में पुणे में महर्षि के प्रवचनों के संयोजन और प्रकाशन का सर्वाधिक श्रेय प्राप्त है। दयानन्दजी द्वारा स्थापित तृतीय पुणे आर्यसमाज के आप सर्वप्रथम प्रधान और उनकी उत्तराधिकारिणी

मुंबई विश्वविद्यालय के प्रथम चार स्नातक



महादेव गोविंद रानडे

(प्रगतिशील विचारक, विद्वान्, न्यायमूर्ति)



रामकृष्ण गोपाल भांडारकर

(प्राच्य विद्यापंडित, मुंबई विद्यापीठ के उपकुलपति)



वामन आबाजी मोडक

(लब्धप्रतिष्ठ शिक्षणाधिकारी, एल्फिन्स्टन विद्यालय के प्राचार्य)



बाळा मंगेश वागळे

(सर्वप्रथम वकील (१८६९) वडोदरा के मुख्य न्यायाधीश)



नंदुरबार
धुळे
जळगाव
अमरावती
नागपूर
गोंदिया
भंडारा
अकोला
वर्धा
नाशिक
बुलडाणा
औरंगाबाद
वाशीम
यवतमाळ
चंद्रपूर
गडचिरोली
वसई
मुंबई
ठाणे
जालना
हिंगोली
नगर
परभणी
बीड
नांदेड
रायगड
पुणे
लातूर
उस्मानाबाद
सातारा
सोलापूर
रत्नागिरी
सांगली
कोल्हापूर
सिंधुदुर्ग

महाराष्ट्र के वे चिह्नांकित क्षेत्र जहाँ महर्षि पधारे
(१८७४-१८८२)

'**परोपकारिणी सभा**' के भी आप विश्वस्त थे।

मुम्बई विश्वविद्यालय के द्वितीय स्नातक श्री रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर कालान्तर में प्रार्थनासमाज (१८६७) के नेता, पुरातत्ववेत्ता और प्राध्यापक के रूप में सुप्रसिद्ध हुए। महर्षि के मुम्बई आगमन काल (१८७४-१८७५) में वे स्वयं उनके निवास-स्थान पर जाकर उनसे मिले थे। व्याकरण के विषय में इन दोनों प्रज्ञा-पुरुषों में कतिपय मतभेद थे, फिर भी उन्होंने एल्फिन्स्टन कॉलेज में अपने छात्रों को सम्बोधित करने के लिए स्वामीजी को निमन्त्रित किया था। मुम्बई आर्यसमाज के प्रारम्भिक सदस्यों में छात्र जगत् में से सर्वाधिक संख्या इसी कॉलेज के विद्यार्थियों की थी और उनमें प्रा० भाण्डारकरजी के सर्वाधिक प्रिय छात्र श्री गणेश श्रीकृष्ण खापर्डे का भी समावेश था। परोपकारिणी सभा के एक अन्य विश्वस्त महाराष्ट्रीय महापुरुष गोपाल हरि देशमुख के शब्दों में 'यह प्रतीत होता है कि हमारे महाराष्ट्रीय विद्वद्वर्य प्राध्यापक रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर को दयानन्दजी के स्तर और महिमा का उतना परिचय नहीं था, जितना कि होना चाहिए था। फिर भी प्रा० भाण्डारकर के आक्षेप और सन्देह तो आपसी बातचीत में ही प्रकट हुए थे। उनके स्वामी दयानन्दजी विषयक विचार लिखित या व्याख्यानों के रूप में व्यक्त न होने के कारण उन तक ही सीमित रहे।' ('लोकहितवादी' मराठी मासिक के जनवरी-फरवरी का संयुक्त—पं० स्वामी श्रीमद्दयानन्द सरस्वती-विशेषाङ्क सन् १८८४)। प्रा० भाण्डारकरजी को हम महर्षि दयानन्द के प्रशंसकों में न सही, सत्संगियों में तो निश्चित रूप से शामिल कर सकते हैं।

रूढ़िवादी पौराणिक मराठी साहित्यकारों में स्वामी दयानन्दजी के कटाक्षपूर्ण तीखे आलोचकों में 'निबन्धमालाकार' विष्णु शास्त्री चिपलूणकर सर्वाग्रणी थे और उनका बड़े ही तटस्थतापूर्ण ढंग से उत्तर-प्रत्युत्तर द्वारा मुकाबला करने वालों में मुम्बई विश्वविद्यालय के प्रथम स्नातकों में श्री वामन आबाजी मोडक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने 'निबन्धमालाकार' चिपलूणकर के स्वामी दयानन्द विषयक व्यंग्य-उपहासपूर्ण लेखों की 'निबन्धमाला हितेच्छु' इस उपनाम से 'सम्पादक के नाम खुले पत्र' लिखकर समालोचना की थी।

रत्नागिरि (महाराष्ट्र) से २० दिसम्बर, १८७५ को 'निबन्धमाला' मासिक पत्र के हितैषी श्री वामन आबाजी मोडक ने जो पत्र 'निबन्धमाला' के सम्पादक श्री चिपलूणकर को लिखा था, उसके प्रारम्भ में संस्कृत-सूक्ति देकर यह स्पष्ट किया था कि *'जो वस्तुतः सच्चे हितैषी होते हैं, वे केवल प्रिय लगने के लिए कभी भी झूठी बात नहीं कहते।'* तत्पश्चात् उन्होंने जो प्रदीर्घ मराठी-पत्र लिखा था उसके कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों का अनुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

राजमान्य राज्यश्री निबन्धमालाकार की सेवा में—

विनति विशेष यह है कि आपने 'निबन्धमाला' मासिक के तीन-चार अंकों में 'वक्तृत्त्व' विषय पर जो निबन्ध लिखा है, उससे वक्तृत्त्व कला की अभिवृद्धि हो, यह मेरी हार्दिक अभिलाषा है। आप द्वारा लिखे 'वक्तृत्त्व' निबन्ध को पढ़ने पर जो यत्किंचित् विचार मुझे सूझे हैं, वे आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ।

वर्त्तमानकाल में अनेक (समाज) सुधारक संस्थाओं का आविर्भाव हुआ है। इन संस्थाओं के उदय के कारणों और उनके वास्तविक गुणों के मूल्यांकन और भविष्य में होने वाले परिणामों की ओर गम्भीरता से ध्यान न देकर केवल उनकी विडम्बना और उपहास करने में ही आपको बड़ा गौरव अनुभव हो रहा है। यह दृष्टिकोण केवल मेरा ही नहीं, अपितु अन्य सभी चिन्तक-विचारक लोगों का भी है।

निबन्ध का मुख्य विषय 'वक्तृत्त्व' ठीक होने पर भी उसे प्रतिपादित करते समय अन्य जो अनेक बातें आपने प्रस्तुत की हैं, उनके सत्यासत्य के विषय में आपने गम्भीरतापूर्वक सोच-विचार नहीं किया है। केवल मन के अधीन हो, लम्बे-चौड़े लेख लिखने मात्र से निबन्ध उत्कृष्ट नहीं होता। निबन्ध के प्रसंग में यदि अन्य अनेक व्यक्तियों के विषय में लिखना हो तो बहुत सोच-विचार पूर्वक लिखना चाहिए। मुझे यह प्रतीत होता है कि वर्त्तमानकालीन 'निबन्धमाला' के अंकों में आपने इस तथ्य को ध्यान में नहीं रखा है।

व्याख्यानकाल में वक्ताओं द्वारा हाथ उठाने, गर्दन हिलाने या

मुखाकृति में परिवर्तन आदि होने की बातें तो अतिशय क्षुद्र हैं। आपका यह मत तो हमारी दृष्टि में एक प्रतिशत भी सत्य नहीं है कि ''सभी सुधारकों की बातें निरर्थक, विवेकहीन, दाम्भिकतापूर्ण, कृत्रिम अभिनय प्रधान तथा प्रारम्भिक क्षणों में ही उत्साही प्रतीत होने वाले शूरवीरों की तरह निस्सार हैं। *जीवन के सर्वविध लक्ष्यों की तुलना में धर्मोन्नति का लक्ष्य अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है और वह अतिशय प्रयत्न की भी अपेक्षा रखता है। अत्यन्त प्रयत्न से सिद्ध होने वाली बात के अत्यल्प काल में पूर्ण करने की कामना करना हमारी दृष्टि में एक मूर्खतापूर्ण बात है*। जिन विषयों में आपका बिल्कुल भी अनुभव नहीं है और जो विषय केवल आपको उपेक्षणीय प्रतीत होते हैं, उस विषय में आप द्वारा सुधारकों को भला-बुरा कहना मुझे अत्यन्त ही दुःसाहसी कार्य प्रतीत होता है। यदि कोई सुधारक विशेष बहुत बड़ा अन्याय या गलती कर रहे हैं या केवल अपनी प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिए ढोंग कर रहे हैं, ऐसे विषय में सुदृढ़ अनुभव होने के पश्चात् ही विश्वासपूर्वक मत व्यक्त किया जा सकता है। केवल मात्र पक्षपाती दृष्टि धारण कर उपहासात्मक शैली में दोष दर्शन कराने का यह ढंग आप जैसे निबन्ध लेखकों को बिल्कुल भी शोभा नहीं देता।

समस्त प्रकार के सुधार कार्यों के अभियान में सद्-हेतु और गुण-गरिमा विद्यमान है। उसकी उपेक्षा कर दयानन्द सरस्वती जैसे परोपकारी बुद्धि के व्यक्तियों द्वारा प्रारम्भ किये गए अभियानों के प्रति, बिना अनुभव के यथेष्ठ उपहास-लेखन करने से स्वयं आपको, या आपकी 'निबन्धमाला' पत्रिका के पाठकों को, अथवा आप जो समस्त देश के कल्याणार्थ अपनी विशिष्ट लेखन शैली से प्रयत्न करना चाह रहे हो, उसके पुष्पित-पल्लवित होने की आशा प्रतीत नहीं होती। आपकी वह सब लेखन शैली मुझे निष्फल प्रतीत होती हुई दिखलाई दे रही है। ऐसी स्थिति में आपके सभी प्रयत्न निरर्थक हो जाते हैं। हमारे हार्दिक विचारों को आप तक पहुँचाने के लिए हमने यह खुला निवेदन प्रस्तुत किया है।''

श्री मोडक अपने इस प्रस्तुत पत्र की 'दयानन्द सरस्वती' पर अंकित पादटिप्पणी में यह भी स्पष्ट करते हैं कि—

''मुझे पं० दयानन्द सरस्वती के वेद विषयक मत तर्कयुक्त प्रतीत नहीं होते, फिर भी मुझे यह महसूस होता है कि उनकी

निःस्पृहता, निष्काम भावना, स्वदेश के सन्दर्भ में यथोचित स्वाभिमान और यथार्थ तड़प तथा देश की भावी स्थिति के सम्बन्ध में सद्हेतु और उसे पूर्ण करने के लिए यथाशक्ति, यथामति, निर्भयता एवं निडरतापूर्वक प्रदीर्घकाल से उनके द्वारा की जा रही अनवरत-अनथक साधना आदि गुण स्वदेशवासियों में अत्यन्त ही विरले व्यक्तियों में दिखलाई देते हैं। अतः स्वामी दयानन्दजी के प्रति हम सबकी कृतज्ञता बुद्धि का होना बहुत जरूरी है।''

प्रस्तुत मोडकजी के खुले पत्र का प्रत्युत्तर 'प्रतिखण्डन' शीर्षक से श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर ने 'निबन्धमाला' मराठी मासिक के जनवरी सन् १८७६ के अंक में प्रकाशित किया। उसका प्रत्युत्तर श्री वामन आबाजी मोडक ने रत्नागिरि (महाराष्ट्र) से २२ फरवरी १८७६ के अपने खुले प्रदीर्घ मराठी पत्र द्वारा प्रस्तुत किया, जिसके महत्त्वपूर्ण अंश का हिन्दी अनुवाद यहाँ अग्रिम पंक्तियों में प्रस्तुत किया जा रहा है—

''राजमान्य राज्यश्री 'निबन्धमालाकार' की सेवा में—

विनति विशेष यह है कि आपने मेरा पहला पत्र सन् १८७५ के दिसम्बर अंक में कृपा कर प्रकाशित किया, अतः मैं आपका आभारी हूँ। ....उस पत्र का उत्तर देते हुए पं० दयानन्द के विषय में आपने मुझ पर 'मिथ्या पाठ' और 'स्तुति पाठ' करने का जो आरोप लगाया, क्या वह सही है? वस्तुतः यदि यह स्वभाव मुझ में होता तो तुम्हारी 'निबन्धमाला' मासिक की भी मिथ्या स्तुति कर तुम्हारा स्नेह प्राप्त करने का मैंने निश्चित ही प्रयास किया होता, परन्तु मेरा वैसा स्वभाव नहीं है, क्योंकि वैसा करना मुझे नितान्त ही अनुचित प्रतीत होता है। इस कारण तुम्हारी 'निबन्धमाला' में अनेक अच्छे गुण होने के बावजूद भी जो दोष मुझे हानिकारक प्रतीत हुए और अब भी प्रतीत हो रहे हैं, वे मैंने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किए हैं, पर वे तुम्हें प्रिय-रुचिकर प्रतीत नहीं हुए हैं।

तुम्हारी 'निबन्धमाला' का तमाशा देखने वाले, लुत्फ़ उठाने वाले, आनन्द लेने वाले या मौज लूटने वाले व्यक्तियों ने तुम्हें यथेच्छ मनमाना लिखने दिया। इस कारण तुम्हें सर्वज्ञता का भ्रम हो गया तथा तुम्हारी ज्ञान चक्षुओं पर अन्धेरा छा गया। उस भ्रम-अन्धकार

को दूर करने के लिए ही जब हमने पथ्य और चिकित्सा की योजना बनानी शुरू की तो तुम्हें अत्यन्त अप्रिय अनुभव होने लगा। तुम्हारी 'निबन्धमाला' की ग्राहक-संख्या बढ़ गई, इतने मात्र से तुम्हारा यह अनुमान लगाना कि मैं निर्दोष हूँ, बिल्कुल गलत है।

'बॉम्बे गजट' पत्र के कर्त्ता-धर्त्ताओं को एतद्देशीय लोगों की बिना कारण ही निन्दा करना अत्यन्त ही प्रिय-मधुर प्रतीत होता है। उस पत्र के भी अपने अनेक लोग पुष्कल मात्रा में ग्राहक हैं। इससे भारतवर्षीय लोगों के विषय में उसका मत सच्चा है, या उसकी लेखन-शैली निर्दोष है, यदि उसे ऐसा भ्रम होता है, तो वह सर्वथैव मिथ्या है। यही न्याय तुम्हारी 'निबन्धमाला' पर भी लागू होता है।

इस तरह के एकाध नये पत्र या मासिक बहुत से लोग पहले केवल अपूर्व-अद्भुत जिज्ञासा के कारण लेते हैं, अनेक पाठकों को उसमें बहुत-से दोष नजर भी आते हैं, फिर भी वे उसे आद्यन्त पढ़ डालते हैं। फिर एक क्षण ऐसा भी आता है कि हमेशा के लिए उससे मुँह फेर लेते हैं। कुछ लोग कालान्तर में उस पत्र के 'गुण-विशेष और भी अधिक समृद्ध होंगे-सुधरेंगे, इस आशा के साथ उस पत्र के ग्राहक बन जाते हैं। इस प्रकार के पत्र और उनका पुरुषार्थ प्रारम्भ में कितना भी निरर्थक प्रतीत क्यों न हो, तो भी वह दिन-प्रतिदिन, धीरे-धीरे सुधर जायेगा—इस विचार से बहुत से व्यक्ति उसके प्रचार-प्रसार में सहयोग देते हैं। इसी प्रकार बिना किसी कारण केवल तुम्हारे जबरदस्ती बनावटी रूप में अपनाये गए सर्वज्ञता पर मन्त्रमुग्ध होकर तुम्हारे निबन्धों के अद्वितीय गुणों या विशेषताओं को देखकर तुम्हारी भी यह भ्रमपूर्ण धारणा बन रही होगी कि 'निबन्धमाला' को पुष्कल ग्राहक मिल रहे हैं। मेरी दृष्टि से तो तुम यह एक बहुत बड़ी गलती कर रहे हो, या यह एक बहुत बड़ा भ्रम पाल रहे हो। यह मेरा पूर्ण विश्वास है कि कुछ समय गुजरने के बाद तुम भी इस तथ्य का अनुभव निश्चित रूप से महसूस करोगे।

इस तरह कोई व्यक्ति निबन्धमाला की आलोचना करने का प्रयत्न नहीं करता, अतः तुम्हारा लेखन सर्वसम्मति-युक्त और तुम्हारी सर्वज्ञता निर्विवाद है, यदि तुमने इस प्रकार की अनुमानित धारणा बना ली हो तो वह तुम्हारी एक बहुत बड़ी गलती सिद्ध होगी। तुम

यह अनुमान क्यों नहीं कर लेते कि तुम्हारे जैसे वितण्डावादी-बकवासी के साथ विवाद करना निष्फल और निरर्थक है, यह सुदृढ़ धारणा बन जाने के कारण ही बहुत से लोग उदासीन हो जाते हैं, या तमाशबीन का रूप धारण कर लेते हैं। इन दो बातों के विषय में तुमने जो अपनी गर्वोक्ति या दर्पोक्ति प्रकट की है, वह बिल्कुल निर्मूल और निराधार है। मुझे यह कहने के लिए विवश होना पड़ रहा है कि तुमने अपने पत्रोत्तर में मेरे द्वारा दिखलाये गए दोषों का उत्तर देने के बजाय उन्हें टालने का जो यत्न किया है, वह सत्य, विवेक और विनय इन तीनों बातों की उपेक्षा करने वाला है और यह तुमने इतने विचित्र प्रकार का आचरण किया है, उससे तुम्हारे दोष पहले से भी अब और ज्यादा स्पष्ट रूप से तुम्हारे इस पत्रोत्तर में उभरकर दिखलाई दे रहे हैं। इस बात का मुझे बेहद दुःख है। आप जो यह अयोग्य-अशोभनीय आचरण कर रहे हो, वह मुझे आपके जीवन के लिए अत्यन्त ही अमंगल प्रतीत हो रहा है।

यह मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि तुम्हारी 'निबन्धमाला' का कल्याण हो, इसलिए फिर एक बार और तुम्हारे कान उमेठ-मरोड़कर कठोरतापूर्वक तुम्हें चेतावनी दी जाए, इसी उद्देश्य से यह दूसरा पत्र लिखा गया है। अब तुम्हारे द्वारा दिये गए पत्रोत्तर की प्रत्येक बात का, सभी बुद्धिमान-समझदार लोगों को विश्वास हो, ऐसा प्रत्युत्तर अत्यन्त ही सहजता के साथ दिया जा सकता है। परन्तु जब तक तुम वर्त्तमानकालीन शैली का परित्याग कर विशेष शान्तिपूर्वक, मर्यादाबद्ध होकर सत्यान्वेषक बुद्धि से लेखन नहीं करते, तब तक उपर्युक्त प्रकार से पत्रोत्तर देने में मुझे किसी भी प्रकार का, किसी का भी लाभ या हित प्रतीत नहीं होता। केवल एक दो बातों को लेकर जो तुमने मुझ पर उलटा दोषारोपण किया है, वह बिल्कुल निराधार है, बस इतना दर्शाने के लिए तीन-चार पंक्तियाँ या दो-चार शब्द लिख रहा हूँ।

दयानन्दजी के विषय में लिखते समय उनके व्यक्तित्त्व में जो यथार्थ गुण मुझे दिखलाई दिए, वे मैंने अपने पत्र में बतलाए हैं। उस विषय में तुम किस आधार पर यह कह सकते हो कि मैंने मिथ्या-स्तुति या चारणपाठ किया है ? मन में कुछ और बात रखकर केवल बाहरी रूप में दिखावे मात्र के लिए मैंने स्तुति की है, अथवा किसी एक स्थान पर निन्दा कर अन्यत्र किसी स्थान पर स्वार्थ बुद्धि से मैंने

स्तुति की हो, तो मेरा कथन मिथ्या सिद्ध होगा, परन्तु वैसा किए जाने का एक भी प्रमाण तुमने नहीं दिया है।

दयानन्दजी का और मेरा किसी भी प्रकार का आपसी सम्बन्ध नहीं है। उनके द्वारा स्थापित किसी भी [आर्य] समाज का मैं सभासद् नहीं हूँ और ऐसे किसी समाज का उल्लेख मेरे प्रथम पत्र में कहीं पर भी नहीं है। उनके वेद आदि विषयक मतों से भी मैं सहमत नहीं हूँ।

मैंने अपने प्रथम-पत्र की पाद टिप्पणी में यह अंकित किया है कि उनकी (स्वामी दयानन्दजी की) वाद-विवाद प्रणाली भी मुझे प्रिय नहीं है। *फिर भी मेरी एक बार उनसे भेंट हुई थी और उनका जो एक व्याख्यान मैंने सुना था, उस आधार पर तथा बाबू केशवचन्द्र सेन, बाबू प्रतापचन्द्र मजूमदार व 'इण्डियन मिरर' के कर्त्ता (सम्पादक) आदि अनेक बंगाली ब्रह्मसमाजियों के बहुत दिनों के अनुभव, उन बंगाली बाबुओं के मुख से ही कहे गए उद्‌गार सुनकर, यह कौन नहीं स्वीकार करेगा कि 'ये पण्डित (दयानन्द) निस्पृहता पूर्वक निष्कामभाव से आज अनेक वर्षों से भिन्न-भिन्न स्थानों पर जाकर, असभ्य लोगों के उपहास व निरर्थक ही निन्दकों द्वारा की गई भर्त्सना, निन्दा-झिड़की, फटकार-तिरस्कार की बिलकुल भी परवाह न करते हुए, स्वदेश-सुधार के कार्य में यथामति प्रयत्नशील हैं। यह देखकर जो गुण उनके व्यक्तित्त्व में दिखलाई दिए, वे ही मैंने यथार्थरूप में अंकित किए हैं,* कहे हैं। इतना होने पर भी तुम्हारी उनके विषय में उलटी धारणा है, केवल मात्र इसलिए मेरे द्वारा लिखे गए तथ्यों को तुम्हारे द्वारा मिथ्या-स्तुति या चारण-पाठ कहना बिलकुल दुःसाहस पूर्ण है।....

निबन्धमाला के सम्पादक निबन्धकार महाराज! जैसे आपने विलम्ब न करते हुए एक बार मेरा खुला 'सम्पादक के नाम निवेदन-पत्र' छापने की कृपा की थी, वैसे ही फिर से यह आशा करता हूँ कि यह द्वितीय पत्र भी अपने आगामी अंक में प्रकाशित करेंगे। यह तो मैंने इससे पूर्व ही आपको सूचित कर दिया था कि तत्पश्चात् आपको मेरा फिलहाल तकलीफ देने का कोई उद्देश्य नहीं है। पुनश्च आशा है कि मेरे पत्र द्वारा किये गए विनम्र अनुरोधों पर आप गम्भीरता पूर्वक ध्यान देंगे। (निबन्धमाला अङ्क-२६, २२ फरवरी १८७६, पृष्ठ १३-१६ और १८)।

जो जिज्ञासु पाठक सर्वश्री चिपलूणकर और मोडकजी आदि द्वारा महर्षि दयानन्द सरस्वती के पक्ष और विपक्ष में लिखे गए पत्रों को विस्तार से पढ़ना चाहते हैं, उन्हें तो 'निबन्धमाला' मराठी मासिक का आश्रय ही लेना होगा। देववाणी और आर्यभाषा की तरह मराठी भाषा की लिपि भी देवनागरी ही है। 'निबन्धमाला' मासिक के मराठी अङ्क पुणे नगरी में तिलक मार्ग पर स्थित 'महाराष्ट्र-साहित्य परिषद्' के ग्रन्थालय में उपलब्ध हैं।

'लोकहितवादी' के अतिरिक्त स्वामी दयानन्द के पक्ष को समुचित मानने वाले और उनके साथ सहानुभूति रखने वाले एक और साहित्यकार थे श्री विष्णु मोरेश्वर महाजनि (१८५१-१९२३)। संयोग से आप श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर के सहपाठी और स्नेही थे। मराठी वाङ्मय के क्षेत्र में इन दोनों को भी असाधारण लोक प्रतिष्ठा प्राप्त थी। इसी कारण चिपलूणकर के देहावसान के बाद उनके अनुज-बन्धु चरित्र लेखक श्री लक्ष्मण शास्त्री चिपलूणकर ने निबन्धमालाकार की जीवनी की प्रस्तावना लिखने का अनुरोध करने के लिए श्री विष्णु मोरेश्वर महाजनि के पास पहुँचे, तो उन्होंने अस्वीकार कर दिया। जलगाँव से १६ जनवरी १८९२ को लिखे पत्र में उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि "श्री चिपलूणकर के चरित्र की प्रस्तावना लिखने का कार्य मैं स्वीकार नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि इस कार्य के प्रति मेरी पूर्णरूपेण किसी प्रकार की सहानुभूति नहीं है। जब वे 'निबन्धमाला' मासिक प्रकाशित कर रहे थे, तब भी मैंने उन्हें एक पक्षीय समीक्षा लिखने के विरोध में अनेक बार सतर्क किया था। स्व० विष्णु शास्त्री चिपलूणकर ने गोपाल हरिदेशमुख 'लोक-हितवादी' स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि सुधारकों पर जो एक पक्षीय समीक्षात्मक आक्रमण किए हैं, वे मुझे पसन्द नहीं हैं। यह उनका दुर्भाग्य रहा कि उनके जो कुछ प्रतिगामी शक्ति विरोधी वैचारिक आक्रमण थे, वे भुला दिये गए और लोकहितवादी, दयानन्द आदि पर लिखे गए प्रतिगामी निबन्धों के कारण ही उनकी अधिकतम याद की जाती रही। इस स्पष्टीकरण से तुम्हें यह पता चल गया होगा कि मैं सहानुभूति पूर्वक स्व० विष्णु शास्त्री चिपलूणकर के चरित्र पर प्रशंसापूर्ण आलोचनात्मक समीक्षा लिखने में क्यों असमर्थ हूँ। और मेरा यह भी विचार है कि अभी उनके साहित्य पर प्रशंसात्मक

समीक्षा लिखने का समय नहीं आया है। अत: आपने जो मुझसे प्रस्तावना लिखने की अपेक्षा की है, वह कार्य मेरे द्वारा अस्वीकृत किए जाने के कारण, या मुझसे न हो पाने के कारण मैं आपसे विनम्रतापूर्वक क्षमा चाहता हूँ।''

सन् १९०७ में पुणे में आयोजित अखिल भारतीय मराठी साहित्य सम्मेलन के श्री विष्णु मोरेश्वर महाजनि अध्यक्ष थे। श्री चिपलूणकर की परवर्ती लेखक पीढ़ी को संकीर्णता से उदार व्यापक ध्येय की ओर ले जाने का श्रेय श्री महाजनिजी को प्राप्त है। सर्वश्री वामन आबाजी मोडक, विष्णु मोरेश्वर महाजनि जैसे प्रगतिशील लेखकों की परम्परा में तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी का भी उल्लेखनीय स्थान है। आपने महात्मा गाँधी के सुपुत्र और चक्रवर्त्ती राजगोपालाचारी की सुपुत्री के अन्तर्जातीय एवं अन्तर्प्रान्तीय विवाह का पौरोहित्य किया था। वर का नाम देवदास गाँधी और वधू का नाम लक्ष्मी था।

श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर का निधन महर्षि दयानन्द से लगभग एक वर्ष पूर्व सन् १८८२ में हुआ। श्री चिपलूणकर के देहावसान के सौ वर्ष बाद *श्री द० न० गोखले* ने 'विष्णु शास्त्री चिपलूणकर और महात्मा जोतीबा फुले' नामक लेख में लिखा था ''अप्रिय व्यक्ति और सिद्धान्तों पर शब्द प्रहार करने का विष्णु शास्त्री का स्वभाव था। स्वामी दयानन्द, रावसाहेब, रावबहादुर, ईसाई मिशनरी आदि विषयों पर उनका लेखन उनके इस स्वभाव को स्पष्ट करता है। आर्यसमाज यदि वेदप्रामाण्य मानता था और एतद्देशीय वैदिक परम्परा को सुदृढ़ कर रहा था, तो यह सन्देह उत्पन्न होता है कि जो आलोचना ब्रह्मसमाज या प्रार्थनासमाज पर लागू होती है, वह आर्यसमाज पर किस प्रकार लागू हो सकती है? विष्णु शास्त्री ने स्वामी दयानन्द या आर्यसमाज की आलोचना आखिर किसलिए की? तत्कालीन परिस्थिति का निरीक्षण करने से यह स्पष्ट होता है कि 'स्वामी दयानन्द वेद के अतिरिक्त शेष हिन्दू परम्परा रूढ़ि और सम्प्रदायों पर आक्रमण कर रहे थे। उनकी ओर से यह खण्डनात्मक आक्रमण अपनी ओर से किसी भी प्रकार का प्रयास न करते हुए, 'हींग लगे न फिटकरी रंग चोखा' की भावना से अपने आप हो जाए, इस दृष्टि से पुणे-मुम्बई के प्रार्थनासमाजी सक्रिय थे और महर्षि दयानन्द का ढिंढोरा पीटते थे, इसलिए संयुक्त रूप से आर्यसमाज का

तत्कालीन प्रभाव तो हिन्दुओं के मन में अस्थिरता या अपराधीपन का भाव उत्पन्न कर रहा था, अर्थात् बुद्धिभेद को रोकने और राष्ट्रीय एकता को सुरक्षित रखने के लिए विष्णु शास्त्री द्वारा स्वामी दयानन्द और पर्याय से आर्यसमाज की कठोर आलोचना करना स्वाभाविक ही था।'' (महाराष्ट्र साहित्य पत्रिका-त्रैमासिक-अप्रैल, मई, जून-१९८२, पृष्ठ २०, २३) श्री द० न०गोखले की इस भ्रमपूर्ण धारणा का खण्डन करते हुए तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने लिखा है कि—

'हिन्दुत्व शतकानुशतकों से दुर्बल होने के कारण भारत बार-बार पराधीन हुआ। इसका प्रत्यक्ष दर्शन महर्षि दयानन्द सरस्वती को हुआ था। इसीलिए उन्होंने जन्मगत जातिभेद और मूर्तिपूजा जैसी दौर्बल्यकारक परम्पराओं की अन्त्येष्टि करने वाले विश्वव्यापी महत्त्वाकांक्षा युक्त आर्य धर्म का उपदेश किया। इस कोटि के दयानन्द यदि हजार वर्ष पूर्व इस देश में उत्पन्न हुए होते तो इस देश को पराधीनता के दिन ही न देखने पड़ते। इतना ही नहीं, प्रत्युत विश्व के एक महान् राष्ट्र के रूप में भारतवर्ष दैदीप्यमान रहता। दयानन्द की निन्दा करने वाले विष्णु शास्त्री का ध्यान परम्परागत हिन्दुत्व की दौर्बल्यकारक स्थानों की ओर गया ही नहीं था। इसलिए सारांश रूप में यह तथ्य स्मरण रखना चाहिए कि विष्णु शास्त्री को जैसा देशाभिमान-देशानुराग था, वैसा ही उत्कृष्ट देशाभिमान या देशानुराग महात्मा फुले, [महर्षि दयानन्द] आदि समाज-सुधारकों और धर्म-सुधारकों को भी था। एतदर्थ उन्होंने भी कृतसंकल्प-प्रतिज्ञाबद्ध हो अंगारों पर चलकर अग्नि-परीक्षा दी थी। उन्होंने भी महान् त्याग किया था, यह वास्तविक तथ्य हम श्री द० न० गोखले और उनके पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना चाहते हैं।' महाराष्ट्र साहित्य पत्रिका-त्रैमासिक-अप्रैल, मई, जून १९८२, पृष्ठ २०-२३ व ३१)।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतवर्ष में ही नहीं, अपितु समस्त भूगोल में प्रतिगामी और प्रगतिशील दोनों विचारधाराओं की परम्परा रही है। महर्षि दयानन्द की विचारधारा का व्यंग्यात्मक शैली में उपहास करने वाले श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर और ईसाई मराठी पत्रिका 'सत्यदीपिका' के सम्पादक श्री बाबा पद्मनजी आदि साहित्यकार कतिपय संदर्भों में प्रगतिशील होते हुए भी कुछ संदर्भों

में प्रतिगामी विचारधारा के भी प्रतिनिधि थे तो विष्णु शास्त्री चिपलूणकर द्वारा महर्षि दयानन्द पर की गई उपहासात्मक शैली से तिलमिलाकर शब्द प्रहार करने वाले श्री वामन आबाजी मोडक, गोपाल हरि देशमुख 'लोकहितावादी' और विष्णु मोरेश्वर महाजनि आदि विशुद्ध प्रगतिशील विचारधारा के प्रतिनिधि थे। समाज, राष्ट्र और विश्व में यह परम्पराएँ न्यूनाधिक रूप में सदा ही दिखलाई देती हैं।

श्री वामन आबाजी मोडक का पक्षाघात के कारण २८ अगस्त १८९७ को निधन हो गया। मुंबई के प्रार्थनासमाज मन्दिर में उन्हें श्रद्धांजलि देते हुए न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडेजी ने कहा था—

"समाज-सुधार और धार्मिक-सुधार के क्षेत्र में संघर्ष के क्षणों में स्व० श्री वामन आबाजी मोडक ने अपनी सत्यनिष्ठा को यत्किञ्चित् भी विचलित नहीं होने दिया। श्री मोडक जी संघर्षशील सुधारक होने के साथ-साथ असाधारण प्रकार की सहनशीलता भी रखते थे।" (अर्वाचीन वाङ्मय सेवक-गं० दे० खानोलकर, पृष्ठ ४३)।

श्री वामन आबाजी मोडक द्वारा रचित 'भक्ति परक पद्य', 'कीर्त्तन व आख्यान' तथा कुछ अन्य 'प्रकीर्ण लेख संग्रह' प्रकाशित हो चुके हैं, जिनकी प्रस्तावना तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी व प्राध्यापक श्री व्यं० पुणताम्बेकर ने लिखी है। सन् १९४७ में इस साहित्य संग्रह का प्रकाशन नागपुर के श्री नारायण वामन मोडक ने किया था। श्री वामन आबाजी मोडक ने 'निबन्धमाला हितेच्छु' के उपनाम से जो दो पत्र 'निबन्धमाला' में प्रकाशित किए थे, वे भी इस 'मोडक साहित्य संग्रह' में परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित किये गए हैं।

श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर ने अपनी 'निबन्धमाला' मराठी मासिक में सुधारकों के विरूद्ध अपनी संकीर्ण रूढिवादी मानसिकता के वशीभूत हो व्यक्तिगत द्वेष से परिपूर्ण, अनर्गल, विवेकशून्य, तारतम्यहीन आलोचना करते हुए जब उपहासपूर्ण धूल उड़ानी शुरू की, तब उन्हें स्पष्ट शब्दों में डाँटते-फटकारते और कान ऐंठते हुए कड़ी चेतावनी देने वाले यदि कोई थे तो एकमात्र श्री वामन आबाजी मोडक ही थे।

—आर्यसमाज प्रहरी : मासिक : नवंबर २००५, संपादक : इंजीनियर आदित्यमुनि वानप्रस्थ से साभार।



(४)

श्री महादेव मोरेश्वर कुण्टे

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने साहित्य एवं व्याख्यानों द्वारा सारे विश्व का अप्रतिम कल्याण किया है। 'संस्कारविधि', 'आर्याभिविनय', 'वेदविरुद्ध मत खण्डन', 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' आदि स्वामीजी के ग्रन्थों का सर्वप्रथम प्रकाशन महाराष्ट्र में ही हुआ। स्वामीजी के व्याख्यान सारांशों को लिपिबद्ध करने का सर्वप्रथम श्रेय भी महाराष्ट्र को ही है। महर्षि दयानन्द के विभिन्न नगरों में विविध भाषण हुए, पर किसी ने उन्हें शब्दबद्ध करने का प्रयास नहीं किया। सर्वप्रथम पुणे के न्यायमूर्ति रानडे, कुण्टे, आगाशे को यह श्रेय जाता है।

सन् १८७५ में पुणे और सन् १८८२ में मुम्बई में स्वामीजी के भाषण–सारांश लिपिबद्ध किये गए। हर्ष का विषय है कि इन दोनों का हिन्दी रूपान्तर आर्यजगत् के सुप्रसिद्ध गवेषक विद्वान् पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक द्वारा सम्पादित एवं अनूदित होकर 'दयानन्द प्रवचन संग्रह' (रामलाल कपूर ट्रस्ट, रेवली, सोनीपत, हरयाणा) के नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित हो चुका है। महर्षि के इन प्रवचनों में सत्यता, मधुरता, हितभावना तथा ओजस्विता का अपूर्व मिश्रण है।

महर्षि को पूना निमन्त्रित करने वाले व्यक्तियों में महादेव गोविन्द रानडे और महादेव मोरेश्वर कुंटे[1] का स्पष्ट उल्लेख महर्षिजीवन–चरित्रों में मिलता है। इन दोनों महादेवों *(विद्वांसो हि देवाः)* ने अपने से महत् महादेव को पुणे में निमंत्रित कर एक महान् ऐतिहासिक

---

१. श्री कुण्टे का उल्लेख ऋषि दयानन्द के दो पत्रों में मिलता है। द्र० ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन, भाग २, पृष्ठ ५९, पं० १२ (यहाँ 'माधवराव मोरेश्वर कुण्टे' नाम है) तथा भाग १, पृष्ठ ११७ पं० २२ (यहाँ 'मोरेश्वर कुण्टे' नाम है)। लेखक के मतानुसार ऋ० द० ने महादेव मोरेश्वर कुण्टे को ही माधवराव मोरेश्वर कुण्टे नाम से स्मरण किया है।



श्री महादेव मोरेश्वर कुण्टे
जिन्होंने महर्षि के पुणे प्रवचन मराठी में लिपिबद्ध किए ।



श्री गणेश जनार्दन आगाशे
जिन्होंने महर्षि के पुणे प्रवचन मराठी में लिपिबद्ध किए ।

कार्य किया। मराठी पूना प्रवचन के सर्वप्रथम सम्पादक न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे थे। श्रीयुत रानडेजी के नेतृत्व में विद्वानों ने पुणे प्रवचनों को लिपिबद्ध किया। अब तक जितने भी 'पूना प्रवचन' ('उपदेश मंजरी') प्रकाशित हुए हैं, उनमें महर्षि के पूना प्रवचनों के तत्कालीन लेखक एवं मराठी अनुवादक के रूप में केवल गणेश जनार्दन अगाशे बी० ए० का ही उल्लेख मिलता है। परन्तु तत्कालीन महर्षि की वक्तृत्व कला के समीक्षक, पौराणिक विद्वान् विष्णु शास्त्री चिपळूणकर के अनुसार स्वामीजी के व्याख्यानों को लिपिबद्ध करने वाले एक से अधिक लेखक थे। उन्होंने इस सन्दर्भ में लिखा है कि—

''हिन्दू क्लब मध्ये व्याख्यान समयी जो थाट नजरेस पडे तो वर कांही अवर्णनीयच! श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य उंच व्यासपीठावर खुर्चीवर बसलेले. त्यांचा सरस्वतींच्या ओघाचा थेंबना थेंब टिपून घेण्यास लेखक मंडळी जवळ बसलेली....... ।''

अर्थात्—''श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य [स्वामी दयानन्द सरस्वती] उन्नत मंच पर कुर्सी पर बैठे हुए, उनके प्रवचन सरस्वती के प्रवाह की, प्रति शब्द-प्रति बूंद को अंकित करने के लिए पास में बैठी हुई लेखक मण्डली.... ।''

'निबन्धमालाकार' विष्णु शास्त्री चिपळूणकर के 'लेखक-मण्डली' इस शब्द प्रयोग से यह स्पष्ट होता है कि महर्षि के पूना प्रवचनों को लिपिबद्ध करने वाले न्यूनतम दो या तीन व्यक्ति तो निश्चित रहे होंगे।

अब प्राप्त नए तथ्यों के आधार पर गणेश जनार्दन आगाशे के अतिरिक्त एक और नाम पूना प्रवचनों के लिपिबद्धकर्त्ता के रूप में प्रकाश में आया है, वह है—**महादेव मोरेश्वर कुण्टे।**

इतिहासकार न० र० फाटक लिखित 'न्यायमूर्ति रानडे यांचे चरित्र' (जिसकी प्रस्तावना महादेव गोविन्द रानडे की पत्नी श्रीमती रमाबाई रानडे ने लिखी है) के निम्नलिखित उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूना प्रवचनों की इस लेखक मण्डली में गणेश जनार्दन आगाशे के अतिरिक्त महादेव मोरेश्वर कुण्टे का भी समावेश था। प्रस्तुत रानडे महोदय की जीवनी के 'महर्षि दयानन्द और पूना विषयक

प्रसंग' में इतिहासकार न० र० फाटकजी ने लिखा है कि—

''पुण्यांत स्वामीजींचा दोन महीने तळ होता त्या अवधीत त्यांनी पंधरा व्याख्याने दिली. स्वामींची भाषा हिन्दी असल्याने सगळ्या पुणेकरांना त्यांचा उपदेशाचा आस्वाद घेता यावा, म्हणून महादेव मोरेश्वर कुण्टे व गणेश जनार्दन आगाशे हे दोघे स्वामींच्या भाषणांची टिपणें घेऊन एक दिवस आड़ त्याचे मराठी भाषांतर प्रसिद्ध करीत।''

अर्थात्—पूना में स्वामीजी का दो महिने तक डेरा था। उस अवधि में उन्होंने पन्द्रह व्याख्यान दिए। स्वामीजी की भाषा हिन्दी थी। उनके उपदेशों का लाभ समस्त 'पुणे' वासी उठा सकें, इस अभिलाषा से महादेव मोरेश्वर कुण्टे व गणेश जनार्दन आगाशे स्वामीजी के भाषणों की टिप्पणियाँ लेकर एक दिन बाद उसका मराठी अनुवाद प्रकाशित करते थे।

स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा ११ अगस्त १८७५ को पुणे से श्रीयुत गोपाल हरि देशमुख आदि को लिखित पत्र से भी श्री कुण्टे की 'पूना प्रवचनों' के प्रबन्धक और प्रकाशक के रूप में पुष्टि होती है। स्वामीजी ने प्रस्तुत पत्र में लिखा है—

''पूना में महादेव [माधवराव] गोविन्द रानडे, माधवराव [महादेव] मोरेश्वर कुण्टे तथा लस्कर में गंगाराम भाऊ [म्हस्के] आदि पुरुषों ने अच्छी प्रकार व्याख्यानादि प्रबन्धपूर्वक कराये। और व्याख्यान छपवाते भी हैं।'' (ऋ० द० स० पत्र और विज्ञापन भाग १ पृष्ठ ५८, पं० ११-१२)।

विष्णु शास्त्री चिपळूणकर ने भी अपने 'वक्तृत्त्व' इस निबन्ध में स्वामी दयानन्दजी को पूना में निमंत्रित कर उनके व्याख्यान छपवाने का श्रेय अप्रत्यक्ष रूप से रानडे और कुण्टे को दिया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि महादेव मोरेश्वर कुण्टे का पूना प्रवचनों के लेखक के रूप में ही नहीं, अपितु पूना-प्रवचनों के प्रबन्धक और 'प्रकाशक' के रूप में भी अविस्मरणीय योगदान रहा है।

कद्रे जोहर जौहरी। हीरे-जवाहरातों का सही मूल्यांकन कोई जौहरी ही कर सकता है। विद्वान् ही विद्वान् के परिश्रम को जान सकता है। इसी आधार पर मैं सोच रहा था कि महर्षि दयानन्द के

व्याख्यानों को लिपिबद्ध करने वाले व्यक्ति भी असाधारण प्रज्ञा के होंगे। जब पूना-प्रवचनों के लेखकों के जीवनी की इतस्ततः खोज की तो बात सच निकली—

विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्।
न हि वन्ध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम्॥

पूना-प्रवचन-काल में महर्षि दयानन्द के भाषणों को लिपिबद्ध करने वाले लेखकों में महादेव मोरेश्वर कुण्टे का प्रमुख स्थान रहा है। दार्शनिक, कवि, वैदिक-विद्वान् एवं पुणे नगरी के प्रार्थनासमाज के प्रारम्भिक नेता के रूप में आपकी समस्त महाराष्ट्र में ख्याति रही है। आप पत्रकार थे। **'षड्दर्शन चिंतनिका'** मासिक का आपने संचालन व सम्पादन किया। इस पत्रिका में दर्शनों पर आप द्वारा किया गया अंग्रेजी व मराठी भाष्य नियमित रूप से प्रकाशित होता था। आप बहुभाषाविद् भी थे। संस्कृत, मराठी, गुजराती, सिन्धी, फारसी, अंग्रेजी, ग्रीक, लैटिन आदि विविध भाषाओं पर आपका अच्छा अधिकार था। आप लोकप्रिय वक्ता (ऑरेटर) थे। पुणे की सुप्रसिद्ध **'वसंत व्याख्यानमाला'** अनेक वर्षों तक आपके व्याख्यानों से गूँजती रही। आप इस व्याख्यानमाला के अध्यक्ष भी रहे। पुणे नगर-पालिका के आप निर्वाचित सभासद् भी थे। बहुमुखी प्रतिभा के आप धनी थे। परस्पर भिन्न दिशाओं में स्थित विविध विषयों का आपको गहन ज्ञान था। आपने मराठी और अंग्रेजी भाषा में काव्य ग्रन्थ लिखे। पेन्सिल बनाने का कारखाना खोला व आर्य संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करने वाला गम्भीर ग्रन्थ भी लिखा। इस ग्रन्थ पर रोम (इटली) की विद्वत् परिषद् ने प्रथम पारितोषिक प्रदान कर आपका अभिनन्दन किया था। इस प्रकार एक वैदिक विद्वान् एवं समाज सुधारक के नाते महाराष्ट्र के इतिहास में आपका उल्लेखनीय स्थान रहा है।

आप द्वारा लिखित 'राजा शिवाजी' नामक ऐतिहासिक काव्य का मुख्य उद्देश्य देशोन्नति रहा है। आबाल वृद्ध भी समझ सकें ऐसी सरल सर्वग्राह्य प्रसाद शैली के आप प्रबल पक्षधर रहे। पौराणिक विद्वान् विष्णु शास्त्री चिपळूणकर ने स्वामीजी के साथ-साथ आप पर भी वक्तृत्त्व आदि निबन्धों में व्यंग्य, उपहास एवं वक्रोक्ति शैली

का प्रयोग किया है। इससे पूर्व एक समय ऐसा भी था कि पुणे में एक ही विद्यालय में श्री कुण्टे मुख्याध्यापक और चिपळूणकर अध्यापक थे। श्री कुण्टे न्यायमूर्ति रानडे के सहपाठी व सखा थे। उनके साथ आपने विभिन्न आन्दोलनात्मक अभियानों में भाग लिया था। पूना प्रवचन-काल में रानडे-कुण्टे की यह जोड़ी दयानन्दजी की विशेष सहयोगी सिद्ध हुई। मराठी के सुप्रसिद्ध ज्ञानकोश निर्माता डॉ० केतकर के अनुसार—**'प्राचीन भारतीय वाङ्मय का चिकित्सक बुद्धि से विचार करने वाला महादेव मोरेश्वर कुण्टे जितना उस काल में और दूसरा कोई महाराष्ट्रीय पण्डित नहीं था।'**

श्री कुण्टेजी का जन्म सन् १८३५ के श्रावण मास में जि० सातारा के 'माहुली' नामक गाँव के एक भिक्षुक परिवार में हुआ था। बचपन में ही आपके पिताजी का स्वर्गवास हो गया। विद्याध्ययन की लालसा से आप घर से भागकर कोल्हांपुर चले आए। कभी भिक्षाटन कर तो कभी हर नए वार को नए परिवार में भोजन पाकर, आपने शिक्षा प्राप्त की। अग्रिम शिक्षा प्राप्त करने के लिए मुम्बई गए व १८५९ में विल्सन हाईस्कूल से मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की। अपनी निर्धनता से संघर्ष करते हुए सन् १८६४ में आप बी० ए० उत्तीर्ण हुए। स्नातक की उपाधि प्राप्त होने पर सर्वप्रथम आपकी कराची में मुख्याध्यापक के रूप में नियुक्ति हुई। वहीं से सन् १८६७ में आपकी कोल्हापुर के राजाराम विद्यालय में बदली हो गई। तदनन्तर सन् १८७१ में पुणे विद्यालय के हैडमास्टर के रूप में आप नियुक्त हुए। पुणे में आप लगभग सोलह-सत्रह वर्ष तक रहे। बीच के कुछ वर्षों में आपने एल्फिन्स्टन कॉलेज मुम्बई में संस्कृत प्राध्यापक का और अहमदाबाद कॉलेज में प्राचार्य पद का उत्तरदायित्व भी सम्भाला। दीर्घकाल तक आपका जीवन शैक्षिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय सेवा कार्यों में समर्पित रहा। सन् १८८८ में आपका देहान्त हो गया।

'राजा शिवाजी' (१८६९), 'मन' (१८७२), 'राजाराम महाराज' आदि आपकी मराठी काव्य कृतियाँ हैं। 'महर्षि' एवं 'फेमिश्ड विलेज' आपके अंग्रेजी काव्य हैं। 'व्हिसिसि टयूड्स् ऑफ आर्यन सिवि-लायजेशन इन इण्डिया' (आर्य संस्कृतीची स्थित्यंतरे), 'बाल-विवाह निषेधक वाद' (१८७६) आदि आपकी रचनाओं का भी उल्लेख मिलता है।

आपका 'राजा शिवाजी' काव्य, इतिहास प्रसिद्ध शिवाजी की तरह ही आधुनिक मराठी कविता के इतिहास में अनेक दृष्टियों से क्रान्तिकारी और युगप्रवर्तक है। मराठी साहित्य में आधुनिक दृष्टिकोण और नवीन शैली का प्रयोग उस काल में यदि कहीं प्रतिविम्बित हुआ है तो, वह आपके 'राजा शिवाजी' काव्य में ही। इस काव्य के प्रारम्भ में आपने जो २८ पृष्ठों की प्रस्तावना लिखी है, वह तत्कालीन सामाजिक परिवेश के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह प्रस्तावना मराठी साहित्य में नव-विचारधारा का स्वागत करने वाली सर्वप्रथम समीक्षात्मक रचना समझी जाती है। तत्कालीन साहित्यक क्षेत्र में कुण्टेजी ने जो नवीन शैली का प्रयोग किया, वस्तुतः वह एक साहसिक कार्य था।

'राजा शिवाजी' काव्य के माध्यम से आप मराठा राज्य के उदय, विकास और अधःपतन का इतिहास लिखना चाहते थे। आपका स्पष्ट मत था कि—*'शिवाजी का इतिहास' एल्फिन्स्टन और मरे लिखित ग्रन्थों से कभी स्पष्ट नहीं होगा। उस वीर पुरुष के इतिहास को जानने के लिए तो सन्त तुकाराम और समर्थ रामदास की अभंग वाणी, पुराने पोवाडे, ऐतिहासिक कथाएँ और दुर्ग रक्षक गडकरियों के मुँह से फैली परम्परागत दन्तकथाओं का संकलन चाहिए।'* न्यायमूर्ति रानडेजी के अनुसार—"**राजा शिवाजी" के काव्यानुकरण से मराठी में ऐतिहासिक काव्य लिखने की परम्परा शुरु हो गई। इस परम्परा के सामने कुण्टे की धाराप्रवाह रचना शैली का आदर्श था।**

पूना प्रवचन के लेखक महादेव मोरेश्वर कुण्टे दयानन्दजी से उम्र में १० वर्ष छोटे थे। प्रस्तुत प्रवचन काल में स्वामीजी की उम्र लगभग पचास वर्ष थी तो श्री कुण्टे की ४० वर्ष थी। महर्षि दयानन्द ने पूना (या बंबई) से गोपाल हरि देशमुख 'लोकहितवादी' को प्रेषित पत्र में लिखा है कि—"**एक नवीन बात यह कि पूना में आर्यसमाज स्थापन हो गया है।....जितने प्रार्थना समाज के सभासद थे वे सब....[आर्यसमाज के] सभासद हुए हैं।**" (ऋ० द० स० पत्र और विज्ञापन, भाग १, पृष्ठ ६१, पं० १-७)। दयानन्दजी के इस पत्रांश के आधार पर यह विश्वास करना अनुचित नहीं होगा कि प्रार्थनासमाज की यह रानडे-कुण्टे की राम-लक्ष्मण जोड़ी (जिसने

स्वामीजी को पूना में सर्वाग्रणी होकर निमन्त्रित किया था) अवश्य ही स्वामीजी के पूना प्रवचनों से प्रभावित होकर आर्यसमाज में सम्मिलित हुई होगी। यह तो अब निर्विवाद रूप से स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द द्वारा स्थापित धार्मिक संगठन की तीसरी शाखा, आर्यसमाज पुणे के न्यायमूर्ति रानडे प्रधान थे, वे महर्षि दयानन्द की उत्तराधिकारिणी, परोपकारिणी सभा के भी सभासद् रहे। ऐसी स्थिति में कुण्टे भी निश्चितरूपेण आर्यसमाज में अपने साथी के साथ ही सक्रिय सभासद् के रूप में सम्मिलित हुए होंगे।

मानवमात्र के प्रति कल्याण भावना रखकर श्रीयुत महादेव मोरेश्वर कुण्टे ने महर्षि के 'पूना-प्रवचनों' का तत्काल संकलन एवं भाषान्तर किया, एतदर्थ आर्यजगत् उनका सदैव कृतज्ञ करेगा। वस्तुतः रानडे, कुण्टे, आगाशे की त्रिमूर्ति के कारण ही सर्व प्रथम पूना-प्रवचन प्रकाशित हुए हैं। विश्वास है कि युगों-युगों तक इस त्रिमूर्ति का आर्य जगत् की ओर से कृतज्ञता के साथ अभिनन्दन होता रहेगा। खेद है कि आज तक ज़ितने भी 'पूना प्रवचन' (या 'उपदेश मंजरी') प्रकाशित हुए हैं, उनमें महादेव मोरेश्वर कुण्टे का लिपिबद्ध कर्त्ता के रूप में उल्लेख तक नहीं है। आशा की जाती है कि अग्रिम 'पूना-प्रवचनों' के संस्करणों में उनका कृतज्ञता के साथ स्मरण किया जायेगा।

महर्षि के २८ नवम्बर १८७७ को 'लोकहितवादी' को लिखे पत्र से इस बात की पुष्टि होती है कि-वेदभाष्य का द्वितीय नमूना समालोचनार्थ श्री महादेव मोरेश्वर कुण्टे के पास भी भेजा गया था।

—(१) वैदिक सेवा आश्रम : मासिक : सितंबर १९८३ से एवम् (२) वेदवाणी : मासिक : संपादक : पं० युधिष्ठिर मीमांसक : दयानन्द विशेषांक-१ : नवंबर १९८३ से साभार।



(५)

पं० भीमाचार्य शास्त्री झलकीकर

पौराणिक विद्वानों द्वारा स्वामी दयानन्द के खण्डन में लिखे साहित्य की चर्चा करते हुए डॉ० भवानीलाल भारतीय ने लिखा है कि—"एक महाराष्ट्रीय विद्वान् पं० भीमाचार्य झलकीकर लिखित 'वेदार्थोद्धार' नामक संस्कृत ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है जो दयानन्द कृत वेदभाष्य की आलोचना में मुम्बई से छपा था। इसमें लेखक ने स्वामीजी की इस मान्यता का खण्डन किया था कि—'वेद को ही धर्मप्रमाण में एकमात्र अधिकारी ग्रन्थ माना जा सकता है[१]।'

महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार स्वामी दयानन्द की यह वेदभाष्य परक पुस्तिका सन् १८७५ में ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र अथवा प्रथम सूक्त के भाष्य के नमूने के रूप में लिखी गई थी[२]। क्योंकि स्वामीजी की यह लघु पुस्तिका संस्कृत भाष्य और उसके गुजराती[३]-मराठी अनुवाद के साथ प्रकाशित हुई थी, अतः उसके खण्डन में पं० झलकीकर ने जो पुस्तिका लिखी वह भी तदनुरूप संस्कृत आलोचना और उसके गुजराती-मराठी अनुवाद के साथ प्रकाशित हुई थी। अपनी-अपनी संस्कृत रचनाओं के साथ गुजराती-मराठी अनुवाद देने के पीछे इनके रचयिताओं के सामने सम्भवतः मुम्बई का द्वैभाषिक रूप रहा होगा। तत्कालीन मुम्बई राज्य की सीमा में वर्त्तमान महाराष्ट्र[४] और गुजरात दोनों का भी समावेश होता था।

---

१. आर्यसमाज का इतिहास भाग ५, सम्पादक डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, पृष्ठ-१०९-११०।

२. ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ-११६।

३. स्वामी दयानन्द की मुम्बई राज्य परिभ्रमण काल में लिखी 'वेद विरुद्ध मत खण्डन (दिसम्बर १८७४) तथा 'शिक्षापत्री ध्वांत-निवारण (जनवरी १८७५) नामक पुस्तिकाओं का अनुवाद स्वामी जी के प्रमुख शिष्य पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा ने किया था, अतः इसी काल में लिखित व प्रकाशित 'वेदभाष्य का नमूना' पुस्तिका का अनुवाद भी वर्माजी ने ही किया होगा।

४. तत्युगीन महाराष्ट्र में वर्त्तमानकालीन मराठवाडा व विदर्भ का समावेश नहीं था।

बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने स्वामीजी की इस 'वेदभाष्य विषयक लघु पुस्तिका के स्वरूप और उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—"स्वामीजी ने ऋग्वेद के पहले सूक्त[१] का भाष्य जिसमें गुजराती, मरहठी भाषा में अनुवाद भी था, वेदभाष्य के नमूने के तौर पर प्रकाशित किया था। जिसमें ऋग्वेद के पहले मन्त्र 'अग्निमीळे पुरोहितम्' आदि के दो अर्थ किए थे—एक भौतिक और दूसरा परमार्थिक। उसकी भूमिका में उन्होंने स्पष्ट लिखा था कि—'मैं सारे वेदों का इसी शैली पर भाष्य करूँगा। यदि किसी को इस पर आपत्ति हो तो पहले से ही सूचित कर दें, ताकि मैं उसका खण्डन करके ही भाष्य करूँ[२]।"

बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अनुसार स्वामीजी ने अपना यह चर्चित वेदभाष्य का नमूना काशी के स्वामी विशुद्धानन्द, पं० बालशास्त्री रानडे आदि तथा कोलकत्ता और अन्य स्थानों के पण्डितों के पास भी भेजा था, परन्तु किसी ने उसकी समालोचना नहीं की और न ही उस पर कोई आपत्ति उठाई[३]। श्री मुखोपाध्याय लिखित स्वामी दयानन्द के बङ्गाली जीवन चरित्र के हिन्दी अनुवादक श्री पं० घासीराम के अनुसार स्वामीजी ने इस वेदभाष्य के नमूने को यूरोपीय विद्वानों मिस्टर ग्राउस (बुलन्दशहर के जिलाधीश) व ग्रिफिथ साहब के पास भी सम्मति हेतु भेजा था, जिस पर दोनों की प्रतिकूल सम्मति प्राप्त हुई थी[४]। वेदभाष्य नमूना पुस्तिका के प्रतिकूल समालोचकों में

---

१. प्राच्य विमान विद्या संशोधक के रूप में चर्चित व स्वामी दयानन्द के भक्त शिवकर बापू तलपदे की रचनाओं में 'ऋग्वेद प्रथम सूक्त' का उल्लेख है। सम्भव है यह रचना स्वामीजी के वेदभाष्य पर आधारित हो या श्री तलपदे ने सम्भव है उसके मराठी भाग का पुनर्मुद्रण, संशोधन या सम्पादन किया हो।

२. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, पृष्ठ २९५।

३. तत्रैव—पृष्ठ २९५।

४. बनारस कॉलेज के प्रधानाचार्य मिस्टर आर ग्रिफिथ साहब आदि की प्रतिकूल सम्मति का जवाब स्वामीजी ने १४ नवम्बर १८७७ के बाद दिया था, अत: यह अनुमान है कि ग्रिफिथ महोदय के आक्षेप १८७५ में प्रकाशित प्रथम वेदभाष्य नमूने पर नहीं, अपितु १८७६ में प्रकाशित वेदभाष्य नमूने पर आधारित होंगे।

इन दोनों विदेशी विद्वानों के अतिरिक्त डॉ० भवानीलाल भारतीय द्वारा निर्दिष्ट महाराष्ट्रीय विद्वान् महामहोपाध्याय पं० भीमाचार्य शास्त्री झलकीकर का भी समावेश किया जा सकता है।

पं० झलकीकर का यथोपलब्ध परिचय निम्न प्रकार है—

पं० झलकीकर पुणे के डेक्कन कॉलेज व मुम्बई के एल्फिन्स्टन कॉलेज में संस्कृत पढ़ाते थे। बाल-विवाहों को रोकने के लिए 'सम्मति-वय-विषयक-बिल' (एज ऑव कन्सेप्ट बिल) के पक्ष-विपक्ष में महाराष्ट्र में १८८४ से १८९० तक जो वाद-विवाद हुआ उसने दो दलों का रूप धारण कर लिया। एक आगरकर दल और दूसरा तिलक दल। दोनों ने सभ्यता की मर्यादा की परवाह न करते हुए एक दूसरे पर आरोप प्रत्यारोप किए। पं० झलकीकर तिलक पक्ष में थे और उन्होंने उपर्युक्त बाल-विवाह निरोधक बिल का विरोध किया था। इसी प्रकार एक बार जब लोकमान्य तिलक ने पञ्चहौद मिशन स्कूल द्वारा सञ्चालित ईसाई स्कूल में कतिपय प्रतिष्ठित लोगों के साथ बैठकर जलपान कर लिया था तब तिलक सहित सभी लोगों को जाति बहिष्कृत करने की माँग उठी थी। उस समय मध्य मार्ग यह निकाला गया था कि जो लोग प्रायश्चित्त करगें, उन्हें क्षमादान दे दिया जायेगा। लोकमत को शान्त करने के लिए तिलक ने प्रायश्चित्त करना स्वीकार कर लिया था। इस प्रायश्चित्त के अवसर पर ब्राह्मणेतरों के हाथ का जलपान ग्रहण करने वालों के लिए निर्मित प्रायश्चित्त के वचन पं० झलकीकर ने लोकमान्य तिलक के केसरी में प्रकाशित किए थे, जिसमें उन्होंने स्पष्टरूपेण कहा था कि—'प्रायश्चित्त काल में माण्ड (पतला भात), दूध तथा चने-मुरमुरे आदि भट्टी में भुने हुए पदार्थ, चाहे वे शूद्रों ने क्यों न भूने हों, ग्रहण करने योग्य हैं[१]।'

विनायक कोंडदेव ओक (१८४०-१९१०) के अनुसार वेदशास्त्र सम्पन्न पं० भीमाचार्य झलकीकर १८७१-७२ में एल्फिन्स्टन कॉलेज मुम्बई में संस्कृत के प्राध्यापक थे[२]। इनका जन्म किस सन् में हुआ इसका विवरण उपलब्ध नहीं, पर इनका निधन १० मई १९०६ को हुआ। लार्ड डफरिन द्वारा रावसाहब विश्वनाथ नारायण मंडलिक से

१. अर्वाचीन चरित्र कोश : सम्पादक : सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव।
२. बालबोध : मराठी मासिक : दिसम्बर १८९७, पृष्ठ-११६।

महामहोपाध्याय पदवी देने योग्य विद्वान् का नाम पूछे जाने पर उन्होंने वेदशास्त्र सम्पन्न श्री झलकीकर का नाम सुझाया था। तदनुसार पं० भीमाचार्यजी झलकीकर को उपर्युक्त उपाधि से सन् १८८८ में समलंकृत किया गया। (रावसाहेब विश्वनाथ नारायण मंडलिक यांचे चरित्र भाग २, पृष्ठ ८२५)।

सर्वश्री यशवन्त दाते और रामचन्द्र देशमुख के अनुसार महामहोपाध्याय पं० भीमाचार्य झलकीकर कृत पुस्तकें निम्न काल-क्रमानुसार क्रमशः प्रकाशित हुई हैं—

१. न्यायकोश (सन् १८७५), २. मध्वमत (१८८६) षड्दर्शन-सार निरुक्ति (१८९१) आत्मादि भेद विज्ञानम् (सन् १८९४)[1] इनकी एक अन्य पुस्तक का उल्लेख मिलता है जिसका नाम है— 'न्यायमुक्तावलीचे मराठी भाषान्तर।'

डॉ० भवानीलाल भारतीय के अनुसार महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य नमूने के खण्डन में लिखी 'पं० झलकीकर की 'वेदार्थोद्धार' नामक रचना सन् १८७५ में प्रकाशित हुई और उसकी एक दुर्लभ प्रति 'ब्रिटिश म्यूजियम लाइब्रेरी'—लन्दन में है[2]। आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् स्व० आचार्य उदयवीरजी शास्त्री के सुयोग्य शिष्य, आर्यसमाज, ६९-ए अरगिल रोड, वेस्ट इलिंग लन्दन के मिनिस्टर ऑफ रिलीजन डॉ० तानाजी आचार्य से हमने अनुरोध किया है कि वे उक्त ग्रन्थालय से 'वेदार्थोद्धार' नामक दुर्लभ पुस्तिका का यथोपलब्ध विवरण और फोटोस्टेट भेज कर पं० झलकीकर कृत इस प्राचीन अभिलेख का पुनरुद्धार करने की कृपा करें, जिससे स्वामी दयानन्द कृत दुर्लभ प्रथम वेदभाष्य नमूने का भी यत्किंचित् रूप पहचाना जा सके।

मराठी पत्र 'दम्भहारक[3]' के 'पोंच' (अर्थात् समीक्षार्थ पुस्तक प्राप्ति सूचना) स्तम्भ में क्रमशः जिन दो पुस्तकों की सूची प्राप्त होती है, उनके नाम हैं—१. श्रीमद् दयानन्द सरस्वती स्वामिना निर्मित वेदभाष्य अङ्क १ तथा २. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका अङ्क-१। इसी मराठी पत्र के अग्रिम अङ्क[4] में अनुक्रमणिका के अन्तर्गत 'पुस्तक परीक्षा' स्तम्भ में 'ऋग्वेदभाष्य' की समीक्षा है। विषय-सूची को देखते हुए यह कहा

१. महाराष्ट्रीय वाङ्मय सूची : पृष्ठ-११६, १६३, ६२, ६१।
२. आर्यसमाज का इतिहास : भाग-५ : पृष्ठ-११०।
३. दम्भहारक : जनवरी १८७७।
४. दम्भहारक : फरवरी १८७७।

जा सकता है कि यह समीक्षा पृष्ठ ३६१ से ३६५ पृष्ठ तक प्रकाशित हुई है, पर मुझे 'दम्भहारक' पत्र का जो उक्त अङ्क देखने को मिला उसमें 'पुस्तक परीक्षा' वाले पन्ने फट चुके थे। अतः यह कहना कठिन है कि इस 'ऋग्वेदभाष्य' के समीक्षक महामहोपाध्याय पं० भीमाचार्य झलकीकर ही हैं या और कोई।

संशोधक-पाठकों से अनुरोध है कि जब कभी उन्हें पं० झलकीकरजी के व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में यत्किञ्चित् भी जानकारी मिले तो वे इस परिचय को और अधिक परिपूर्ण बनाने में सर्वात्मना सहयोग करने की महती कृपा करें। साथ ही महर्षि दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य का प्रथम नमूना (या ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का भाष्य किंवा ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र के भाष्य का नमूना : रचनाकाल सन् १८७५) और उसके खण्डन में लिखे महामहोपाध्याय पं० भीमाचार्य शास्त्री झलकीकर कृत 'वेदार्थोद्धार' नामक रचना जिस किसी भी ग्रन्थालय-संग्रहालयादि स्थानों पर उपलब्ध हों तो उन्हें भी आर्यसमाज के इतिहास की अनमोल निधि जानकर सुरक्षित रखने की कृपा करें। आज ये दोनों ही रचनाएँ दुर्लभ ही नहीं, अनुपलब्ध पुस्तिकाओं[1] की कोटि में भी आ चुकी हैं।

—वेदवाणी : मासिक : मार्च १९९४ से साभार।

---

१. लन्दन से २०।४।९३ को भेजे अपने पत्र में आचार्य तानाजी लिखते हैं कि— "आपके निर्देशानुसार 'ब्रिटिश म्युजियम लाइब्रेरी लन्दन' में भी पं० भीमाचार्य झलकीकर लिखित 'वेदार्थोद्धार' पुस्तक की खोज की, परन्तु यह पुस्तक इस ग्रन्थालय में उपलब्ध नहीं है। ...इस ग्रन्थालय का भारतीय पुस्तकों का विभाग १९७२ से 'ऑरियन्टल एण्ड इण्डिया आफिस कलेक्शन' नाम से अन्यत्र सुरक्षित है। 'ब्रिटिश म्युजियम लाइब्रेरी' में नहीं है। उक्त विभाग में मेरे परिचय की एक महिला श्रीमती दीपाक्षी घोष कार्यरत हैं, उनकी सहायता से उक्त पुस्तक का पता किया है। दुर्भाग्य से यहाँ पर उपलब्ध नहीं है।" अतः अब अनुरोध है कि जिन किन्हीं सज्जन को महामहोपाध्याय झलकीकर जी का विशेष परिचय और उपरोक्त चर्चित पुस्तक की जानकारी हो तो वे इन पंक्तियों के लेखक को सूचित करने की कृपा करें। इस पुस्तक का उल्लेख सर्वप्रथम श्री गौरीशंकरसिंह जी ने 'आर्यसमाज साहित्य सर्वस्व' (सन् १९७५) में पृष्ठ-९५ पर निम्न प्रकार से किया है।
"भीमाचार्य झलकीकर : वेदार्थोद्धार : दयानन्द कृत वेद व्याख्यान खण्डनात्मक :मूल संस्कृत के साथ मराठी एवं गुजराती अनुवाद : मुंबई १८७५।८।८।८ पृष्ठ 'वेद ही एक मात्र आधिकारिक ग्रन्थ है' स्वामी दयानन्द के इस मत का आलोचनात्मक खण्डन संस्कृत, मराठी एवं गुजराती। ब्रि० म्यू०।"

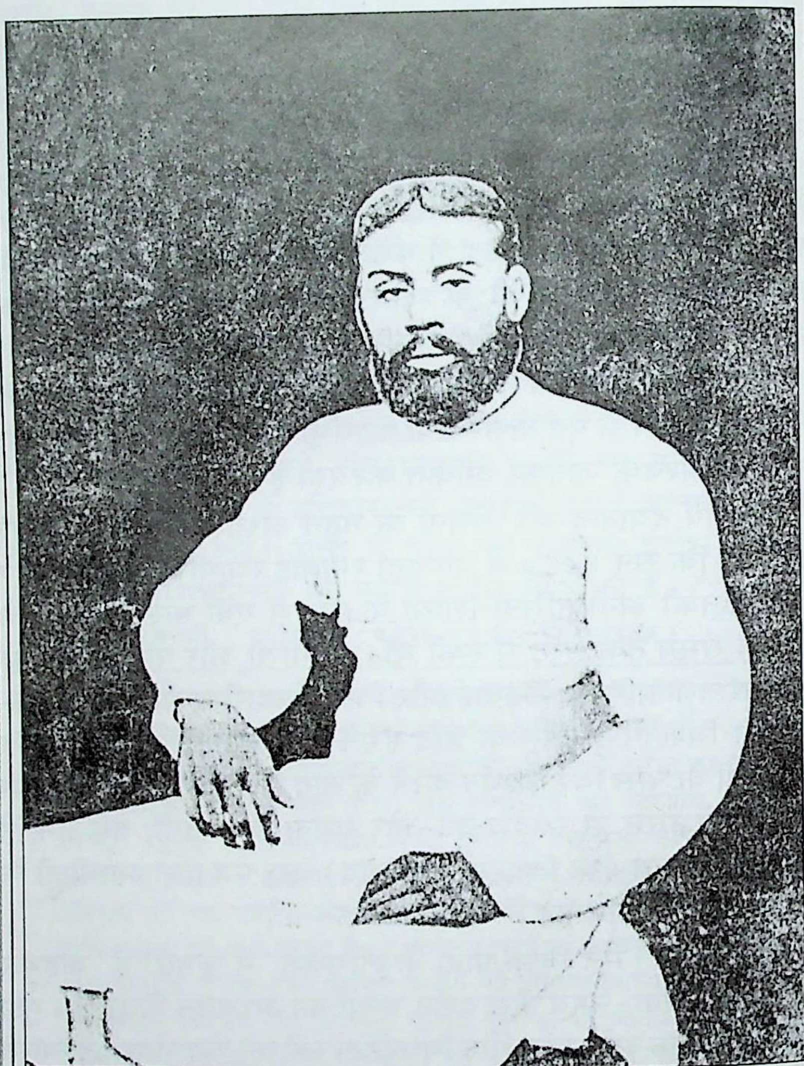
(६)

बाबू विपिनबिहारीदास 'बंगाली'

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने मेरठ निवास काल में ८ सितम्बर १८८० को बाबू दुर्गाप्रसाद को भेजे पत्र में लिखा था कि—'इस [पं० रमाबाई] के साथ में बंगाली लोग है, वही इसकी कुमति का कारण है।' स्वामीजी के जीवन चरित्रों से स्पष्ट है कि वह व्यक्ति विपिनबिहारी बंगाली था, पर किसी भी जीवन चरित्र में उनका परिचय उपलब्ध नहीं होता। यहाँ मैं विपिनबिहारी के परिचय को प्रस्तुत करने से पूर्व तत्सम्बन्धी पार्श्वभूमि और प्रसंग को उपस्थित करना आवश्यक जानकर अंकित कर रहा हूँ।

महर्षि दयानन्द की जीवनी के गहन अध्येता यह भली-भाँति जानते हैं कि सन् १८८० में पण्डिता रमाबाई स्वामीजी का निमन्त्रण पाकर उनकी अन्तेवासिनी शिष्या के रूप में एक मास से भी कुछ अधिक समय तक मेरठ में रुकीं थीं। स्वामीजी और पण्डिता के पत्र व्यवहार तथा पण्डिता रमाबाई और विपिनबिहारी दम्पति के जीवन-वृत्त का विश्लेषण करने के बाद हमने यह अनुमान लगाया है कि स्वामीजी के पास विद्याध्ययन करने के बाद जब पण्डिता ९ सितम्बर १८८० को मेरठ से स्वदेश की ओर रवाना होने लगीं, तब उन्होंने विदा होते समय (या विदा होने के बाद) एक पत्र द्वारा स्वामीजी के सामने यह रहस्योद्घाटन किया होगा कि—

स्वामीजी! मैंने विद्या प्राप्ति के लोभवश 'मैं कुमारी हूँ' कहकर आपसे वैशेषिक-न्याय जैसे दर्शन ग्रन्थों का अध्ययन किया है। मुझे यह भय था कि आप सांसारिक विवाहिता स्त्री को चतुर्थाश्रमी संन्यासी होने के कारण शायद ही पढ़ाना पसन्द करें, अतः मैंने असत्य का आश्रय लिया। आशा है आप मुझे क्षमा करेंगे। मैं अब आपसे यह स्पष्ट करना चाहती हूँ कि मेरठ में मेरे साथ जो बंगाली सहचर थे उनसे मैं आपके पास आने से पूर्व ही १३ जून १८८० को विवाहबद्ध हो चुकी थी। वे कायस्थ कुलोत्पन्न होते हुए भी एम० ए०, बी०



बाबू विपिनबिहारीदास बंगाली



पण्डिता रमाबाई

एल० उपाधियों से विभूषित हैं। आप गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्ण व्यवस्था के प्रतिपादक हैं। आखिर यह बताइए कि रूढिवादी समाज की दृष्टि में शूद्र माने जानेवाले विपिनबिहारी आपकी दृष्टि में ब्राह्मण हैं या नहीं? और हमारा यह विवाह आपकी शास्त्रीय मान्यता के अनुसार वर्ण व्यवस्था की मर्यादा के अनुकूल है या नहीं?

इस बात की पूर्ण सम्भावना है कि इस प्रकार का पत्र पाकर पण्डिता को आजन्म ब्रह्मचारिणी और आर्यसमाज की समर्पित उपदेशिका के रूप में देखने का स्वप्न देखने वाले स्वामीजी ने निम्नलिखित आशय का प्रत्युत्तर भेजा कि—

"पण्डिता! स्त्री जाति में बहुत ही अज्ञान फैला हुआ है, उस अज्ञानान्धकार के निवारण के लिए मुझे तुम जैसी विदुषियों का व्रती जीवन चाहिए था। मुझे यह आशा थी कि आर्यावर्तीय विदुषी गार्गी आदि कुमारियों ने ब्रह्मचर्य में स्थित होकर स्त्रीजनों का जैसे उद्धार किया था, वैसा ही आदर्श उदाहरण तुम भी अपने जीवन द्वारा प्रस्तुत करोगी। तुम्हारी विद्वत्ता की कीर्ति सुनकर मुझे यह प्रतीत हुआ था कि मध्यकाल से जिन स्त्रियों को वेदाधिकार से वञ्चित रखा गया है, अब उन स्त्री-कन्याओं का भाग्योदय होने का समय नजदीक आ गया है। अस्तु, अब तो तुम स्वगृहकृत्य के अनुष्ठान में प्रवृत्त होने वाली सांसारिक स्त्रियों की अनुगामिनी बन गई हो। महत् उद्देश्य की पूर्ति की जो आशा ब्रह्मचारिणियों से की जा सकती है, वह सन्तानोत्पत्ति तथा सांसारिक गृहचक्र में पड़ने वाली स्त्री से नहीं की जा सकती। कुछ भी हो पण्डिता! विपिन चाहे आधुनिक विद्या विभूषित हो, विधि विद्या भी जानता हो, पर संस्कृत विद्या के अभाव में तुम्हारी तुलना में तो मुझे वह शूद्र ही नजर आता है।"

बस स्वामीजी के इस प्रकार के पत्र को पाकर पण्डिता आगबबूला हो उठीं और उन्होंने स्वामीजी को एक तेज-तर्रार पत्र भेजते हुए लिखा कि—

"आर्यपाद! श्रीमानों के उपदेशपत्र को पाकर मैं थोड़ी-सी विस्मित हूँ......" जो कोई सुशिक्षित है वह ब्राह्मण, इसके विपरीत शूद्र होता है क्या आपका यह वाद केवल उन्मत्त प्रलाप ही है.....मैं मूर्खों के परिभव से नहीं डरती, क्योंकि मुझे आशा है कि शिक्षित

मात्र मुझ पर दोष नहीं देंगे।

मूलत: इस विपिन-रमा के विवाह के सिलसिले में वर्णव्यवस्था के अनुसार शास्त्रीय मान्यता के विषय में पण्डिता और स्वामीजी में स्पष्ट रूप में क्या कथनोपकथन और पत्र व्यवहार हुआ, वह आज अपने परिपूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है। इतना निश्चित है कि पण्डिता के मेरठ आने के कुछ समय बाद विपिन भी मेरठ आए थे। इन दोनों ने जान-बूझकर स्वामीजी से अपने दम्पति रूप को छिपा लिया था। फिर भी स्वामीजी को अपने निकटवर्त्तियों से मिले विवरण के आधार पर इस युगल के चाल-चलन पर सन्देह हो गया था। इसीलिए स्वामीजी ने पण्डिता के माध्यम से संकल्पित स्त्री-शिक्षा के महत् कार्य में, विपिन की गतिविधियों को बाधक जानकर, अपने पत्र में लिखा था कि—'इस [रमाबाई] के साथ में बङ्गाली है वही इसकी कुमति का कारण है।' यह सहज जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है कि आखिर यह विपिनबिहारी बंङ्गाली कौन था? अतएव श्री विपिनबिहारी का संक्षिप्त परिचय अग्रिम पंक्तियों में प्रस्तुत है—

श्री बाबू विपिनबिहारी दास का जन्म तत्कालीन पूर्वी बङ्गाल [वर्तमान बांग्ला देश] के श्रीहट्ट जिले के करीमगंज तहसील में स्थित मर्यादकाँदि ग्राम में सन् १८५२ में हुआ। बचपन में ही उनके माता-पिता का निधन हो चुका था। सतत जीवन संघर्ष करते हुए बड़े ही कष्ट से उन्होंने विद्याध्ययन पूर्ण किया। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा मिशन स्कूल में हुई। उन्होंने कोलकात्ता विश्वविद्यालय से तत्कालीन एम० ए०, बी० एल० की उच्च उपाधियाँ प्राप्त कीं। कोलकात्ता निवासकाल में वे ब्रह्मसमाज के सम्पर्क में आए। समाज-सुधार के उद्देश्य से प्रेरित जातिनिरपेक्ष सहभोज आदि समारोहों में आप उत्साह से सम्मिलित होते थे।

एक दिन जब ब्रह्मसमाज के नेता केशवचन्द्रसेन ने कहा कि—'ब्राह्म संज्ञा का हिन्दू संज्ञा में समावेश नहीं होता, ब्राह्म हिन्दू नहीं है।' बस तब से विपिनबिहारी का केशवचन्द्रसेन के प्रति भक्ति भाव नष्ट हो गया। 'हम ब्राह्म हैं, फिर भी निराकारवादी और एकेश्वरमत के पुरस्कर्त्ता कट्टर हिन्दू हैं' की मण्डली की ओर वे आकृष्ट हो गये। सन् १८७६ में इन्होंने विपिनचन्द्रपाल व सुन्दरी मोहनदास के सहयोग

से 'श्रीहट्ट सम्मीलनी' नामक संस्था की स्थापना की। इस संस्था का उद्देश्य युवकों में राष्ट्रीय-सामाजिक दायित्त्व के प्रति जागृति लाना और स्त्री-शिक्षा का प्रसार करना था।

विद्याध्ययन के बाद विपिनबिहारी गोहाटी नार्मल स्कूल के मुख्याध्यापक बने। यहीं पर सन् १८७८ में आपने 'रसायनेर उपक्रमणिका' नामक पुस्तक लिखी और यहीं पर जब श्रीनिवास शास्त्री और रमाबाई बन्धु-भगिनी व्याख्यान और प्रवचन के लिए डेरा डालकर रुके थे, तभी आपका रमाबाई से विशेष परिचय हुआ।

कुछ समय बाद विपिनबिहारी गोहाटी की नौकरी छोड़कर वकालत शुरु करने की दृष्टि से श्रीहट्ट आए, तब आपने 'श्रीहट्ट सम्मीलनी' की ओर से श्रीहट्ट में पण्डिता का अभिनन्दन समारोह सितम्बर १८७९ में आयोजित किया था। इस अवसर पर पण्डिता का परिचय देते हुए विपिन ने कहा था कि—'रमाबाई विद्वान् पिता की पुत्री, विद्वान् भ्राता की भगिनी है और सम्भवतः भविष्य में वह किसी विद्वान् पण्डित की गृहिणी बनेगी।' (रमाबाई पण्डितेर कन्या, पण्डितेर भगिनि एवं सम्भवतः तिनी पण्डितेर गृहिणी हैइबेन्)।

पण्डिता रमाबाई की चरित्र लेखिका पद्मिनीसेन गुप्ता के अनुसार विपिनबिहारी अपने एक मित्र से पण्डिता की शादी जोड़ने के लिए प्रयत्नशील थे, पर उनका १५ मई १८८० को निधन हो गया, हमें यह प्रतीत होता है कि इस मित्र के निधन से पूर्व ही पण्डिता की विपिन-बिहारी के मित्र से शादी होने की सम्भावनाएँ समाप्त हो गई थीं, तभी तो किसी एक दिन विपिनबिहारी ने पण्डिता से पूछा था कि—'क्या तुम मेरी सहचारिणी (जीवन संगिनी) बनोगी? तब उन्होंने कहा था कि 'यदि मेरे अग्रज श्रीनिवास शास्त्री की सम्मति मिली तो मैं इस प्रस्ताव पर विचार करूँगी,' विपिनबिहारी के एक निकटतम वंशज श्री हेमेन्द्रनाथ दास ने लिखा है कि—मृत्युकाल में श्रीनिवास शास्त्री ने अपनी एकान्तप्रिय बहिन को कहा था कि—'यदि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम विपिनबिहारी से शादी कर सकती हो' (मृत्यु काले श्रीनिवास शास्त्री ताहान एकांतो स्नेह पात्री भगिनी के बोलिया जानजे, इच्छा कोरिले विपिनबिहारी के विवाह करित पारेन) श्रीनिवास शास्त्री के निधन के समय विपिनबिहारी के उपस्थित होने का उल्लेख श्री

हेमेन्द्रनाथ दास ने किया है। तत्पश्चात् रमा के ढाका से कोलकात्ता जाने और विपिन के श्रीहट्ट से कोलकात्ता जाने का उल्लेख मिलता है। कोलकात्ता से पण्डिता के स्वामीजी के पास मेरठ पहुँचने के बाद विपिन भी वहीं आ जाते हैं और रमाबाई के साथ ही रहने लगते हैं। स्वामीजी के पास आने से पूर्व बांकीपुर में रमा-विपिन का विवाह हो चुका था, पर स्वामीजी इस तथ्य से अपरिचित थे। स्वामीजी द्वारा पूछे जाने पर भी पण्डिता ने इस तथ्य को छिपा लिया था, क्योंकि पण्डिता को यह भय था कि स्वामीजी विवाहिता स्त्री को अपनी साक्षात् शिष्या नहीं बनायेंगे।

विपिन-रमा के इस अन्तर्जातीय विवाह के कारण विपिनबिहारी को जाति और परिवार वालों ने बहिष्कृत कर दिया था। फलस्वरूप वे श्रीहट्ट (बंगाल) छोड़कर सिल्चर (आसाम) में रहने लगे थे। विषूचिका ग्रस्त हो जाने के कारण अपने वैवाहिक जीवन के १९ महीने बाद लगभग तीस वर्ष की अवस्था में ४ फरवरी १८८२ को विपिनविहारी का असामयिक निधन हो गया।

रमाबाई के चरित्र लेखकों में से कुछ व्यक्तियों ने विपिनविहारी को ईसाई धर्म की ओर आकृष्ट बतलाया है, तो कुछ व्यक्तियों ने प्रतिगामी हिन्दू कहा है, पर वे इनमें से कुछ भी न थे। वे तो अपने जीवन में अन्तिम क्षण तक एकेश्वरवादी कट्टर परिवर्तनवादी हिन्दू थे। विपिनविहारी को अधिकांश लेखकों ने कायस्थ जाति का कहा है। विपिन-परिवार के निकटस्थ व्यक्ति हेमेन्द्रनाथ दास स्वयं लिखते हैं—'विपिनविहारी कायस्थ थे और रमाबाई ब्राह्मण' (विपिनविहारी छिलेन कायस्थ और रमाबाई ब्राह्मण) पर विपिन के सहकर्मी सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी विपिनचन्द्रपाल ने उन्हें अपनी आत्मकथा में साहा जाति का बतलाया है। चाहे विपिन कायस्थ हों या साहा—ये दोनों जातियाँ तत्कालीन रूढिवादी समाज की दृष्टि में शूद्र ही थीं।

विपिन ने रमाबाई के दिन-प्रतिदिन ईसाइयत की ओर बढ़ते हुए झुकाव को बड़ी नजदीकी से देखा था और वे रमा में हो रहे इस बदलाव से बहुत चिंतित और क्षुब्ध थे। अनेक बार इस प्रश्न को लेकर विपिन-रमा में संघर्ष हुआ। इस सन्दर्भ में स्वयं रमा ने लिखा है—'मेरे पति और अधिक समय जीवित रहते तो क्या परिस्थिति

होती यह मैं नहीं कह सकती।'

स्वामीजी ने विपिन पर रमाबाई की मति 'कुमति' करने का जो आरोप लगाया है, उसके मूल में कुल दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि पण्डिता ने लिखित रूप में पूछताछ करने के बाद भी अपनी विपिन से हुए विवाह की बात को छिपाए रखा। दूसरा कारण यह था कि—स्त्री जाति के उद्धार के लिए आजन्म ब्रह्मचारिणी के रूप में एक समर्पित समाज सेविका के रूप में स्वामी दयानन्द पण्डिता रमाबाई को देखना चाहते थे। यदि स्वामीजी को विपिन-रमा के विवाह का यथासमय पता चलता तो वे न तो विपिन पर कोई आरोप करते और न ही पण्डिता से विशेष अपेक्षाएँ रखने का प्रश्न उनके मन में शेष रहता।

सन्दर्भ ग्रन्थ—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन—प्रथम भाग : सम्पादक—पं० भगवद्दत्त बी० ए०। २. महर्षि दयानन्द सरस्वती को लिखे गए पत्र और विज्ञापन—प्रथम भाग : सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक। ३. पण्डिता रमाबाई-लेखक—पद्मिनीसेन गुप्ता। ४. विश्रब्ध शारदा : सम्पादक—गं० दे० खानोलकर। ५. संक्रमण : लेखक—सरोजिनी वैद्य। ६. रमाबाई—ज्योत्स्ना देवधर। ७. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित : लेखक—देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय। ८. नवजागरण के पुरोधा : दयानन्द सरस्वती-लेखक—डॉ० भवानीलाल भारतीय। **सन्दर्भ : पत्र-पत्रिका**—१. सुबोध पत्रिका-१७ जनवरी १८८२। २. ज्ञानोदय-१३-४-१८८२। ३. श्रीहट्ट सम्मीलनीर हीरक जयन्ती स्मृति पुस्तिका : सन् १९३६। ४. महाराष्ट्र टाइम्स १८ अक्टूबर १९९२। **सन्दर्भ सहयोगी व्यक्ति**—१. (स्व०) श्री श्यामसुन्दर आढाव : नासिक। २. श्री भास्कर जाघव—पुणे। ३. (स्व०) मृणालिनी जोगळेकर : मुंबई। ४. प्रा० डॉ० जगदीश आचार्य—नांदेड़। ५. श्री जवाहर सत्यपाल राठौर—नांदेड़। **सन्दर्भ सहयोगी ग्रन्थालय**—हुतात्मा पानसरे स्मारक ग्रन्थालय : पीपल्स कॉलेज : नांदेड़ (महाराष्ट्र), पिन-४३१ ६०२।

—वेदवाणी : संपादक : महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिर मीमांसक : मासिक : मई १९९४ : से साभार।

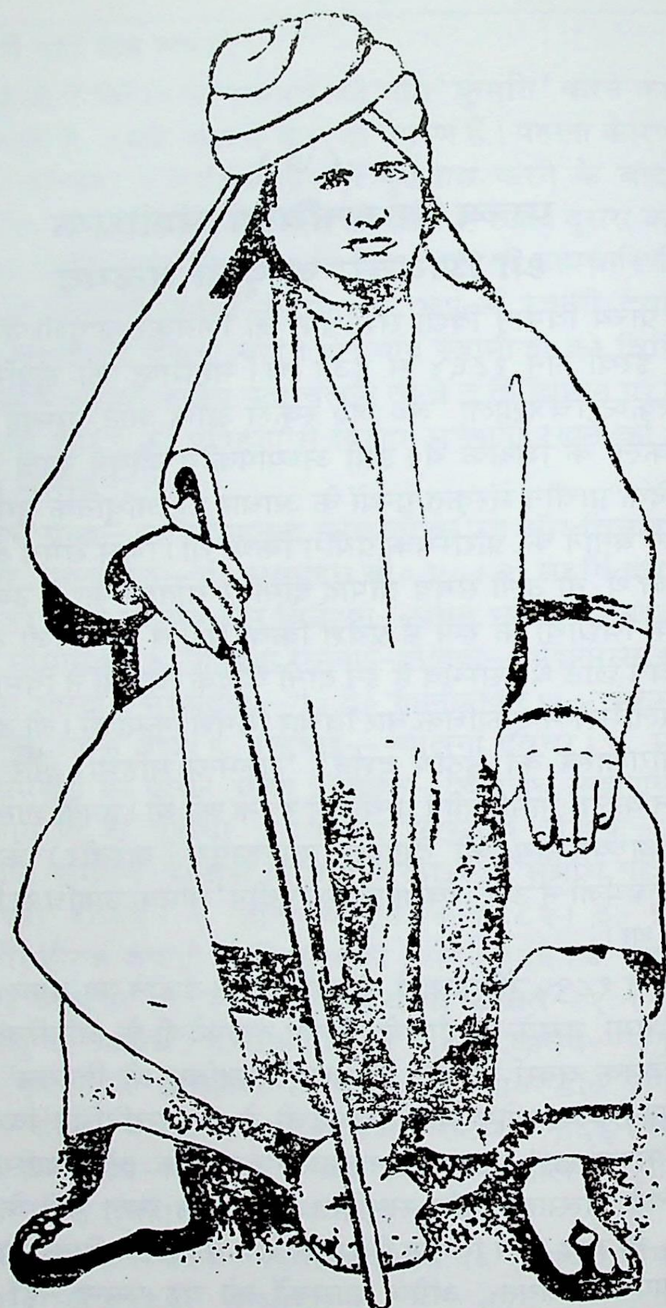


(७)

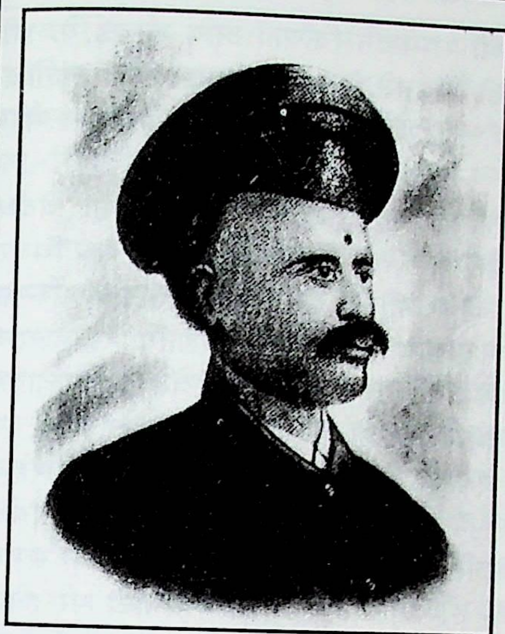
प्राच्य विमानविद्या संशोधक श्री शिवकर बापूजी तळपदे

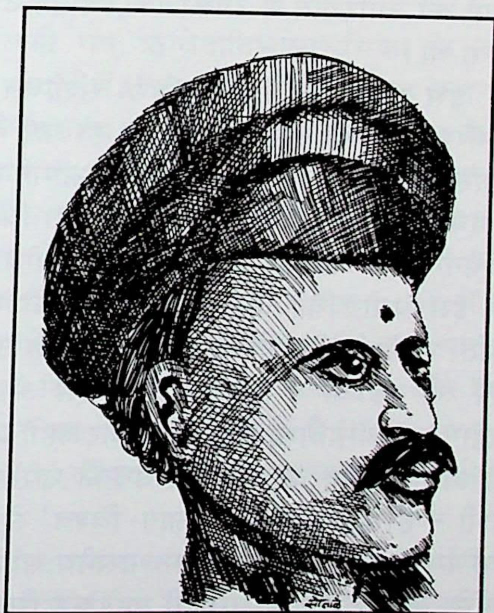
प्राच्य विमान विद्या संशोधक श्री शिवकर बापूजी तळपदे का जन्म ईस्वी सन् १८६४ में हुआ था। महाराष्ट्र की सुप्रसिद्ध और सर्वोत्कृष्ट चित्रशाला 'जे० जे० स्कूल ऑफ आर्ट, मुम्बई' में आप चित्रकला के शिक्षक थे। इसी अध्यापकीय जीवन काल में आपने वेदादिक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर आधुनिक युगीन प्रथम विमान बनाने का प्रारम्भिक प्रयोग किया था। जिस समय आप यहाँ शिक्षक थे, तो उसी समय श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने उक्त स्कूल में एक विद्यार्थी के रूप में प्रवेश किया था। वे तळपदेजी से केवल तीन वर्ष छोटे थे। सम्भव है इन दोनों वैदिक विद्वानों ने विमान बनाने के सिलसिले में एकाधिक बार विचार विमर्श किया हो। श्री तळपदेजी ने 'योगशास्त्र का भूतार्थ दर्शन', 'गुरुमन्त्र महिमा' और 'प्राचीन विमान कला' नामक तीन ग्रन्थों की रचना की थी। उनके शास्त्राध्ययन और अध्यवसाय को देखकर कोल्हापुर (करवीर) के श्रीमत् शंकराचार्यजी ने उन्हें 'विद्या प्रकाश प्रदीप' नामक उपाधि से विभूषित किया था।

सन् १८९५ में चौपाटी पर जो विमान उड़ाने का सफल प्रदर्शन किया गया, उसके निर्माण में श्रीमती तळपदेजी के अतिरिक्त मुम्बई के पब्लिक वर्क्स विभाग के वास्तुशास्त्रविद् श्री पिटकर[१] का भी उल्लेखनीय सहयोग था। तळपदेजी ने इस स्वनिर्मित विमान का नाम 'मरुत्सखा' रखा था। तत्कालीन शासक और शासितों द्वारा यथोचित प्रोत्साहन और समुचित सुविधा न मिल पाने के कारण १८९५ के बाद आप विमान विद्या के क्षेत्र में और अधिक प्रगति नहीं कर पाए। सम्भवतः, अंग्रेज शासकों को यह पसन्द नहीं था कि यूरोपीय वैज्ञानिकों से पहले भारतीय वैज्ञानिक को विमान विद्या संशोधक का श्रेय मिले। आपने सन् १९०४ से १९०९ तक मराठी में



महर्षि दयानन्द सरस्वती : सन् १८८३ : शाहपुरा : रेखाचित्र





प्राच्य विमानविद्या संशोधक श्री शिवकर बापू तळपदे

'आर्यधर्म' मासिक का भी सम्पादन किया। आप मुम्बई के चीरा बाजार में स्थित 'डुकरवाडी' में रहते थे। प्राच्य विमान विद्या संशोधक के साथ-साथ आप एक आर्टिस्ट और फोटोग्राफर के रूप में भी प्रसिद्ध थे।

सन् १९०४ में आपने अपने फोटोग्राफिक स्टूडियो को 'वेदधर्म प्रचारिणी सभा' का कार्यालय भी बना दिया था। यथोपलब्ध विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती विनिर्मित 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका', 'सत्यार्थप्रकाशादि' साहित्य को पढ़कर या 'शामराव कृष्ण आणि मण्डली' तथा 'वेद धर्म प्रचारिणी सभा' के सम्पर्क में आकर अथवा पं० चिरंजीवलाल वर्मा, पं० बालकृष्णजी शर्मा और स्वामी नित्यानन्दजी के सान्निध्य में रहकर आप सन् १८८५ के आस-पास महर्षि दयानन्द और वेदोक्त आर्यधर्म के सर्वात्मभाव से अनुयायी बन गए थे और आर्यसमाज के सम्पर्क में आने के दस वर्ष बाद ही आपने मुम्बई की चौपाटी पर हजारों लोगों की उपस्थिति में आकाश में विमान उड़ाने का यशस्वी प्रयोग किया था।

इस समय तक विमान विद्या संशोधन के क्षेत्र में यूरोप और अमरिका को भी सफलता प्राप्त न हो पाई थी। राईट बन्धु, काऊट झेपलिन के नाम अभी तक दुनिया के सामने नहीं आए थे। ऐसे समय में एक आर्यसमाजी वैदिक विद्वान् द्वारा किया गया प्रयोग वस्तुतः अभिनन्दनीय और स्वर्णाक्षरों में उल्लेखनीय है। 'विशेष बात यह थी कि इस प्रयोग की कल्पना और इसकी समस्त साहित्य सामग्री पूर्णतः स्वदेशी थी। पाश्चात्य जगत् से वह उधार रूप में बिल्कुल भी नहीं ली गई थी[२]।' आश्चर्य है—ऐसे अप्रतिम आर्यावर्त्तीय आर्य विद्वान् का नामोनिशा कहीं भी नजर नहीं आता। आशा है अब तक जो अज्ञानवशात् या अनजाने उनकी उपेक्षा हुई है वह आगे फिर कभी न होगी। 'विमान-विज्ञान-विश्व' से जुड़े आर्यसमाज के इस स्वर्णिम अध्याय को अब हम भारतीय सदा-सदा के लिये संजोकर रखेंगे, क्योंकि जो कौम गाती नहीं वह मिट जाती है।

शिवकर बापू तलपदे और आर्यसमाज

'विज्ञान कथा' के लेखक प्रह्लाद नारायण जोशी के अनुसार श्री तळपदे आर्यसमाज के अनुयायी थे, इसीलिए वैदिक वाङ्मय[३] के

विषय में उनके अन्त:करण में विशेष प्रीति थी। 'अर्वाचीन भारतीय वैज्ञानिक' के लेखक प्रा० भालबा केळकर के अनुसार भी 'तळपदे आर्यसमाज के अनुयायी थे[४] और उनकी यह श्रद्धा थी कि प्रगत ज्ञान–विज्ञान वैदिक साहित्य[५] में परिपूर्ण रूपेण संचित और समाविष्ट है।'

आधुनिक युग के अप्रतिम वैदिक विद्वान् महर्षि दयानन्द ने श्री तळपदे की कर्मभूमि मुम्बई की कुल पाँच बार यात्रा की थी। और इस समय तळपदेजी की आयु १०, ११, १२ और १८ वर्ष की थी। बिना आधार के यह कह पाना सम्भव नहीं कि इस कालावधि में वे दयानन्दजी के सम्पर्क में कभी आ भी पाए थे या नहीं। स्वामीजी विरचित 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' का प्रकाशन मई १८७७ में हुआ था, जिसका एक अध्याय विमान विद्या से सम्बन्धित है। विमान बनाने से पूर्व श्री तळपदे के हाथों तक महर्षि की यह कृति पहुँच चुकी थी। श्री तळपदे ने जब १८९५ में[६] विमान का प्रदर्शन किया था तब उनकी आयु केवल ३१ वर्ष की थी।

स्वामीजी द्वारा लिखे गए ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'नौ–विमानादि प्रकरण' के सन्दर्भ में "बहुत से लोगों का यह कहना है कि दयानन्द सरस्वती ने पाश्चात्य वैज्ञानिक उन्नति को देखकर वेद से भी उन्हीं बातों को दिखाने का प्रयत्न किया है," पर महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिर मीमांसक के कथनानुसार—"वस्तुत: यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पाश्चात्य देशों में सन् १९०१ में विमान की प्रथम उड़ान हुई थी, परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् १८७६ में यह पुस्तक लिखी थी। स्वामीजी ने जो कुछ लिखा है, वह भारतीय वाङ्मय के आधार पर ही लिखा है। रामायण, महाभारत और अन्य संस्कृत ग्रन्थों[७] में विमान का वर्णन भरा पड़ा है। राजा भोज के समरांगण–सूत्रधार ग्रन्थ (११वीं शती) में विमान बनाने का संक्षेप में वर्णन मिलता है।"

जैसी आपत्ति महर्षि दयानन्द की विमान विद्या के प्रकरण के विषय में उठायी गई है, वैसे ही या उससे मिलती–जुलती आपत्ति तळपदे द्वारा प्रस्तुत प्राचीन विमान कला के सन्दर्भ में लोगों द्वारा उठायी जा सकती है। वे यह भी कह सकते हैं कि—'उनका विमान विद्या विषयक ज्ञान तो विदेशियों के ही माध्यम से अपने तक पहुँचा

है।' पर उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि विमान आविष्कारक के रूप में राईट बन्धुओं के सुप्रसिद्ध होने से भी पाँच वर्ष पूर्व न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे और वडोदरा नरेश सयाजीराव गायकवाड की उपस्थिति में श्री तळपदे ने पूर्ण स्वदेशी उपकरणों के आधार पर मुम्बई में विमानोड्डान का सफल प्रदर्शन किया था।

आर्यसमाज और शिवकर बापूजी तळपदे के अन्तःसम्बन्धों को स्पष्ट रूप से जानने के लिए १८८५ में स्थापित 'शामराव कृष्ण आणि मण्डली' और सन् १८८६ में स्थापित 'वेद धर्म प्रचारिणी सभा' नामक दो संस्थाओं का इतिवृत्त जान लेना जरूरी है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि श्री शिवकर बापू तळपदे, महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज की विचारधारा से केवल एकरूप ही नहीं थे, अपितु वे आर्यसमाजमय हो गये थे। दयानन्द सरस्वती के तो वे अप्रतिम परमभक्त थे। उनके द्वारा सम्पादित 'आर्यधर्म' मराठी मासिक के अंक भी इस तथ्य के साक्षी हैं।

शामराव कृष्ण आणि मण्डळी और तळपदे

डॉ० भवानीलाल भारतीय के अनुसार सन् १८८५ में मुम्बई में 'शामराव कृष्ण आणि मण्डळी' नामी एक संस्था स्थापित हुई, जिसने स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के मराठी अनुवाद प्रकाशित करने की योजना बनाई थी[९]। हमारा यह अनुमान है कि इसी संस्था के माध्यम से श्री तळपदे महर्षि दयानन्द के साहित्य और उनकी वेदोक्त विचारधारा से सुपरिचित हुए होंगे।

'शामराव कृष्ण आणि मण्डली' ने मार्च सन् १९०४ से 'आर्यधर्म' नामक मासिक भी शुरू किया था, जिसमें क्रमशः 'सत्यार्थप्रकाश' और 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' का श्रीपाद दामोदर सातवलेकर[१०] कृत मराठी अनुवाद प्रकाशित हुआ था। सर्वप्रथम वडोदरा नरेश सयाजीराव गायकवाड ने ही स्वामी नित्यानन्दजी से सत्यार्थप्रकाश का मराठी अनुवाद करवाने की हार्दिक अभिलाषा व्यक्त की थी। श्री सातवलेकर कृत मराठी अनुवाद श्री सयाजीराव गायकवाड को बहुत ही पसंद आया। और तदर्थ इस अनुवाद को उन्होंने पुरस्कृत भी किया[११]। महाराष्ट्र आर्य प्रतिनिधि सभा के सर्वप्रथम मन्त्री और अनुसंधित्सु पं० धर्मवीरजी (जिनकी जन्मभूमि हरियाणा और कर्मभूमि

पुणे-मुम्बई है) के अनुसार सत्यार्थप्रकाश के प्रकाशन हेतु श्री गायकवाड ने आर्थिक अनुदान भी प्रदान किया था। डॉ० भवानीलाल भारतीय के अनुसार इसी सातवलेकर कृत मराठी अनुवाद का संशोधन श्री शिवकर बापू तळपदेजी ने किया था[१२]।

श्री तळपदे द्वारा सत्यार्थप्रकाश के संशोधन किए जाने की बात हमें बिल्कुल ठीक लगती है, क्योंकि क्रमशः सर्वप्रथम सत्यार्थप्रकाश का मराठी अनुवाद 'आर्यधर्म' मराठी मासिक में प्रकाशित हुआ था और इस मासिक के सम्पादक श्री शिवकर बापू तळपदे ही थे, अतः उन्होंने सम्भव है भाषा-शैली की दृष्टि से प्रकाशन से पूर्व मराठी सत्यार्थप्रकाश का संशोधन किया हो।

सत्यार्थप्रकाश के संशोधन वाली बात इसलिए भी ठीक लगती है कि श्री तळपदे और श्री सातवलेकर दोनों का सम्बन्ध 'सर जमशेट जिजीभाई स्कूल ऑफ आर्ट्स' से आया था। तळपदे इस चित्रशाला के शिक्षक थे, तो सातवलेकर ने इसी चित्रशाला में सन् १८९० ई० में एक विद्यार्थी के रूप में प्रवेश किया था[१३]। श्री तळपदे ने विमान का प्रारम्भिक ढांचा भी सबसे पहले इसी स्कूल में बनाकर बताया था। तळपदे और सातवलेकर दोनों भी अपने-अपने समय में आर्टिस्ट, फोटोग्राफर और वेदविद्या विशारद के रूप में सुप्रसिद्ध थे। एक ही स्कूल में तथा समानशील होने के कारण यहीं पर दोनों की निश्चित रूप से प्रगाढ मैत्री हुई होगी। आयु की दृष्टि से श्री तळपदे, सातवलेकरजी से केवल तीन वर्ष बड़े थे। 'आर्यधर्म' प्रकाशनकाल में सातवलेकर हैदराबाद में थे तो तळपदे मुम्बई में[१४]। अतः श्री तळपदे ने सत्यार्थप्रकाश का संशोधन किया यह तथ्य पूर्णतया विश्वसनीय प्रतीत होता है। इस लेख के लेखक को तळपदे द्वारा सम्पादित 'आर्यधर्म' मराठी मासिक की मार्च १९०४ से जनवरी १९०९ तक की फाइलें देखने का सौभाग्य मिला है। जिनसे यह स्पष्ट होता है कि 'शामराव आणि कृष्ण मण्डली' का कार्यालय मुम्बई के 'ठाकुर द्वार' क्षेत्र में था। इस मण्डली ने चारों वेदों की मूल संहिता, चारों वेदों की अनुक्रमणिका, सम्पूर्ण शतपथ ब्राह्मण, 'दशोपनिषद', 'निघण्टु', 'निरुक्त', 'अष्टाध्यायी', 'धातुपाठ', 'शतशब्द रत्नमाला' (ईश्वर के सौ नामों की मराठी में कविताबद्ध

व्याख्या), 'देशाटन' (स्वामी नित्यानन्दजी के व्याख्यान) और 'अठारह पुराण किसने लिखे?' (अठरा पुराणे कोणी लिहिली?) इत्यादि पुस्तकें प्रकाशित की थीं[१५]।

डॉ० भारतीय के अनुसार 'शामराव कृष्ण आणि मण्डळी' ने 'आर्याभिविनय', 'संस्कारविधि' तथा 'गोकरुणानिधि' भी मराठी में प्रकाशित की थी[१६]। इस मण्डली के कार्यालय में गुरुकुल कांगड़ी द्वारा प्रकाशित पुस्तकें भी ग्राहकों की सुविधा की दृष्टि से उपलब्ध रहती थीं।

वेद-धर्म-प्रचारिणी सभा और तळपदे

आर्यसमाज और तळपदे के अभिन्न सम्बन्धों को स्पष्ट रूप से जानने के लिए वेद धर्म प्रचारिणी सभा का परिचय भी जान लेना जरूरी है, क्योंकि वे मुम्बई की 'वेद-धर्म प्रचारिणी सभा' के अभिन्न अंग थे। पं० इन्द्रविद्यावाचस्पति के अनुसार 'सन् १८८६ के नवम्बर मास में जब मुम्बई आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना हुई थी, तभी मुम्बई के कुछ उत्साही नवयुवकों ने आर्यसमाज के समानान्तर एक 'वेद-धर्म प्रचारिणी सभा' नाम की संस्था स्थापित की। इस सभा के उपदेशक पं० भीमसेनजी शर्मा के शिष्य पं० बालकृष्णजी शर्मा थे। कालांतर (सन् १९०१) में यह संस्था पुनः आर्यसमाज में विलीन हो गई[१७], पर 'आर्यधर्म' मासिक अक्तूबर १९०४ के अंक में श्री तळपदे ने जो मराठी में निवेदन छापा है, उससे यहाँ इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि सन् १९०४ में भी 'वेदधर्म प्रचारिणी सभा' गतिशील थी, वहाँ यह तथ्य भी उजागर होता है कि शिवकर बापू तळपदे महर्षि दयानन्द के परमभक्त और अनुयायी थे। वह निवेदन इस प्रकार है—

"सभी लोगों को सविनय सूचित किया जाता है कि—'वेद धर्म प्रचारिणी सभा' अपने वैदिक धर्म के प्रचार का कार्य दिनांक २५ सितम्बर १९०४ से 'कांदीवाडी' में 'मुम्बई वैभव' नामक मुद्रणालय के पास हमारे फोटोग्राफिक स्टूडियो में कर रही है।

प्रति रविवार को सायं ५ से ७ बजे तक यहाँ महर्षि-प्रणीत सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थों का पठन होता है तथा इसी विषय पर शंका समाधान भी किया जाता है। अतः सभी सद्धर्माभिलाषी लोगों से

प्रार्थना है कि वे उपरोक्त स्थान पर पधारने की कृपा करें।

इस सभा का ध्येय लोगों को सद्धर्मामृत पिलाना है। यह सभा अपने मूल संस्थापक (स्व०) गुरुवर्य पं० चिरंजीलाल[१८] वर्मा की स्मारक है। इस स्मारक को स्थायित्व प्रदान करने के लिये सतत प्रयत्नशील और संघर्षशील रहनेवाला, आप सबका नम्र सेवक'

शिवकर बापूजी तळपदे

(आर्टिस्ट फोटोग्राफर व प्राचीन विमान विद्या संशोधक)''

'आर्यधर्म' मराठी मासिक और तळपदे

'आर्यधर्म' मराठी मासिक में प्रकाशित कुछ और विज्ञापन तथा निवेदन हम यहाँ दे रहे हैं, जिनसे यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि 'आर्यधर्म' के सम्पादक श्री शिवकर बापू तळपदे महर्षि दयानन्द के अनन्य भक्त और आस्थावान् वेदमतानुयायी आर्यसमाजी थे।

'ऋग्वेद' व 'यजुर्वेद' के मराठी भाषान्तर के सन्दर्भ में 'आर्यधर्म' जनवरी १९०९ के अंक में निम्नांकित विज्ञापन श्री तळपदेजी ने दिया है—

हम 'आर्यधर्म' मासिक के द्वारा महाराष्ट्रीय पाठकों को वैदिक धर्म स्वरूप (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका) का परिचय देते आ रहे हैं। 'वैदिक धर्म स्वरूप' इस पुस्तक में चारों ही वेदों के मुख्य-मुख्य विषयों से पाठकों को परिचित कराया ही है। अब यदि कम से कम दो हजार ग्राहक बने तो 'ऋग्वेद' व 'यजुर्वेद' का भाषान्तर—मन्त्र, पदपाठ, अन्वय, मराठी भाषान्तर, अकारादि क्रम से पद का अर्थ, भावार्थ सहित प्रतिमास 'ऋग्वेद' के १६ पृष्ठ और 'यजुर्वेद' के ८ पृष्ठ प्रकाशित करने का विचार है। अग्रिम वार्षिक शुल्क १.५० रुपया है। भाषान्तर का नमूना इसी अंक में दिया गया है। यदि किसी को पृथक् रूप से चाहिए तो एक आने की डाक टिकट भेजें, जिससे उन्हें भाषान्तर नमूने के आठ पृष्ठ भेजे जा सकें।

(निवेदक)

शिवकर बापूजी तळपदे

आर्यधर्म मासिक : पुस्तक कार्यालय,

ठाकुर द्वार के पास, मुम्बई

उपरोक्त अंक में ही 'आर्यधर्म पुस्तकमाला' के सातवें पुष्प के रूप में प्रकाशित 'गृहस्थाश्रम' पुस्तक का भी विज्ञापन है। पुस्तक की पृष्ठ संख्या ११७ और मूल्य डाक व्यय के अतिरिक्त सात आने है। 'आर्यधर्म' जुलाई १९०५ के अंक में ७० पृष्ठ और चार आने की 'ब्रह्मचर्य' पुस्तिका का विज्ञापन है। इसी अंक में वैदिक धर्म स्वरूप (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका) का विज्ञापन देते हुए लिखा है— *'वेदों के विषय में विदेशियों की क्षुद्र कल्पनाओं का यह ग्रन्थ प्रत्युत्तर है'* तथा *'वैदिक धर्म की शिक्षा देनेवाला यह एक शिक्षक ही है'*। इसकी पृष्ठ संख्या २७५ और मूल्य केवल एक रुपया है। 'आर्यधर्म' जनवरी १९०९ के अंक में एक 'वेद विद्या प्रचारिणी संस्कृत पाठशाला' का विज्ञापन है जिस में कहा गया है कि— *'इस पाठशाला में विद्यार्थी चार वर्ष में 'अष्टाध्यायी', 'महाभाष्य' को पूर्ण कर वेदविद्या के मर्म को समझने का अधिकारी हो जायेगा*। इसी अंक में एक अन्य विज्ञापन में यह घोषणा की गई है कि 'वेद विद्या प्रचारिणी संस्कृत पाठशाला' में पढ़नेवाले छात्र यदि पहले वर्ष में उत्तीर्ण या प्रथम श्रेणी में आयेंगे तो उन्हें क्रमश: १० और १५ रुपये पारितोषिक के रूप में दिए जायेंगे।'

'आर्यधर्म' के जनवरी १९०९ के अंक में शिवकर बापू तळपदे की 'प्राचीन विमान कला' नामक ग्रन्थ का विज्ञापन है। जिससे इस ऐतिहासिक और महत्वपूर्ण पुस्तक के यत्किंचित् स्वरूप का आभास मिलता है। विज्ञापन निम्न प्रकार है—

प्राचीन विमान कला

परम पवित्र 'वेद', 'वैशेषिक दर्शन', 'रामायण', सृष्टि निर्मित पक्षीरूपी विमान[१९] व निरालंब परमधाम पहुँचाने वाला मनुष्य शरीररूपी विमान—इन पाँच साधनों द्वारा प्राचीन विमान कला के तत्त्वों के सन्दर्भ में मैं दस वर्षों से खोज कर रहा हूँ। इस प्रयत्न में अनेक सूक्ष्म सृष्टि तत्त्वों की खोज हुई है। इन उपलब्ध हुई सभी उपयुक्त बातों को सिद्ध कर और प्रायोगिक रूप से मेरे देशबन्धुओं के सामने प्रदर्शित कर उन्हें अपने पूर्वजों के कला-कौशल विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान की जानकारी देने के लिए मैं यह प्रयत्न कर रहा हूँ, पर इसे सिद्ध कर प्रदर्शित करने के लिए बड़े पैमाने पर धन की आवश्यकता

है, इसलिए कम से कम दस हजार रुपये तो प्रारम्भिक रूप में इस काम के लिये हमारे पास होना आवश्यक है। इन सूक्ष्म तत्त्वों का निरीक्षण-परीक्षण करने के लिए प्रयोगशाला की आवश्यकता है। इसके बिना प्रयोगों की शुरूआत ही सम्भव नहीं है। ऐसे काम या तो राज्याश्रय से या नव-नवीन अनुसंधान करने के लिए ही स्थापित लोकसंस्थाओं की ओर से होने चाहिएँ, परन्तु सम्प्रति, इस प्रकार के सहयोग मिल पाने की कोई आशा और सम्भावना नहीं है। यह देखकर फिर यह विचार किया है कि यथासम्भव स्वयं अपने आप ही कुछ करके देखा जाए। इसलिए मैंने 'प्राचीन विमान कला' के सन्दर्भ में अब तक जो संशोधन किया है, उसे पुस्तक रूप में जनता के सामने रखने का निश्चय किया है। इस प्रकार प्रस्तुत संकल्पित शोध-प्रयोग को और अधिक विकसित करने के लिए जो लगनेवाली राशि है उसे प्राप्त करने का विचार है। इसी ध्येय से प्रेरित होकर यह कार्य प्रारम्भ किया है। पूर्वजों के कला-कौशल्यादि को स्मरण कर मैं जो अपना यह कर्त्तव्यकर्म कर रहा हूँ, उसे अब पूर्ण करना मेरे देशबन्धुओं का कर्त्तव्य है। इसीलिए यह अनुरोध है कि वे इस पुस्तक के अधिकाधिक ग्राहक बनायें।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राच्य विमान विद्या संशोधक श्री शिवकर बापू तळपदे वेदमतानुयायी और आर्यसमाजी थे। हम उन्हें प्रयोगधर्मी तथा अपूर्व निर्माणक्षम प्रज्ञावाला प्रतिभावान वैज्ञानिक-वैदिक विद्वान् कह सकते हैं।

सन्दर्भ

१. अर्वाचीन भारतीय वैज्ञनिक, प्रा० भालबा केळकर, पृष्ठ- १२।

२. अर्वाचीन भारतीय वैज्ञानिक, भाग २, प्रा० भालबा केळकर, पृष्ठ-१३।

३. जोशीजी के अनुसार ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १९०वें मन्त्र पर महर्षि भारद्वाज ने जो टीका की है, उसके आधार पर श्री तळपदे ने यह विमान बनाया था। द्रष्टव्य—विज्ञान कथा (मरुत्सखाचे उड्डाण), पृष्ठ-३२।

४. अर्वाचीन भारतीय वैज्ञानिक, पृष्ठ १०।

५. प्रा० भालबा केळकर ने विमान विषय से सम्बन्धित ऋग्वेद

के जिन चार मन्त्रों की ओर संकेत किया है, उनके सन्दर्भ निम्न प्रकार हैं—

क्रम	मण्डल	सूक्त	मन्त्र	क्रम	मण्डल	सूक्त	मन्त्र
एक	१	१६५	२	दो	५	५३	३
तीन	५	५४	४	चार	८	७	३५

द्रष्टव्य—अर्वाचीन भारतीय वैज्ञानिक, पृष्ठ ११ / ६. तत्रैव, पृष्ठ-७।

७. आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री ने अपने 'शिक्षण तरंगिणी' नामक ग्रन्थ में विमान विद्या विषयक १७ सन्दर्भ ग्रन्थों का उल्लेख किया है जो कि निम्न प्रकार हैं—१. ऋग्वेद (मण्डल १, सूक्त ११८, मन्त्र १, २/४०/३, ३/४/३६, ६/५८/३), २. रामायण (पुष्पक विमान), ३. अभिज्ञान शाकुंतल (मन्त्री, दुष्यन्त को उत्तर दे रहा है कि—सम्प्रति हम परिवह वायुपथ के मार्ग में है। वायु के सप्त स्कन्ध या मार्ग हैं जिनका परिज्ञान विमान चालक के लिए आवश्यक है), ४. यन्त्र सर्वस्व (महर्षि भारद्वाज प्रणीत इस ग्रन्थ का वैमानिक प्रकरण बडोदरा के राजकीय पुस्तकालय में है), ५. शक्तिसूत्र (अगस्त्य कृत), ६. सौदामिनी ('ईश्वर' विरचित), ७-८ अंशुमत्तन्त्र व आकाश शास्त्र (भारद्वाज), ९. वायुतत्त्व प्रकरण (शाकटायन), १०-११, 'वैश्वानर तन्त्र' व 'धूम प्रकरण' (नारद), १२. विमान चन्द्रिका (नारायण), १३. व्योमयान तन्त्र (शौनक), १४. यन्त्रकल्प (गर्ग), १५. यानबिन्दु (वाचस्पति), १६. खेटयान प्रदीपिका (चाक्रायणि), १७. व्योमयानार्क प्रकाश (ढुण्ढिनाथ)। विमान विज्ञान विषयक प्राचीन भारतीय वाङ्मय की विशेष जानकारी के लिए जिज्ञासु पाठक आचार्य जी लिखित 'शिक्षण तरंगिणी' का १८वाँ प्रकरण पढ़ें।

८. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, नौविमानादिविद्या विषय, चौथी पादटिप्पणी, पृष्ठ-२२५-२२६।

९. आर्यसमाज का इतिहास, ५वाँ भाग, पृष्ठ-६१।

१०. यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रीपाद दामोदर सातवलेकर तथा श्रीदास विद्यार्थी ये दो नाम दो व्यक्तियों के न होकर एक ही व्यक्ति के हैं। स्वयं अनुवादक ने अपने प्राक्कथन (भाषान्तरकर्त्यांचे दोन शब्द) के अन्त में 'श्रीदास विद्यार्थी' यह

नाम अंकित किया है। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के आद्याक्षरों के ग्रहण करने से ही श्रीदास यह संक्षिप्त रूप बनता है। पराधीनता के काल में जब अपने पास कोई सर्वसम्मत राष्ट्रगीत नहीं था, तब वेदों के आधार पर 'वैदिक राष्ट्रगीत' जैसी रचनायें प्रस्तुत करनेवाले सातवलेकरजी ने, सम्भव है तत्कालीन किसी विशिष्ट परिस्थिति के कारण 'श्रीदास विद्यार्थी' यह उपनाम या गुप्त नाम धारण किया होगा (द्रष्टव्य, आर्यधर्म, मराठी मासिक, सितम्बर १९०७, पृष्ठ ३ और ६)।

११. आर्यसमाज का इतिहास, ४ था भाग, पृष्ठ ५२१।

१२. आर्यसमाज का इतिहास, ५वाँ भाग, पृष्ठ ६१।

१३. आर्यसमाज का इतिहास, ४ था भाग, पृष्ठ ५२०।

१४. तत्रैव, ४ था भाग, पृष्ठ ५२१।

१५. आर्यधर्म, अक्तूबर १९०४ के अंक में इन पुस्तकों के ऊपर 'बेचने के लिये तैयार' (विक्रीस तैयार) शीर्षक से निम्नांकित अपील की गई है—

''*क्या बाइबिल और कुरान जिसके संग्रह में नहीं ऐसा एक भी ईसाई और मुहंमदानुयायी है? ऐसी स्थिति में ज्ञान के सर्वोच्च शिखर पर आसीन कराने वाले वेद (परमात्मा द्वारा ज्ञान के माध्यम से पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये दिए गए धर्म-ग्रन्थ) हम आर्यों के संग्रह में न हों, यह कितनी लज्जास्पद बात है।*''

१६. आर्यसमाज का इतिहास, ५वाँ भाग, पृष्ठ ४८१।

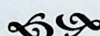
१७. आर्यसमाज का इतिहास, द्वितीय भाग, पृष्ठ ९०।

१८. श्री चिरंजीलाल के विस्तृत परिचय हेतु देखें—डॉ० भवानीलाल भारतीय विरचित, 'आर्य लेखक कोश', पृष्ठ ७३। स्वामी श्रद्धानन्दजी लिखित आत्मकथा 'कल्याण मार्ग का पथिक' के 'धर्मप्रचार की धुन' प्रकरण में श्री चिरंजीवलाल का एक रोचक संस्मरण है। प्रा० राजेन्द्रजी जिज्ञासु ने श्री चिरंजीलाल का सर्वप्रथम जीवन चरित्र लिखने का श्रेय प्राप्त किया है।

१९. आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री के अनुसार—'भारतीय विमानज्ञ आचार्यों ने विमान की रचना का ज्ञान पक्षियों को देखकर प्राप्त किया था। पक्षियों के वेग और आकार की समता के आधार पर विमान की रचना एतद्विषयक सभी भारतीय ग्रन्थों में समान है। 'समरांगण

सूत्रधार' ग्रन्थ में भी विमान की रचना 'दारुमय पक्षी' की रचना के रूप में कही गयी है, तदनुसार—दृढ़ काष्ठ का पक्षी बनाना चाहिए, उसके मध्य में अग्निस्थापन का घट बनाना चाहिए। घट में पारे और अग्नि का संयोग किए जाने पर पारद की शक्ति से विमान, इन्द्र के भवन के समान, आकाश में गरजता हुआ दौड़ेगा। प्राचीनकाल में विमान पारे से चलाए जाते थे, क्योंकि तत्कालीन ग्रन्थों में पैट्रोल से विमान चलाने का वर्णन नहीं मिलता। यदि पारे से विमान चलाने का पुनः प्रयास किया जाए तो पेट्रोल के आसन्न और भावी संकट से बचना सम्भव हो सकेगा।

—१. महाराष्ट्र मानस : महाराष्ट्र शासन का शासकीय मासिक-हिन्दी-मुखपत्र : १६ दिसंबर १९९१ तथा-आर्यसमाज : कल और आज : आर्यसमाज खण्डवा-स्थापना शताब्दी स्मारिका : १८८१-१९८१ : संपादक-इंजीनियर आदित्यपालसिंह आर्य : लोकार्पण १२ फरवरी १९९२ से साभार।



चतुर्थ अध्याय

महर्षि दयानन्द और महाराष्ट्र

(१)

मुम्बई आर्यसमाज के प्रारम्भिक सदस्य और वेदभाष्य ग्राहक

(१) क्रमांक	(२) नाम	(३) शिक्षा	(४) जाति	(५) वेदभाष्य ग्राहक संख्या	(६) व्यवसाय	(७) पता
१.	अक्षयकुमार मित्र	साधारण ज्ञान	बंगाली	३१८	हीरे का काम करने वाला	घर नं०-५९, कालिका देवी की सड़क, मुम्बई
२.	अण्णा मोरेश्वर कुंटे	एम० डी०	ब्राह्मण	३४४	डॉक्टर	१. घर नं०-३४, कांदावाड़ी, मुम्बई २. गिरगाँव, बैंक रोड, मुम्बई
३.	अण्णा मार्तण्ड जोशी	–	ब्राह्मण	३४२	गवर्नमेंट सेंट्रल प्रेस में कर्मचारी	घर नं०-१४४, अग्यारी गली, मुम्बई
४.	आत्माराम बापू दळवी	अंग्रेजी	प्रभु	३३४	व्यापारी	घर नं०-३९, लोहारचाली, कांदेवाड़ी, मुंबई
५.	आत्माराम कुंवरजी	साधारण ज्ञान	खत्री	३६५	—	घर नं०-७९, जगजीवन की गली, मुंबई
६.	ईशजी हरिजी	साधारण ज्ञान	खत्री	—	—	—
७.	ईश्वरलाल अमृतलाल	साधारण ज्ञान	ब्राह्मण	—	अध्यापक	—
८.	कल्याणजी नारायणजी	संस्कृत तथा अंग्रेजी	ब्राह्मण	३२७	ग्रीव काटन एंड कंपनी में कर्मचारी	घर नं-६, भोईवाडा गली, मुंबई —

९. कानजी भगवान	विद्यार्थी	सोनी	—
एलफिन्स्टन हाईस्कूल	—		
१०. किसनदास बाबा	हिन्दी	उदासी	३५१
व्यापारी	घर नं०-१८४, बांगड़ी बाजार गली, मुंबई		
११. केशव मोरेश्वर वीरकर	विद्यार्थी	ब्राह्मण	—
एलफिन्स्टन कॉलेज मैट्रीकुलेट	—		
१२. केशवलाल निर्भयराम	मैट्रीकुलेट	बनिया	३३७
जाफरसन पैन-वकीलों के दफ्तर में कर्मचारी	घर नं०-९६, कालिका देवी की सड़क रामवाडी, मुंबई		
१३. कृष्णराम गणपतराम	मैट्रीकुलेट	ब्राह्मण	३०५
विद्यार्थी	घर नं०-३९, भोईवाडा, मुंबई		
१४. खीमजी डूंगरशी	साधारण ज्ञान	भाटिया	—
व्यापारी	—		
१५. खोडीदास नेमीदास	मैट्रीकुलेट	बनिया	—
व्यापारी	—		
१६. गणेश श्रीकृष्ण खापर्डे	कॉलेज-संस्कृत	ब्राह्मण	४२०
विद्यार्थी	घर नं०-५, चिंचपुगवी सड़क, मुंबई		
१७. गिरधरलाल दयालदास कोठारी	बी०ए०, एल-एल०बी०	बनिया	—
प्लीडर	—		
१८. गुलाबचन्द मोतीचन्द	मैट्रिक	बनिया	—
विद्यार्थी	—		
१९. गोवर्धनदास मूलजी	निजी शिक्षा	भाटिया	३०३
दलाल	घर नं०-४२, कोर्ट होर्नबे सड़क, मुंबई		
२०. गोविन्द वासुदेव [कानिटकर]	एलफिन्स्टन कॉलेज मैट्रीकुलेट	ब्राह्मण	३९५
विद्यार्थी	घर नं०-२, मंगलवाड़ी, मुंबई		
२१. चतुर्भुज पीताम्बर	निजी शिक्षा	भाटिया	—
दलाल	—		
२२. चुन्नीलाल माणिकलाल	-	बनिया	३२०
—	घर नं०-५५-३, भोईवाड़ा गली, मुंबई		
२३. छोगालाल लखमीचन्द	संस्कृत	ब्राह्मण	—
—	—		

२४. जदुनाथदास हीरे का काम	साधारण ज्ञान —	बंगाली	—
२५. जयशंकर दयाराम हीरे का काम	साधारण ज्ञान —	ब्राह्मण	—
२६. जीवनदयाल दलाल	अंग्रेजी घर नं०-६१, नल बाजार गली, मुंबई	लुवांणा	३४८
२७. झवेरीलाल घेलाभाई ट्रांसलेटर हाईकोर्ट	मैट्रीकुलेट —	बनिया	—
२८. ठाकरसी नारायणजी पेली कंपनी का छोटा दलाल	निजी शिक्षा घर नं०-५३, कालिका देवी सड़क, मुंबई	भाटिया	३८४
२९. तुलजाराम चुन्नीलाल एलफिन्स्टन हाईस्कूल	विद्यार्थी घर नं०-१, भोईवाड़ा महाराज की गली, मुंबई	बनिया	३३८
३०. त्रिभुवनदास भोलाभाई व्यापारी	निजी शिक्षा घर नं०-१०५, बांगड़ी बाजार गली, मुंबई	लुवांणा	३१४
३१. पं० दयानन्द सरस्वती **संन्यासी**	**संस्कृत तथा** **वैदिक संस्कृत** **वालुकेश्वर के समीप, ठाकुर श्री नारायणजी के नाम, मुंबई। [ऋषि दयानंद सरस्वती के पत्र और विज्ञापन-प्रथम भाग (संपादक-पं० भगवद्दत्त बी० ए०, संस्करण-नवंबर १९८०, पृष्ठ-५० पर आधारित पता]**	**ब्राह्मण**	**—**
३२. दलपतराम भोपालदास विद्यार्थी	एलफिन्स्टन हाईस्कूल —	ब्राह्मण	—
३३. दामोदर रूपजी दलाल	निजी शिक्षा १. घर नं०-६१, नल बाजार गली, मुंबई २. घर नं०-५१, मोदीखाना, गल्लीकोट, मुंबई	भाटिया	३४७
३४. देवदत्त धनेश्वर विद्यार्थी	साधारण ज्ञान —	ब्राह्मण	—
३५. द्वारकादास लल्लूभाई दलाल	निजी अभ्यास —	भणशाली	—
३६. दुर्गाशंकर भगवानदास शास्त्री	संस्कृत —	ब्राह्मण	—
३७. धनवन्त त्रिभुवनराम एलफिन्स्टन कॉलेज	मैट्रीकुलेट —	ब्राह्मण	—
३८. धरमशी आनन्दजी दलाल	निजी शिक्षा —	बनिया	—

३९. धरमसी पुरुषोत्तम दलाल	निजी शिक्षा —	भाटिया	—
४०. नथू त्रीकमजी रिपोर्टर	अंग्रेजी —	भाटिया	—
४१. नारायण बापू नौकरी	— —	भाटिया	—
४२. नारायण रामचन्द्र कामत क्लर्क	अंग्रेजी घर नं०-४२, वालुकेश्वर, मुंबई	ब्राह्मण	३०७
४३. नारुशंकर केशवराम एलफिन्स्टन कॉलेज	मैट्रीकुलेट —	ब्राह्मण	—
४४. परमानन्ददास जगन्नाथ व्यापारी	निजी शिक्षा —	भणशाली	—
४५. पुरुषोत्तम भगवानदास मुनीम	निजी शिक्षा —	भणशाली	—
४६. पानाचन्द आनन्दजी [पारिख] व्यापारी	अंग्रेजी १. घर नं०-५६, गोदीखाना गली, मुंबई २. घर नं०-६१, मोदीखाना गली, मुंबई	बनिया	३४६
४७. पार्वतीशंकर जीवनराम विद्यार्थी	अंग्रेजी —	ब्राह्मण	—
४८. प्राणजीवनदास कहानदास अध्यापक	अंग्रेजी घर नं०-१, धोडीजी की चाली, मुंबादेवी के पास, पायधोणी पर, मुंबई	बनिया	३४५
४९. प्राणजीवनदास वाघजी व्यापारी	निजी शिक्षा —	बनिया	—
५०. प्रेमजी गोकुलदास क्लर्क	साधारण ज्ञान —	ब्राह्मण	—
५१. प्रेमजी रंगनाथ दलाल	निजी शिक्षा —	ब्राह्मण	—
५२. पुरुषोत्तम नारायणजी दलाल	मैट्रीकुलेट घर नं०-११, गोकुलदास तेजपाल चेरटी फंड, सेक्रेटरी, ऑफिस कोट, मुंबई	भाटिया	२४९
५३. पोचसिंह चौबे व्यापारी	साधारण ज्ञान —	चौबे	—

५४. बालकृष्ण हानाभाई	अंग्रेजी	—	—
—	—		
५५. बालकृष्ण दामोदर	—	—	४१६
—	घर नं०-१६, पुरानी सोनापुर गली, मुंबई		
५६. भास्कर गोविन्द नाडकर्णी	—	ब्राह्मण	—
अधिपति	—		
५७. मनसाशंकर जयशंकर	साधारण ज्ञान	ब्राह्मण	३६४
अध्यापक	ग्रांट रोड, स्टेशन लगेज क्लर्क-ठांड्डी, मुंबई		
५८. माणिकलाल घनश्यामदास	साधारण ज्ञान	बनिया	३५६
जौहरी	घर नं०-१५१, भोलेश्वर गली, मुंबई		
५९. माधव त्र्यंबक	साधारण ज्ञान	बनिया	—
—	—		
६०. मूलजी ठाकरशी	अंग्रेजी	भाटिया	३५०
व्यापारी	घर नं०-४४, लॉर्ड नार्थ ब्रुक गार्डन, कमाठीपुरा, मुंबई		
६१. मूलचन्द ब्रजवल्लभदास	—	बनिया	३६६
व्यापारी	घर नं०-३१, सुतार चाल, गली, मुंबई		
६२. मोतीराम कल्याणजी	निजी शिक्षा	ब्राह्मण	—
दलाल	—		
६३. मोतीलाल हिम्मतराम पुरोहित	साधारण ज्ञान	ब्राह्मण	—
क्लर्क बम्बई बैंक	घर नं०-३५, मुंबई वैंक विल-डिपार्टमेंट, मुंबई		
६४. मोरेश्वर गोपाल देशमुख	मैट्रीकुलेट	ब्राह्मण	—
विद्यार्थी ग्रांट मेडिकल कॉलेज	—		
६५. रघुनाथ गोपाल देशमुख	बी० ए०	ब्राह्मण	—
ट्रांसलेटर	—		
६६. रघुनाथ बापू दाणी	डॉक्टर	ब्राह्मण	—
नौकरी	—		
६७. रणछोडदास लालजी	साधारण ज्ञान	बनिया	—
नौकरी	—		
६८. रतनचन्द वनमालीदास	साधारण ज्ञान	बनिया	—
दलाल	—		
६९. रतनसिंह मूलजी	साधारण ज्ञान	भाटिया	४१५
दलाल	घर नं०-७३, कोट रेवागढ, बाबा हरिचकुला, मुंबई		



लीलाधर हरिदास



सुंदरदास धर्मसिंह



पं० सेवकलाल कृष्णदास



दामोदर सुंदरदास





डॉ० मोरेश्वर गोपाल देशमुख

७०. रामदास छबीलदास लल्लूभाई विद्यार्थी एलफिन्स्टन कॉलेज	मैट्रिक घर नं०-६१, कूचा-नल बाजार, गली, मुंबई	भणशाली	३२६
७१. रामनाथदेव शर्मा नौकरी	निजी शिक्षा —	बंगाली	—
७२. लक्ष्मीदास मोरारजी दलाल	निजी शिक्षा घर नं०-५९, कालिकादेवी रोड, मुंबई	भाटिया	५४५
७३. लक्ष्मीदास पुरुषोत्तमदास —	निजी शिक्षा घर नं०-४२, कोट होर्नबे सड़क, मुंबई	भाटिया	३८५
७४. लक्ष्मण नारायण प्रिंटर	संस्कृत —	ब्राह्मण	—
७५. लालजी नारायणजी मैनेजिंग क्लर्क	मैट्रिक —	लुवांणा	—
७६. लालजी वैजनाथ व्यापारी	संस्कृत घर नं०-३९, वालुकेश्वर, मुंबई	ब्राह्मण	४१७
७७. लालजी रामजी व्यापारी	— —	भाटिया	—
७८. लीलाधर हरिदास दलाल	निजी शिक्षा घर नं०-४२, कोर्ट-होर्नबे-सड़क, मुंबई	भाटिया	३०९
७९. वासुदेव बापूजी नौकरी	साधारण ज्ञान —	ब्राह्मण	—
८०. विनायक पाण्डुरंग नौकरी	अंग्रेजी —	ब्राह्मण	—
८१. विसनजी खीमजी दलाल	अंग्रेजी १. घर नं०-७१, हनुमान गली, मुंबई २. घर नं०-९, पुरानी हनुमान गली, मुंबई	भाटिया	३९७
८२. विसनजी प्रेमजी दलाल	निजी शिक्षा घर नं०-५३, मोदीखाना, मुंबई	भाटिया	—
८३. विसनजी मूलजी व्यापारी	निजी शिक्षा —	भाटिया	—
८४. श्यामजी कृष्ण वर्मा विद्यार्थी	फोर्ट हाईस्कूल —	भणशाली	—
८५. श्यामजी विश्राम दलाल	निजी शिक्षा —	ब्राह्मण	—

८६. शिवप्रसाद जानकीमल नौकरी	साधारण ज्ञान —	ब्राह्मण	—
८७. शोखीलाल झवेरीलाल व्यापारी	निजी शिक्षा —	बनिया	—
८८. सविता नारायण गणपति नारायण अध्यापक	संस्कृत —	ब्राह्मण	—
८९. सीताराम रामप्रताप —	— —	ब्राह्मण	—
९०. सुन्दरदास धरमशी दलाल	निजी शिक्षा ४२-कोर्ट, होर्नवे सड़क, मुंबई	भाटिया	३१०
९१. सुंदरदास लक्ष्मीदास दलाल	साधारण ज्ञान घर नं०-७३, मोदीखाना, मुंबई	भाटिया	३३१
९२. सेवकलाल कृष्णदास दलाल	साधारण ज्ञान १. घर नं०-६१, नल बाजार गली, मुंबई २. घर नं०-६१, जगजीवन कीटास्ट्री	भणशाली	३४३
९३. हनुमंतराम पित्ति व्यापारी	निजी शिक्षा घर नं०-९८, रामवाड़ी-सड़क, मुंबई	बनिया	४१२
९४. हरि दीक्षित तंबाकू वाला	निजी शिक्षा —	ब्राह्मण	—
९५. हंसराज नरसी दलाल	निजी शिक्षा —	भाटिया	—
९६. हीरजी पुंजा नौकरी	अंग्रेजी १. घर नं०-७३, बंबई कोर्ट, मोदीखाना, मुंबई २. मीन चौक, मुंबई	भाटिया	३७३

आर्यसमाज [मुम्बई] की व्यवस्थापक मण्डली

सम्वत् १९३२ (सन् १८७५)

[अंतरंग-सभा]

प्रधान : राजेश्री गिरधरलाल दयालदास कोठारी
उपप्रधान : राजेश्री ठाकरसी नारायणजी
मन्त्री : राजेश्री पानाचन्द आनन्दजी पारिख
उपमन्त्री : राजेश्री अण्णा मार्तण्ड जोशी

कोषाध्यक्ष : राजेश्री सेवकलाल कृष्णदास

उप कोषाध्यक्ष : राजेश्री श्यामजी विश्राम

[सभासद]

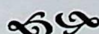
सर्व राजेश्री—[१] मूलजी ठाकरसी, [२] छबीलदास लल्लूभाई, [३] किसनदास उदासी, [४] पुरुषोत्तम नारायणजी, [५] मनसाशंकर जयशंकर दुबे, [६] हनुमंतराम पित्ती, [७] आत्माराम बापू दळवी, [८] बाबू शोखीलाल झवेरीलाल, [९] बाबू अक्षयकुमार मित्र, [१०] रघुनाथ गोपाल देशमुख।

सन्दर्भ : मुम्बई आर्यसमाजनो इतिहास (मूल गुजराती पुस्तिका) लेखक—दामोदर सुन्दरदास, पृष्ठ-३१-३६।

सहयोगी व्यक्ति एवं संस्था

१. मुम्बई आर्यसमाज के इन प्रारंभिक सदस्यों की सूची को पूर्णतया वर्णानुक्रमानुसार बनाने के लिए श्री घूडमल प्रहलाद कुमार धर्मार्थ न्यास के प्राण श्री प्रभाकरदेव जी आर्य की अनुजा गुजराती भाषाभिज्ञ श्रीमती प्रतिभा बाबूलाल मित्तल का हमें सोत्साह सहयोग प्राप्त हुआ है। २. जो सभासद् उस प्रारंभिक काल में वेदभाष्य के ग्राहक बने थे, उनकी ग्राहक संख्या और पते तत्कालीन 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका', 'ऋग्वेद भाष्यम्', 'यजुर्वेद भाष्यम्' के मासिक अंकों के आवरण पृष्ठों पर प्रकाशित थे, वहीं से उद्धृत किये गए हैं। ३. वेदभाष्य के ये दुर्लभ अंक हमें आर्यसमाज नैनीताल (कूर्माञ्चल-कुमाऊँ-उत्तराखण्ड) के प्रधान श्री कंसलजी तथा पं० रामचन्द्रजी आर्य-सोनीपत-हरियाणा के विशेष सहयोग से प्राप्त हुए हैं। ४. जो वेदभाष्य के अंक आर्यसमाज नैनीताल से प्राप्त नहीं हो पाए, वे हरियाणा पुरातत्त्व संग्रहालय-गुरुकुल झज्जर के निदेशक इतिहासानुरागी पं० श्री विरजानन्दजी की महती कृपा से प्राप्त हुए हैं। ५. एतदर्थ हम इन सबके हार्दिक आभारी हैं। ६. इस सदस्य सूची को पढ़ते समय इस बात पर भी ध्यान जाता है कि आर्यसमाज सदस्यों के नाम, जाति आदि के अपभ्रंश रूप भी प्रचलित थे। जैसे—विष्णु क्षेमजी के स्थान पर विसनजी खीमजी, सेवकलाल कृष्णदास के स्थान पर कर्सनदास और भानुशाली के स्थान पर भणशाली। ७. दामोदर सुन्दरदास लिखित—'मुम्बई आर्यसमाज नो इतिहास' की दुर्लभ प्रति हमें

आर्यसमाज काकड़वाड़ी के मन्त्री श्री राजेन्द्रनाथजी पाण्डे और उपप्रधान श्री पटेलजी विशेष कृपा से प्राप्त हुए, अतः हम उनके चिर-ऋणी एवं कृतज्ञ हैं। ८. प्रा० विपिनचन्द्र त्रिवेदी के अनुसार— आश्चर्य है कि आर्यसमाज के प्रारम्भ से ही सहयोगी-साक्षी रहने वाले मथुरादास लवजी—उपरोक्त सूची में क्यों नहीं हैं? ९६ में से ७२, अर्थात् ३/४ से अधिक सभासद् तो गुजराती थे। सभासद् सूची में कतिपय जाति-निर्देश दोष युक्त हैं, जैसे—बंगाली कोई जाति नहीं, वह तो प्रान्तीयता का सूचक है। भाटिया और भानुशाली को अलग-अलग जाति के रूप में बतलाया गया है, जब कि दोनों एक ही हैं। जिनकी जाति का उल्लेख नहीं है उनमें से ४१ और ५९ महाराष्ट्रीय हैं। ५४ और ५५ दोनों भी गुजराती ब्राह्मण या बनिया होने की संभावना है (वेदवाणी-फरवरी १९९०, पृष्ठ-३५)। ९. सदस्यता सूची में १८ के लगभग महाराष्ट्रीय हैं, जिन्होंने सहर्ष आर्यसमाज की सदस्यता ग्रहण की है। आर्यसमाज मुम्बई के ९६ सदस्यों में से वेदभाष्य के ४१ ग्राहक हैं। यह आर्यसमाज के कुल सदस्यों की ४२% हैं। इससे वर्तमान आर्यसमाज के अधिकतम सभासदों का भी 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' सहित—चारों वेदों के भाष्य अपने घरेलू ग्रन्थालय के लिए लेने की प्रेरणा लेनी चाहिए। याद रहे कि स्वयं संस्थापक होने के बावजूद, बहुत आग्रह करने पर भी महर्षि दयानन्दजी सरस्वती ने आर्यसमाज मुम्बई का केवल सामान्य सभासदत्त्व ही ग्रहण किया। व्यक्तिगत एकाधिकार वाले मठों की स्थापना करने वाले संन्यासीगण भी इससे 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' की प्रेरणा ले सकते हैं। आर्य संन्यासियों के लिए आखिर केवल स्वामी दयानन्द सरस्वती ही तो दीपस्तंभ हैं।



(२)

महाराष्ट्र में महर्षि दयानन्द

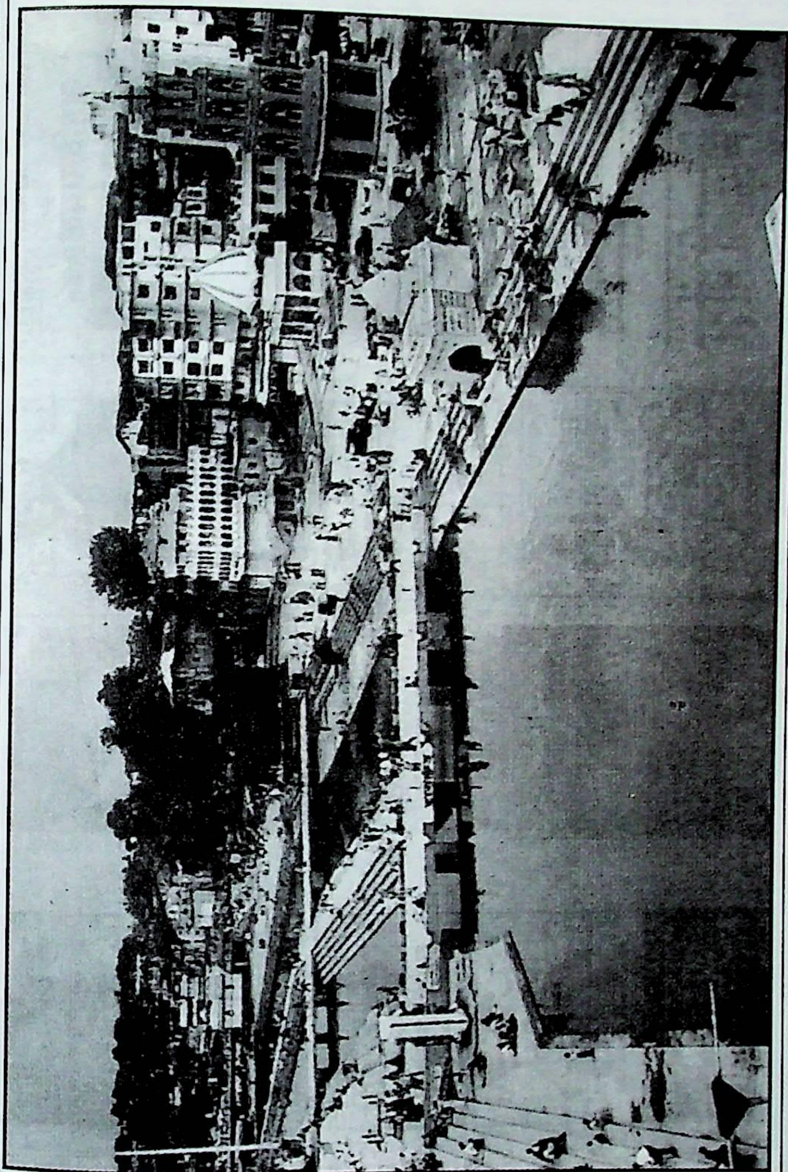
महाराष्ट्र की ही नहीं, भारतवर्ष की आर्थिक राजधानी मुम्बई में ही महर्षि ने शनिवार १० अप्रैल १८७५ को आर्यसमाज की स्थापना की थी। महाराष्ट्र की सांस्कृतिक राजधानी पुणे में भी १५ अक्टूबर १८७५ से पूर्व उनके कर कमलों से ही आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। उन्होंने छत्रपति शिवाजी महाराज की राजधानी सातारा में भी आर्यसमाज की स्थापना की भूमिका बनायी थी, लेकिन वहाँ आर्यसमाज की स्थापना नहीं हो पायी।

महर्षि का नासिक शहर से महाराष्ट्र में प्रवेश

महर्षि दयानन्दजी का महाराष्ट्र में सबसे पहले शुभागमन गोदावरी तट पर स्थित नासिक शहर में हुआ था। जबलपुर से ट्रेन में सवार होकर वे नासिक रोड स्टेशन पर पधारे थे। शुक्रवार १६ अक्टूबर १८७४ से १९ अक्टूबर १८७४ तक कुल चार दिन का अपना समय वे इस शहर को दे पाये। नासिक में उनके दो प्रवचन हुए। गोदावरी नदी के तट पर महर्षि ने अपने प्रवचन में पुरोहित दल में आई बुराइयों का ब्राह्मणों के बृहत् समूह के सामने निर्भीकता से खण्डन किया। पंचवंटी परिसर में स्थित कालाराम मन्दिर में उन्होंने प्रवचन देते हुए कहा कि 'रामचन्द्रजी के वनवास काल में पंचवटी में निवास करने के बावजूद उसे तीर्थ स्थल मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।'

महर्षि की प्रथम मुम्बई यात्रा

'नासिक रोड' स्टेशन से सवार होकर महर्षि मंगलवार २० अक्टूबर १८७४ को मुम्बई के 'भायखला' रेलवे स्टेशन पर उतरे। मुम्बई में उनके 'मूर्ति-पूजा तथा वल्लभ सम्प्रदाय', 'आर्यों का विगत इतिहास', आदि विषयों पर व्याख्यान हुए। मुम्बई की इसी प्रथम यात्रा में महर्षि के भक्तों ने आर्यसमाज स्थापित करने का आग्रह किया था और साठ महानुभावों ने आर्यसमाज का सदस्य



महर्षि ने गोदावरी के उद्गम स्थान त्र्यंबकेश्वर-नासिक से महाराष्ट्र की वेद प्रचार-यात्रा प्रारंभ की ।
देवमामलेदार स्तंभ के सामने प्रांगण में महर्षि के व्याख्यान हुए।



गोदावरी नदी के तट देवमामलेदार स्मृति स्तंभ से संलग्न प्रांगण में महर्षि के दो प्रवचन हुए ।



पंचवटी परिसर के दर्शन करने के बाद कालाराम मन्दिर के सभागृह में भी महर्षि का प्रवचन हुआ ।

बनने की स्वीकृति भी दे दी थी। पर उनके रविवार ६ दिसम्बर १८७४ को गुजरात यात्रा पर रवाना हो जाने के कारण उनकी इस प्रथम यात्रा में आर्यसमाज की स्थापना नहीं हो पाई।

महर्षि की द्वितीय मुम्बई यात्रा

गुजरात से महर्षि फिर मुम्बई लौटे। शुक्रवार २९ जनवरी १८७५ से उनकी दूसरी मुम्बई यात्रा शुरू होती है। ४ और २६ फरवरी (क्रमशः गुरुवार और शुक्रवार), १६ मार्च और १०, १७ और २४ अप्रैल तथा १२ जून (शनिवार) को उनके विभिन्न विषयों पर व्याख्यान हुए। १० मार्च १८७५ (बुधवार) को श्री खेमजी बालजी जोशी और पं० इच्छाशंकर शुक्ल के साथ व्याकरण और नियोग विषय पर उनका शास्त्रार्थ भी हुआ। इसी द्वितीय मुम्बई यात्रा में गिरगाँव रोड पर प्रार्थनासमाज मन्दिर के निकट पारसी सज्जन डॉ० माणिकजी अदेर की वाटिका में शनिवार १०-४-१८७५ को सायंकाल साढ़े पाँच बजे आर्यसमाज की स्थापना हुई। रविवार बीस जून को वे ट्रेन से पुणे की ओर रवाना हो गए।

महर्षि की प्रथम पुणे यात्रा

महर्षि की प्रथम पुणे यात्रा २० जून १८७५ से ६ सितम्बर १८७५ तक हुई। इस यात्रा में महाराष्ट्र की काशी के रूप में प्रसिद्ध विद्वद्गरी पुणे में उन्होंने कुल ७९ दिन निवास किया। इसी यात्रा में महर्षि ने बुधवार पेठ के भिड़ेवाड़े में पन्द्रह प्रवचन दिए, जो 'उपदेश मंजरी' (पुणे प्रवचन) नामक पुस्तक में संग्रहित हैं, जिसमें उन्होंने 'ईश्वर सिद्धि', 'धर्माधर्म', 'वेद', 'पुनर्जन्म', 'यज्ञ और संस्कार', 'इतिहास', 'नित्य कर्म और मोक्ष' तथा श्रोताओं के आग्रह पर अपनी 'आत्मकथा' पर विचार व्यक्त किए।

डॉ० स्वामी सत्यप्रकाशजी सरस्वती के शब्दों में *'महर्षि दयानन्द के व्याख्यानों से पूर्व किसी भी भारतीय नेता के व्याख्यानों की प्रति हमारे पास नहीं है। हमारा सौभाग्य है कि महर्षि दयानन्द के ये पन्द्रह व्याख्यान अंकित किये जा सके। ये प्रवचन मराठी साहित्य की भी अमूल्य निधि हैं, क्योंकि वह समय टेप रिकार्डर जैसी मशीनों का नहीं था।'* दयानन्द सरस्वतीजी ने उपरोक्त प्रवचनों के अतिरिक्त पुणे छावनी में ३५ प्रवचन और महात्मा फुलेजी के मोमिनपुरा स्थित

शूद्रातिशूद्रों के विद्यालय में एक तथा 'भांबुर्ड्या' गाँव (मुलामूठा नदी तट से संलग्न वर्तमान पुणे का शिवाजीनगर भाग) में एक प्रवचन दिया था। पुणे में महर्षि गुरुवार पेठ में स्थित शंकरसेठ के भवन में ठहरे थे।

महर्षि का सातारा आगमन

६ सितम्बर १८७५ को महर्षि पुणे से चलकर सातारा रोड रेलवे स्टेशन पर उतरे। उपत्यकाओं से घिरी सातारा नगरी में स्वामीजी ने ३१ दिन निवास किया। लगभग ११ वर्ष पूर्व सन् १८६४ में जब स्वामीजी ग्वालियर गए, तब स्वामीजी के वर्णोच्चारण की अशुद्धि की ओर निर्देश करने वाले हनुमंताचार्य सातारा के ही निवासी थे। उनका उपनाम गजेन्द्रगढ़कर था। स्वामीजी के इस सातारा आगमन काल में हनुमंताचार्य के वंशज वेदमूर्त्ति अनन्ताचार्य गजेन्द्रगढ़कर सातारा में ही विद्यमान थे। अनन्ताचार्यजी आदि का स्वामीजी से शास्त्रार्थ नहीं हो पाया। लगता है स्वामीजी और गजेन्द्रगढ़करजी की आपस में शास्त्र चर्चा जरूर हुई।

महर्षि की द्वितीय पुणे यात्रा

महर्षि दूसरी बार ६ अक्टूबर १८७५ से १५ अक्टूबर १८७५ तक पुणे में रहे। इसी यात्रा से पुणे में आर्यसमाज की स्थापना हुई गोपाल हरि देशमुख 'लोकहितवादी' को स्वामी दयानन्दजी ने अपने पत्र में लिखा था—'एक नवीन बात यह है कि पूना में आर्यसमाज स्थापन हो गया है।....हम सतारे से आए, तब यह निश्चित हुआ कि महादेव गोविन्द रानडे प्रधान, केशवराव गोडबोले मन्त्री, जितने प्रार्थनासमाज के सभासद थे, वे सब और अन्य बाबा गोकुले तथा काशीनाथ गाडगिल एवं गंगाराम भाऊ (म्हस्के) आदि लस्करस्थ ६० वा ७० सब सभासद हुए हैं, और अन्य भी बहुत होने वाले हैं।'

महर्षि की तीसरी मुम्बई यात्रा

पुणे से महर्षि मुम्बई लौट गये। उनकी यह तृतीय मुम्बई यात्रा १६ अक्टूबर १८७५ से शुरू होती है। ३० अक्टूबर १८७५ को वे 'नये वर्ष का प्रथम दिन' विषय पर व्याख्यान देते हैं। (स्व०) पं० युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार 'मुम्बई तथा गुजरात में नये वर्ष का प्रारम्भ चैत्र शुक्ल १ के स्थान पर कार्तिक शुक्ल १ से मानते हैं।

जनवरी मास की २६ तारीख के आस-पास वे पुनः मुम्बई से गुजरात की ओर वैदिक धर्म की प्रचार यात्रा पर निकल जाते हैं।'

महर्षि का वसई आगमन

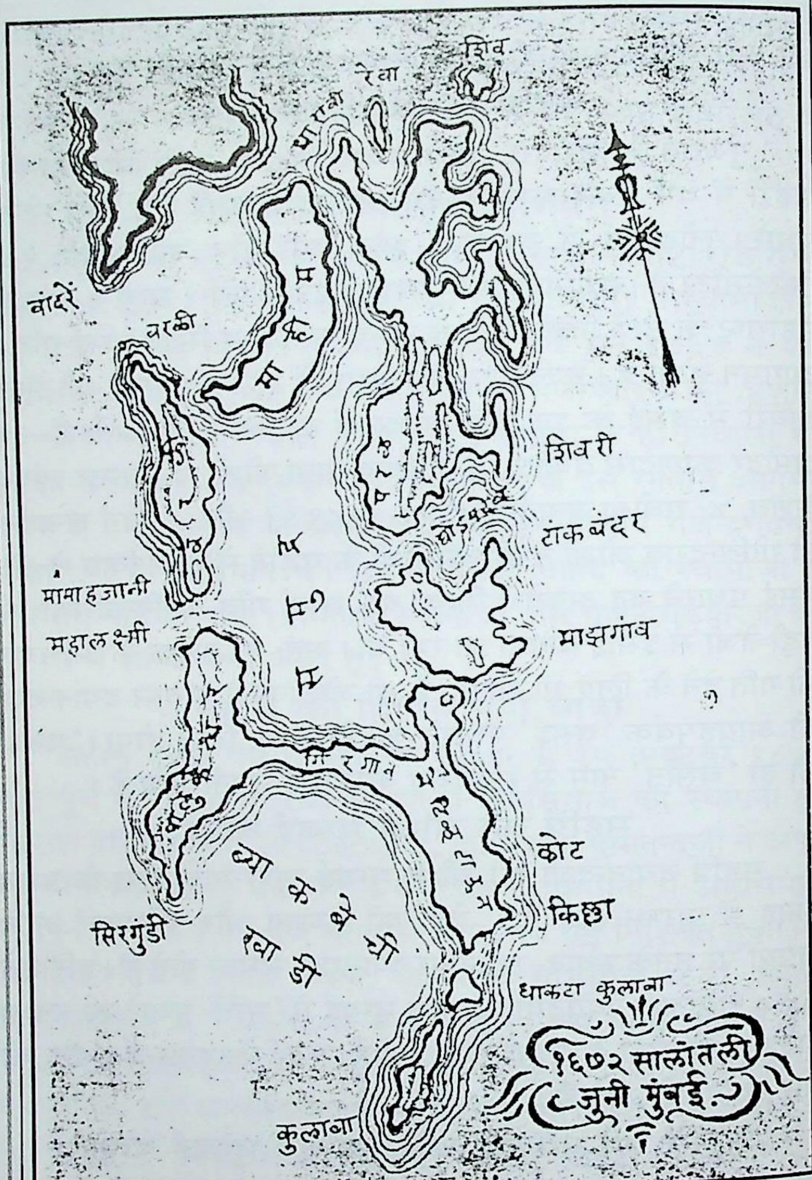
गुजरात के वडोदरा, अहमदाबाद, भड़ौच, सूरत और बलसाड़ शहरों में धर्म प्रचार करने के उपरान्त महर्षि वसई रोड रेल्वे स्टेशन पधारे। लोहमार्ग से बलसाड़ और वसई रोड का अन्तर १४७ किलोमीटर है। स्वामीजी का मुम्बई लौटने से पूर्व १ मार्च १८७६ को महाराष्ट्र के ठाणे जिले में अरब समुद्र के तट पर स्थित वसई गांव में आगमन होता है। कुल चार दिन वसई में रहे। स्वामीजी की निजी डायरी में वसई के इन पाँच व्यक्तियों के नाम नजर आते हैं—१. दामोदर कृष्णदास वकील, २. गोविन्द बाबा जोशी, ३. मास्टर त्र्यंबक केशव, ४. राघोबा जनार्दन [१८१५-१८९७] और ५. मौर्य जनार्दन। श्री गोविन्दराव जोशी ने ही स्वामीजी के बड़ौदे में दर्शन किए थे और वसई पधारने का अनुरोध किया था। वसई गाँव के निवासियों को बड़ी तेजी से ईसाई बनाया जा रहा था। अतः शुद्धिचक्र के अभियान को गति देने के लिए भी सम्भव है श्री जोशीजी ने यतिवर दयानन्दजी को आग्रहपूर्वक 'वसई' पधारने का निमन्त्रण दिया होगा। 'वसई' को ही 'बसीन' नाम से संबोधित करने की पुरानी प्रथा है।

महर्षि की चौथी मुम्बई यात्रा

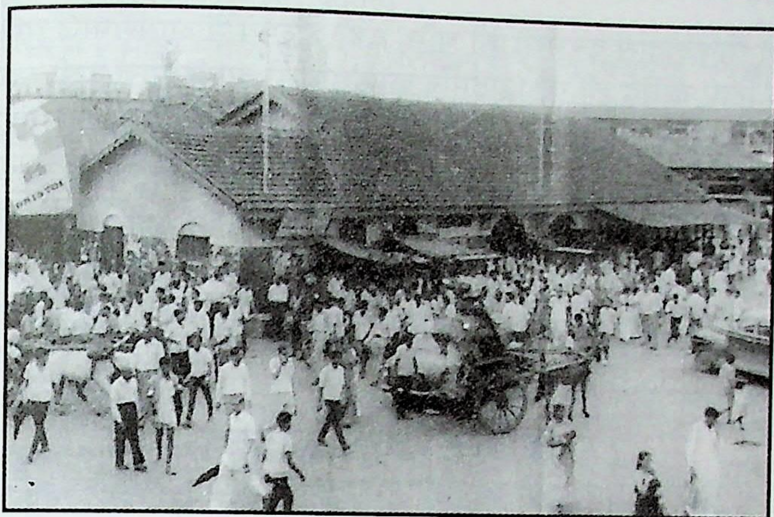
महर्षि दयानन्दजी की चौथी मुम्बई यात्रा मार्च मास के प्रथम सप्ताह में प्रारम्भ होती है। 'वेदों की श्रेष्ठता और पवित्रता' आदि विषयों पर उनके स्थान-स्थान पर व्याख्यान सम्पन्न होते हैं। हरियाणे के पं० रामलाल ज्योतिषी के साथ मुम्बई में 'मूर्त्ति-पूजा' पर उनका शास्त्रार्थ भी होता है। लगभग दो महीने मुम्बई में रहकर वे इन्दौर की ओर रवाना हो जाते हैं।

महर्षि की पाँचवीं और अन्तिम मुम्बई यात्रा

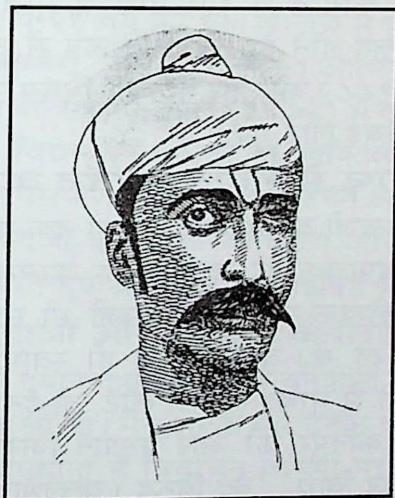
परिव्राजक स्वामीजी पाँचवीं और अन्तिम बार चितौड़ (राजस्थान) से इन्दौर (मध्य प्रदेश) होते हुए ३० दिसम्बर १८८१ को मुम्बई पधारे। स्टेशन पर स्वागत करने वालों में थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापक अमरिका देशस्थ कर्नल अल्काट भी थे। इस यात्रा की उल्लेखनीय घटना यह थी कि रविवार २३ फरवरी १८८२



महर्षि कालीन मुंबई । प्रायः वालुकेश्वर में महर्षि का निवास रहा और सभी कार्यक्रम गिरगांव परिसर में संपन्न हुए ।



ठाणे रेलवे स्टेशन का एक प्राचीन चित्र



पं० गट्टूलाल शास्त्री
(जो मुंबई में अपने व्याख्यानों में मूर्तिपूजा का मंडन करते रहे, पर इस विषय में महर्षि से शास्त्रार्थ करने से कतरा गए।)

को गोकुलदास करमसी की भूमि, ६४०० रुपये में आर्यसमाज मुम्बई के लिए खरीद ली गई। वर्तमान काकड़वाड़ी आर्यसमाज उसी स्थान पर है। उस समय इस स्थान पर पुराने ढंग का दुमंजिला मकान (चाली) तथा पाँच दुकानें थीं। पुराने मकान को तोड़कर आर्यसमाज का नया भवन बनाया गया। स्वामी श्रद्धानन्दजी के अनुसार ईस्वी सन् १८८८ में यहाँ केवल एक चबूतरा था।

स्वामीजी की यह अन्तिम मुम्बई यात्रा लगभग ६ महीने की रही। शनिवार २४ जून १८८२ को वे मुम्बई से मध्यप्रदेश और राजस्थान की ओर रवाना हो गए।

महर्षि का ठाणे आगमन

महर्षि दयानन्दजी सरस्वती महाराज ने अपनी उपरोक्त अन्तिम मुम्बई यात्रा के दौरान ही 'ठाणे' नगरी को अपनी चरण धूलि से पवित्र किया। मुम्बई से ठाणे की दूरी २२ मील की है। स्वामीजी के एक महाराष्ट्रीय भक्त श्री गोपाल हरि देशमुख 'लोकहितवादी' उन दिनों ठाणे में ही कार्यरत थे और ठाणे से मुम्बई आर्यसमाज के सत्संग में सम्मिलित होने हेतु नियमित रूप से उपस्थित होते थे। बुधवार ५ अप्रैल १८८२ को ठाणे में 'वेद' विषय पर व्याख्यान देकर स्वामीजी पुनः मुम्बई लौट गए।

महाराष्ट्र में निर्मित दयानन्द वाङ्मय

महर्षि दयानन्दजी की नासिक से पुणे तक की यात्रा में भोजन बनाने के लिये सुपाचक श्री बलदेवसिंह कान्यकुब्ज और लेखन कार्य के लिए सुलेखक पं० मण्डनरामजी भी सहयात्री के रूप में साथ-साथ चल रहे थे। वे प्रयाग से ही स्वामीजी के साथ थे। स्वामीजी जब पुणे से मुम्बई वापिस लौटे, तो इन दोनों ने स्वामीजी से विदाई लेकर कानपुर की ओर प्रस्थान किया। स्वामीजी द्वारा लिखित 'पंचमहायज्ञ विधि', 'वेद विरुद्ध (वल्लभाचार्य) मत खण्डन', 'वेदभाष्य का नमूना' नामक पुस्तकें सन् १८७४ में मुम्बई में ही मुद्रित हुईं। 'वेदभाष्य का नमूना' संस्कृत, मराठी और गुजराती में छपा था, जिसकी एक प्रति काशी के पंडित बाल शास्त्री रानडे के पास भी भेजी गई थी। सन् १८७५ में स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट आर्यसमाज के २८ नियमों की व्याख्या भी मुम्बई में मुद्रित हुई। 'वेदान्ति ध्वांत

निवारण (अद्वैत मत खण्डन), ''शिक्षापत्री ध्वांत निवारण' (स्वामी नारायण मत खण्डन), 'आर्याभिविनय' और 'संस्कारविधि' नामक चारों पुस्तकें सन् १८७६ में मुम्बई में ही मुद्रित हुईं। सन् १८७६ में 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के अतिरिक्त 'ऋग्वेद भाष्य' और 'यजुर्वेद भाष्य' मासिक के एक से तेरह तक के अंक मुम्बई में ही प्रकाशित हुए। स्वामीजी ने २९ अप्रैल १८८२ तक अपनी 'गोकरुणानिधि' नामक हिन्दी पुस्तिका की अंग्रेजी भी मुम्बई के लोगों से बनवा ली थी।

महाराष्ट्र के मराठवाड़ा विभागीय हिंगोली नगर में जन्मे, अमरावती को ही अपनी कर्मभूमि बनानेवाले, लोकमान्य तिलक के अनन्य सहयोगी, अमोघ वक्तृत्व शक्ति के धनी, विनोदी वक्ता, विदर्भ के राजा, नवाब, केसरी और दादासाहब आदि विरुदावली से विभूषित गणेश श्रीकृष्ण खापर्डे (१८५४-१९३७) स्वामी दयानन्द के मुम्बई आगमन काल में एलफिन्स्टन कॉलेज में संस्कृत के विद्यार्थी थे। उस समय आपकी आयु २१ वर्ष की थी। कॉलेज में जाने से पूर्व आपने बाणभट्ट की 'कादम्बरी' जैसे कठिन ग्रन्थ आत्मसात् कर लिए थे। मुम्बई आर्यसमाज की स्थापना काल (१८७५) में एलफिन्स्टन शिक्षण संस्था के जो नौ विद्यार्थी स्वामीजी के व्यक्तित्व और वक्तृत्व से प्रभावित होकर आर्यसमाज के सदस्य बने, उनमें आपका भी समावेश था। स्वामी दयानन्दजी के मोहक व्यक्तित्व और प्रवचन-कालीन क्षणों का वर्णन करते हुए श्री दादासाहब खापर्डे लिखते हैं—

वह दृश्य देवताओं और महर्षियों के लिए भी दर्शनीय

''मुझे स्वामी दयानन्द को उनके जीवनकाल में मुम्बई में देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मैंने अनेक बार उनके व्याख्यान सुने तथा एकान्त में उन व्याख्यानों में विवेचित विषयों पर उनसे चर्चा की। उनके जो चित्र अब देखने में आते हैं, वे उनकी शारीरिक आकृति को तो यथावत् चित्रित करते हैं, किन्तु उनसे उनके नेत्रों की दीप्ति की अभिव्यक्ति नहीं होती और न उनकी मोहमयी वाणी की गम्भीरता ही प्रकट होती है, जो श्रोताओं को वशीभूत करती थी। वे बहुत बड़ी उपस्थिति वाली सभाओं के समक्ष उपदेश देते थे। व्याकरण पर उनका विशेष अधिकार था। प्राचीन तथा अर्वाचीन प्रणाली से पठित

भौतिक तथा अन्य विज्ञानों को भी उन्हें पर्याप्त जानकारी थी। अतः वे अपने असीमित अनुभवों के स्रोतों से जो उदाहरण और दृष्टान्त श्रोतागणों को प्रभावित करने के लिए प्रस्तुत करते थे, वे बहुत परिणामकारी थे। उनकी वक्तृता प्राचीन आचार्यों की शैली की होती थी, जिसके कारण हजारों व्यक्ति मुग्धभाव से उनके व्याख्यानों को सुनते थे तथा उनके सिद्धान्तों को अनुकूलता से ग्रहण करते थे। 'ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः' शब्द के साथ जब वह प्राचीन पद्धति के अनुसार उच्चारण करते हुए व्याख्यान समाप्त करते थे, तब वह दृश्य देवताओं और महर्षियों के लिए भी दर्शनीय होता था।''

स्वदेश कल्याण के व्रती

कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले 'बंग दर्शन' नामक पत्र ने स्वामीजी की महाराष्ट्र यात्रा के सन्दर्भ में लिखा था—'मुम्बई प्रदेश में भ्रमण करते हुए मैंने देखा कि वहाँ दयानन्द ने महा आन्दोलन उपस्थित कर रखा है। अनेक उत्साही भद्रपुरुष उनके दल में सम्मिलित हो गए हैं। जहाँ-तहाँ दयानन्द की ही चर्चा होती है। दयानन्द की वक्तृत्व शक्ति, समाज विषयक दृष्टि और अभिनव वेद व्याख्या पर सर्वत्र आलोचना हो रही है।' पत्र ने आगे स्वामीजी के व्यक्तित्व और आकृति आदि का विश्लेषण करते हुए लिखा—'दयानन्द सबल और दीर्घकाय हैं। उनके साथ बातचीत करने और विशेष परिचय प्राप्त करने से यह विश्वास होता है कि यथार्थ ही वे एक असाधारण पुरुष हैं। उनकी वाग्मिता-तर्कशक्ति असाधारण हैं, और स्वदेश कल्याण के लिए उनका उत्साह और प्रयत्न भी असाधारण है।'

—वैदिक महासम्मेलन : लातूर : स्मरणिका : संपादक-पं० ज्ञानकुमार आर्य : सन् २००२ से साभार।



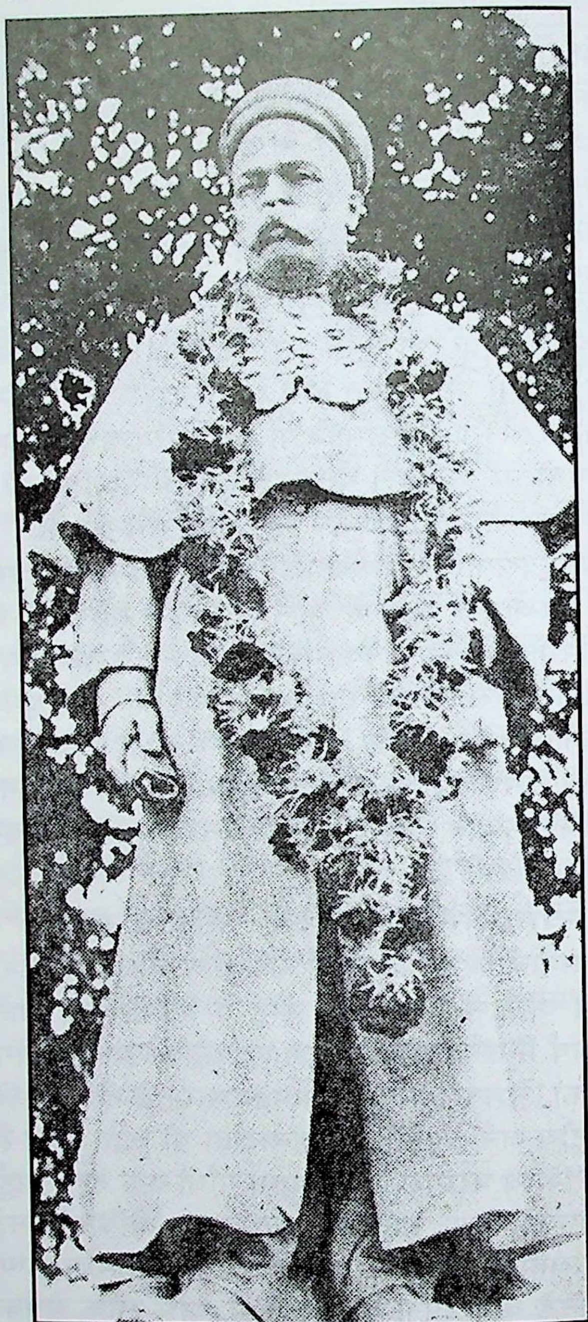
महर्षि के महाराष्ट्रीय उदारमतवादी सहयोगी

उन्नीसवीं शताब्दी के महाराष्ट्रीय समाजसुधारकों की यह उल्लेखनीय विशेषता रही है कि परस्पर वैचारिक मत-भेद होते हुए भी वे जिन विषयों पर सहमत होते थे एक दूसरे की अनन्य भाव से सहायता करते थे। प्रार्थनासमाजियों तथा सत्यशोधक समाजियों में विभिन्न विषयों पर प्रतिकूल मत रहते हुए भी एकत्रित हो, मिलकर कार्य करने की भावना विद्यमान थी। इसी समन्वयशील प्रवृत्ति के कारण ही प्रार्थनासमाज के संस्थापक न्यायमूर्ति रानडे तथा सत्यशोधक समाज के संस्थापक महात्मा फुले ने अपने सहयोगी-शिष्यों के साथ, आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती की क्रमश: 'पुणे व्याख्यानमाला' और 'विशाल शोभायात्रा' का धूम-धाम के साथ भव्य आयोजन किया था। पुणे प्रवचन-काल में जिन महाराष्ट्रीय उदारमतवादी समन्वयशील समाजसुधारकों ने महर्षि दयानन्दजी को सक्रिय सहयोग प्रदान किया था, यहाँ उनकी संक्षिप्त जीवन-ज्योति शब्दबद्ध की जा रही है।

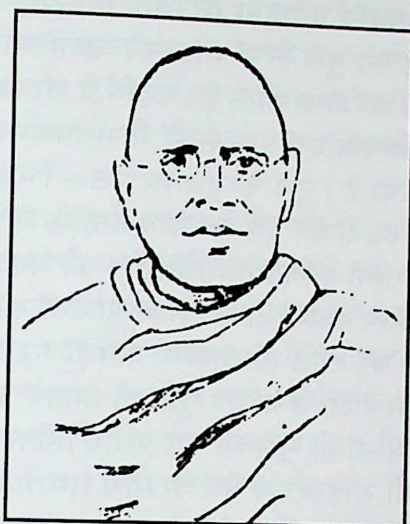
न्यायमूर्ति माधवराव[१] गोविन्द रानडे

प्रार्थनासमाज के संस्थापक श्री माधवराव गोविन्द रानडे (१८४२-१९०१) को कौन नहीं जानता? राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक एवं राष्ट्रीय उत्कर्ष में उनका असाधारण एवं अविस्मरणीय योगदान रहा है। काँग्रेस का 'नेशनल काँग्रेस' नामकरण रानडेजी ने ही किया था। आपको राष्ट्रीय जन-जागृति का जन्मदाता भी कहा जाता है। महर्षि दयानन्द की शिष्य परम्परा को महात्मा गाँधी तक लाने-पहुँचाने का श्रेय भी आपको दिया जाता है। माधवराव गोविन्द रानडे महर्षि दयानन्द सरस्वती को अपना गुरु मानते थे, और गोपाल कृष्ण गोखले न्यायमूर्त्ति रानडे को अपना गुरु मानते थे, और लोक सेवक गोखले को राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी अपना गुरु मानते थे। इसी आधार पर

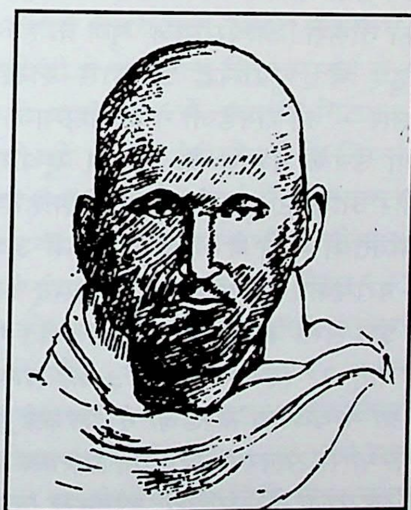
१. न्यायमूर्ति रानडे के महादेव और माधवराव दोनों ही नाम थे।



न्यायमूर्ति रानडे



ब्रह्मचारी स्वामी नित्यानन्द जी
(वडोदरा नरेश सयाजीराव गायकवाड के राजगुरु)



स्वामी विश्वेश्वरानंदजी ।

कुछ समीक्षकों ने महर्षि दयानन्द सरस्वती को राष्ट्र प्रपितामह कहा है। महर्षि दयानन्द को पुणे निमंत्रित करने वालों में न्यायमूर्ति रानडे का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। महर्षि ने भी अपने पत्र में 'पुणे प्रवचन' के व्यवस्थापक एवं प्रकाशकों में सर्वप्रथम मा० गो० रानडे का ही उल्लेख किया है। पुणे के बुधवार पेठ—भिड़ेवाड़ा में सम्पन्न पन्द्रह प्रवचनों का आयोजन एवं प्रकाशन उन्हींके नेतृत्व में हुआ था। सनातनी तथा प्रतिगामी शक्तियों के विरोध की परवाह न करते हुए बड़े धैर्य के साथ आप स्वामीजी की शोभायात्रा में सम्मिलित हुए थे। शोभायात्रा से जब घर लौटे तो आपके कपड़ों पर कीचड़ के धब्बे नजर आ रहे थे। घरवालों ने कारण पूछा तो आपने उत्तर दिया कि—'जब मैं सबके साथ था तो मुझे भी यह प्रसाद मिलना स्वाभाविक ही था।' शोभायात्रा को साहस एवं धैर्य के साथ सम्पन्न कराने में आपका उल्लेखनीय योगदान रहा है। शोभायात्रा के पश्चात् भिड़ेवाड़ा में सम्पन्न स्वागत समारोह में न्यायमूर्ति रानडे ने महर्षि को हार्दिक धन्यवाद दिया। साथ ही अपने अनुयायी-सहयोगियों की ओर से प्रतिमास या प्रतिवर्ष महर्षि के निर्देशानुसार वेदभाष्य लिपिबद्धकर्त्ता को पचास रुपये देने का अभिवचन भी दिया। महर्षि दयानन्द द्वारा स्थापित—विश्व की तीसरी 'आर्यसमाज' पुणे के ही न्यायमूर्ति रानडे प्रधान निर्वाचित हुए थे। सुप्रसिद्ध इतिहास-लेखक श्री हरिदत्त वेदालङ्कार के अनुसार—'श्री रानडेजी ने आर्यसमाज मुम्बई में अनेक व्याख्यान दिए तथा उनके प्रभाव के कारण सुधारवादी नवयुवक आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हुए थे।' परमदेशहितैषी रानडे महर्षि के विश्वासपात्र व्यक्तियों में से थे। महर्षि ने उन्हें अपनी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी—परोपकारिणी सभा के सभासद् के रूप में नियुक्त किया था। रानडेजी इस सभा के सक्रिय सभासद् थे। *महर्षि दयानन्दजी के बलिदान के पश्चात् २१ दिसम्बर १८८३ को सम्पन्न परोपकारिणी सभा की बैठक में श्री माधवराव रानडेजी ने देश की सभी आर्यसमाजों को परोपकारिणी सभा से संलग्न करने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया था। स्वामी दयानन्दजी सरस्वती के स्मृत्यर्थ 'दयानन्द आश्रम' की स्थापना करके पुस्तकालय, वैदिक पाठशाला, पुस्तक विक्री भण्डार, अनाथाश्रम, अद्भुत-वस्तु-संग्रहालय, यन्त्रालय, सभागृह आदि विविध विभागों को स्थापित और संचालित करने का प्रस्ताव भी २१ दिसम्बर*

१८८३ की परोपकारिणी सभा में आपने ही रखा था।

महर्षि दयानन्द से न्यायमूर्ति रानडे १८ वर्ष छोटे थे। आपकी स्वदेशप्रेम की भावना से महर्षि सुपरिचित थे, इसीलिए उन्होंने अपने पत्र में लिखा था कि—'श्री रानडेजी का दृष्टिकोण हमेशा देशहित की ओर था।'

रानडेजी जैसे समर्थ सहयोगी मिलने के बावजूद भी पुणे का आर्यसमाज चिरस्थायी क्यों नहीं हो सका? यह एक विचारणीय व चिंतनीय प्रश्न है। महर्षि दयानन्द के समकालीन व पुणे के पौराणिक साहित्यकार विष्णु शास्त्री चिपळूणकर के अनुसार—'स्थापना काल के पश्चात् दयानन्द द्वारा स्थापित पुणे आर्यसमाज का लगभग डेढ-दो वर्ष की अल्पावधि में दो-तीन बार पुनरुद्धार किया गया। तदनन्तर अन्त में वह 'आर्य धर्म विवेचन सभा' के रूप में रूपान्तरित होकर नाम शेष हो गया।' पुणे आर्यसमाज के स्वल्पजीवी होने का एक कारण यह भी हो सकता है कि—महर्षि दयानन्द के न्यायमूर्ति रानडे आदि अनुयायी महर्षि की तरह सुदृढ वेद भक्त नहीं थे। न्यायमूर्ति अन्तिम समय तक प्रथम स्तरीय प्रार्थनासमाजी रहे बाद में और कुछ। यह बात भी निर्विवाद है कि न्यायमूर्ति रानडे आर्यसमाजी प्रचारकों को अन्तिम समय तक अपना सहयोग देते रहे।

श्रीयुत रानडेजी ने कम्बाला हिल मुम्बई से १६ अक्तूबर १८९४ को लिखे अपने एक पत्र में स्वामी नित्यानन्दजी और स्वामी विश्वेश्वरानन्दजी को मद्रास-प्रेसिडेन्सी के निम्नलिखित ९ व्यक्तियों के नाम लिखे जो स्वामीजी के कार्य में सहायक हो सकते थे—(१) टी० रामचन्द्र अय्यर, द्वितीय न्यायाधीश चीफ कोर्ट बंगलौर, (२) टी० नरसिंह अय्यंगर, दरबार बख्शी मैसूर, (३) दीवान बहादुर रघुनाथराव कुम्भकोणम्, (४) माननीय रायबहादुर सभापति मुदालियर बेलारी, (५) श्री जी०-सुब्रह्मण्य अय्यर, सम्पादक हिन्दू, मद्रास, (६) माननीय सुब्रह्मण्य अय्यर प्लीडर हाईकोर्ट मद्रास, (७) माननीय शंकर नायक, प्लीडर हाईकोर्ट, मद्रास, (८) श्री बलवन्तराव सहस्त्रबुद्धे, मिलिटरी फाइनेन्स सुपरिण्टेण्डेण्ट ट्रिप्लिकेन मद्रास, (९) श्री विजय राघवचारलू, प्लीडर डिस्ट्रिक्ट कोर्ट सलेम। ये सब महानुभाव मद्रास प्रान्त के विभिन्न स्थानों के सुप्रसिद्ध एवं सुप्रतिष्ठित नेता थे। जनता इन्हें बड़े सम्मान की दृष्टि से देखती थी। ये सभी बड़े शिक्षा-सम्पन्न,

उदार एवं सुधारवादी विचारों के व्यक्ति थे और रानडे महोदय को पूरी आशा थी कि इनके सहयोग से मद्रास में स्वामी नित्यानन्दजी का प्रचार-कार्य भली-भाँति सम्पन्न हो सकेगा।

श्री रानडे महोदय ने इस पत्र के साथ स्वामीजी को एक सार्वजनिक परिचय-पत्र भेजते हुए लिखा था—"इस पत्र को आप जिस-जिस स्थान पर जाएँ, वहाँ पत्र में उल्लिखित महानुभावों को दिखाने की कृपा करें। मद्रास प्रान्त में पहुँचने के बाद आप अपनी सुविधानुसार विभिन्न स्थानों पर अधिक-से-अधिक समय लगाएँ।" इस पत्र के साथ भेजे गए परिचय-पत्र में रानडे महोदय ने लिखा था कि "ब्रह्मचारी नित्यानन्द और स्वामी विश्वेश्वरानन्द आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रभावशाली प्रचारक हैं। यह संस्था पण्डित दयानन्द सरस्वती द्वारा लगभग २० वर्ष पहले स्थापित की गई थी। उत्तर-भारत में, विशेषकर पंजाब में आर्यसमाजों की संख्या १५० है। इस संस्था ने वहाँ अपना सुदृढ़ स्थान बना लिया है। दुर्भाग्यवश लगभग १० वर्ष पहले स्वामी दयानन्द सरस्वती...परलोक चले गए। उनके कुछ शिष्यों और अनुयायियों ने उनके द्वारा प्रारम्भ किये हुए कार्य को पूरा करने का भार अपने ऊपर ले लिया है। इनमें ब्रह्मचारी नित्यानन्द और स्वामी विश्वेश्वरानन्द निश्चित रूप से सबसे अधिक योग्य हैं। वे दोनों संस्कृत के अच्छे विद्वान् हैं और श्री नित्यानन्दजी अंग्रेजी भी जानते हैं। क्योंकि मद्रास प्रान्त में आर्यसमाज के उपदेशकों का दौरा नहीं हुआ है, मैंने उनसे प्रस्ताव किया है कि वे इस प्रान्त में भ्रमण करें और मुझे प्रसन्नता है कि उन्होंने बंगलौर जाने के लिए समय निकाला है। उनका विचार मैसूर और उससे आगे मद्रास जाने का है। उनकी भाषण-शक्ति बहुत उच्चकोटि की है। मुझे पूरी आशा है कि वे अपना आशय शिक्षित समुदाय को समझा सकेंगे। आप उन्हें अत्यन्त प्रभावशाली उपदेशक समझेंगे। उनकी मित्रमण्डली उधर नहीं है। इसलिए मैंने यह सार्वजनिक परिचय-पत्र देने का साहस किया है। मैं आशा करता हूँ कि आपकी सहायता से उनका उद्देश्य सफल होगा।"

इससे सात वर्ष पूर्व सन् १८८७ में येवला आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव (चैत्र कृष्ण-३ सम्वत् १९४४) के अवसर पर चार हजार से भी अधिक खचाखच भरी जनसमूह के समक्ष 'आर्य और

अनार्य' विषय पर डेढ़ घण्टे तक अपना अध्यक्षीय भाषण देने के उपरान्त न्यायमूर्ति रानडेजी ने कहा था कि—"मुझ पर आर्यसमाज का बहुत उपकार है। स्वामीजी मुझसे अत्यन्त प्रेम रखते थे और मैं भी उन्हें आदर की दृष्टि से देखता था। मैं परोपकारिणी सभा का मेम्बर हूँ। स्वामीजी के परिश्रम का फल पंजाब में अच्छा हुआ है। मुझे यहाँ पर आर्यसमाज को देखकर अत्यन्त आनन्द हुआ है।" (येवला आर्यसमाज के वार्षिक प्रतिवेदन पर आधारित)।

जस्टिस महादेव गोविन्द रानडेजी द्वारा महर्षि को दी गई यह श्रद्धाञ्जलि अविस्मणीय है, जिसमें उन्होंने कहा था—

"महर्षि दयानन्द में धार्मिक उत्साह भरा हुआ था। उनमें वीरोचित कर्मण्यता की भावना विद्यमान थी, जिसकी उत्पत्ति इस विश्वास से हुई थी कि कोई उच्च सत्ता मेरे कार्य का संरक्षण कर रही है। समय की आवश्यकताओं को देखने की उन्हें जो सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त थी, वह अलभ्य थी। उसमें लक्ष्य सिद्धि की दृढ़ता ऐसी अटूट थी कि कोई भी विपत्ति व प्रतिकूलता उसे झुका न सकती थी। उन जैसी तत्परता और साधन-सम्पन्नता विरलों को ही प्राप्त होती है। उनकी सच्ची देशनिष्ठा समय से कहीं आगे बढ़ी हुई थी। दया से द्रवित उनकी न्याय भावना देखते ही बनती थी। यही सब गुण और विशेषताएँ उनकी शक्ति की स्रोत थीं, जिन्होंने उन्हें आर्यसमाज जैसे महान् आन्दोलन को संचालित करने में समर्थ बनाया था।"

[सम्प्रति पुणे जनपद में नानापेठ-(डोके तालीम संघ), पिंपरी, नेहरूनगर, खडकवासला, खडकी, वारजे मालवाडी आदि क्षेत्रों में आर्यसमाज की शाखाएँ हैं]।

श्रीयुत् महादेव मोरेश्वर कुण्टे

महर्षि को पुणे निमंत्रित करने वालों में श्री रानडेजी के अतिरिक्त 'महर्षि जीवन चरित्रों' में श्री म० मो० कुण्टे (१८३५-१८८८) का भी उल्लेख मिलता है। उनके अग्रज डॉ० अण्णा मोरेश्वर कुण्टे मुम्बई प्रवचन काल में महर्षि के प्रभाव में आकर आर्यसमाजी बने थे। महर्षि द्वारा स्थापित मुम्बई आर्यसमाज की सर्वप्रथम सदस्य-सूची में डॉ० अण्णा मोरेश्वर कुण्टे का नाम द्वितीय क्रमांक पर है। यह भी सम्भव है कि स्वामीजी का 'पुणे-प्रवचन-कार्यक्रम' निश्चित

करने के लिए अग्रज डॉ० अण्णा मोरेश्वर कुण्टे ने अनुज श्री म० मो० कुण्टे की सहायता की होगी। अग्रज का अनुज को प्रेरणा या सहायता देना सहज रूप से सम्भव है। निःसंशय स्वामीजी को पुणे प्रवचन हेतु निमंत्रित करने वालों में आपका प्रमुख सहयोग रहा। स्वामीजी के व्याख्यानों को लिपिबद्ध एवं मराठी में अनुवादित करने का श्रेय भी आपको रहा है। एतदर्थ महर्षि ने अपने पत्रों में कुण्टेजी का कृतज्ञता के साथ स्मरण किया है।

कालान्तर में श्री कुण्टे 'आधे सनातनी' तथा 'आधे सुधारवादी' के रूप में भी चर्चित रहे। हंटर शिक्षण आयोग (१८८२) के समक्ष अपना निवेदन प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा था—'इस बात में किंचित् भी सत्यांश नहीं है कि दलितों ने विद्यालय प्रवेश विषयक प्रश्न प्रस्तुत किया है। यह प्रश्न नितान्त अव्यावहारिक है। भावना प्रधान अंग्रेज अधिकारी तथा अव्यवहारी देशी सुधारकों का यह एक आधारहीन आन्दोलन है।' सम्भव है श्री कुण्टे जैसे आधे-अधूरे अपरिपक्व सभासदों के कारण ही 'आर्यसमाज पुणे' दीर्घजीवी न हो सका हो। श्री म० मो० कुण्टे स्वामी दयानन्दजी से आयु में दस वर्ष छोटे थे।

श्री गणेश जनार्दन आगाशे

महर्षि दयानन्द जब पुणे पधारे तब श्री ग० ज० आगाशे (१८५२-१९२०) केवल २३ वर्ष के नवयुवक थे। पहली कक्षा से बी० ए० तक एक भी वर्ष ऐसा नहीं गया कि उन्हें परीक्षा में प्रथम आने के कारण पारितोषिक एवं छात्रवृत्ति न मिली हो। महाराष्ट्र की सुप्रसिद्ध 'जगन्नाथ शंकर शेठ' नामक संस्कृत की छात्रवृत्ति सर्वप्रथम प्राप्त करने का श्रेय आगाशेजी को ही है। बी० ए० की परीक्षा में आपने 'भगवानदास पुरुषोत्तमदास' छात्रवृत्ति भी प्राप्त की थी। महर्षि के पुणे प्रवचन काल में आप पुणे के एक हाईस्कूल में मुख्याध्यापक थे। श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अनुसार—'आगाशेजी ने व्याख्यान स्थल पर ही स्वामीजी के 'पुणे प्रवचन' लिपिबद्ध एवं प्रकाशित करके अपने मित्रों में बंटवाए थे और कालान्तर में उसकी एक प्रति मुझे (देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्यायजी को) प्रदान की थी। सन् १९०४ में दिये आगाशेजी के संस्मरण परक व्याख्यानों से यह सिद्ध होता है कि—आगाशे पुणे प्रवचन काल में महर्षि दयानन्द के घनिष्ठ सम्पर्क

में आये थे। सुप्रसिद्ध मराठी इतिहासकार न० र० फाटकजी ने भी महादेव मोरेश्वर कुण्टे के अतिरिक्त श्री गणेश जनार्दन आगाशे का उल्लेख 'पुणे प्रवचन लिपिबद्धकर्त्ता एवं मराठी अनुवादक' के रूप में किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि—कुण्टे के अतिरिक्त आगाशे का भी 'पुणे प्रवचनों' को शब्दबद्ध करने में अविस्मरणीय सहयोग रहा है। स्वामी सत्यप्रकाशजी सरस्वती के अनुसार—"शायद इन व्याख्यानों से पूर्व के किसी अन्य भारतीय नेता के व्याख्यानों की प्रति हमारे पास विद्यमान नहीं है। इसलिए इन व्याख्यानों का महत्त्व और भी अधिक है"।

श्री आगाशे सेवा निवृत्त होने के बाद 'डेक्कन कॉलेज' पुणे में संस्कृत प्राध्यापक के रूप में अध्यापन करते रहे। मराठी साहित्य के इतिहास में पुरातन पीढ़ी के सुप्रसिद्ध पण्डित कवियों में आपकी गणना की जाती है। सन् १९१९ में इन्दौर में सम्पन्न हुए अखिल भारतीय मराठी साहित्य सम्मेलन का अध्यक्ष पद भी आपने विभूषित किया था।

आनरेबल जगन्नाथ उर्फ नाना शंकरशेठ

श्री जगन्नाथ शंकर शेठ (१८०३-१८६५) का महाराष्ट्र के प्रारम्भिक समाज-सुधारकों में मुम्बई के अग्रणी नेताओं में उल्लेखनीय स्थान रहा है। श्री शंकरशेठजी के संस्कृत प्रेम से समस्त महाराष्ट्र सुपरिचित है। आज भी संस्कृत में सर्वप्रथम आने वाले विद्यार्थियों को 'जगन्नाथ शंकरसेठ' छात्रवृत्ति दी जाती है। नवम्बर १८४३ में शंकरशेठजी ने हैदाराबाद राज्य के 'परली वैजनाथ' नामक गाँव के रहने वाले श्री नारायण शेषाद्रि नामक देशस्थ ब्राह्मण को शुद्ध करने का सराहनीय प्रयास किया था। महर्षि दयानन्द सरस्वती श्री शंकर-शेठजी के 'वेताळ पेठ पुणे' स्थिति बंगले में २० जून से ५ सितम्बर १८७५ तक रहे थे। मुंबई में भी आर्यसमाज काकठवाडी की जगह खरीदने से पूर्व तक महर्षि के कतिपय प्रवचन और आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग भी शंकरसेठ वास्तु के परिसर में ही संपन्न होते थे। श्री शंकरशेठ महाराष्ट्र के समाज-सुधारकों में सबसे वयोवृद्ध थे, वे महर्षि दयानन्दजी से भी आयु में २२ वर्ष बड़े थे। महाराष्ट्र के आद्य समाज सुधारक एवं आधुनिक बंबई के निर्माता तथा संस्कृत प्रेमी एवं दानवीर के रूप में आज भी उन्हें समस्त महाराष्ट्र श्रद्धा के साथ

याद करता है।

१८८३ तक प्रकाशित महर्षि के समस्त जीवन चरित्रों में पुणे-प्रवचन के समय महर्षि का पुणे निवास 'विठ्ठल पेठ' क्षेत्र में बताया है, जो कि बिल्कुल गलत है, क्योंकि श्री शंकरशेठजी का वह मकान जिसमें स्वामीजी ठहरे थे, वेताळ पेठ में ही था। पुणे में 'विठ्ठल पेठ' नाम का कोई क्षेत्र न तो पहले था और न ही वर्तमान में है। जीवन चरित्रों में यह वस्तुतः 'वेताळ पेठ' का ही अपभ्रंश रूप है।

महात्मा फुले

महात्मा फुले (१८२७-१८९०) जी की एकेश्वरवाद पर पूर्ण आस्था थी, पर वे महर्षि दयानन्दजी की वेदप्रामाण्य विषयक मतों से असहमत थे, फिर भी समाज-सुधार के विभिन्न क्षेत्रों में स्वामीजी से पटरी मिलने के कारण वे पुणे में आयोजित उनकी शोभायात्रा में सम्मिलित हुए थे। मराठी के सुप्रसिद्ध चरित्रकार धनंजय कीर (१९१३-१९८४) के अनुसार—जब पुणे के समाजसुधारकों ने स्वामीजी के सम्मानार्थ बड़ी धूमधाम से शोभायात्रा निकालने का निश्चय किया तो पुणे के सनातनी एवं प्रतिगामी व्यक्तियों ने विघ्न डालने का मनसूबा बाँधा। विघ्न-उपद्रव की सम्भावना को ताड़कर सुधारक लोग शोभायात्रा से एक दिन पूर्व महात्मा जोतिबा फुले से मिले और उनसे शोभायात्रा में भाग लेने का अनुरोध किया। महर्षि दयानन्द के समता तत्त्व व अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन महात्मा फुले के जीवनोद्देश्य से सम्बन्धित थे। महर्षि दयानन्दजी का सन्देश पूर्णतया निम्नवर्ग तक पूरी तरह न पहुँच पाने की स्थिति में भी महात्मा फुलेजी ने सुधारकों को शोभायात्रा में अपने अनुयायियों के साथ सम्मिलित होने का अभिवचन दिया। वचनानुसार वे शोभायात्रा की सुरक्षा के लिए अपने दल-बल के साथ जुलूस में सम्मिलित हुए। महात्मा फुले और न्यायमूर्ति रानडे समाजसुधारकों के साथ शोभा-यात्रा में चल रहे थे। महर्षि के पुणे प्रवचन के विशिष्ट श्रोताओं में भी महात्मा फुले जी का समावेश था।

आर्यसमाज काकड़वाड़ी के अनुसंधान प्रिय विद्वान् (स्व०) पं० दयाशंकरजी शर्मा के अनुसार मराठी के सुप्रसिद्ध साहित्यिक, पत्रकार तथा फिल्म निर्माता आचार्य प्रह्लाद केशव अत्रे ने स्व-निर्मित 'महात्मा फुले' चित्रपट में स्वामी दयानन्द की इस शोभायात्रा का

लगभग पाँच मिनट का चित्रीकरण किया है, जिसमें स्वामीजी हाथी पर विराजमान हैं तथा शोभा-यात्रा में महात्मा फुले और न्यायमूर्ति रानडे भी शामिल हैं।

'पेठ जुना गंज' पुणे में स्थित शूद्रातिशूद्रों की पाठशाला में स्वामी दयानन्दजी ने वेदोपदेश दिया था, जिसके सन्दर्भ में तत्कालीन 'सत्यदीपिका' आदि मराठी समाचार-पत्रों में अनुकूल-प्रतिकूल चर्चा प्रकाशित हुई थी। यह भी सम्भव है कि—महार-मांग आदि की ओर से शूद्रातिशूद्रों के विद्यालय में उपदेश देने के सम्बन्ध में स्वामीजी को जो निमन्त्रण मिला था, वह अप्रत्यक्ष रूप में महात्मा फुले प्रेरणा से ही लिखा गया हो, क्योंकि ये पत्र लेखक फुले जी के घर के सन्निकट चारों ओर रहते थे और इस विद्यालय के संस्थापक स्वयं महात्मा फुले ही तो थे।

यह तो सुनिश्चित है कि महात्मा फुले के एक सहयोगी श्री कृष्णराव पाडुरंग भालेकर ने स्वामीजी का एक व्याख्यान भांबुर्ड्या गाँव में आयोजित किया था। पुणे कैम्प में स्वामीजी के व्याख्यानों के संयोजक श्री गंगाराम भाऊ म्हस्के भी महात्मा फुलेजी और न्यायमूर्ति रानडेजी के घनिष्ठ मित्रों में से थे। इन सब तथ्यों को देखने के बाद निःसंदिग्ध रूप से यह कहा जा सकता है कि—महात्मा फुलेजी पुणे-प्रवचन-काल में महर्षि दयानन्द के सहयोगी थे। स्वामीजी की वक्तृत्त्व कला के समीक्षक पौराणिक साहित्यकार विष्णु शास्त्री चिपळूणकर ने भी दयानन्दजी की विशिष्ट सहयोगी संस्था के रूप में उनका तथा उनके द्वारा स्थापित सत्यशोधक समाज का उल्लेख किया है।

श्री गंगाराम भाऊ म्हस्के

श्री म्हस्के (१८३१-१९०१) का जन्म सन् १८३१ में 'रंगरावाचे ओढे' (जि० नासिक) नामक गाँव में हुआ। ४५वें वर्ष में आपने वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण की, जिससे आपकी शिक्षा सम्बन्धी आस्था स्पष्ट होती है। महात्मा फुले तथा न्यायमूर्ति रानडे से आपकी घनिष्ठ मैत्री थी। सत्यशोधक समाज द्वारा संचालित शूद्रातिशूद्रों के विद्यार्थियों को 'आवास व्यवस्था उपसमिति' में सर्वप्रथम म्हस्केजी की ही नियुक्ति की गई थी। तत्पश्चात् उपसमिति में महात्मा फुले का नाम है। सत्यशोधक समाज के वार्षिक विवरण (सितंबर १८७६)

से यह स्पष्ट होता है कि श्री म्हस्केजी कभी-कभी सत्यशोधक-समाज की आर्थिक सहायता भी करते थे, फिर भी सत्यशोधक-समाज के वे नियमबद्ध सदस्य न होते हुए केवल मित्र ही रहे। शायद इसीलिए महात्मा फुलेजी ने अपने काव्यमय पोवाडा-पत्र में उन्हें आह्वान करते हुए लिखा था—

उत्तर देतो गंगोबाना, गंगोबाना ॥ म्हस्के वकीलांना । उत्तर....
भटपाशा सोडून, तुम्ही यावे मैदाना ।
शूद्र बांधवा, सत्य सांगून खुले कराना ।

अर्थात्—मैं गंगाराम भाऊ म्हस्के वकील को यह उत्तर देता हूँ कि वे अपनी पाखंड लीला छोड़कर मैदान में आयें तथा शूद्र बन्धुओं को सत्यमार्ग बतलाकर उन्हें पाशमुक्त स्वतन्त्र करें।

श्री गंगाराम भाऊ म्हस्के के कार्य निम्न प्रकर हैं—

१. पुणे छावनी विभाग में प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था। २. सार्वजनिक उद्यान पार्क। ३. आल्वर्ट एडवर्ड वाचनालय (१८७५)। ४. सन् १८७७ में सत्ताइस हजार रुपए की दुर्भिक्षनिधि का संकलन। ५. डेक्कन मराठा एज्युकेशन सोसाइटी की स्थापना एवं धन-संग्रह अभियान। ६. टाउन हॉल कमेटी से हीराबाग की खरीदी। ७. कैम्प एज्युकेशन सोसाइटी की स्थापना। ८. बादशाह पञ्चम जार्ज के बन्धु आल्वर्ट विक्टर के पुणे आगमन के अवसर पर आयोजित स्वागत-समारोह के मन्त्री। ९. सर कावसजी दिनशा एडनवाला हॉल का निर्माण। १०. छावनी में धर्मशाला एवं श्मशान की व्यवस्था—इस प्रकार की बहुविध संस्थाओं का आपने सचिव के रूप में उत्तरदायित्व संभाला और विभिन्न, नव-नवीन संस्थाओं की स्थापना की थी। फलस्वरूप आपके प्रारम्भ किये हुए कार्य वर्तमानकाल में भी चालू हैं। पुणे के स्वर्णिम इतिहास में आपकी गणना एक सार्वजनिक कार्यकर्त्ता तथा मराठा समाज के नेता के रूप में की जाती है। स्वामीजी के छावनी के व्याख्यान सम्पन्न होने के बाद आप ने ही अग्रसर हो उनकी हाथी पर शोभायात्रा निकालने की योजना बनाई थी। वे महर्षि से केवल ६ वर्ष छोटे थे। पुणे-प्रवचन काल में महर्षि के महत्त्वपूर्ण निकटवर्ती होने के कारण आर्यसमाज के इतिहास में उनका नाम अजरामर रहेगा।

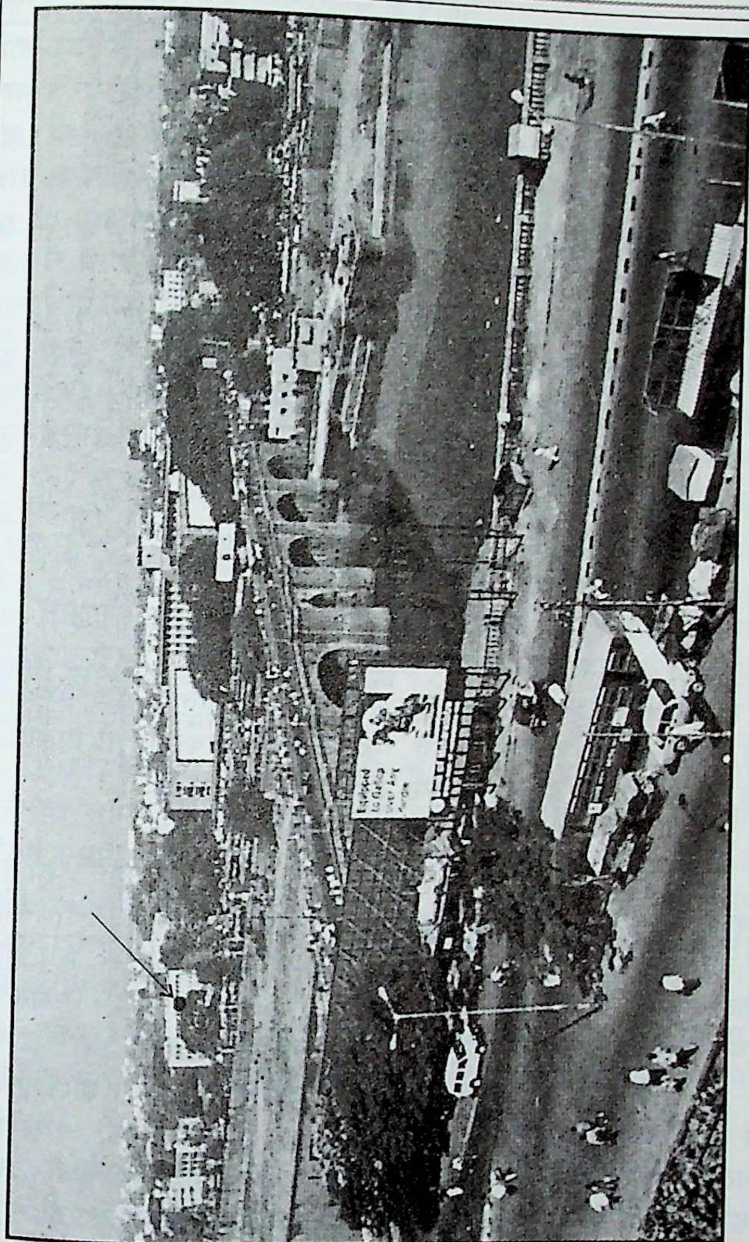
महर्षि दयानन्द १० अगस्त १८७५ को पुणे से 'लोकहितवादी' को प्रेषित पत्र में लिखते हैं कि—'पुणे लस्कर में गंगाराम भाऊ [म्हस्के] आदि लोगों ने व्याख्यान की व्यवस्था बहुत ही अच्छी प्रकार की है। और व्याख्यान छपवाते भी हैं।' तत्पश्चात् पुनश्च वे १६ अक्टूबर १८७५ के पत्र में लोकहितवादी को लिखते हैं कि—'एक नवीन बात यह है कि पूना में आर्यसमाज स्थापन हो गया है। हम सतारे से आये तब यह निश्चित हुआ कि महादेव गोविन्द रानडे प्रधान, केशवराव गोडबोले मन्त्री, जितने प्रार्थनासमाज के सभासद् थे वे सब और अन्य बाबा गोकुले (....—२० दिसंबर १८८३) तथा काशीनाथ गाडगिल एवं गंगाराम भाऊ आदि लस्करस्थ ६० वा ७० सब सभासद् हुए हैं। और अन्य भी बहुत होने वाले हैं।' —इस आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि—'भिडेवाडा' में सम्पन्न पन्द्रह व्याख्यानों के मुख्य व्यवस्थापक व सहयोगी श्री रानडे-कुंटे थे तथा छावनी में सम्पन्न पैंतीस व्याख्यानों के मुख्य व्यवस्थापक श्रीयुत म्हस्के थे। स्वामी दयानन्दजी ने भी छावनी में सम्पन्न व्याख्यानों के व्यवस्थापक के रूप में श्री गंगाराम भाऊ म्हस्केजी का नाम ही उल्लेखनीय माना है तथा शेष सहयोगियों का संकेत 'आदि' में कर दिया है। इससे स्पष्ट है कि मराठी शाला—ईस्ट स्ट्रीट—कैम्प में सम्पन्न ३५ व्याख्यानों के प्रमुख व्यवस्थापक श्री म्हस्के ही थे। 'भिडेवाड़ा' में स्वामीजी का अन्तिम व्याख्यान ४ अगस्त को सम्पन्न हुआ। तदनन्तर १० अगस्त १८७५ को स्वामीजी द्वारा लिखित पत्र से यह अन्दाज लगाया जा सकता है कि—'भिडेवाडा' की व्याख्यानमाला समाप्त होने के एक-दो दिन बाद ही म्हस्केजी के कुशल प्रबन्ध में स्वामीजी की 'छावनी व्याख्यानमाला' शुरु हो गई थी।

इतिहासकार न० र० फाटक के अनुसार विदाई समारोह का आयोजन गं० भा० म्हस्केजी के छावनी स्थित निवास स्थान पर हुआ था, जिसमें छावनी विभाग की ओर से श्री म्हस्के ने ही स्वामीजी के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की थी। इस विदाई समारोह में महर्षि ने '**यथेमां वाचं कल्याणीमावदानी जनेभ्यः**' मन्त्र की सारगर्भित व्याख्या की और स्पष्ट किया कि—वेद-ज्ञान-मन्दिर के द्वार मानव-मात्र के लिए खुले हैं। उस समय स्वामीजी पर पुष्प वृष्टि की गई तथा महाराष्ट्रीय परम्परा के अनुसार उपस्थित सज्जनों को पान-सुपारी

पुणे छावनी में ३५ व्याख्यानों के संयोजक



गंगाराम भाऊ म्हस्के ।



नदी के इस ओर पुणे शहर तथा उस ओर चिह्नांकित स्थल पर भांबुड्र्या गांव (वर्तमान शिवाजीनगर) का एक विहंगम दृश्य

वितरित की गई। सभा में हिन्दू-मुस्लिम, ईसाई-पारसी, यहूदी आदि सभी वर्गों के लोगों ने भाग लेकर मानव कल्याण का व्रत लेने वाले इस महापुरुष के प्रति अपनी असीम श्रद्धा अभिव्यक्त की थी। इस अवसर पर महर्षि को धोती, शाल, पगड़ी रेशमी पीताम्बर तथा रेशमी चादर आदि वस्त्र भेंट में दिये गए। भेंट स्वीकार करते हुए यतिवर ने कहा—'अकिंचन संन्यासी के लिए इतनी मंहगी भेंट का स्वीकार करना उचित नहीं है, किन्तु मेरे अस्वीकार करने से नगरवासियों को दुःख होगा, इसलिए इस भेंट को मैं स्वीकार कर रहा हूँ।' संभवतः स्वामीजी के इस कथन का ही परिणाम हुआ कि—भिडेवाड़ा में सम्पन्न अन्तिम विदाई-समारोह में सभा के प्रमुख श्री रानडे-कुंटे ने उपर्युक्त कोई वस्तु न देते हुए, वेदभाष्य प्रकाशन निधि में २५०.०० रुपये देने का निश्चय किया।

यह निर्विवाद एवं सर्वमान्य तथ्य है कि ईस्ट·स्ट्रीट कैम्प की मराठी पाठशाला में स्वामीजी के ३५ व्याख्यान श्री गंगाराम भाऊ म्हस्केजी के कुशल प्रबन्ध में सम्पन्न हुए, सम्भवतः जिस पाठशाला में स्वामीजी के व्याख्यान सम्पन्न हुए उसके संचालक एवं संस्थापक श्री म्हस्के ही थे। वे महर्षि कृत 'वेदभाष्य' मासिक के भी ग्राहक थे। श्री म्हस्केजी की ग्राहक संख्या २४१ थी।

कृष्णराव पांडुरंग भालेकर

श्रीयुत भालेकर (१८५०-१९१०) पुणे-प्रवचन-काल में स्वामीजी से २५ वर्ष छोटे थे। स्वामीजी उस समय पूर्ण प्रौढावस्था में थे तो भालेकर पूर्ण युवावस्था में। स्वामीजी की आयु ५० वर्ष थी तो भालेकरजी की २५ वर्ष। स्वामीजी के पुणे आगमन समय में भालेकर एक उत्साही धैर्यशील कार्यकर्त्ता एवं नेता के रूप में सुप्रसिद्ध थे।

भालेकरजी का जन्म 'भांबुर्ड्या' नामक गाँव में हुआ। बचपन में ही वे मातृछाया से वंचित हो गए। १५-१६ वर्ष की अवस्था में पिताजी का भी साया उठ गया। इसीलिए उनकी शिक्षा आधी-अधूरी रह गई तथा उन्हें पुणे के जिला न्यायाधीश के कार्यालय में नौकरी करनी पड़ी। 'भालेकरांचे कागद पत्रः संक्षिप्त इतिहास' से इस बात की पुष्टि होती है कि भालेकरजी के प्रबन्ध-प्रयत्न से महर्षि का एक व्याख्यान 'भांबुर्ड्या' गाँव में भी हुआ था।

श्रेष्ठ विचारक एवं समाजसुधारक—कर्मवीर महात्मा फुले के

ज्ञान-कर्ममय व्यक्तित्व से प्रभावित होकर श्री भालेकर अपने अनुयायियों के साथ सत्यशोधक-समाज में शामिल हो गए थे। वे महात्मा फुले के रिश्तेदार भी थे। कालान्तर में भालेकरजी सत्यशोधक-समाज के प्रखर प्रवक्ता, उत्साही, कर्मठ, समन्वयशील निर्भीक नेता के रूप में प्रसिद्ध हुए। वे दरिद्र एवं दीन लोगों के प्रति अत्यन्त सहानुभूति रखते थे।

सत्यशोधक-समाज की धारणाओं के अनुसार 'शूद्रातिशूद्रों' के लिए मुम्बई में पाठशाला चलाने का श्रेय भालेकरजी को ही है। पुणे कमर्शियल तथा कान्ट्रेक्टिंग कम्पनी में महात्मा फुलेजी के साथ नालियाँ बाँधने के लिए पत्थर देने का ठेका आपने लिया था, जिसमें आपको काफी सफलता प्राप्त हुई थी। सत्यशोधक-समाज का प्रचार-प्रसार करने तथा किसान-मजदूरों की मौन व्यथा को बुलन्द करने के लिए भालेकरजी ने जनवरी १८७५ में "दीनबन्धु" नामक साप्ताहिक पत्र आरम्भ किया, और ३-४ वर्ष तक आर्थिक हानि सहकर भी आपने इसका संचालन किया। सन् १८८१ से १८८३ तक 'नीरा नहर योजना' में सब ओवरसियर के रूप में आप कार्यरत रहे।

श्री भालेकर, महात्मा फुले के सहयोगी होते हुए भी उनसे पूर्णतया सहमत नहीं थे, इसीलिए उन्होंने कनिष्ठ वर्ग को अज्ञान-अन्याय-अभाव से मुक्त करने तथा जनता की आवाज शासन तक पहुँचाने के लिए १८८४ में 'दीनबन्धु सार्वजनिक सभा' की स्थापना की। सभा द्वारा कनिष्ठ वर्ग के विद्यार्थियों के लिए निःशुल्क शिक्षा देने की व्यवस्था की गई थी।

जब सन् १८८९ में पुणे में ब्रिटिश राजपुत्र का आगमन हुआ था तब प्रदर्शनकारी विद्यार्थियों के हाथ में जो तख्तियाँ थीं उन पर लिखा था—

"आपल्या आजीला सांगा, आम्ही सुखी राष्ट्र आहोत।
तथापि एकोणीस कोटि, शिक्षणा शिवाय आहोत॥"

अर्थात्—"अपनी दादी माँ से कहो कि हम सुखी राष्ट्र तो हैं, किन्तु १९ करोड़ लोग अशिक्षित हैं।"

प्रस्तुत काव्य पंक्तियों को पढ़कर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की निम्नांकित पद की सहसा याद आ जाती है—

अंगरेज राज सुख साज सजे, सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात, यहै अति ख्वारी॥

उपर्युक्त प्रदर्शनकारी विद्यार्थियों के प्रेरणा स्थान एवं नेता कृष्णराव पाण्डुरंग भालेकर ही थे।

भालेकरजी कॉंग्रेस की राजनीति से असन्तुष्ट थे। उनके अनुसार कॉंग्रेस उच्चवर्गियों की संस्था थी। जो अज्ञानी शूद्रातिशूद्रों की उपेक्षा करके मुसलमानों की खुशामद करती है। श्री भालेकर के मतानुसार कॉंग्रेस का उद्देश्य केवल उच्चवर्गियों को ही विशिष्ट अधिकार प्राप्त कराना था।

भालेकरजी पत्रकार थे। 'दीनबन्धु' मासिक के तो वे संस्थापक-संपादक थे। इसके अतिरिक्त 'दीनमित्र' पत्रिका में भी आपने अनेक लेख लिखे। आप द्वारा लिखित 'बळीबा पाटिल आणि १८७७ चा दुष्काळ' नामक मराठी उपन्यास 'दीनमित्र' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था।

'**भालेकरांचे कागद पत्र : संक्षिप्त इतिहास**' से यह जानकारी भी मिलती है कि—'५ सितम्बर १८७५ को स्वामीजी के भक्त तथा स्नेही लोगों ने उनका हाथी पर बिठलाकर जुलूस निकाला था, प्रतिक्रिया स्वरूप पुणे के द्वेषी-ईर्ष्यालु लोगों ने गर्दभानन्द का जुलूस निकाला। इस जुलूस के साथ माली परिवार के पट्टेवाले सेवक तथा कट्टर रूढ़िवादी ब्राह्मण चल रहे थे। परन्तु यह ब्राह्मणवर्ग कुछ ऐसी दूरी पर चल रहा था मानो जुलूस से उसका कोई सम्बन्ध ही न हो। अन्त में जब यह गर्दभ काण्ड कोर्ट में गया तो अप्रत्यक्ष रूप में लोगों को भड़काने वाले ये ब्राह्मण निरपराधियों की तरह तटस्थ हो गए। जिस समय इनके इशारे पर चलने वाले बेचारे मालियों और मराठों (जिन्होंने जुलूस में चिल्लाने और नारे लगाने का कार्य किया था) को कोर्ट से सजा हुई, तो उस समय ये ब्राह्मण चैन की नींद ले रहे थे।'

भालेकरजी के इस उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि रूढ़िवादी ब्राह्मण लोगों की स्वामीजी के सामने आकर शास्त्रार्थ करने की हिम्मत तो नहीं थी, इसलिए वे भोले-भाले युवकों की उकसाते थे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि—न्यायमूर्ति रानडे, वैदिक विद्वान् कुंटे, संस्कृत पण्डित आगाशे, महात्मा फुले, विधिवेत्ता म्हस्के, दलितोद्धारक भालेकर आदि महाराष्ट्रीय उदारमतवादी, समन्वयशील सुधारकों का पुणे-प्रवचन-काल में महर्षि दयानन्दजी सरस्वती को अविस्मरणीय

एवं सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ। ये सब महाराष्ट्रीय समाजसुधारक जिस प्रकार परस्पर पूर्णतया एकमत नहीं थे, उसी प्रकार महर्षि दयानन्द के विचारों से भी पूरी तरह सहमत नहीं थे, फिर भी यह निर्विवाद सत्य है कि ये सभी सुधारक प्रगतिशील, मानवतावादी, महर्षि की अगाध विद्वत्ता के सामने मन्त्रमुग्ध और नतमस्तक थे।

सन्दर्भ

भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास : इंद्र विद्यावाचस्पति
स्मारिका : महाराष्ट्र-प्रांतीय प्रथम
आर्य-महासम्मेलन का अध्यक्षीय भाषण : स्वामी ओमानन्द सरस्वती
न्यायमूर्ति रानडे यांचे चरित्र : न० र० फाटक
आर्यसमाज का इतिहास : संपादक-हरिदत्त वेदालंकार
परोपकारिणी सभा का इतिहास : डॉ० भवानीलाल भारतीय
निबंधमाला : विष्णु शास्त्री चिपळूणकर
ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन : संपादक-युधिष्ठिर मीमांसक
भारतवर्षीय अर्वाचीन चरित्रकोश : सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव
महात्मा फुले : चरित्र : धनंजय कीर
महात्मा फुले : समग्र वाङ्मय : संपादक-धनंजय कीर
नामदार नाना शंकरसेठ यांचे चरित्र : पुरुषोत्तम बालकृष्ण कुलकर्णी
व्यक्ति आणि विचार : य० दि० फड़के
दयानन्द दिग्विजयम् : मुनि मेधाव्रत आचार्य
आर्यसमाज का इतिहास : लाला लाजपतराय

व्यक्ति—

पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक। भालचन्द्र शंकरशेठ—भूतपूर्व विधान सभा सदस्य-मुम्बई। (स्व०) डॉ० चन्द्रभानुजी सोनवणे वेदालङ्कार औरंगाबाद। डॉ० भगत सिंह राजूरकर विद्यालंकार औरंगाबाद। श्री दिगंबररावजी होळीकर—उदगीर। डॉ० गो० म० दाभोलकर संयोजक-महाराष्ट्र राज्य माध्यमिक व उच्च माध्यमिक शिक्षा मण्डल, पुणे। (स्व०) पं० दयाशंकरजी परामर्शदाता—आर्यसमाज काकड़वाड़ी, मुम्बई।

—वेदवाणी : दयानन्द विशेषांक (२) : मार्च १९८५ से साभार।



(४)

महर्षि की वैदिक दृष्टि और महाराष्ट्र

चाहे अपने हों या पराए, स्वदेशी हों या विदेशी, पाश्चात्य विचारक हों या रूढिवादी पौराणिक, पहले दयानन्द के कट्टर अनुयायी रहे हों और कालान्तर में चाहे स्वतन्त्रचेता बन गए हों, उन सभी का मन से धन्यवाद करने को जी चाहता है, जिन्होंने वेदों पर शंकाएँ उठायी हैं, और वेदभक्तों तथा वेद-विमर्श करने वालों को चिंतन की और अधिक गहराई में जाकर अवगाहन करने का अवसर प्रदान किया है।

पाश्चात्य विद्वान् और रूढ़िवादी पौराणिक जो शंकाएँ उठा रहे थे, महर्षि की 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के निर्माण में उनका भी अविस्मरणीय योगदान है। महर्षि ने 'ऋग्वेद भाष्यम्' के प्रथम नमूने अंक में लिखा है—सायणाचार्य ने 'अग्निमीडे' आदि मन्त्रों का अग्नि में आहुति डालना मात्र प्रयोजन लिखा है, पर ईश्वर और होम से भिन्न अन्य पदार्थ विद्या के त्याग से वह व्याख्यान अच्छा नहीं है। तथा (शंकर पाण्डुरंग पण्डित का) 'वेदार्थ यत्न' और डॉक्टर विल्सन साहब का व्याख्यान भी वैसा ही है। ये सब व्याख्यान मुख्यार्थ और निश्चितार्थ नहीं होने से विद्वान् और साधारण जन के लिए भी यथावत् उपकारक नहीं हो सकते। (पृष्ठ १५४)

महर्षि के 'भ्रान्ति निवारण' और 'भ्रमोच्छेदन' का ही परिणाम रहा कि महाराष्ट्र के आद्य सुधारक गोपाल हरि देशमुख 'लोकहितवादी' जो शब्द प्रमाण या वेद प्रमाण नहीं मानते थे, वे वेद प्रमाणवादी हो गए। वे मुम्बई आर्यसमाज के जब प्रधान बने तब साप्ताहिक सत्संग में 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' का पठन-पाठन करते थे। भूमिका की तार्किकता ने उन्हें वेदप्रमाणवादी बना दिया। 'नास्तिको वेदनिंदकः' से वे आस्तिक बन गए। महर्षि ने उन्हें परोपकारिणी सभा का विश्वस्त बनाया। कालान्तर में वे उक्त सभा के मन्त्री भी बने। महर्षि दयानन्दजी

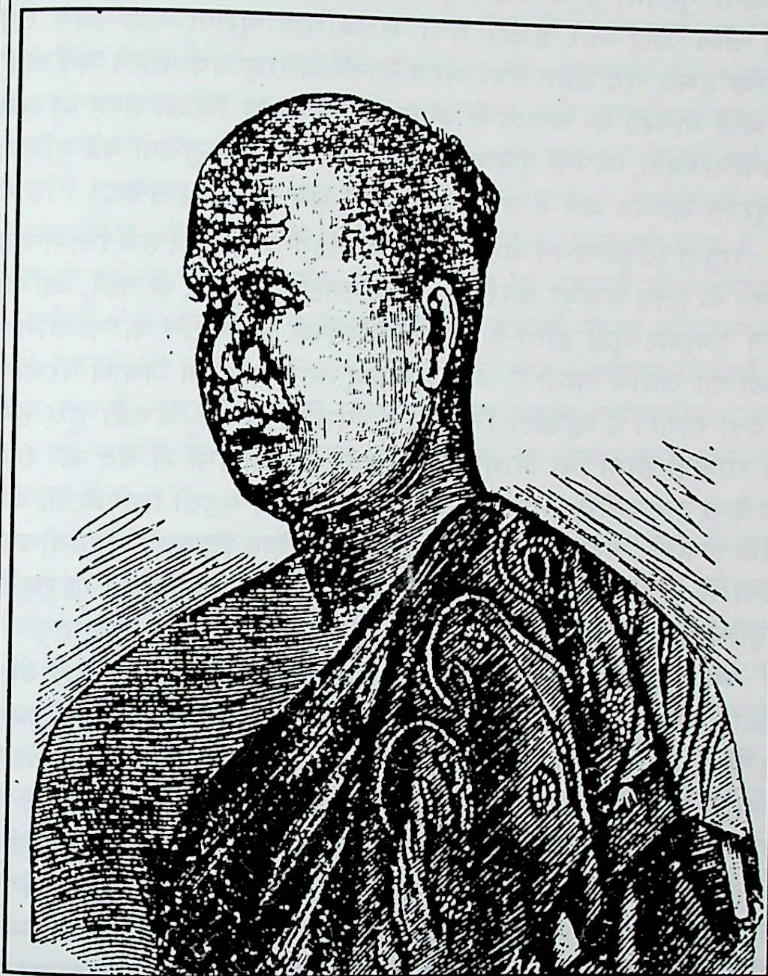
के देहावसान के बाद उन्होंने अपने 'लोकहितवादी' मराठी मासिक (जनवरी, फरवरी, १८८४ संयुक्त द्वैमासिक अंक) को 'पं० स्वामी श्रीमद्दयानन्द सरस्वती' विशेषांक रूप में निकाला था, जिसमें तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं की श्रद्धांजलियों के साथ उनका भी सौ पृष्ठ का श्रद्धांजलि परक निबन्ध प्रकाशित हुआ था। लोकहितवादीजी का जो यह वैचारिक कायाकल्प हुआ, उसकी प्रतिक्रिया में महाराष्ट्र में एक स्वर यह भी उभरा कि, गोपाल हरि देशमुख महर्षि दयानन्द के सम्पर्क में आकर प्रगतिशीलता से प्रतिगामीत्व की ओर, बौद्धिकता से वेदप्रामाण्य की रूढ़िवादिता की ओर उन्मुख हो गए हैं।

पौराणिक रूढिवादिता से आर्यसमाज में आने के बाद सन् १९१४-१५ में राहुलजी ने अनुभव किया था—*"मैं संकीर्ण गड़हिया से विशाल जलाशय में आ गया, पहिले मेरे विचार वंध्या के समान थे, किन्तु आर्यसमाज में मैंने अपनी बुद्धि को ज्यादा स्वच्छन्द पाया। ऐसा मालूम हुआ जैसे मैं अन्धेरी कोठरी से निकलकर सूर्य की रोशनी में आ गया हूँ, जैसी घुटती काली कोठरी से निकलकर शीतल मंद सुगंध वायु परिचालित बाग में आ गया हूँ। अब मुझे मालूम होने लगा कि दुनिया में ऐसे भी काम हैं, जिनके लिए जीवन की आवश्यकता है, ऐसे भी आदर्श हैं, जिनके लिए मृत्यु मधुरतम वस्तु है।"* उनका यह विश्वास था कि—*"आर्यसमाज ने प्राणों की आहुति देकर और पीड़ितों की सेवा करके अपने लिए एक आकर्षक इतिहास तैयार किया था।"* (राहुल सांकृत्यायन-मेरीजीवन यात्रा-पृष्ठ-२३६, २४५, २४९, २९)।

उन दिनों राहुल 'महर्षि दयानन्द' के एक-एक वाक्य को वेद वाक्य मानते थे और आर्यसमाज को 'सार्वभौम धर्म समझते थे (तत्रैव २३९) पर जब वे कालान्तर में बौद्ध धर्मी और मार्क्सवादी बने, तो उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से 'सत्यार्थप्रकाश' और 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' पर प्रश्नचिह्न उठाते हुए कहा—'आज हमारे हाथ में चाहे आग्नेय अस्त्र न हों, नयी-नयी तोपें और मशीनगन न हों, समुन्दर के नीचे और हवा के ऊपर से प्रलय का तूफान मचाने वाली पनडुब्बियाँ और जहाज न हों, लेकिन यदि हम राजाभोज के काठ के उठने वाले घोड़े और 'शुक्र नीति' में बारूद साबित कर दें तो हमारी पाँचों अंगुलियाँ घी में। इस बेवकूफी का भी कहीं ठिकाना है कि बाप-



श्रीधर गणेश जिन्सीवाले
जिन्होंने वेदों की अपौरुषेयता पर महर्षि से शास्त्रार्थ किया,
पर महर्षि के तर्कों के सामने वे निष्प्रभ हो गए ।



पं० राजराम शास्त्री बोडस

दादों के झूठ-मूठ ऐश्वर्य से हम फूले न समाएं और हमारा आधा जोश उसी की प्रशंसा में खर्च हो जाए।' (राहुल सांकृत्यायन-'दिमागी गुलामी') वे कहते हैं-'पाश्चात्य हमारे पूजनीय वेद को साढ़े तीन और चार हजार वर्षों से अधिक पुराना नहीं होने देते जबकि हमारे वेद ठीक एक अरब बानवे करोड़ वर्ष पहले बने थे।' इन भले मानसों के ख्याल में आता है कि अगर किसी तरह से हम अपनी सभ्यता, अपनी पुस्तकों और अपने महर्षि-मुनियों को दुनिया में पुराना साबित कर दें तो हमारा काम बन गया।' (तत्रैव)

राहुल सांकृत्यायन जैसे आक्षेप कर्त्ताओं के विचार हमें निःसन्देह चिंतन के लिए मजबूर करते हैं। आज लाठी-तलवार से नहीं, अपितु बटन दबाकर युद्ध होता है। खुले मस्तिष्क से चिंतन करना होगा। लाठी का जवाब लाठी से और परमाणु आक्रमण का जवाब परमाणु से देना होगा। उच्छृंखल चिन्तन परम्परा से बचते-बचाते हुए हमें यह सोचना होगा कि आधुनिक परमाणु के आक्षेपों से वेद की रक्षा हम कैसे कर पायेंगे। राहुलजी के व्यक्तित्व की महती विशिष्टता यह है कि उन्होंने 'बेड़े की तरह पार उतरने के लिए विचारों को स्वीकार किया है न कि सिर पर उठाए-उठाए फिरने के लिए।' (राहुल सांकृत्यायन-मेरीजीवन यात्रा-भाग-२)।

महात्मा गाँधी के दो शिष्य थे—पण्डित जवाहरलाल नेहरू और सरदार वल्लभ भाई पटेल। पटेल पट्टशिष्य थे तो नेहरू पट्टुशिष्य। महर्षि दयानन्दजी के भी दो शिष्य थे—न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे और न्यायाधीश गोपाल हरिदेशमुख। रानडे पुणे आर्यसमाज के प्रधान थे, तो देशमुख मुम्बई आर्यसमाज के प्रधान रानडे अल्पकालीन प्रधान रहे, क्योंकि पुणे आर्यसमाज दीर्घजीवी नहीं रहा। महर्षि के काल में ही पुणे आर्यसमाज की गतिविधियाँ निष्प्राण हो गईं। मुम्बई आर्यसमाज दीर्घजीवी होने के कारण देशमुख प्रदीर्घ काल तक मुम्बई आर्यसमाज के प्रधान रहे। महर्षि ने दोनों को 'देश का परम हितैषी' माना और परोपकारिणी सभा का विश्वस्त भी बनाया। पर वेद को प्रमाण मानने की दृष्टि से देशमुख महर्षि के पट्ट शिष्य हैं, पर वेद पर अनन्य निष्ठा न होने से प्रार्थनासमाजी रानडे पट्टु शिष्य हैं। श्री देशमुखजी ही नहीं उनके तीन-चार सुपुत्र भी विश्व की सर्वप्रथम आर्यसमाज मुम्बई के सक्रिय सदस्य थे। रानडेजी की विशेषता यह

थी कि देश और मानवता के हित में जितने भी महापुरुषों का और सार्वजनिक संस्थाओं का उपयोग हो सकता था, अपने वैयक्तिक मतभेदों को तूल न देते हुए वे उनका उपयोग लेते थे। जज होते हुए भी स्वामी दयानन्द के पुणे प्रवचनों के लिए वे अपने ढाई-ढाई घण्टे समर्पित करते थे। महर्षि दयानन्द के माध्यम से भारतीय नवजागरणकालीन महापुरुष के व्याख्यानों को सर्वप्रथम प्रकाशित करवाने का श्रेय भी आपको ही प्राप्त है। पुणे प्रवचनों के दो वर्ष बाद महर्षि दयानन्दजी को पत्र लिखते हुए—रानडेजी ने लिखा था—*'स्वामीजी, वेदभाष्य के अंकों का प्रकाशन धीमा हो गया है, वह जल्दी होना चाहिए। वह जल्दी होगा तो समाज में 'नवचेतना' आयेगी।'* रानडेजी को पटुशिष्य कहकर उनकी महत्ता और गम्भीरता को किसी भी प्रकार का अवमूल्यन करने का दु:साहस मैं यहाँ नहीं कर रहा हूँ। मेरा उद्देश्य तो न्यायमूर्ति रानडे और न्यायाधीश देशमुख इन दो महर्षि के शिष्यों की कार्य शैली के अन्तर मात्र को स्पष्ट करना है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के काशी शास्त्रार्थ के विपक्षी स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती और राजाराम शास्त्री थे। स्वामीजी भी इनकी विद्वत्ता को मानते थे, और कहते थे कि इनकी सम्मति के बिना ऐरे गैरे से मैं शास्त्रार्थ नहीं करूँगा। राजाराम शास्त्री (१८३७-१८९६) का उपनाम बोडस था, उनके पितामह मोरेश्वर भट्ट महाराष्ट्र के रत्नागिरि जनपद के राजापुर मण्डल के 'वोंड पेडल' ग्राम के मूल निवासी थे। जो महाराष्ट्र से काशी गए थे। उनके सुपुत्र गणेश भट्ट के द्वितीय चिरंजीव राजाराम शास्त्री थे, जिन्होंने अपने गुरु वेदोपाध्याय विष्णु भट्टजी खरे से पन्द्रह वर्ष की अवस्था में वेदाध्ययन पूर्ण किया था। यह आख्यायिका थी कि—'राजारामजी की श्रेणी का कोई आपस्तम्ब वैदिक, सम्पूर्ण काशी में नहीं है।' सन् १८५७ में बायजाबाई साहब शिन्दे ने इन्हें ग्वालियर छावनी में सोमयाग के लिए निमन्त्रित किया था। राजाराम शास्त्री का 'बोडस' के अतिरिक्त ग्राम सूचक 'कार्लेकर' उपनाम भी था, वे व्याकरण, न्याय, ज्योतिष, अलंकार और वेदान्त के विद्वान् थे। सन् १८७५ में महर्षि दयानन्द जिस एलफिन्स्टन कॉलेज, मुम्बई में व्याख्यान देने पधारे थे, उसी कॉलेज में राजाराम शास्त्री 'बोडस' व्याकरण शास्त्र के प्रोफेसर रहे। रामकृष्ण

गोपाल भाण्डारकर इनके शिष्य थे। पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा भी इनका सम्मान करते थे। सन् १८८७ में इन्हें पुणे में 'महामहोपाध्याय' उपाधि प्रदान की गई। यह सब किंचित् विस्तार से चर्चा करने का उद्देश्य यही है कि इन्होंने 'दयानन्द खण्डन' नामक पुस्तक हिन्दी या मराठी में लिखी है। (सन्दर्भ—'बालबोध', मराठी मासिक दिसम्बर १८८७)। आप सबसे उसकी खोज में सहायता चाहता हूँ। काशी या मुम्बई के ग्रन्थालयों में इस रचना के मिलने की सम्भावना है।

राजाराम शास्त्री बोडस कार्लेकर से एक वर्ष पश्चात् सन् १८८८ में महामहोपाध्याय की उपाधि से विभूषित पं० भीमाचार्य शास्त्री झलकीकर (१९०६) ने भी महर्षि दयानन्द की इस मान्यता का खण्डन किया है कि—'वेद को ही धर्म प्रमाण में एक मात्र अधिकारी माना जा सकता है।' महर्षि ने ऋग्वेद के प्रथम सूक्त (अथवा प्रथम मन्त्र) के भाष्य का नमूने के रूप में जो भाष्य किया था और जिसका मराठी और गुजराती अनुवाद भी साथ में प्रकाशित हुआ था, उसके खण्डन में श्री झलकीकर ने सन् १८७५ में 'वेदार्थोद्धार' पुस्तिका संस्कृत में लिखी थी, जो मुम्बई के तत्कालीन द्वैभाषिक स्वरूप के अनुसार संस्कृत के अतिरिक्त गुजराती-मराठी अनुवाद के साथ प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तिका को भी अनुसंधित्सु पाठकों की सहायता से अवलोकन की इच्छा है। सुना है यह पुस्तिका लंदन ओरियंटल एण्ड इण्डिया ऑफिस कलेक्शन-ब्रिटिश म्यूजियम लंदन के पुस्तकालय में है। सन् १९७२ से इस ब्रिटिश लाइब्रेरी से भारतीय पुस्तकों के विभाग को स्वतन्त्र कक्ष के रूप में स्थापित कर दिया गया है।

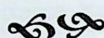
जुलाई १९०२ के 'केरळ कोकिळ' नामक मराठी मासिक के पृष्ठ १६३ पर 'पुरुष सूक्तम्' नामक एक अनूदित पुस्तिका पर टिप्पणी प्रकाशित हुई है। हिन्दी से मराठी अनुवादक मोरो विनायक शिंगणे नामक सज्जन हैं। टिप्पणी कर्त्ता लिखते हैं—"पुरुष सूक्त यह ऋग्वेद का सूक्त है। यजुर्वेद में भी यही सूक्त है, शाखा भेद के अनुसार उच्चारण में भेद होने के कारण कहीं-कहीं यत् किंचित् अन्तर है। हमारे मित्र राजमान्य राज्यश्री मोरो विनायक शिंगणेजी ने उसकी एक प्रति हमारी ओर भेज दी है। पुस्तक रचयिता ने भूमिका में अपना उद्देश्य स्पष्ट करते हुए लिखा है—पुरुष सूक्त के अर्थ की थोड़ी-सी

भी दिशा स्पष्ट हो, इस उद्देश्य से भाषान्तर करने का यह साहस किया है। पुरुष सूक्त पर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दी में जो भाष्य किया है, उसी के आधार पर शिंगणे महोदय ने मराठी में भावार्थ किया है। पुस्तिका उपयोगी है और मराठी भाषा जानने वाले इसका अच्छा उपयोग कर सकेंगे। रूपान्तर कर्त्ता को निश्चित रूप से पुण्य प्राप्त होगा। पुरुष सूक्त के अर्थ को जन-गण के मानस पर अंकित करने का कार्य कोई छोटा कार्य नहीं है। इस अनूदित रचना के लिए श्री मोरो विनायक शिंगणेजी का आभार मानते हुए अन्त में केवल इतना निवेदन करना चाहता हूँ कि—'पुरुष सूक्त की ऋचाओं के साथ श्रीमत् सायणाचार्य का भाष्य देकर उसका मराठी रूपान्तर दिया जाता तो 'अधिकस्याधिकं फलम्' के न्याय के अनुसार विद्वद् वर्ग में भी उसका अच्छा उपयोग हो सकता था।''

स्वामी दयानन्दजी सरस्वती ने पुणे (महाराष्ट्र) के बुधवार बाजार के भिड़ेवाड़े में दिनांक १३ जुलाई १८७५ मंगलवार को रात आठ बजे 'वेद' विषय पर व्याख्यान दिया था। 'सत्यदीपिका' नामक मराठी ईसाई पत्र के सम्पादक बाबा पदमनजी मुळे (१८३१-१९०६) इस व्याख्यान को सुनने के लिए मुम्बई से पुणे पधारे थे। इस व्याख्यान पर अपनी टिप्पणी लिखते हुए बाबाजी ने यह अंकित किया है—'स्वामीजी के व्याख्यान में हमें कोई भी बात अनुचित प्रतीत नहीं हुई।' स्मरण रहे—बाबू तारादत्त पन्त-ईसाई-अलमोड़ा (वेदभाष्य ग्राहक संख्या-२२०) पं० जयदत्त पाण्डे-मिशन स्कूल-अलमोड़ा (३४६), रेवंरड बाबा पदमनजी मुळे कांदेवाड़ी गली, गिरगाँव, मुम्बई (३७८), प्रोफेसर मोक्ष (मैक्स) मूलर (४०२), प्रोफेसर मोनियर विलियम्स-ऑक्सफोर्ड-इंग्लैण्ड (४०३) कार स्टीफिन साहब बहादुर-ज्युडीशियल असिस्टेंट-लुधियाना (४८१) बी०सी० टेंपल साहब कॉटिनेंट मजिस्ट्रेट-फिरोजपुर (५३३) आदि सुप्रसिद्ध ईसाई महर्षि दयानन्दजी सरस्वती विरचित वेदभाष्य मासिक के नियमित ग्राहक थे। विधवा समस्या पर मराठी में सर्वप्रथम 'यमुना पर्यटन' नामक मराठी उपन्यास लिखने वाले बाबा पदमनजी मुळे ने सन् १८९२ में मोनियर विलियम्स के ग्रन्थ 'वैदिक हिन्दू धर्म' नामक १५२ पृष्ठ का मराठी अनुवाद किया है। इस ग्रन्थ के अन्त में अनुवादक

ने अपनी ओर से यह निवेदन किया है कि—'पाठक यदि ईसाई मत स्वीकार करेंगे तो उन्हें बल, सन्तोष व शान्ति प्राप्त होगी।' यह प्रलोभन देकर उन्होंने वैदिक हिन्दू धर्म की निरुपयोगिता बतलाने का असफल प्रयास किया है। तथा सबसे अन्त में स्वामी दयानन्दजी द्वारा प्रतिपादित आर्य धर्म की रेवंरड बाबा पद्मनजी मुळे ने आलोचना करते हुए अपने इस अनूदित ग्रन्थ को पूर्णविराम दिया है।

—साभार-प्राच्य विद्यानुसन्धानम् (षाण्मासिक पत्रिका) वेदाङ्क (जनवरी-जून २००८) सम्पादक : डॉ० वेदपाल।



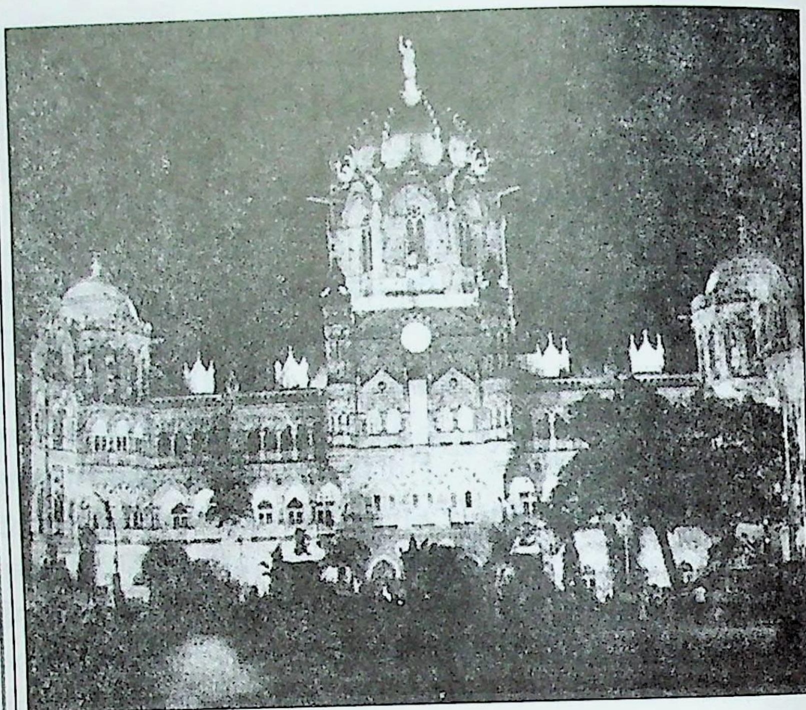
(५)

महर्षि का मुम्बई प्रवास

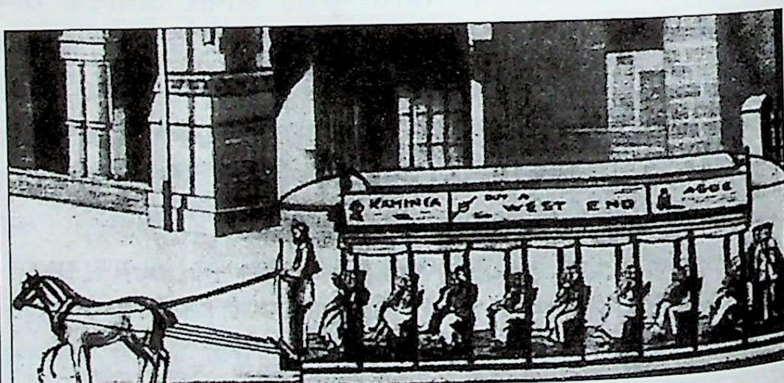
महर्षि दयानन्द सरस्वती के मुम्बई आगमन की पृष्ठभूमि

महर्षि दयानन्द के मुम्बई आगमन से पहले ही उनकी कीर्ति मुम्बई के समाजसुधारक बुद्धिजीवियों में फैल चुकी थी। काशी शास्त्रार्थ काल (सन् १८६९) से ही महर्षि को मुम्बई निमन्त्रित करने के प्रयत्न चालू हो गए थे, पर परिव्राजक महर्षि अपने अत्यधिक व्यस्त कार्यक्रमों में से समय निकालकर मंगलवार २० अक्तूबर १८७४ से पूर्व मुम्बई नहीं पधार सके। अपने मुम्बई आगमन की पूर्व सूचना उन्होंने अपने पूर्व परिचित श्री जयकृष्णजी व्यास को प्रदान की थी।

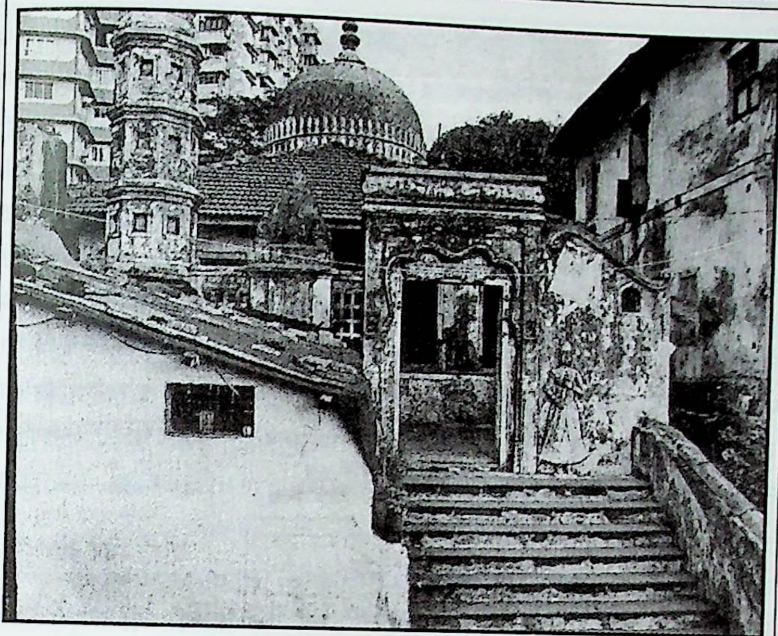
मुम्बई के शांकर वेदान्त के अनुयायी अद्वैतवादी जयकृष्ण जीवनराम व्यास तथा वल्लभ मतानुयायी धर्मसी खीमजी काशी शास्त्रार्थ के समय मंगलवार १६ नवम्बर १८६९ को शास्त्रार्थ स्थल आनन्द बाग में उपस्थित थे। ये दोनों व्यक्ति वैदिक मतावलम्बी महर्षि की विद्वत्ता और तार्किकता से प्रभावित हुए। इन दोनों की क्रमशः यह चाह थी कि महर्षि मुम्बई आकर अवैदिक वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्यों की दुराचारपूर्ण प्रवृत्तियों का पर्दाफाश करें। मुम्बई के ही करसनदास मूलजी नामक व्यक्ति ने स्वयं वल्लभ सम्प्रदायी होते हुए भी अपने ही सम्प्रदाय के आचार्यों के वाममार्गों से दुःखी होकर 'सत्यप्रकाश' नामक गुजराती पत्र में २१ अक्तूबर १८६० से ही उनके विरूद्ध एक अभियान चला रक्खा था। आपने 'वैदिक धर्म' नाम की पुस्तिका भी लिखी थी, लेकिन महर्षि के मुम्बई आगमन से पहले ही आपका निधन हो चुका था। महर्षि के मुम्बई आगमन से ठीक एक मास पहले एक वैष्णव मतानुयायी सेवकलाल कृष्णदास नामक व्यक्ति ने स्वामी दयानन्द और स्वामी विशुद्धानन्द में हुए 'काशी शास्त्रार्थ' के संक्षिप्त विवरण को गुजराती में अनूदित कर उसे 'आर्यमित्र' नामक पत्र में प्रकाशित करवा दिया था।



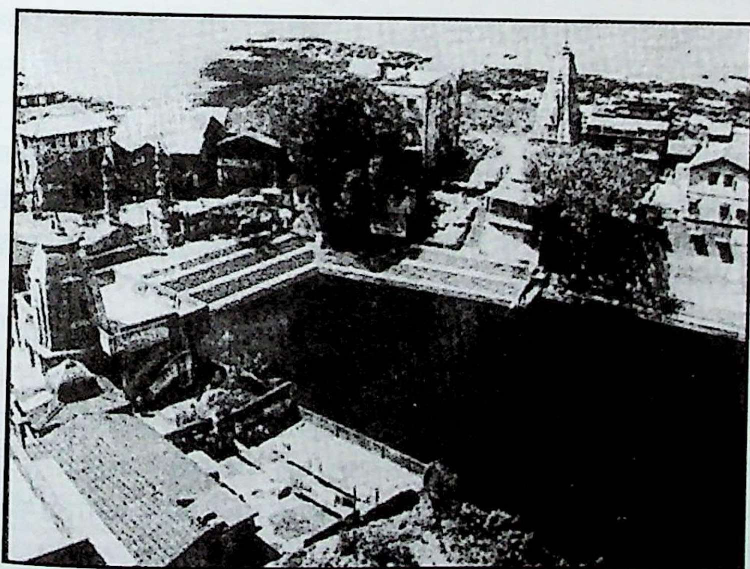
गॅथिक स्थापत्य शैली में बना मुबई का रेल्वे स्टेशन
जो महर्षि के पाँचवीं अन्तिम यात्रा-काल
(१८८१-१८८२) में बन चुका था।



महर्षि स्टेशन से घोड़ा गाड़ी में बैठ कर
वालुकेश्वर (मुंबई) पधारे।



वालुकेश्वर स्थित महादेव मन्दिर



वालुकेश्वर मन्दिर का परिसर

महर्षि की प्रथम मुम्बई यात्रा

महाराष्ट्र के 'नासिक रोड' रेल्वे स्टेशन से ट्रेन में सवार होकर महर्षि मंगलवार २० अक्तूबर १८७४ को मुम्बई के 'भायखला' नामक रेल्वे स्टेशन पर पधारे। स्टेशन पर उनकी अगवानी करने वालों में सर्वश्री लक्ष्मीदास क्षेमजी, मथुरादास लवजी, छबीलदास लल्लूभाई, जीवन दयाल, सेवकलाल कृष्णदास और लीलाधर हरि आदि महानुभाव उल्लेखनीय थे। उनकी निवास व्यवस्था मुम्बई नगर से दो कोस दूर वालुकेश्वर महादेव मन्दिर के पीछे एकान्त-स्थान में गोशाला के जीर्ण आवास में की गई थी। महर्षि को यह स्थान इतना भाया था कि जब-जब वे मुम्बई आए इसी स्थान पर ठहरे। वह अपनी डाक वालुकेश्वर के समीप स्थित ठाकरसी नारायणजी के पते पर भी मंगवाया करते थे।

मुम्बई की इस प्रथम यात्रा में महर्षि के 'मूर्त्ति-पूजा' तथा 'वल्लभ सम्प्रदाय' आदि विषयों पर 'फ्रामजी कावसजी सभागृह' और 'लालबाग' आदि स्थानों पर व्याख्यान हुए। जब-जब भी महर्षि मुम्बई पधारे, तब-तब उनके अधिकांश व्याख्यान, 'फ्रामजी कावसजी इंस्टीट्यूट' के विशाल सभागृह में हुए। यह स्थान मुम्बई के 'धोबी तालाब' नामक क्षेत्र में चौरस्ते पर है। गुजराती में मुम्बई आर्यसमाज का इतिहास श्री दामोदर सुन्दरदास ने सन् १९३३ में लिखा था। इस इतिहास के प्रस्तावना लेखक श्री विश्वनाथ प्रभुराम वैद्य थे, वैद्यजी ने प्रस्तावना में अपने संस्मरण अंकित करते हुए लिखा है, *'महर्षि का व्याख्यान सुनने के लिए बचपन में वे स्कूल छूटने से पहले, इसलिए पलायन कर जाते थे कि फ्रामजी कावसजी सभागृह की गैलरी में आसानी से जगह प्राप्त हो जाए। तत्पश्चात् वे दत्तचित्त होकर दो घण्टे तक महर्षि का प्रवचन सुनते थे।'*

महर्षि किसी भी नये शहर में जाने से पूर्व या पश्चात् समाचार पत्रों में विज्ञापन प्रसारित कर जिज्ञासुओं को शास्त्र-चर्चा के लिए निमन्त्रित करते थे, और प्रतिपक्षियों को शास्त्रार्थ की चुनौती भी देते थे, मुम्बई नगरी के बहुभाषीपन को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपना विज्ञापन हिन्दी, मराठी, गुजराती और अंग्रेजी में छपवाया था। विज्ञापन में 'धर्माधर्म' पर विचार करने की इच्छा रखने वालों को स्वामीजी ने

अपने वालुकेश्वर स्थित निवास स्थान पर बुलाया था। 'प० ग० न०' के संक्षिप्त, अज्ञात या गुप्त नाम से प्रश्न पूछने वाले जिज्ञासु के उत्तर महर्षि दयानन्द की अनुमति से पूर्णानन्द नामक संन्यासी ने विज्ञापन द्वारा दिये थे। पूर्णानन्दजी का नाम महर्षि दयानन्दजी की निजी डायरी में भी मिलता है। अज्ञातनामा 'प० ग० न०' के प्रश्नों का उत्तर दिलवाने के बाद महर्षि ने शास्त्रार्थ का आह्वान देते हुए जो विज्ञापन प्रकाशित किया, उसमें उन्होंने दृढ़ता और स्पष्टता के साथ लिखा था कि, 'जो कोई हमसे शास्त्रार्थ करना चाहे, वह अपना नाम, मत, सम्प्रदाय साफ-साफ बतला देवे, तब हम उसका उत्तर देंगे, या उससे शास्त्रार्थ करेंगे। परदे की ओट में आक्षेप करना ठीक नहीं।' मुम्बई की इस प्रथम यात्रा में सर्वश्री दादोबा पाण्डुरंग तर्खडकर (१८१४-१८८२) गिरधारीलाल दयालदास कोठारी और पानाचन्द आनन्दजी पारिख नामक त्रिमूर्ति ने महर्षि के परामर्श से आर्यसमाज के २८ नियमों को अन्तिम रूप दे दिया था। पर महर्षिजी के गुजरात यात्रा पर रवाना होने के कारण आर्यसमाज की स्थापना नहीं हो पायी। महर्षि की यह प्रथम मुम्बई यात्रा ४८ दिनों की (अर्थात् एक महिने अठारह दिन की) रही।

जन्मभूमि गुजरात में

मुम्बई से गुजरात यात्रा पर रवाना होने के पश्चात् महर्षि गुजरात के अन्य महत्त्वपूर्ण स्थानों के सिवाय अपनी जन्मभूमि टंकारा के समीप राजकोट में गुरुवार ३१ दिसम्बर १८७४ को पहुँच जाते हैं। इस सन्दर्भ में डॉ० भवानीलालजी भारतीय ने भावुक होकर लिखा है, 'वर्षों पश्चात् दयानन्द एक बार फिर अपनी जन्मभूमि गुर्जर देश में आए हैं। किसे पता था कि टंकारा ग्राम का वह ब्राह्मण युवक जो संवत् १९०३ की किसी अज्ञात सन्ध्या को घर-परिवार के मोह को छोड़कर वैराग्य पथ का पथिक बन गया था, एक बार पुनः अपनी मातृभूमि के दर्शन करने आयेगा, अब वह सर्वथा नवीन रूप में आ रहा है। गृहत्याग के समय तो वह सर्वथा अपरिचित एवं अख्यात था, किन्तु इस समय देशवासी उसे अप्रतिम समाज-सुधारक, युगप्रवर्त्तक तथा राष्ट्रपुरुष के रूप में जानते हैं।' ३१ दिसम्बर १८७४ से १८ जनवरी १८७५ तक महर्षि का निवास राजकोट में ही रहा।

आर्यसमाज की स्थापना का विचार तो सब से पहले मुम्बई में ही शुरू हो गया था, परन्तु महर्षि के करकमलों से संबसे पहले जो विश्व का सर्वप्रथम आर्यसमाज स्थापित हुआ, वह आर्यसमाज राजकोट ही था। स्वयं महर्षि ने बुधवार ४ अगस्त १८७५ की रात अपनी आत्मकथा पर प्रकाश डालते हुए कहा था, 'गुजरात देश में अन्य देशों की अपेक्षा आत्मीय जनों में आपसी मोह अधिक होता है, और मैं अपने पुराने इष्ट मित्र तथा आप्त पुरुषों की पहचान दूँ, तो उससे मुझे अत्यधिक पीड़ा होगी और जिस जंजाल से मैं छूट चुका हूँ, वह सब जंजाल फिर से मेरे पीछे लग जायेगा।' इस स्पष्टीकरण के बावजूद यह बात छिपी हुई नहीं हैं, महर्षि को भी अपनी जन्मभूमि और वहाँ के निवासियों के प्रति मोह था, राजकोट निवासकाल में काठियावाड़ के राजाओं के सम्मेलन को भी महर्षि ने सम्बोधित किया था और इसी अवसर पर मौरवी नरेश सर वाघजी से बातचीत करते हुए उन्होंने उन्हें बतलाया भी था कि 'वे स्वयं उनकी ही प्रजा हैं।'

गुजरात की एक यात्रा कर चुकने के बाद भी महर्षि की अन्तरात्मा को गुजरात की भूमि अपनी ओर आकृष्ट कर रही थी। शनिवार २ अक्तूबर १८७५ को सातारा से मुम्बईवासियों के निमन्त्रण पत्र का उत्तर देते हुए महर्षि ने स्पष्ट लिखा था, 'मदीय इच्छा तु गुर्जर देशं प्रति गमनस्य आसीत् तद् अनादृत्य भवत् सत्कारार्थं एव तत्र आगमनम् इष्यत इति निश्चितम्।' अर्थात् मेरी इच्छा तो गुजरात देश की ओर जाने की थी, पर अब मैं मेरी मनोकामना का अनादर कर आप सबकी भावना का सम्मान करते हुए मुम्बई आने का निश्चय कर चुका हूँ।

मुम्बई में आर्यसमाज स्थापित करते-करते महर्षि उससे पहले ही अपनी जन्मभूमि के निकटतम नगर राजकोट में आर्यसमाज की स्थापना कर देते हैं, तो कहीं इस क्रिया के पीछे महर्षि का अपना जन्मभूमि विषयक आकर्षण तो प्रेरक कारण नहीं है ? मेरे दुर्बल मन को यह भी प्रतीत होता है कि क्षिप्र गति से चलने वाले महर्षि ने यदि किसी ब्राह्ममुहूर्त में अपनी जन्मभूमि के भी दर्शन कर लिए होंगे, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी !

महर्षि की द्वितीय मुम्बई यात्रा

गुजरात से महर्षि फिर मुम्बई लौटते हैं। शुक्रवार २९ जनवरी १८७५ से महर्षि की दूसरी मुम्बई यात्रा शुरू होती है। सबसे पहले 'वेद मण्डप' नामक खुले स्थान पर उनके व्याख्यान शुरु होते हैं। अन्य नगरों की तरह इस नगरी में भी पहला दिन प्रायः व्याख्यान के लिए और दूसरा दिन शंका-समाधान के लिए सुरक्षित रखा जाता है। फरवरी मास की गुरुवार ४ और शुक्रवार २६ तारीख को तथा मार्च की मंगलवार १६ तारीख को महर्षि के विभिन्न विषयों पर व्याख्यान सम्पन्न होते हैं। बुधवार १० मार्च १८७५ को श्री खेमजी बालजी जोशी और पं० इच्छाशंकर शुक्ल के साथ व्याकरण और नियोग विषय पर उनका शास्त्रार्थ भी होता है।

अप्रैल मास की १०, १७ और २४ तारीख को तथा जून मास की १२ तारीख को भी उनके विविध विषयों पर व्याख्यान होते हैं। अप्रैल और जून मास के उक्त सभी व्याख्यान शनिवार को ही हुए हैं। यहाँ तक कि आर्यसमाज की स्थापना भी शनिवार को ही हुई है। लगता है मुम्बई आर्यसमाज की स्थापना के बाद समाज के साप्ताहिक सत्संग भी शनिवार को ही होने लगे थे।

इसी द्वितीय मुम्बई यात्रा में गिरगाँव रोड पर प्रार्थनासमाज मन्दिर के निकट पारसी सज्जन डॉ० माणिकजी अदेर की वाटिका में शनिवार चैत्र शुद्ध ५, १० अप्रैल १८७५ को आर्यसमाज की स्थापना सायंकाल साढ़े पाँच बजे सम्पन्न होती है। विशेष बात यह है कि अत्यधिक आग्रह होने पर भी महर्षि ने अपना नाम सामान्य सदस्य के रूप में ही अंकित करवाया है। उनका नाम पदाधिकारियों, अन्तरंग सदस्यों या विश्वस्तों में शामिल नहीं है। वीतराग महर्षि ने 'आर्यसमाज' की स्थापना की, पर उसके वे एक अतिसामान्य सदस्य ही बने रहे। आधुनिक युग में कुछ लोग अपने द्वारा स्थापित संस्थाओं के सर्वोच्च पदाधिकारी तो स्वयं बन ही रहें हैं। पर अन्यों द्वारा स्थापित, संवर्धित शिरोमणि संस्थाओं पर भी 'येन-केन प्रकारेण' निःसंकोच वीर सेनापति की मुद्रा में अनधिकृत कब्जा करने के बावजूद अपने आपको महर्षि का अद्वितीय शिष्य सिद्धि करते हुए किञ्चित् मात्र भी हिचक-झिझक महसूस नहीं कर रहें हैं। स्थापना काल में मुम्बई आर्यसमाज के प्रारम्भिक सदस्यों की संख्या ९७ थी।

प्रा० विपिनचन्द्र त्रिवेदी द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण के अनुसार इनमें 'संस्कृत व वैदिक शिक्षा', 'संस्कृत और अंग्रेजी शिक्षा' तथा 'देशी स्कूल की शिक्षा' और 'हिन्दी शिक्षा' प्राप्त क्रमशः केवल एक-एक ही सभासद थे। एम० डी०, बी० ए०, डॉक्टर तथा बी० ए०, एल० एल० बी० की शिक्षा प्राप्त भी क्रमशः केवल एक-एक ही सभासद थे। केवल संस्कृत शिक्षा प्राप्त सभासदों की संख्या पाँच, केवल मैट्रिक्युलेटेड सभासदों की संख्या नौ और शेष विद्यार्थियों की संख्या दस थी। केवल अंग्रेजी का शिक्षण प्राप्त सभासदों की संख्या तेरह थी। केवल साधारण ज्ञान रखने वाले सभासदों की संख्या बीस और खाजगी-निजी स्तर पर शिक्षा प्राप्त सभासदों की संख्या चौबीस थी, तथा जिनकी शैक्षिक योग्यता के विषय में किसी प्रकार का उल्लेख नहीं किया गया है, ऐसे सभासदों की संख्या तेरह है।

व्यवसाय की दृष्टि से मुम्बई आर्यसमाज के प्रारम्भिक सदस्यों का विश्लेषण इस प्रकार है। डॉक्टर, प्लीडर, सरकारी प्रेस में सेवा करने वाला, शास्त्री, रिपोर्टर, मुनीम, अधिपति, प्रिंटर क्रमशः एक-एक। हीरे का व्यवसाय करने वाले दो, अदालत में अनुवादक दो, हीरा व्यवसाय के कार्य में सहयोग करने वाले चार, क्लर्क चार, शिक्षक पाँच, नौकरी-चाकरी करने वाले दस, विद्यार्थी पन्द्रह, व्यापारी सोलह और दलाल तेईस थे। व्यवसाय के विषय में जिनके सामने किसी प्रकार का कोई उल्लेख नहीं हैं, ऐसे सभासदों की संख्या छह हैं। इनके अतिरिक्त संन्यासी होने के कारण महर्षि दयानन्द भी व्यवसाय से मुक्त हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि क्रमशः दलाल (२३), व्यापारी (१६) और विद्यार्थियों (१५) ने महर्षि द्वारा स्थापित मुम्बई आर्यसमाज का सदस्य बनने में ज्यादा उत्साह दिखाया है।

परम्परागत जाति की दृष्टि से मुम्बई आर्यसमाज के प्रारम्भिक सदस्यों का विश्लेषण इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है। सुवर्णकार, उदासी, चौबे, प्रभु क्रमशः एक-एक, खत्री दो, लोहाना तीन, भानुशाली छह, वैश्य सत्रह, भाटिया इक्कीस, और ब्राह्मण छत्तीस हैं। यदि यह माना जाए कि भाटिया-भानुशाली एक ही जाति के पर्यायवाची शब्द हैं तो ऐसी स्थिति में भाटिया जाति के सभासदों की संख्या सत्ताईस हो जायेगी। जिनकी जाति का उल्लेख नहीं किया गया है, उनमें दो महाराष्ट्रीय (क्रमांक ४१ और ५९), दो गुजराती (क्रमांक ५४ और ५५) तथा तीन

बंगाली हैं (क्रमांक १, २४ और २७) मुम्बई आर्यसमाज के प्रारम्भिक ९७ सभासदों में से ७२ अर्थात् ३/४ से अधिक गुजराती हैं। तत्पश्चात् बीस के लगभग महाराष्ट्रीय हैं। शेष मुम्बई में रह रहे अन्य प्रान्तीय आर्य सभासद हैं।

इन सब ९७ सभासदों के सक्रिय सहयोग और उत्साह से महर्षि दयानन्दजी सरस्वती ने अपनी द्वितीय यात्रा में मुम्बई आर्यसमाज की स्थापना की।

सोमवार २९ मार्च १८७५ को भाई जीवनजी के घर पर महर्षि का पं० रामलाल के साथ 'वेद में पाषाण पूजा' पर शास्त्रार्थ होता है। मध्यस्थ के आसन पर श्री रामभाऊ शास्त्री घारपुरे विराजमान थे। मंगलवार १२ जून १८७५ को पं० कमलनयन आचार्य महर्षि से 'मूर्त्ति-पूजा' पर शास्त्रार्थ करने के लिए सभागृह में तो पहुँच जाते हैं, पर बिना शास्त्रार्थ किये ही वापिस लौट आते हैं। रविवार २० जून १८७५ को महर्षि प्रातः साढ़े दस बजे ट्रेन से पुणे की ओर रवाना हो जाते हैं। महर्षि की यह द्वितीय मुम्बई यात्रा १४३ दिनों की (अर्थात् चार महीने तेईस दिन की) रही।

महर्षि की तृतीय मुम्बई यात्रा

प्रातः पौने दस बजे ट्रेन में सवार हो पुणे से महर्षि सायं सवा चार बजे मुम्बई वापिस लौटते हैं। उनकी यह तीसरी मुम्बई यात्रा शनिवार १६ अक्तूबर १८७५ से शुरू होती है। स्व० महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक के अनुसार 'मुम्बई तथा गुजरात में नये वर्ष का प्रारम्भ चैत्र शुक्ल १ के स्थान पर कार्तिक शुक्ल १ को मानते हैं। अतः शनिवार ३० अक्तूबर १८७५ को महर्षि 'नये वर्ष का प्रथम दिन' विषय पर व्याख्यान देते हैं।

'बंगदर्शन' पत्र के संवाददाता श्री नगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय के अनुसार *पुणे से जब महर्षि मुम्बई लौटे तो रेल्वे स्टेशन पर उन्हें लिवा लाने के लिए पचासों शिष्य उपस्थित थे। श्री चट्टोपाध्याय यह देखकर आश्चर्यचकित हो गए कि दयानन्द के पूना से मुम्बई आगमन का समाचार पाकर मुम्बई बाजार का एक सामान्य दुकानदार अपनी दुकान बन्द करके उनका स्वागत करने के लिए रेल्वे स्टेशन की ओर चल दिया था।*

महर्षि की यह तृतीय मुम्बई यात्रा लगभग १०३ दिन की रही २६ जनवरी १८७६ के आस-पास वे पुनः मुम्बई से गुजरात की ओर करों में 'ओ३म्' की पावन पताका लेकर वेद प्रचार-यात्रा पर निकल जाते हैं।

महर्षि की चौथी मुम्बई यात्रा

महर्षि की चौथी मुम्बई यात्रा मार्च मास के प्रथम सप्ताह में प्रारम्भ होती है। 'वेदों की श्रेष्ठता और पवित्रता', 'ईश्वर का अस्तित्व और उसके गुण', 'यज्ञ', 'आर्यों का इतिहास', आदि विषयों पर उनके क्रमशः 'गोविन्द विष्णु घुले के प्राइवेट इंग्लिश स्कूल', 'हरिश्चन्द्र चिन्तामणि के सभागृह' तथा 'टाउन हाल' आदि में व्याख्यान सम्पन्न होते हैं। सोमवार २८ मार्च १८७६ को हरियाणा प्रदेशीय अंबाला जनपद के 'रानी का रायपुर' गाँव के निवासी पं० रामलाल ज्योतिषी के साथ महर्षि का मूर्त्ति-पूजा पर शास्त्रार्थ भी होता है। लगभग दो महिने मुम्बई में रहकर वे सोमवार १ मई १८७६ को इन्दौर की ओर रवाना हो जाते हैं।

महर्षि की पाँचवीं और अन्तिम मुम्बई यात्रा

महर्षि मुम्बई आने से पूर्व २६ अक्तूबर १८८१ से २० दिसम्बर १८८१ तक चित्तौड़ में थे। चित्तौड़गढ़ से मुम्बई जाते हुए महर्षि मार्ग में सप्ताह भर इन्दौर में ठहरे। राजस्थान और मध्यप्रदेश की निर्धारित यात्रा सम्पन्न कर वे रेलमार्ग से शुक्रवार ३० दिसम्बर १८८१ को मुम्बई पहुँचे। स्टेशन पर स्वागत करने वालों में थियोसॉफिकल सोसाइटी के अध्यक्ष अमरीका देशस्थ कर्नल अल्कॉट भी उपस्थित थे। महर्षि की यह पाँचवीं और अन्तिम मुम्बई यात्रा लगभग चार साल आठ महिने के अन्तराल के बाद शुरु हुई थी। इस यात्रा की उल्लेखनीय घटना यह रही कि रविवार २६ फरवरी १८८२ को गोकुलदास करमसी की भूमि, ६४०० रुपयों में खरीद ली गई। वर्तमान काकड़वाड़ी आर्यसमाज इसी स्थान पर विराजमान है। सन् १८७५ में प्रार्थनासमाज के निकट जिस माणिकजी अदेर की वाटिका में आर्यसमाज की स्थापना हुई थी, वह स्थान महर्षि की दृष्टि में बहुत ही संकुचित और छोटा था। २६ फरवरी को नयी जगह खरीद लिये जाने के कारण महर्षि और उनके भक्तों का मन बहुत ही प्रसन्न

था। उसी दिन महर्षि के प्रवचन से पूर्व संगीतज्ञों ने तम्बूरे पर ईश्वर स्तुति का सुमधुर गायन भी किया था।

छह मास के मुम्बई निवास में महर्षि ने आर्यसमाज मुम्बई के सप्तम वार्षिक महोत्सव (सोमवार, मंगलवार, बुधवार तदनुसार २०, २१, २२ मार्च १८८२) में भी भाग लिया। इस शुभावसर पर प्रवचन देते हुए महर्षि ने कहा कि, *'चतुर्मुखी ब्रह्मा से तात्पर्य चारों वेदों के विद्वान् से है।'* अजमेर से प्रकाशित होने वाले 'देश हितैषी' पत्र में इस महोत्सव का वृत्तान्त प्रकाशित करते हुए लिखा गया था कि 'मार्च सन् १८८२ को आर्यसमाज मुम्बई का वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधाम से हुआ और स्वामी दयानन्दजी महाराज के ऐसे समय में उपस्थित रहने से उत्सव में अत्यन्त आनन्द रहा।'

इस यात्रा में महर्षि के बहुत से व्याख्यान हुए। 'धर्मोन्नति', 'द्वैत-अद्वैतवाद', 'अहिंसा और ईसाई मत', 'अश्वमेध-गोमेध का वास्तविक अभिप्राय', 'मनुष्योन्नति और ब्रह्मचर्य', 'मनुष्योन्नति और शारीरिक सम्पत्ति', 'मनुष्योन्नति-प्रारब्ध और पुरुषार्थ', 'अवतारवाद', 'पुनर्जन्म तथा सृष्टि विद्या', 'मादक द्रव्य निषेध', 'सबसे प्राचीन वेद', 'आर्यसमाज और थियोसॉफिकल सोसाइटी', 'ब्रह्मसमाज-प्रार्थनासमाज और आर्यसमाज का साम्य वैषम्य', 'देशोन्नति', 'सम्यक् उपासना प्रणाली', 'कर्त्तव्याकर्त्तव्य की व्याख्या' तथा 'योग विद्या' आदि विषयों पर महर्षि दयानन्दजी सरस्वती के व्याख्यान 'गोविन्द विष्णु घुले की पाठशाला', 'फ्रामजी कावसजी इंस्टीट्यूट', 'हालाई महाजन वाडी', 'झबेर बाग', 'एस्प्लेनेड थियेटर' और 'गेइटी थियेटर' में सम्पन्न हुए। सरकार से प्राप्त की गई जमीन पर गेइटी थिएटर का निर्माण कुंवरजी नाजिरजी ने करवाया था। ६ दिसम्बर १८७९ को इसका उद्घाटन हुआ था। अब यह थियेटर 'कैपिटल सिनेमा' के नाम से जाना जाता है। सन् १८८२ में मुम्बई का यह सर्वोत्कृष्ट नाट्यगृह था।

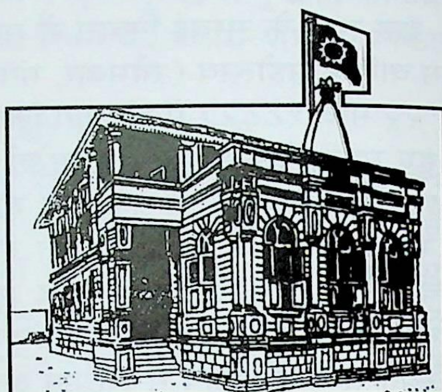
महर्षि की यह अन्तिम मुम्बई यात्रा लगभग ६ महिने की रही। शनिवार २४ जून १८८२ को वे मुम्बई से पुनः मध्यप्रदेश और राजस्थान की ओर रवाना हो जाते हैं।

महर्षि की प्रभावशाली व्याख्यान शैली

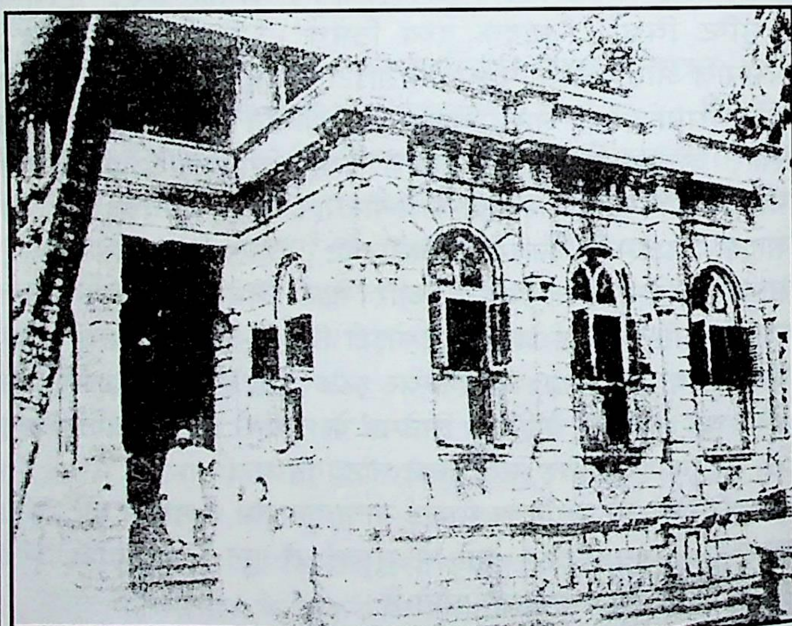
आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रोफेसर, संस्कृत-इंग्लिश कोश के रचयिता प्रो० मोनियर विलियम्स (१८१९-१८९९)



आर्यसमाज, काकड़वाड़ी
का प्रवेशद्वार



आर्यसमाज, काकड़वाड़ी
का रेखाचित्र



आर्यसमाज, काकड़वाड़ी का फोटो चित्र



फ्रामजी कावसजी इंस्टीटयूट सभागृह
महर्षि के अधिकांश व्याख्यान इसी सभागार में हुए ।



गेइटी थियेटर (कॅपिटल सिनेमा)
सन् १८८२ में महर्षि ने जहाँ 'देशोन्नति' पर व्याख्यान दिया ।

५ मार्च १८७६ को मुम्बई में महर्षि से मिले थे। उनसे उनका वार्त्तालाप भी हुआ था और उसी दिन उन्होंने 'वेदों की श्रेष्ठता और पवित्रता' पर महर्षि दयानन्दजी का व्याख्यान भी सुना था।

प्रो० विलियम्स ने 'ब्राह्मणिज्म एण्ड हिन्दुइज्म' में तत्कालीन संस्मरणों को लिपिबद्ध करते हुए लिखा है, *'मेरा महर्षि से परिचय १८७६ में मुम्बई में हुआ था। मैंने उन्हें आर्यजाति के धार्मिक विकास पर एक प्रभावशाली वक्तृता देते हुए सुना। अपने एक बार के साक्षात्कार में मैंने उनसे उनके द्वारा सोची गई धर्म की परिभाषा पूछी। उन्होंने संस्कृत में प्रत्युत्तर देते हुए कहा, 'सत्य और न्याय युक्त दृष्टि तथा पक्षपात राहित्य का नाम धर्म है। इन्द्रिय, तर्क एवं ईश्वर प्रदत्त ज्ञान के द्वारा पक्षपात विरहित अन्वेषण ही धर्म है।'*

सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा (१८६३-१९४७) ने सन् १८८४ में मुम्बई से मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की थी। मुम्बई निवास काल में उन्हें, स्वामीजी के प्रवचन सुनने का स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ। तत्कालीन संस्मरणों को संक्षिप्त में लिपिबद्ध करते हुए आपने लिखा है, 'मुझे मुम्बई में रहते समय सन् १८८१ के दिसम्बर से सन् १८८२ के मई मास तक महर्षि के अनेक व्याख्यान सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, और उसका बहुत कुछ प्रभाव मेरे चित्त पर पड़ा।'

बंगाल के तत्कालीन पत्रकार श्री नगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय के शब्दों में—'मुम्बई प्रदेश में पर्यटन करते हुए मैंने देखा कि वहाँ दयानन्द ने महा आन्दोलन उपस्थित कर दिया है। अनेक उत्साही भद्रपुरुष आर्यसमाज में प्रविष्ट हो गए हैं। जहाँ-तहाँ दयानन्द की ही चर्चा होती है। दयानन्द की वक्तृत्त्व शक्ति, समाज विषयक दृष्टि और अभिनव वेदव्याख्या पर सर्वत्र आलोचना हो रही है। तत्पश्चात् उक्त पत्रकार ने महर्षि के व्यक्तित्त्व और आकृति आदि का विश्लेषण करते हुए लिखा था, 'दयानन्द सबल और दीर्घकाय हैं। उनके साथ बातचीत करने और विशेष परिचय प्राप्त करने से यह विश्वास होता है कि—यथार्थ ही वे एक असाधारण पुरुष हैं। उनकी वाग्मिता, तर्कशक्ति असाधारण है और स्वदेश कल्याणार्थ उनका उत्साह और प्रयत्न भी असाधारण है।'

महर्षि दयानन्द सरस्वती की मुम्बई प्रवास के प्रसंग में यह बात अविस्मरणीय रहेगी कि मुम्बई में आने के बाद ही उन्होंने अपने दिगम्बर (निर्वस्त्र), अवधूतपन का परित्याग कर नखशिखान्त वस्त्र परिधान करने शुरु कर दिये थे। अपनी हरिद्वार (१८६७) से मुम्बई (१८७४) यात्रा तक की कालावधि में महर्षि प्रायः शरीर पर भस्म लगाते थे और कौपीन के सिवाय अन्य वस्त्र धारण नहीं करते थे। मुम्बई आगमन के पश्चात् महर्षि नियमित रूप से गेरुए वस्त्र पहनने लगे थे, और बाहर जाते हुए चाँदी की मूठ की एक छड़ी हाथ में रखते थे, तथा पैरों में खड़ाऊँ के स्थान पर चमकदार जूते भी पहिनते थे।

—अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन : मुम्बई : स्मारिका : (२३ से २६ मार्च २००१) से साभार।



(६)

महर्षि दयानन्द कालीन-पुणे नगरी

महर्षि दयानन्दजी के पुणे आने से सात वर्ष पूर्व नारायण विष्णु जोशी नामक एक व्यक्ति ने **'पुणे शहराचे वर्णन'** नामक एक मराठी पुस्तक लिखी थी। जिसके आधार पर पुणे नगरी का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। इस पुस्तक के आधार पर एक प्रकार से हम स्वामी दयानन्द कालीन पुणे की कल्पना कर सकते हैं।

पुणे शहर मुंबई से आग्नेय दिशा की ओर ७४ मील दूर है, और समुद्र से सीधी रेखा की लिहाज से ६४ मील दूर है। समुद्र के पृष्ठ भाग से इसकी ऊँचाई १८५० फुट है। शहर से उत्तर दिशा की ओर ५८ मील पर सातारा शहर है। पुणे शहर का पूर्व पश्चिम विस्तार एक कोस और दक्षिणोत्तर विकास पौन कोस है। उत्तर दिशा में मुळा नदी बहती है। पुणे की हवा स्वच्छ और समशीतोष्ण है। शासकीय अधिकारी वर्षा ऋतु में यहाँ विशेष रूप से आना पसन्द करते हैं। संयोग से महर्षि दयानन्दजी सरस्वती भी इन्हीं दिनों पधारे थे। २० जून १८७५ से ५ सितम्बर १८७५ तक वे पुणे में रहे। तत्पश्चात् एक महीना सातारा में निवास कर ६ अक्टूबर से १५ अक्टूबर तक पुनश्च पुणे में रहे। पुणे आर्यसमाज की स्थापना स्वामीजी की इसी द्वितीय पुणे यात्रा के अवसर पर हुई थी। जिस स्थान पर वर्तमान [अर्थात् सन् १८६८ का] पुणे बसा है उस स्थान पर आज से १२०० वर्ष पूर्व एक छोटी-सी वाडी (बस्ती) थी। यह बस्ती वर्तमान कस्बा पेठ क्षेत्र के कुछ भाग में बसी हुई थी, और उसमें कुल १०-१५ ही घर थे। पुणे की ग्राम देवता गाँव की उत्तर दिशा में थी, जिसे तांबडी जोगश्वरी कहते हैं। पंजाब के भूतपूर्व राज्यपाल श्री न० वि० गाडगिळ के अनुसार इसी मन्दिर से संलग्न भिडेवाडे में स्वामीजी के पन्द्रह व्याख्यान हुए थे। १६३६ में शहाजी ने एक बड़ा मकान बनाया और उसका नाम लाल महल रखा था। इस महल में शिवाजी महाराज और उनकी माता जीजाबाई ने भी निवास किया था। उस समय शिवाजी की आयु केवल पाँच वर्ष थी।

पुणे में बाजीराव (बल्लाळ) के स्थायी निवास बना लेने के बाद पुणे शहर का विकास शुरू हुआ। कसबा क्षेत्र में नौ बुर्ज और पाँच दरवाजों वाला सरकारी शनिवार वाड़ा बाँधा गया। इस सरकारी वाड़े का काम निरन्तर सात वर्ष तक चलता रहा। पेशवे की इच्छानुसार सातारा शहर की शैली पर पेठों का नामकरण सात वारों पर कर दिया गया—जैसे आदित्यवार (रविवार) पेठ, सोमवार पेठ, मंगलवार पेठ, बुधवार पेठ (इसी पेठ में स्वामीजी के सुप्रसिद्ध पन्द्रह पुणे प्रवचन हुए) गुरुवार पेठ [इसी का दूसरा नाम वेताल पेठ है, जब गुरुवार पेठ में वेताल का मन्दिर बनाया गया तब से इसका नाम वेताल पेठ भी हो गया]। इसी वेताल पेठ (विठ्ठलपेठ नहीं) में स्थित जगन्नाथ शंकरशेठ के घर में स्वामीजी की निवास व्यवस्था की गई थी। शुक्रवार, शनिवार आदि पेठों के अतिरिक्त अन्य कुछ पेठों के नाम इस प्रकार थे—कसबा पेठ, सदाशिव पेठ, [सुप्रसिद्ध पेशवा-सदाशिवराव भाऊ के चचेरे भाई ने इसे बसाया था], नारायण पेठ, नाना पेठ, रास्ता पेठ, भवानी पेठ, गणेश पेठ। इस प्रकार पुणे में कुल १८ पेठ थीं।

स्वामीजी की शोभा यात्रा छावनी विभाग के मेन स्ट्रीट से भवानी पेठ, गणेश पेठ, रविवार पेठ से गुजरती हुई बुधवार पेठ स्थित भिड़ेवाड़े के सामने विसर्जित हुई थी। इसी भिड़ेवाड़े के घर क्रमांक ३२ में कालांतर में चाफेकर बन्धुओं के साथ हँसते-हँसते फाँसी पर लटकने वाले महादेव रानडे के पिताजी विनायक रानडे रस्ते की ओर स्थित मकान में रहते थे। इसी वाड़े से संलग्न मन्दिर से दूसरी ओर की गली में वेदपाठशाला थी। बुधवार पेठ में मानाई नामक एक मठ था, जो पेशवा ने नाना फडणवीस को सौंप दिया था। उन्होंने इस स्थान पर एक विष्णु मन्दिर बनाया और इस परिसर का नाम बेलबाग रख दिया। [रमाबाई रानडे और आहिताग्नि राजवाडे के अनुसार बेलबाग के सामने स्थित भिडे के वाडे में स्वामीजी के व्याख्यान हुए थे [सामने दोनों ओर भी भिडे के वाडे थे,] हम पुणे की नगर संरचना से अधिक सुपरिचित होने के कारण न० वि० गाडगिल के इस मत से सहमत हैं कि बेलबाग के पीछे स्थित तांबडी जोगेश्वरी मन्दिर से संलग्न भिडेवाडे में ही स्वामीजी के व्याख्यान हुए थे। इसी चर्चित बेलबाग में स्थित विष्णु मन्दिर में १५ अगस्त १८७५ को स्वामीजी

के मन्तव्यों का खण्डन करने के लिए एक सभा आयोजित की गई थी, जिसके परिणाम स्वरूप पं० रामदीक्षित आप्टे तथा नारायण शास्त्री गोडबोले ने तथाकथित शास्त्रार्थ का विज्ञापन छपवाया था]।

पुणे में २०० मन्दिर, १७ धर्मशाला, २५ मठ, ६५ मस्जिद, ७ कुँए थे। १८६४ में जनसंख्या ८० हजार थी और कुल १०, २४५ घर थे। १८५१ में पुणे की जनसंख्या ७३, २०९ अंकित की गई थी। इस प्रकार १३ साल में पुणे की जनसंख्या केवल सात हजार बढ़ी तो १८६४ के ११ वर्ष बाद पुणे की जनसंख्या १८७५ में [स्वामी दयानन्दजी के काल में] अधिकतम ९० हजार होगी। १८६४ में पुणे में केवल सात मुद्रणालय थे, जिनमें दो अंग्रेजी थे। स्वामी दयानन्दजी के समाचारों को सर्वाधिक स्थान देने वाला मराठी समाचार-पत्र-'ज्ञान प्रकाश' १८४८ में निकला था। स्वामीजी ने अपने एक पत्र में इस पत्र का उल्लेख किया है।

१८५६ के आस-पास पुणे बहुत सस्ता था। घी एक रुपए का सवा सेर, तेल एक रुपये का आठ सेर, गुड एक रुपये का दस सेर, शक्कर एक रुपये की सवा तीन सेर, ज्वारी ३ रुपये की १२० सेर, चने ८ रुपये के १२० सेर, गेहूँ साढे पाँच रुपये के १२० सेर और चावल साढ़े बारह रुपये के १२० सेर थे।

पुणे में मराठी, गुजराती, हिन्दी, कन्नड़, तेलुगु, मद्रासी, हिब्रू, अरबी, उर्दू, अंग्रेजी, कामाठी और कुंभार लोगों की अपभ्रंश हिन्दुस्तानी का प्रचलन था। यहाँ के सभी लोगों को सिर पर सुन्दर-सी 'पुणेरी' पगड़ी रखने का शौक है। पुणे की एक टेकडी पर स्थित पर्वती क्षेत्र की शिवमूर्ति दो मन वजन की थी और इसी स्थल की पार्वती तथा गणेश की स्वर्ण मूर्त्तियाँ क्रमशः ग्यारह व नौ तोले की थी।

स्वामी दयानन्द के पुणे आगमन से पूर्व पुणे नगरी जिस दौर से गुजर रही थी, उसका यहाँ एक संक्षिप्त-सा विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

विद्वद् ब्राह्मणों की दक्षिणा के लिए सुरक्षित पचास हजार रुपये की निधि में से बीस हजार रुपये एक ओर निकाल कर अंग्रेज कमिश्नर ने प्राच्य विद्या की सुरक्षा के उद्देश्य से विश्रामबाग वाड़े में सन् १८२१ में एक शासकीय पाठशाला शुरु की थी, जिसमें वेद, धर्म, न्याय आदि शास्त्रों के अध्ययन की व्यवस्था की गई थी। प्रस्तुत

पाठशाला में सौ छात्र विद्याध्ययन कर रहे थे। विष्णु शास्त्री चिपळूणकर के समाजसुधारवादी पिता कृष्ण शास्त्री चिपळूणकर तथा नाना शास्त्री आप्टे इसी पाठशाला के स्नातक थे। सन् १८२३ में राधाबाई नामक एक महिला सती होने के लिये चिता की ओर बढ़ी पर लपलपाती लपटों को सहन न कर पाने के कारण वह चिता से बाहर कूद पड़ी, पर अत्यधिक जल जाने के कारण अन्त में वह प्राणहीन हो गई। सन् १८३० के आस-पास रेवरंड जेम्स मिचेल साहब ने अंग्रेजी पाठशाला शुरु की। जो कालान्तर में बुधवार वाड़े में स्थानान्तरित हुई। 'लोकहितवादी' इसी पाठशाला के स्नातक थे। सन् १८३० में पुणे में मण्डी का निर्माण हुआ। शहद के छत्ते पर जैसे मधुमक्खियों का जमघट होता है वैसे ही लोगों की भीड़ मण्डी में दिखाई देने लगी।

१८४८ में एक मध्यवर्ती ग्रन्थालय शुरु हुआ। इसे साकार करने में गोपाल हरिदेशमुख लोकहितवादी ने सबसे अधिक बढ़-चढ़कर भाग लिया। इस ग्रन्थालय में १८६८ में अंग्रेजी की १८०० और मराठी की २५७ पुस्तकें थीं। ३६ मानचित्र थे और चार मराठी तथा चार अंग्रेजी दैनिक आते थे। १८५० में रात में होने वाले तमाशों पर पाबंदी लगा दी गई। सन् १८५० में ही मुम्बई पुणे के बीच तार-सेवा शुरु हुई।

१ जनवरी १८४८ को महात्मा फुलेजी ने सर्वजनहिताय बुधवार पेठ स्थित तात्यासाहब के भिडेवाडे में और १५ मई १८४८ को महारवाडे (पेठ जुना गंज, मोमिनपुरा) में शूद्रातिशूद्रों के लिये पाठशाला खोलीं। कम से कम इस वर्ग की सात पीढियाँ ऐसी गुजर चुकी थीं जिन्हें पढ़ने का अधिकार ही न मिला था। मुख्य व्यवस्थापक स्वयं महात्मा फुले ही थे। इसी स्कूल में १६ जुलाई १८७५ को शूद्रातिशूद्रों के अनुरोध पर स्वामीजी ने व्याख्यान दिया था। प्राप्त प्रमाणों पर आधारित मेरी यह धारणा है कि स्वामीजी को यह अनुरोध-पत्र महात्मा फुले की प्रेरणा से ही लिखा गया था। इस व्याख्यान का भी प्रभाव था कि जिस कारण महात्मा फुले अपने अनुयायियों के साथ स्वामीजी की शोभायात्रा में सम्मिलित हुए। १८४९ में एक इन्स्फन्ट नामक स्कूल पुणे में खुला प्रत्येक छात्र को मासिक एक रुपया शिष्यवृत्ति दी जाती थी।

१८५१ में महात्मा फुलेजी ने जब बुधवार पेठ में कन्या पाठशाला

का शुभारम्भ किया। तब यह शोर मच गया कि कन्याओं को कुमार्ग का पथिक बनाने का दरवाजा खोल दिया गया है, यह काम जाति-धर्म के विरुद्ध है। अध्यापन के लिए जब कोई भी शिक्षक न मिला तो स्वयं फुले शिक्षक बने, जब एक और सहशिक्षक की आवश्यकता हुई तो किसी ने भी सामने आने का साहस न किया, पर फिर भी महात्मा फुले निराश नहीं हुए और उन्होंने अपनी धर्मपत्नी सावित्रीबाई को पढ़ा-लिखाकर अध्यापन के योग्य बना दिया। सावित्रीबाई फुले इस कार्य में इतनी मग्न हो गईं थीं कि उन्हें भोजन करने की भी फुरसत् नहीं मिलती थी।

बाजीराव (बालाजी) के काल से ठीक रात के ११ बजे नियमित रूप से गरजने वाली तोप ने १८५६ से सदा-सदा के लिए गरजना बन्द कर दिया। तोप के गरजते ही ११ बजे के बाद शहर में प्रवेश करने और घूमने पर पाबन्दी थी, जो १८५६ से हट गई। ८ अक्तूबर १८६३ से ७ अक्तूबर १८६७ तक दावीद ससून नामक एक उदार यहूदी व्यापारी के दान से ससून हास्पिटल का काम शुरु हुआ। इस दवाखाने की लम्बाई ३५० फुट और चौड़ाई पचास फुट है।

१८६० में सर जेमशेटजी बागेनेट और सरकार के संयुक्त प्रयास से तत्कालीन पुणे से ढाई कोस की दूरी पर डेक्कन कॉलेज का शुभारम्भ हुआ। इसका उत्तरी भाग १४५ फुट लम्बा और २४ फुट चौड़ा है तो दक्षिणी भाग १५० फुट और पूर्वी भाग १६७ फुट लम्बा है। भवानीपेठ स्थित एक स्कूल को १८५४ में 'इंजिनियरिंग कॉलेज' के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। कालान्तर में यह कॉलेज भवानीपेठ से भांबुर्ड्या में स्थानान्तरित हो गया। इसे कर्नल स्काट ने शुरु किया था। आगे चलकर कावसजी जहांगीरजी रेडीमनी नामक उदार पारसी गृहस्थ ने इस शिक्षा संस्था को ५०,००० का दान दिया। भवन निर्माण हेतु १,८१,६४७ रुपये खर्च हुआ। १८५७ में मुम्बई विश्वविद्यालय के स्थापित हो जाने के बाद यह कॉलेज उससे संलग्न कर दिया। इस इंजीनियरिंग कॉलेज से सड़क पार कर लेने के बाद भांबुर्ड्या गाँव का क्षेत्र शुरु हो जाता है। मूल भांबुर्ड्या में रोकडोबा मन्दिर के अन्दर पृष्ठभाग में स्थित बरामदे-सी धर्मशाला में कृष्णराव पाण्डुरंग भालेकर के अनुरोध पर महर्षि दयानन्दजी ने एक व्याख्यान दिया था। महात्मा फुले के अनुयायी भालेकर का घर 'भांबुर्ड्या' में

ही था। उन्होंने इस क्षेत्र में एक सार्वजनिक वाचनालय भी खोला था। रोकडोबा का मन्दिर और उसकी धर्मशाला आज भी पूर्ववत् विद्यमान है।

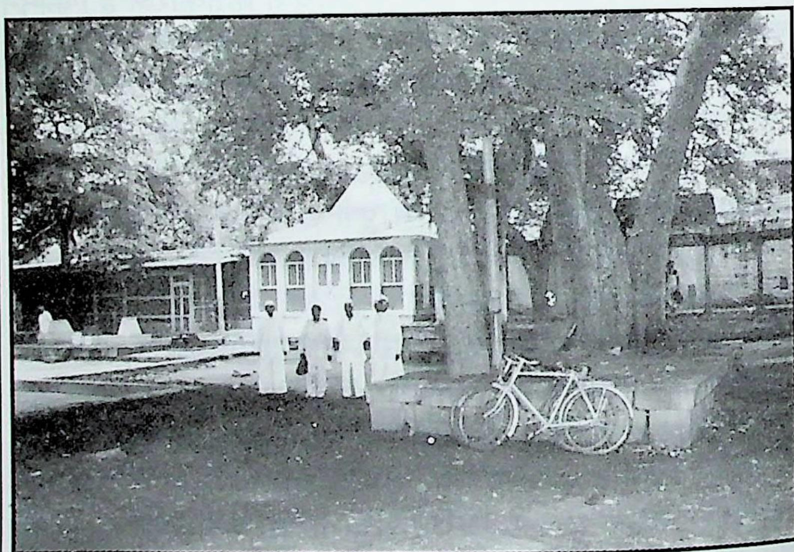
अंग्रेजी शासन शुरु होने से पूर्व डाक या सामान भेजने के लिए हरकारे या दूत की व्यवस्था करनी पड़ती थी। सरकारी कागज पत्र सांडनी या ऊँटनी सवार के साथ भेजे जाते थे, इसके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं था। अंग्रेजों का शासन शुरु होने के बाद डाक विभाग आरम्भ हुआ। सौ मील की दूरी तक जानेवाले प्रत्येक प्रति तोले वजन की डाक का शुल्क एक आना था, तो ३० से ५० मील तक जाने वाली प्रति तोले वजन की डाक का मूल्य २ आने था। अंग्रेजी शासन शुरु होने के बाद अनेक वर्षों तक पुणे में शराब की दुकानें नहीं थी, पर अब १८६२ से पुणे में शराब की दुकानें आ गयी हैं। छावनी विभाग में शराब की साठ (६०) दुकानें थीं। २३ मार्च १८६४ से 'मुम्बई-पुणे-मुम्बई' मार्ग की रेल-सेवा शुरु हुई।

पुणे शहर की तुलना में छावनी विभाग ऊँचाई पर होने से वहाँ खुली हवा है, जो स्वास्थ्य की दृष्टि से अधिक हितकारक है। कानून का कठोरता से परिपालन किये जाने के कारण यहाँ की बस्ती खुली और रास्ते बड़े तथा स्वच्छ हैं। व्यापारियों में हिन्दू-मुस्लिम, बोहरी-समाज तथा अंग्रेजों का समावेश है, विलायती सामान मिलता है। इसी छावनी के ईस्ट-स्ट्रीट स्थित मराठी शाला में स्वामी दयानन्दजी के ३५ व्याख्यान हुए थे। वर्तमान में पुणे छावनी में स्थित एक मात्र मराठी शाला (स्थापना : १८८५) के अधिकारियों के अनुसार उनकी मराठी शाला इससे पूर्व ईस्ट स्ट्रीट में ही थी, पर कालान्तर में वहाँ आग लग गई और उसे मेन स्ट्रीट पर स्थानान्तरित कर दिया गया।

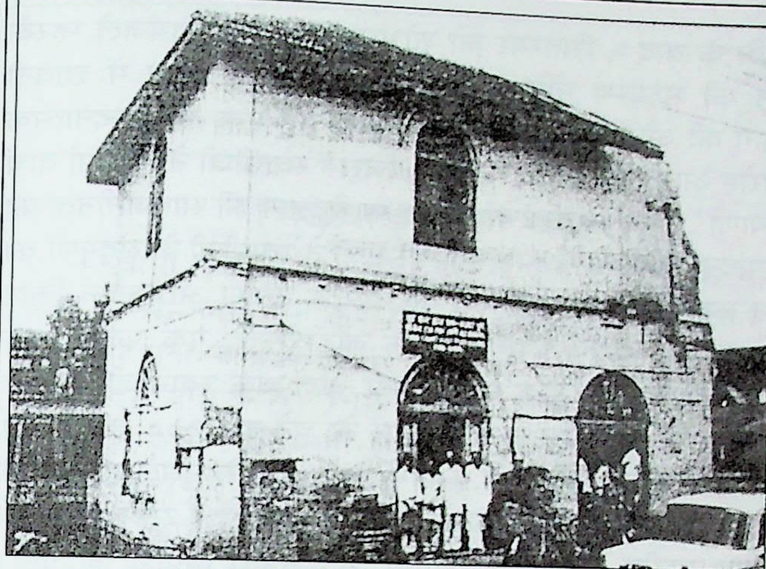
छावनी में महर्षि दयानन्दजी सरस्वती के जिस महामना महानुभाव ने ३५ व्याख्यान करवाए उनका पूरा नाम है श्री गंगाराम भाऊ म्हस्के। म्हस्केजी का तत्कालीन भव्य मकान आज भी मेन स्ट्रीट पर महावीर चौक और नामदेव चौक के मध्य, राम मन्दिर के सन्निकट, बोहरा मस्जिद के पृष्ठ भाग के राजमार्ग पर पूर्ववत् विराजमान है। घर क्रमांक २७५ है। १० अगस्त १८७५ को लिखे अपने पत्र में स्वामी दयानन्दजी ने लिखा है—'लस्कर में गंगाराम भाऊ आदि पुरुषों ने अच्छी प्रकार व्याख्यानादि प्रबन्ध पूर्वक कराये।' इन व्याख्यानों की



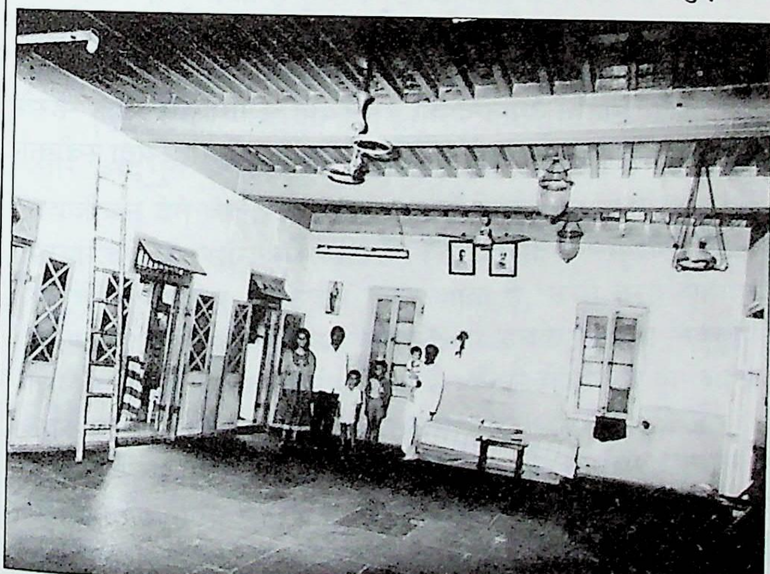
भांबुर्ड्या (शिवाजीनगर) में स्थित रोकड़ोबा मंदिर



इसी मंदिर के परिसर में स्थित धर्मशाला में
महर्षि का व्याख्यान हुआ था ।



पुणे छावनी में ईस्ट स्ट्रीट में स्थित मराठी पाठशाला का वह एक भाग । जहाँ महर्षि के ३५ व्याख्यान संपन्न हुए ।



पुणे छावनी स्थित म्हस्के भवन का आंतरिक दृश्य, जहाँ महर्षि का अन्तिम व्याख्यान और विदाई समारोह संपन्न हुआ ।

समाप्ति के बाद ५ सितम्बर को शोभायात्रा से पूर्व, तिमंजले म्हस्के भवन की मध्यस्थ मंजिल के ३१×२२ फिट के हाल में छावनी विभाग की ओर से कृतज्ञता ज्ञापित करने हेतु एक अभिनन्दनात्मक समारोह आयोजित किया गया था। जिसमें स्वामीजी ने 'यथेमां वाचं कल्याणी'...इस यजुर्मन्त्र के आधार पर वेदज्ञान की सार्वजनीनता का प्रतिपादन किया था। तत्पश्चात् म्हस्केजी ने स्वामीजी के सद्गुणों का वर्णन करते हुए छावनीवासियों की ओर से उनका अभिनन्दन किया और कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए एक जोड़ी शाल, एक पगड़ी, एक रेशमी पीताम्बर और एक रेशमी चादर श्रद्धापूर्वक स्वामीजी को भेंट की। पुष्पवर्षा हुई। इस सभा में नगर के चुने हुए १०० के लगभग प्रतिष्ठित व्यक्ति उपस्थित थे, जिनमें ईसाई, पारसी, मुसलमान, यहूदी इत्यादि सभी वर्ग के व्यक्ति सम्मिलित हुए थे। सभा सम्पन्न होने के बाद महाराष्ट्रीय परम्परा के अनुसार पान-सुपारी वितीर्ण की गयी। स्वामीजी की वह बहुचर्चित शोभा यात्रा जिसके प्रारम्भ काल में ३०० या ४०० और विसर्जन-समापन काल में ३००० या ४००० (तीन हजार या चार हजार) व्यक्ति थे, इसी म्हस्के भवन से शुरु हुई थी। स्वामीजी छावनी व्याख्यान काल में अनेक बार इस भवन में आए होंगे। स्मरण रहे महर्षि दयानन्द की उपस्थिति में गंगाराम भाऊ म्हस्के के साथ छावनी के ६०-७० लोगों ने आर्यसमाज की सदस्यता स्वीकार की थी।

—वेदवाणी, जनवरी १९९१ से साभार



(७)

'भिड़ेवाड़ा' की खोज

[स्वामी दयानन्द ने १८७५ ई० में पुणे के भिड़े के बाड़े में अपने प्रसिद्ध पन्द्रह व्याख्यान दिए थे। प्राध्यापक कुशलदेव शास्त्री ने अपनी पूना यात्रा के दौरान इसी भिड़े के बाड़े का अनुसंधान किया। इस नगर के ५० भिड़े के बाड़ों में से उस स्थान की खोज निश्चय ही कठिन थी, जहाँ आज से १०८ वर्ष पूर्व श्री महाराज ने अपने महत्त्वपूर्ण व्याख्यान इस नगर में प्रबुद्ध श्रोताओं के समक्ष उपस्थित किए थे। इस लेख से विदित होगा कि ये व्याख्यान जिस भिड़े के बाड़े में दिये गए थे, वह बुधवार पेठ में तांबड़ी जोगेश्वरी मन्दिर के निकट है। हमारी प्रार्थना पर प्रा० कुशलदेवजी ने यह लेख लिखकर हमें भेजा है तथा भिड़े के बाड़े के चित्र भी भेजे हैं। आशा है महर्षि की जीवनी के रसिक पाठकों के लिये यह लेख रोचक एवं ज्ञानवर्धक होगा। —भवानीलाल भारतीय : संपादक : परोपकारी]

जिस प्रकार अचेतन होते हुए भी जन्मभूमि, 'स्वर्गादपि गरीयसी' और अद्‌भुत प्रेरणादायी होती है, उसी प्रकार समाज-जीवन को नवजीवन देने वाले श्रद्धेय महापुरुषों के ऐतिहासिक स्थल भी अपूर्व प्रेरणा देने का सामर्थ्य रखते हैं। जिस तरह जन्मभूमि के प्रति उसके सुपुत्रों में विशेष आकर्षण पाया जाता है, उसी तरह महापुरुषों के चरण रजों से पवित्र धरा के प्रति भी उनके सहृदय भक्तों में एक विशेष प्रकार का आकर्षण होता है। जिसे बुद्धि की अपेक्षा हृदय के स्तर पर ही अधिक समझा जा सकता है।

११ मई १९८१ को जब मुझे किसी कार्यवश पूना जाने का अवसर मिला तो महर्षि के सुप्रसिद्ध व्याख्यान स्थल 'भिड़ेवाड़ा' को देखने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई। जहाँ पर उनके एक महीने में पन्द्रह व्याख्यान हुए थे। पुणे जाकर जब मैंने 'भिड़ेवाड़ा' की खोज शुरु की तो पुणे नगर के सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ राजा केलकर (जिनका पुणे शहर में 'राजा केलकर संग्रहालय' भी है) ने कहा कि—'पुणे में

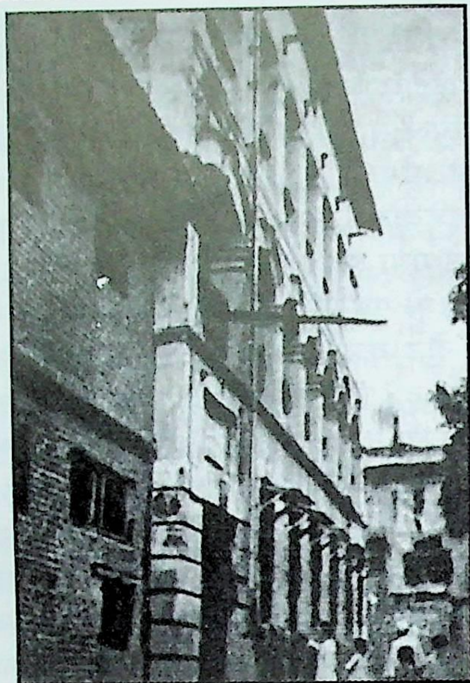
५० भिड़ेवाड़े हैं, कहाँ-कहाँ देखोगे'? 'इतिहास संशोधन मण्डल' के अध्यक्ष ग० ह० खरे व अनुसंधान प्रिय शोध लेखक श्री देवीसिंहजी चौहान से भेंट की तो उन्होंने भी इस सम्बन्ध में अनभिज्ञता प्रकट की। बातचीत में श्रीयुत ग० ह० खरेजी ने यह स्पष्ट किया कि—'महादेव गोविन्द रानडे का वास्तविक नाम महादेव न होकर माधवराव ही है, लेकिन ज्यादा प्रचलन महादेव गोविन्द रानडे का ही है।' 'भिड़ेवाड़ा' की विशेष खोज के लिए उन्होंने 'ज्ञानप्रकाश' नामक मासिक पत्र के अंक देखने की सलाह दी। महाराष्ट्र आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्कालीन उपप्रधान तथा पिंपरी-पुणे आर्यसमाज के प्रधान श्री कृष्णचन्द्र वेढारामजी आर्य से जब यह ज्ञात हुआ कि—स्वामीजी के व्याख्यान 'बुधवार पेठ' में हुए थे, तो मैं बुधवार पेठ गया और वहाँ जाने पर मुझे मालूम हुआ कि—इस बुधवार पेठ नामक क्षेत्र में दो-तीन 'भिड़ेवाड़े' हैं। बैंक ऑफ महाराष्ट्र की पिछली गली में स्थित भिड़ेवाड़े की भव्य बिल्डिंग में किसी प्रकार का पूर्व परिचय न होते हुए भी चला गया। पूछने पर पता चला कि—न तो उन्होंने स्वामी दयानन्दजी का नाम सुना है और न ही उन्हें इस बात की जानकारी है कि आज से लगभग १०५ वर्ष पूर्व यहाँ पर किसी व्याख्यानमाला का आयोजन हुआ था। फिर भी मैंने इस परिवार के तीन पीढ़ियों के नाम नोट किए, दादा कृष्णाजी परशुराम भिड़े, पिता—दत्तात्रेय कृष्णाजी भिड़े और पुत्र का नाम परशुराम दत्तात्रेयजी भिड़े। यह जानकारी 'भिड़ेवाड़ा' के मुख्य द्वार से ली और फिर (एक दूसरा भिड़ेवाड़ा समझकर) पिछवाड़े से इसी भिड़ेवाड़ा में घुस गया और अन्दर से उसी 'भिड़ेवाड़ा' की पुष्टि मिलने पर वापिस लौट आया। इस भिड़ेवाड़ा में एक और परिवार निवास करता था उनके भी तीन पीढ़ियों के नाम नोट किए—दादा-गोविन्द हरि केलकर, पिता-माधव हरि केलकर, पुत्र-सुहास माधव केलकर।

मैं पुणे के 'नानापेठ' क्षेत्र में स्थित आर्यसमाज में रुका हुआ था। —किंवदन्ती जनश्रुति है कि-नानापेठ का जो आर्यसमाज (भवन) है वह कोल्हापुर नरेश राजर्षि शाहू महाराज—ने आर्यसमाज को दान में दिया था। उस समय आर्यसमाज के दोनों ओर स्थित भवन भी राजर्षि शाहू महाराज की निजी सम्पत्ति थी। इसी आर्यसमाज के पुस्तक-संग्रह में परोपकारिणी सभा द्वारा मराठी में प्रकाशित 'पुणे-

प्रवचन'-पुस्तक देखने को मिली। पुस्तक की भूमिका सुप्रसिद्ध मराठी लेखक व पंजाब के भूतपूर्व राज्यपाल नरहर विष्णु गाडगिल ने लिखी है। गाडगिल साहब के वंशज आज भी पुणे में रहते हैं। श्री गाडगिल ने अपनी भूमिका में लिखा है—'तांबड़ी जोगेश्वरी मन्दिर के पास स्थित 'भिड़ेवाड़ा' में स्वामीजी के व्याख्यान हुए,' नानापेठ से फिर बुधवार पेठ गया और तांबडी जोगेश्वरी मन्दिर का अन्तर्बाह्य दर्शन किया। मन्दिर में गमनागमन के लिए दो दरवाजे थे। मन्दिर का घर क्रमांक-३३-नोट करके मैं बाहर निकला। मन्दिर से संलग्न वर्तमान घर क्रमांक-३४ ही लगभग १०५ वर्ष पूर्व 'भिड़ेवाड़ा' और उसका दीवानखाना 'हिन्दू क्लब' के नाम से प्रसिद्ध था।

जब मैंने भिड़ेवाड़ा की तरफ नजर उठाकर देखा तो पाया कि पुरानी बिल्डिंग का जीर्णोद्धार हो रहा है, केवल प्लास्टर का काम रह गया है। इसी भिड़ेवाड़ा में, जोगेश्वरी मन्दिर की दिशा में, दूसरी मंजिल पर भारतीय जनता पार्टी-पुणे का कार्यालय है। जहाँ पर कभी महर्षि दयानन्द के पन्द्रह व्याख्यान हुए वहाँ पर एक राष्ट्रीय दल के कार्यालय को देखकर प्रसन्नता हुई। कार्यालय में स्थित स्वयंसेवकों से भिड़ेवाड़े के एक शतक पूर्व इतिहास के बारे में जिज्ञासा व्यक्त की तो उन्होंने अनभिज्ञता प्रकट की। तत्पश्चात् १९३९ से इस भिड़ेवाड़ा में किराएदार के रूप में रहनेवाले यशवंत परशुराम आप्टे से भेंट की। आप्टेजी जिस भाग में रह रहे थे उस ओर की बिल्डिंग महर्षि दयानन्द के काल से जैसे की तैसी थी उसे तब ढाया नहीं गया था। आप्टेजी भी उस बिल्डिंग के पुरातन इतिहास से अपरिचित थे और न ही उन्हें दयानन्दजी के पुणे-प्रवचन के सम्बन्ध में कोई जानकारी थी। इसके बाद मैं भिड़ेवाड़ा के वर्तमान मालिक से मिलने गया तो वे बाहर गये हुए थे।

अगले दिन तड़के फिर भिड़ेवाड़ा गया। वयोवृद्ध मकान मालिक लक्ष्मण शंकर भिड़ेज़ी को आने का कारण बताया। उन्होंने मुझे बैठक में बैठाया और अपनी पूजा में निमग्न हो गए। बहुत समय तक मैं यह सोचता रहा कि—मकान मालिक न जाने क्या सोचेंगे। जानकारी देने की बात तो दूर, अच्छी तरह से बातचीत भी होगी या नहीं, पर शंका दूर हुई। इस बात की खुशी हुई कि श्रीयुत लक्ष्मण शंकर भिड़ेजी ने तथ्यों की खोज में मुझे सोत्साह पूरा सहयोग दिया। पूजा



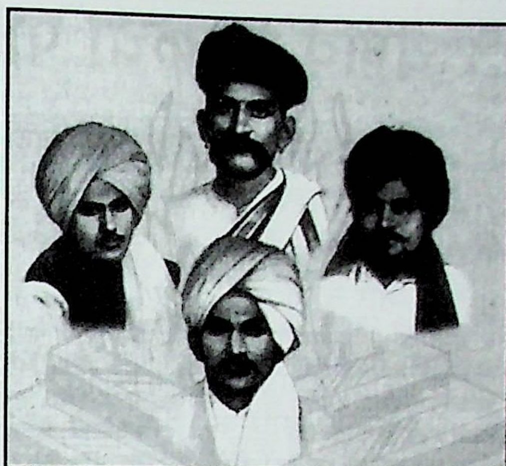
बुधवार पेठ स्थित भिड़ेवाड़े से संलग्न वेद पाठशाला



पुणे (मोमिनपुरा) में स्थित : महात्मा फुले द्वारा स्थापित एवं संचालित शूद्रातिशूद्रों की पाठशाला । जहाँ महर्षि ने वेदोपदेश दिया ।



वासुदेव फड़के



चाफेकर बंधु

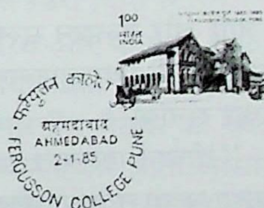
एक ही माँ के तीनों लाडले हँसते-हँसते फांसी पर लटक गए ।
वासुदेव, दामोदर और बालकृष्ण । सामने के महादेव रानडे
भी इसी ब्रिटिश अधिकारी 'रैंडवध' कांड में
फांसी का फंदा चूम गए ।











राष्ट्रीय शिक्षा संस्था के चार स्तंभ
लोकमान्य तिलक, विष्णु शास्त्री चिपलूणकर
गोपाल गणेश आगरकर, नाम जोशी

सम्पन्न होने के बाद वे बैठक में आए, मैंने अपने आने का कारण पुनः एक बार स्पष्ट करते हुए कहा कि—'सन् १८७५ में आपके इस भिड़ेवाड़ा में आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द के १५ व्याख्यान हुए थे, उस सन्दर्भ में आपसे कुछ जानकारी लेने आया हूँ। क्या आप कुछ जानकारी दे पायेंगे? भिड़ेजी कहने लगे—"देखो! मेरी ७२ वर्ष की उम्र हो चुकी है, आज तक मुझे इस बात की कोई जानकारी नहीं है, और न ही इस विषय में आजतक कोई मिलने आया है।" मैंने कहा—'सुना है कि आर्यसमाज शताब्दी वर्ष (१९७५) में बहुत से लोग इस भिड़ेवाड़ा को देखने आए थे, और उससे भी पहले बहुत से लोग इस ऐतिहासिक 'भिड़ेवाड़ा को देखकर गए हैं।' उन्होंने कहा—'यात्री आए होंगे और बाहर से बाहर ही चले गए होंगे, मुझसे तो ७२ वर्ष की उम्र में कोई नहीं मिला। पहली बार इस सन्दर्भ में आप मिलने आ रहे हैं।' मैंने कहा—पुणे निवासी माननीय श्री न० वि० गाडगिल ने लिखा है—'तांबड़ी जोगेश्वरी मन्दिर के पास भिड़े-वाड़ा में स्वामीजी के व्याख्यान हुए थे।' भिड़ेजी ने कहा—'मुझे कुछ मालूम नहीं है।' मैंने कहा—मराठी के आद्य निबन्धमालाकार व पत्रकार विष्णु शास्त्री चिपलूणकर ने अपने 'वक्तृत्त्व' निबन्ध में स्वामीजी की वक्तृत्त्व कला व तद्विषयक कुछ अन्य बातों का वर्णन किया है, उसे आप सुन लीजिए। सम्भव है उससे कुछ स्थिति स्पष्ट हो जाए और उलझन सुलझकर शंका का समाधान भी हो जाए। मैंने विष्णु शास्त्री चिपलूणकर द्वारा मराठी में लिखित 'वक्तृत्त्व' निबन्ध पढ़कर सुनाया—

"दीवान खान्यात.......जमलेल्या मंडलीचा थाट। स्वामीजींची एखाद्या नव्या नवऱ्या मुला प्रमाणें मोठ्या थाटाची वारात निघणार ही बातमी पुष्कळांस अगोदर खरीशीही वाटेना.....परमहंस गजेंद्रावर आरूढ़ झाले आहेत......शेवटी (सवारी) बुधवारांत दाखल......अशी खाशी जी मंडली वर माडीवर बसली होती........कोणी मध्यें उगीच एखादी खिड़की अंमल लिकलिकी करून खालची मौज पाहू लागावें, तो आलाच चिखलाचा लबका! या प्रमाणे सप्तंबर महिन्याची पांचवी तारीख मोहोरमच्या दहावी प्रमाणें या वर्षी पुण्यास गाजली।"

अर्थात्—"दीवानखाने में एकत्रित भीड़ का थाट।.....स्वामीजी की किसी नए दुल्हे की तरह बड़े ही थाट-बाट से बरात निकलेगी—

यह समाचार पहले तो लोगों को सच प्रतीत नहीं हुआ.....परमहंस [स्वामी दयानन्द] गजेन्द्र पर आरूढ़ हो गए हैं.......अन्त में सवारी बुधवार [पेठ] में प्रविष्ट हुई.....ऐसी प्रतिष्ठित मण्डली जो दुमंजले पर बैठी हुई थी....उनमें से कोई, बीच-बीच में खिड़की खोलकर नीचे का दृश्य देखने की कोशिश करता तो तत्काल कीचड़ के गोले खिड़की में से दीवानखाने में आ टपकते थे। इस तरह सितम्बर महीने की ५वीं तारीख मोहर्रम की दशमी की तरह प्रसिद्ध हुई।''

दीवानखाना, बुधवार [पेठ], दुमंजला, खिड़की आदि शब्दों का उल्लेख आते ही उन्होंने कहा-यह सब वर्णन हमारे ही 'भिड़ेवाड़ा' का है। हमारा परम्परागत धन्धा साहूकारी का है। हमारे पूर्वज बड़ौदा, होल्कर, शिंदे राजघरानों के साहूकार रह चुके हैं। अन्तिम बाजीराव के भी हम साहूकार थे। इन राजाओं को जब कभी युद्ध आदि के लिए धन की आवश्यकता होती थी, तो हमारे यहाँ से धन ले जाते थे। अन्तिम बाजीराव पेशवा गर्मियों के दिनों में इसी भिड़ेवाड़ा की दूसरी मंजिल पर स्थित ७०×२० के हॉल में विश्राम करते थे। तभी से इसका नाम 'दीवान खाना' पड़ गया। पेशवा और दीवान समानार्थी शब्द हैं—दोनों का अर्थ एक ही होता है—प्रधान मन्त्री। पेशवा की बाहरी लोगों से मुलाकात करने की जगह 'दीवान खाना' कहलाती थी। यह भिड़ेवाड़ा बाजीराव पेशवे के काल का था। ई० सन् १९७५ में हमने जीर्णोद्धार करने की दृष्टि से इसे गिरा दिया है।

पुरातन भिड़ेवाड़ा में दोनों ओर इमारत और बीच में १७०×२५ फुट का आंगन था। मुख्य दरवाजा पूर्व दिशा की ओर था, जिसकी चौड़ाई लगभग ५ या ६ फुट थी। यदि भारतीय बैठक की व्यवस्था की जाती रही हो तो इस आंगन में तीन-चार हजार श्रोता आसानी से बैठते होंगे। पर, विष्णु शास्त्री चिपळूणकर के 'वक्तृत्त्व' शीर्षक निबन्ध से इस बात की पुष्टि होती है कि स्वामीजी के व्याख्यान दीवानखाने में ही होते थे, और श्रोताओं में सामान्य जनता की अपेक्षा विद्वानों की संख्या विशेष लक्षणीय थी। दूसरी मंजिल का यह दीवानखाना ७०×२० का था। आकार को देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि स्वामीजी के व्याख्यान में अधिकतम २०० से २५० तक श्रोता उपस्थित रहते होंगे। दीवानखाने के दोनों ओर से ५×३ की खिड़कियाँ थीं। शोभायात्रा सम्पन्न होने के बाद विरोधियों ने इन्हीं खिड़कियों से कीचड़ के गोले श्रोताओं पर फेंके थे—मकान

मालिक ने बताया कि आज की तरह उन दिनों यहाँ पक्की सड़क नहीं थी, कीचड़ भी बहुत होता था। एक और की खिड़कियों से सड़क का दृश्य और दूसरी ओर की खिड़कियों से १७०×२५ फुट के आंगन का दृश्य दिखलाई देता था।

'भिड़े-कुल-वृत्त' ग्रन्थ व लक्ष्मण शंकर भिड़े के अनुसार यह भिड़े परिवार 'साहूकार भिड़े' (शाखा ४) के नाम से विख्यात था। सातवीं पीढ़ी के व्यक्ति बालकृष्ण भिड़े थे। आप मूलत: बाळेभव्वे वंश के थे। 'साहूकार भिड़े' नि:सन्तान होने के कारण वे सपरिवार भिड़े परिवार में दत्तक आए। बालकृष्ण पुणे विभागीय शिंदे संस्थान के वकील थे। आपकी मृत्यु सन् १८८० में ५५वें वर्ष में हुई। स्वामी दयानन्दजी के व्याख्यान काल में आपकी आयु ५० वर्ष थी। आपकी तीन कन्याएँ [१. सखु (सौ० केळकर), २. गोदावरी (सौ० जोशी), ३. द्वारका (सौ० केळकर)] व पाँच पुत्र (१. अनन्त, २. चिन्तामणि, ३. नरहरि, ४. गणपत[1], ५. शंकर) उत्पन्न हुए। जिनमें से चार अग्रजों को केवल कन्याएँ ही उत्पन्न हुईं। वह भी दैव दुर्विपाक से अकाल काल कवलित हो गईं। शंकर बालकृष्ण भिड़े का जन्म १८७० में हुआ। महर्षि दयानन्दजी के प्रवचन काल में ये केवल ५ वर्ष के थे। इनका देहावसान १९५० में हुआ। शंकर भिड़े के दो पुत्र नौवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए जिनके क्रमश: रामकृष्ण और लक्ष्मण नाम रखे गए। लक्ष्मण शंकर भिड़े का जन्म १९१२ में हुआ। रामकृष्ण और लक्ष्मण के क्रमश: एक-एक पुत्र दसवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए। जिनके नाम क्रमेण श्रीपाद व नारायण हैं। नारायण इंजिनियर व मिलनसार प्रवृत्ति के हैं और विचारधारा से प्रखर राष्ट्रवादी हैं। श्री लक्ष्मण शंकर भिड़े ने पूछने पर यह भी स्पष्ट किया कि—कानाड़े वाड़ा (भवन) में रहने वाले श्री मधुसूदन सदाशिवराव बोडस के दादा के काल से अब तक हमारे इस भिड़े परिवार के सभी पौरोहित्य कर्म यह बोडस परिवार ही करता रहा है। पुरातन (जिस भाग काजीर्णोद्धार किया जाना है) व नवनिर्मित इस 'भिड़ेवाड़ा' पर एक दृष्टिक्षेप कर मैंने श्री लक्ष्मण शंकर भिड़े व उनके ऐतिहासिक भिड़ेवाड़े से विदा ली।

घर के पिछले द्वार से राजमार्ग पर आया तो उसके पार्श्व की वीथी में स्थित दुमंजिली वेद पाठशाला की भव्य इमारत को देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। यदि बीच की वीथी न होती तो वेदपाठशाला भिड़ेवाड़े से सटकर होती। वेद पाठशाला के मुख्य द्वार पर संलग्न

१. मराठी के सुप्रसिद्ध वि० श्री० जोशी लिखित 'कंठ स्नान आणि बलिदान' में पृष्ठ-३१ पर गणपत बालकृष्ण भिड़े का उल्लेख है।

शिलालेख पर लिखा था—

श्री वेद पुरुष प्रसन्न
॥ वेदोऽखिलो धर्ममूलम् ॥
पुणे वेद पाठशाला
स्थापना शके—१८०३ तदनुसार १२ अक्तूबर १८८१
[इससे पूर्व सामान्य झोपड़ी जरूर रही होगी]
उद्घाटन शके—१८५७

इमारत-वास्तुकला-अपनी प्राचीनता की स्वयं साक्षी दे रही थी। क्योंकि उसकी बनावट प्राचीन पद्धति की थी। दीवारों का बाह्यरूप बिल्कुल भिड़ेवाड़ा की तरह था। पुणे वेदपाठशाला की यह इमारत कह रही थी कि—१८५७ से अनेक आन्धियाँ आईं और चली गईं, पर अभी मैं उसी प्रकार से खड़ी हूँ।

इसी वेदपाठशाला में १८७५ में रहने वाले सिद्धान्त भास्कर नामक मराठी ग्रन्थ के लेखक पं० कृष्णाचार्य रायचूरकर वैद्यजी ने महर्षि के पुणे प्रवचन सुने थे। तब आप केवल १५ वर्ष के थे। आपने जो तत्कालीन पुणे नगरी का वर्णन किया है, उससे यह पता चलता है कि उस समय जहाँ महर्षि दयानन्द के विरोधी थे, वहाँ अनुमोदक भी थे। लेखक ने मूर्तिपूजा के अतिरिक्त यज्ञ में पशुवध को अत्यन्त निंदनीय व वेद विरूद्ध माना है। मृतक श्राद्ध का भी खण्डन किया है। पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक के अनुसार यह ग्रन्थ ९० प्रतिशत दयानन्द के विचारों के अनुकूल है। 'आर्यसमाज' विषयक प्रकरण के प्रारम्भ में लेखक ने महर्षि की स्तुति निम्न श्लोक द्वारा की है—

समाजा आर्याणां विगत कलुषा येन विहिताः,
सुशास्त्राणां शाला दयानन्द निहिता येन विदुषा।
तमोऽज्ञानं भिन्नं, मुनिवरमखंडं श्रुति परं,
दयानंदं वन्दे, भुवि सकल पाखंड दलनम्॥

अर्थात्—जिसने आर्यों के समाजों को विगत दोषवाला बना दिया, जिस विद्वान् ने उत्तम शास्त्रों के अध्ययनार्थ पाठशालाएँ स्थापित कीं और अज्ञानरूपी अंधकार को नष्ट किया, उस अखंड श्रुति पर वेदैकनिष्ठ मुनिवर दयानंद की मैं वंदना करता हूँ जो संसार में समस्त पाखंड का नाश करने हारा है।

—परोपकारी : मासिक : संपादक : डॉ० भवानीलाल भारतीय अप्रैल १९८३ से साभार।



(८)

महर्षि की पुणे शोभायात्रा से सम्बद्ध प्रामाणिक तथ्य

'आम्ही पाहिलेले फुले' नामक मराठी संस्मरणात्मक ग्रन्थ में महात्मा ज्योतिराव गोविन्दराव फुले के सहयोगी कार्यकर्त्ता श्री ज्ञानोबा कृष्णाजी ससाणे के संस्मरण श्री सीतारामजी रायकर ने संकलित किये हैं। जिनमें स्वामी दयानन्दजी की पुणे शोभा यात्रा में महात्मा फुले की प्रेरणा से सुरक्षा की दृष्टि से शामिल होने वाले एक-दो व्यक्तियों के नाम स्पष्ट रूप में अंकित हैं। मूल मराठी में सम्बन्धित अंश निम्न प्रकार है—

"पुण्यात दयानन्द सरस्वती आले असता मारामारी होऊ नये म्हणून त्यांनी मला व लहुजी मांगाच्या मुलाला व आणखी इतर मंडळीला मिरवणुकी बरोबर पाठविले होते।"

अर्थात्—"पुणे में जब दयानन्द सरस्वती आए थे, तब उनकी शोभा यात्रा के समय पर मार-पीट न हो, इसलिए उन्होंने [महात्मा फुलेजी ने] मुझे व लहूजी माँग के सुपुत्र को तथा कुछ अन्य लोगों को भी शोभा यात्रा के साथ भेजा था।"

स्मरण रहे लहूजी माँग से आद्य क्रान्तिकारी वासुदेव बलवंत फडके, चाफेकर बन्धु, महात्मा फुले, लोकमान्य तिलक आदि ने व्यायाम, कुश्ती, गदगा-फरी आदि का प्रशिक्षण प्राप्त किया था। गदगा से तात्पर्य लकड़ी के डेढ़-दो हाथ चमड़े चढ़े मुठियादार डंडे से है और फरी से तात्पर्य उस चमड़े की ढाल से है जिस पर गदगे की मार रोकी जाती है।

"व्यायाम विद्या विशारद लहूजी माँग ने महात्मा फुले के उस शूद्रातिशूद्रों के स्कूल के लिए विद्यार्थियों को प्रविष्ट कराने में भी सहयोग प्रदान किया था, जिसमें कालान्तर में १६ जुलाई १८७५ को स्वामी दयानन्दजी ने प्रवचन दिया था। पुणे में खुले शूद्रातिशूद्रों के इस सर्वप्रथम स्कूल की स्थापना महात्मा फुले ने १५।५।१८४८ को

की थी। वासुदेव बळवन्त फड़के, लोकमान्य तिलक, चाफेकर बंधु क्रान्तिधर्मियों व क्रियावान् समाज सुधारक महात्मा फुले के व्यायामाचार्य लहूजी मांग के सुपुत्र ही धोंडिबा लहूजी मांग हैं।

महात्मा फुलेजी का लहूजी उस्ताद की अग्रिम पीढ़ी से भी घनिष्ठ सम्बन्ध था, इसीलिए उन्होंने दयानन्द सरस्वती की शोभायात्रा के अवसर पर धोंडिबा लहूजी मांग (उस्ताद) इत्यादि युवकों को सुरंक्षा की दृष्टि से ५ सितम्बर १८७५ को निकले जुलूस में सम्मिलित होने की प्रेरणा दी थी।

प्रस्तुत संस्मरण लेखक ज्ञानोबा कृष्णाजी ससाणे वे व्यक्ति हैं जिनका सर्वप्रथम महात्मा फुले द्वारा स्थापित सत्यशोधक समाज (१८७३) की पद्धति से विवाह संस्कार सम्पन्न हुआ था और इसलिए ससाणेजी को अपने रूढिवादी माली समाज का कोप-रोष भी सहन करना पड़ा था। इन्होंने अपनी कन्या का विवाह भी महात्मा फुले के [दत्तक] पुत्र यशवंत के साथ सम्पन्न किया था, इसलिए भी इन्हें अतिशय यातनाएँ सहन करनी पड़ी थीं। यह यशवन्त फुले अज्ञात पिता और ब्राह्मणी विधवा स्त्री से उत्पन्न, पर कर्ण-कबीर की तरह परित्यक्त अबोध सन्तान थी, जिसका अभिभावक बनकर महात्मा फुले और सावित्रीबाई फुले दम्पति ने पुत्रवत् पालन-पोषण किया था।

एक और तथ्य

पाठक इस तथ्य से सुपरिचित हैं कि महर्षि दयानन्द के प्रसिद्ध पुणे प्रवचनों के अतिरिक्त एक प्रवचन पुणे से संलग्न भांबुर्ड्या गाँव में भी सम्पन्न हुआ था, इस व्याख्यान के संयोजक और प्रबन्धक कृष्णराव पाण्डुरंग भालेकर थे।

'कृष्णराव भालेकर : समग्र वाङ्मय' (सम्पादक व प्रस्तावना लेखक : सीताराम रायकर) प्रस्तावना पृष्ठ-२ के अनुसार स्वामीजी का उपर्युक्त भाषण भांबुर्ड्या में रोकडोबा के देवालय के पीछे स्थित धर्मशाला में आयोजित किया गया था।

कृष्णराव भालेराव के पौत्र डॉ० रामचन्द्र मुकुन्दराव पाटिल के संग्रह में उपलब्ध एक हस्तलिखित वंशावली के अनुसार कृष्णराव भालेकरजी के चाचा श्रीयुत गोपाल की सुपुत्री सावित्रीबाई ही

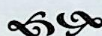
सत्यशोधकसमाज के संस्थापक, आधुनिक कालीन भारतीय स्त्रीशिक्षा के जनक, महर्षि की प्रख्यात पुणे शोभायात्रा के अविस्मरणीय सहयोगी महात्मा जोतीवा फुले की सहधर्मिणी हैं।

सन्दर्भ

पुस्तक—आम्ही पाहिलेले फुले, सम्पादक—सीताराम रायकर, संस्मरण (आठवणी) लेखक—ज्ञानोबा कृष्णजी ससाणे, पृष्ठ ३९-४४, अनूदित उद्धरण—पृष्ठ-३९, प्रकाशक—महात्मा जोतिराव फुले समता प्रतिष्ठान, १२१२ भवानी पेठ, पालखी विठोबा चौक, पुणे-२, मूल्य—आठ रुपये, पृष्ठ संख्या ४+८+८८=१००।

सौजन्य एवं सहयोग—आर्यसमाज पिंपरी-पुणे के समस्त पदाधिकारीगण तथा डॉ० बाबा आढाव, महात्मा फुले समता प्रतिष्ठान कार्यालय, ९-न्यू टिम्बर मार्किट, पुणे-४११०४२।

—वेदवाणी : मासिक : मार्च १९९१ तथा वेदवाणी : मासिक : फरवरी १९८८ से साभार।



(९)

महर्षि दयानन्द और सातारा

महाराष्ट्र के पश्चिमाञ्चल के जनपदों में पुणे से संलग्न जनपद और नगर सातारा है। कभी पुणे से सातारा शहर अधिक समृद्ध था। सम्प्रति सातारा की तुलना में पुणे शहर अधिक समृद्ध है।

सातारा इस नामकरण के विषय में विभिन्न मत प्रचलित हैं। कुछ लोगों का यह कहना है कि सातारा के चारों ओर सात या नौ किले थे। मराठी में तारे का अर्थ किला भी होता है, अत: सात किले के आधार पर सातारा नाम रूढ हो गया। एक अन्य धारणा यह भी प्रचलित है कि सातारा के किले पर सप्तर्षि का मन्दिर है। सप्तर्षि से तात्पर्य सात तारों से है। इस आधार पर भी इस शहर का नाम सातारा प्रचलित हो गया। कुछ लोग सात घाटियों (दरों) से युक्त प्रदेश को सातारा कहते हैं। प्राचीन पाण्डुलिपियों में इस शहर का नाम सप्तर्षिपुर भी पाया जाता है। वामन पण्डित ने शक १८७५ में लिखी 'समश्लोकी भगवद्गीता' के अन्त में लिखा है—'सप्तर्षिपुरे लेखनं संपूर्णम्'[१]। इतिहासकार श्री रियासतकार सरदेसाई द्वारा लिखे 'नानासाहब के चरित्र में 'सप्तर्षि के मातु:श्री के यहाँ भी चिट्ठी-पत्री आने का' उल्लेख मिलता है।'

कभी इस सातारे के पुराने राजमहल के सामने 'आर्थर जलचक्र' (फ़ौआरा) होता था। सन् १८६५ से १८७६ तक अर्थात् पूरे ११ साल तक मिस्टर जे०आर० आर्थर नामक एक अंग्रेज सातारे के लोकप्रिय कलैक्टर थे। जलचक्र उसकी लोकप्रियता का ही प्रतीक था, जो सातारा के नागरिकों ने स्वयं धन संग्रह कर उनकी स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिए बनाया था[२]। इस जिलाधीश को जब सातारा

---

१. लेखक—श्री गो० रा० माटे—मराठी पुस्तक—असा घडला जिल्हा सातारा—संस्करण—१९८८।

२. लेखक—श्री अरुण टिकेकर—लेख—सात तारे म्हणून सातारे की सात दरे म्हणून सातारे—लोकसत्ता—मराठी दैनिक : रविवार-२३ दिसम्बर २००१।

शहर में दस साल पूरे हो चुके थे, तभी सातारा नगरी में महर्षि दयानन्द सरस्वती का शुभागमन हुआ था।

महर्षि महाराष्ट्र में सबसे पहिले सन् १८७४ में नासिक पधारे, उस समय नासिक की जनसंख्या २४,४२९ थी। मुम्बई में वे १८७४ से १८८२ तक पाँच बार पधारे। उस समय मुम्बापुरी की जनसंख्या ८,२१,७६४ थी। १८७५ में महर्षि पुणे पधारे उस समय पुण्यपत्तन की जनसंख्या १,६१,३९० थी। सन् १८७६ में महर्षि वसई रोड पधारे, उस समय वसई (जिला थाने) की जन संख्या ११,२९१ थी। ५ अप्रैल १८८२ बुधवार को महर्षि मुम्बई से २२ मील दूरी पर स्थित थाने जनपद पधारे, उस समय 'ठाणे' की जनसंख्या १७,४५५ थी। जब सितम्बर १८७५ को महर्षि सातारा पधारे उस समय 'सप्तर्षिपुरम्' की जनसंख्या २९,६०१ थी। यह जनगणना सन् १८९१ की मर्दुमशुमारी पर आधारित है[३]।

सन् १८७५ में महर्षि दयानन्द सरस्वती ६ सितम्बर से ६ अक्टूबर तक सातारा नगरी में विराजमान थे। मुम्बई में आर्यसमाज की स्थापना के बाद मुम्बई-पुणे-सातारा रोड लोहमार्ग से वे सातारा शहर में पधारे थे। इस यात्रा में उनके साथ पं० मण्डनराम मिश्र नामक एक सुलेखनिक और बलदेवसिंह कान्यकुब्ज नामक पाचक भी थे, महर्षि के निवास-भोजनादि की व्यवस्था तत्कालीन जिलाधीश कार्यालय से संलग्न जिन तीन व्यक्तियों ने की थी, उनके नाम हैं— १. राजमान्य राजश्री कल्याण सीताराम चित्रे—कलैक्टर के नेटिव एजेण्ट[४], २.

---

३. लेखक : बाबू साधुचरण प्रसाद, भारत भ्रमण, चतुर्थ खण्ड, एकविंश-द्वाविंश अध्याय, प्रकाशक-खेमराज श्रीकृष्णदास श्री वेङ्कटेश्वर प्रकाशन-मुम्बई, संस्करण-१९१३, कुल खण्ड-५, कुल पृष्ठ संख्या-१४४०।

४. श्री चित्रे ने सन् १८७७ में—'पोलिस फौजदारीच्या परीक्षेची मार्गदीपिका' नामक मराठी पुस्तक लिखी थी। २८ जुलाई १८७८ की 'सुबोध पत्रिका' से यह पता चलता है कि आप इस पत्रिका के ग्राहक थे। इससे आपके प्रार्थनासमाजी होने की भी पुष्टि होती है। बाळबोध (मराठी मासिक : मार्च १८९३) की ग्राहक-सूची में भी श्री चित्रे का नाम है, जिसमें उन्हें 'मिरज' निवासी बताया गया है। सम्भव है उनकी वृद्धावस्था वहीं बीती हो। आपके व्यक्तित्त्व को स्पष्ट करने वाली घटना इस प्रकार है—एक बार मामा परमानन्द (एक मुम्बईकर स्नेही) ने प्रार्थनासमाज के मन्तव्यानुसार मूर्त्ति-पूजा परित्याग के विषय में सन् १८७४ में प्रा० रामकृष्ण गोपाळ भाडारकर

मिस्टर रामचन्द्र विठोबा धामणस्कर[५] (वरिष्ठ लिपिक जिलाधीश कार्यालय) [१८४८-१९०६] तथा ३. मिस्टर रा० त्र्यं राजे-जिला कोषागार अधिकारी। आप प्रार्थनासमाज के अनुयायी थे।

महर्षि का आतिथ्य

निबन्धमालाकार श्री विष्णु शास्त्री चिपळूणकर ने अपनी उपहासात्मक शैली में अपने निबन्ध में लिखा है कि 'महर्षि का पुणे में आदर-आतिथ्य प्रार्थनासमाज और सत्यशोधकसमाज के अनुयायियों ने किया। सातारा शहर में भी प्रार्थनासमाज तथा सत्यशोधकसमाज के अनुयायियों ने महर्षि के आदरातिथ्य में किसी प्रकार की कमी न रहने दी। तत्कालीन सातारा के जज श्री कृष्णराव विट्ठलराव विंचूरकर महर्षि के केवल भक्त ही नहीं अपितु वेदभाष्य के नियमित ग्राहक भी थे। उनकी ग्राहक संख्या ४९ थी[६]।

सातारा में प्रवचन

सुप्रसिद्ध मराठी चरित्र लेखक श्री धनंजय कीर (१९१३-१९८४) ने अपने महात्मा फुले नामक जीवन चरित्र में सातारा में महर्षिजी के

के हस्ताक्षर के साथ एक परिपत्र तैयार कर अपने सभी सदस्यों को भेजा। जिसका प्रत्युत्तर मुम्बई-पुणे के किसी भी सदस्य ने नहीं भेजा। सातारा से ३० जून १८७४ को भेजे पत्र में श्री चित्रेजी ने लिखा था—'प्रार्थनासमाज के नियम पालन के उद्देश्य से जो सदस्य सक्रिय हैं, उनके साथ मेरी सहानुभूति है। उन सबके मानसिक धैर्य की मैं अन्तःकरण पूर्वक प्रशंसा करता हूँ। समाज के नियम और उद्देश्य पालन करते समय जो कुछ यातनाएँ भोगनी होंगी, उनका भी मुझे भय नहीं है, पर अपने इस आचरण से मेरे वृद्ध पिताश्री को अपने जीवन के अन्तिम दिन दुःख में बिताने पड़ेंगे। इसलिए मैं इस दिशा में प्रयत्नशील नहीं हूँ।' (लेखक—श्री पु० बा० कुलकर्णी-मराठी ग्रन्थ-मामा परमानन्द आणि त्यांचा कालखण्ड, पृष्ठ-१७२)।

५. आप सत्यशोधकसमाज के अनुयायी थे। कालान्तर में आपको प्रदीर्घ काल तक वडोदरा नरेश सयाजीराव गायकवाड के दीवान के रूप में कार्य करने का सौभाग्य मिला। आपने अपने 'मृत्यु-पत्र' में अस्सी हजार रुपए स्थिरनिधि के रूप में इसलिए रखे थे कि उसके ब्याज से भारतीय विद्यार्थी जापान जाकर औद्योगिक व्यवसायों का प्रशिक्षण प्राप्त कर सकें (केरळ-कोकिळ-मराठी मासिक-अगस्त १९०६, पृष्ठ-१९०)।

६. श्रीमद् दयानन्द दिग्विजयार्क, लेखक-पं० गोपालराव हरि पुणतांबेकर, [पं० गोपाल शास्त्री] संस्करण-द्वितीय-सन् १८८७, मूल्य ॥), पृष्ठ-६१।

व्याख्यान होने का उल्लेख किया है। हुतात्मा पं० लेखराम, बाबू देवेन्द्रनाथ और स्वामी सत्यानन्द लिखित महर्षि केजीवन चरित्रों में से केवल देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय की जीवनी में ही महर्षि के सातारा आगमन का उल्लेख मिलता है। इस जीवन-चरित्र की सामग्री प्रसिद्ध बंगाली लेखक तथा राजनीतिज्ञ श्री रमेशचन्द्र दत्त के अनुरोध पर श्री देवेन्द्र बाबू ने संग्रहित की थी। ७ जनवरी १९१६ को उनका वाराणसी में निधन हो जाने के बाद उनके इस संग्रहित कार्य को मेरठ के पं० घासीराम एम० ए० ने अनुवाद एवं सम्पादन के माध्यम से पूरा किया। इसमें महर्षि के सातारा जाने का तो उल्लेख है, पर वहाँ उनके प्रवचन और शास्त्रार्थ होने की चर्चा नहीं है। अपितु स्पष्ट रूप में यहाँ तक लिखा है कि—'यहाँ पर महर्षि का एक भी प्रवचन नहीं हुआ।' यह बात थोड़ी अविश्वसनीय-सी प्रतीत होती है कि महर्षिजी सातारा में एक महीने तक रहे और वहाँ पर उनका एक भी प्रवचन नहीं हुआ। तत्कालीन सातारा से प्रकाशित होने वाले 'शुभ सूचक' (१८५८-१८९५), 'बोध सुधाकर', 'महाराष्ट्र मित्र' (१८६७-१८९८) इत्यादि नियतकालिक पत्रों की प्रतियाँ यदि प्राप्त हुईं तो उनके सातारा प्रवचन और सातारा में घटित अन्य घटनाओं की सम्भवतः और भी अधिक विस्तार से जानकारी मिल सकती है[७]।

महर्षि के सातारा निवास के कारण

महर्षि दयानन्दजी पूरे एक महिने तक सातारा में रहे, उसका एक कारण तो यह था कि तत्कालीन सातारा नगरी विद्वानों की एक सुप्रसिद्ध नगरी थी। सातारा के सन्निकट स्थित 'माहुली' और 'वाई' नामक स्थल विद्वानों के गढ़ के रूप में लब्धप्रतिष्ठ थे। दूसरा कारण यह हो सकता है कि सातारा शहर पर्वतों की तलहटी में बसा है और उससे सात किलोमीटर की दूरी पर स्थित 'माहुली' नदियों की संगम स्थली है। यजुर्वेद (६।१५) में कहा गया है—'उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां धिया विप्रोऽजायत।' इसका आशय यह है कि पर्वतों के निकट और नदियों के संगम पर विद्वान् लोग निवास करते हैं। वर्षा-ऋतु में तो सातारा का प्राकृतिक दृश्य और भी अधिक

७. लेखक-वि० कृ० जोशी एवं रा० के० लेले, मराठी ग्रन्थ-वृत्तपत्रांचा इतिहास, पृष्ठ-५५७।

लुभावना हो जाता है। वर्षाकाल में ही संयोगवशात् क्यों न हो महर्षि सातारा पधारे थे। सातारा में एक महीना भर रहने का महर्षि का तीसरा प्रमुख कारण यह हो सकता है कि—शान्ति से अभीष्ट लेखन किया जा सके। इलाहाबाद के पं० मण्डनराम नामक लेखनिक उनके साथ थे ही। सन् १८७५ और १८७६ में महर्षि की कुल सात पुस्तकें मुम्बई से प्रकाशित हुईं। इस समय वे ऋग्वेद-यजुर्वेद भाष्य के महत्कार्य में भी जुटे हुए थे। पुणे में जैसे महर्षि के प्रवचनों की धूमधाम रही, वैसी सातारा में नहीं रही। अत: यह कहा जा सकता है कि महर्षि को सातारा निवास की कालावधि में निर्विघ्न लेखन की अनुकूलता प्राप्त हुई होगी। महर्षि की सातारा निवास की कालावधि बढ़ने का एक कारण यह भी हो सकता है कि—इस समय पुणे के न्यायालय में, ५ सितम्बर को निकली शोभायात्रा के समय हुए उपद्रव से सम्बन्धित एक अभियोग भी चल रहा था, यह बात अलग है कि दयासागर दयानन्द ने अपनी ओर से सभी सदोष व्यक्तियों को क्षमा करते हुए अभयदान दे दिया था। महर्षि ने श्री छबीलदास और पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा को सातारा से जो संस्कृत पत्र भेजा था, उसमें यह भी सूचित किया था कि—'पत्र का उत्तर महादेव गोविन्द रानडे जज-पुणे के पते पर ही भेजें।' यह पत्र २ अक्टूबर १८७५ को लिखा गया था।

महर्षि के साथ शास्त्रार्थ

वेदोक्त-धर्म-प्रकाश के लिए महर्षि ने जो तीन प्रमुख शैलियाँ अपनायीं थीं, उनमें प्रवचन, लेखन के अतिरिक्त वाद-संवाद या शास्त्रार्थ करने की प्रणाली भी थीं। वे जहाँ-जहाँ जाते थे, वहाँ-वहाँ के स्थानीय समाचार-पत्रों में, अन्य प्रचलित लोकभाषाओं के साथ स्थानीय भाषाओं में भी वेदोक्त मत प्रतिपादनार्थ और वेदेतर मत खण्डनार्थ शास्त्रार्थ का प्रकट आवाहन और शंका-समाधान के लिए प्रकट निवेदन भी प्रकाशित करवाते थे। महर्षि के सातारा आगमन होने के साथ ही उनकी ओर से तथा विपक्षियों की ओर से भी तत्कालीन समाचार पत्रों में शास्त्रार्थ के आह्वान-प्रतिआह्वान छापे जाने का उल्लेख महर्षि के पत्र-व्यवहार और जीवन-चरित्रों में प्राप्त होता है।

महर्षि से शास्त्रार्थ करने के विषय में विचार-विनिमय करने के लिए उन दिनों एक सभा तत्कालीन दीवानखाने में सम्पन्न हुई थी।

उस सभा में वेदमूर्त्ति वेदशास्त्र सम्पन्न अनन्ताचार्य नारायणाचार्य गजेन्द्रगढ़कर (१८३५-१८९३), वेदमूर्त्ति रामभाऊ शास्त्री गोड़बोले (१८३७-१९१३), पं० भाऊजी दीक्षित चिपळूणकर[८], पं० अनन्त शास्त्री जोशी चिपळूणकर आदि विद्वद् मण्डली उपस्थित थीं, पर दोनों भी पक्षों की दृष्टि से निष्पक्ष निर्णायक न मिल पाने के कारण सातारा में किसी से भी महर्षि का शास्त्रार्थ नहीं हो पाया। सन्देह निवारणार्थ कुछ विद्वानों द्वारा महर्षि के साथ शास्त्रचर्चा करने के उल्लेख मिलते हैं।

वेदमूर्त्ति अनन्ताचार्य गजेन्द्रगढ़कर

'केरळ कोकिळ' (सन् १८९३, पुस्तक ७वें, अंक-१, पृष्ठ-८) में छपे संक्षिप्त समाचार से इस बात की पुष्टि होती है कि १२ जून १८९३ को वेदशास्त्र सम्पन्न राजमान्य राज्यश्री अनन्ताचार्य गजेन्द्रगढ़कर का सातारा में निधन हो गया, वे परम्परागत शास्त्री थे, अर्थात् इनके पूर्वजों की गणना उत्तम शास्त्रियों में की जाती थी। अनन्ताचार्य गजेन्द्रगढ़कर की यथोपलब्ध वंशावली इस प्रकार है—

वंशावली

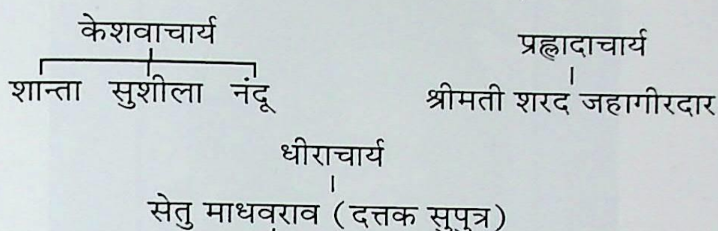
राघवाचार्य वेंकटाचार्य गजेन्द्रगढ़कर
(१७९२-१८५२)
|
नारायणाचार्य
(१८१८-१८७३)
|
अनन्ताचार्य
(१८३५-१८९३)

बाळाचार्य (१८६२-१९२२) — धीराचार्य

बाळाचार्य के पुत्र: अश्वत्थामा — केशवाचार्य — *प्रह्लादाचार्य* (१९००-१९५०) — सेतुमाधवराव

(श्री प्रह्लादाचार्य जी को भारत का सर्वोच्च न्यायाधीश बनने का सौभाग्य मिला। आपने पं० जगदेवसिंह सिद्धान्ती और श्री प्रतापसिंह

दौलता के संसदीय चुनाव के सिलसिले में सन् १९६४ में यह निर्णय दिया था कि 'ओ३म्' का ध्वज असम्प्रदायिक है)।



श्री अनन्ताचार्य गजेन्द्रगढ़कर ने अपने पितामह के श्रीचरणों में बैठकर ब्रह्मावर्त्त में व्याकरण और न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था। सन् १८६० में वे सातारा लौटे। पिताश्री से आपने 'अद्वैत सिद्धि' व 'न्यायामृत चन्द्रिका' ग्रन्थ पढ़े। साथ ही परम्परागत संस्कृत अध्यापन का कार्य भी करते रहे। मायणी (कर्हाड) के श्री गरवारे के सुपुत्र के सम्बन्ध में जो वाद हुआ था, उसमें श्री अनन्ताचार्य प्रमुख थे। सन् १८८४ में मद्रास में स्त्री-पुनर्विवाह के सम्बन्ध में दीवान बहादुर रघुनाथराव से जो वाद उपस्थित हुआ, उसमें भी आप मुख्य थे।

समय सूचकता और वक्तृत्त्व के सन्दर्भ में इन्हें विशेष यश प्राप्त था। इनका शब्देन्दुशेखर के तिङ्न्त प्रकरण पर व्याख्यान अमुद्रित है। पं० वासुदेव वामनशास्त्री खरे (१८५८-१९२४) सुप्रसिद्ध, इतिहास-संशोधक व इतिहासकार ने श्री अनन्ताचार्य से ही संस्कृत पढ़ी थी।

संस्कृत अध्ययन-अध्यापन की परम्परा गजेन्द्रगढ़कर वंश में श्री केशवाचार्य तक चली। हिन्दू कोड बिल के समय में डॉ० भीमराव अंबेडकरजी ने केशवाचार्य को दिल्ली बुलाया था। अश्वत्थामाचार्य जब एल्फिन्स्टन कॉलेज में थे तो उन्हें सिद्धार्थ कॉलेज में प्राचार्य के रूप में ले जाने का आग्रह भी डॉ० अम्बेडकर का था। औरंगाबाद के मिलिन्द कॉलेज में पहले जब ब्राह्मण प्रोफेसर ही अधिक थे, तब दलितों की उपेक्षा की रट लगाते हुए एक शिष्ट-मण्डल उनकी सेवा में पहुँचा तो डॉ० अम्बेडकरजी ने प्रत्युत्तर में कहा था—'विशेष गुणवत्ता-योग्यता के आधार पर यहाँ चयन किया गया है, कॉलेज को मुझे जातिविशेष का अड्डा नहीं बनाना है, तुम सब चुपचाप यहाँ से चले जाओ।' ये सब बातें यहाँ गजेन्द्रगढ़कर घराने की विद्वत्ता की



रामचन्द्र विठोबा धामणस्कर (१८४८-१९०६)

रुड़की में आर्य्य समाज बन गया है और आशा है कि यहां मेरठ में भी हो जावेगा, हम कुशल आनन्द में हैं॥

हस्ताक्षर

(सितंबर १८७८) दयानन्दसरस्वती

मेरठ

महर्षि दयानन्द के हस्ताक्षर

Money Order for Rs. 50 As.

Name of Remitter अनंताचार्य

Address सातारा

Name Stamp of the Office of Issue SATARA-CITY

25/नवंबर/1884

ACKNOWLEDGMENT.

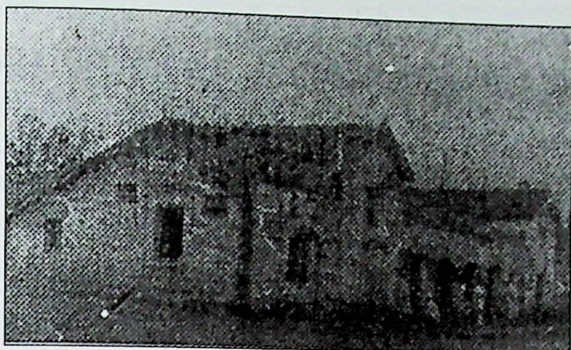
(On delivery of the money order, the Payee must sign this acknowledgment, which will be returned to the Remitter by the Post Office.)

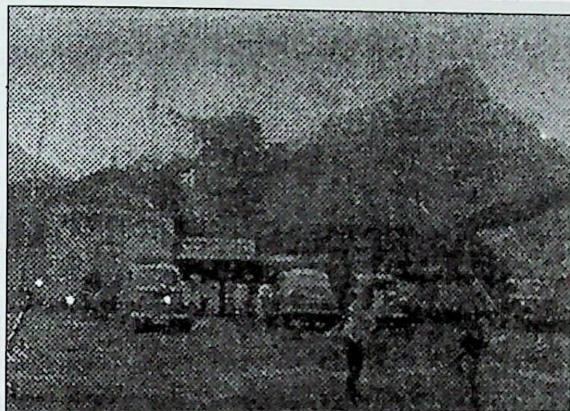
I acknowledge to have received a money order for the amount specified on the reverse.

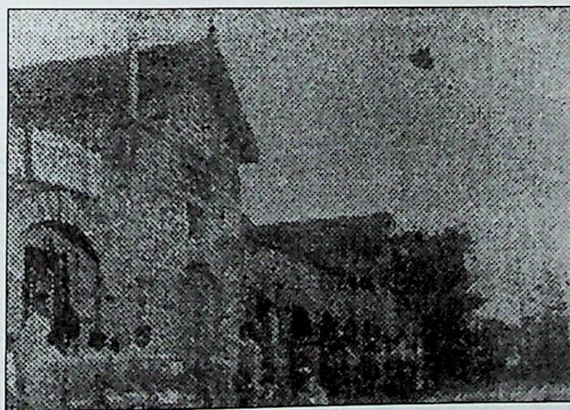
Signature of Payee ....

Date of Delivery ....

अनन्ताचार्य गजेन्द्रगढ़कर के हस्ताक्षर







सातारा रोड़ रेल्वे स्टेशन । महर्षि के सातारा से आगे दक्षिण की ओर अन्यत्र जाने के कोई ठोस प्रमाण अब तक उपलब्ध नहीं हैं ।

ओर विशेष ध्यानाकर्षण करने के लिए प्रस्तुत की हैं।

महर्षि दयानन्दजी ने अपनी आत्मकथा में वर्णोच्चारण का दोष दर्शाने वाले ग्वालियर के जिस हनुमन्ताचार्य का उल्लेख निःसंकोच भाव से किया है, वे आचार्य भी गजेन्द्रगढ़कर घराने से ही सम्बन्धित थे। उनकी वंशावली इस प्रकार है—

राघवाचार्य गजेन्द्रगढ़कर
(ग्वालियर के प्रधान न्यायाधीश पद पर नियुक्त)
(१७१२-१८५२)
(इनके प्रथम पुत्र का केवल संकेत मिलता है नामोल्लेख नहीं)

...आचार्य नारायणाचार्य *रामाचार्य* वामनाचार्य

(ग्वालियर के अस्थायी पण्डित। यह घराना ग्वालियर में ही बस गया)

हनुमन्ताचार्य[८]

वेदमूर्त्ति रामभाऊ शास्त्री गोडबोले

श्री गोडबोले न्यायमूर्ति रानडे के साढू थे। इन दोनों की पत्नी सांगली जनपद के ताकारी स्टेशन के पास स्थित देवराष्ट्र गाँव के कुर्लेकर परिवार की कन्याएँ थीं।

श्री रामभाऊ शास्त्री गोडबोले का मूल गाँव 'संगम माहुली' था। आपने अपने गुरु भास्कर शास्त्री के निधन पर अष्टवर्षीय पौत्र वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर और रघुनाथ शास्त्री अभ्यंकर को प्रतिदिन १२ वर्ष तक नियमित सात किलोमीटर चलकर अपने पाथेय का ही आहार करते हुए बिना किसी प्रकार के वेतन-पारिश्रमिक लिए बिना अध्यापन का कठोर व्रत अतिशय तपश्चर्या के साथ परिपूर्ण किया था। इस असिधाराव्रत के कारण उनकी एक रात माहुली में और दूसरी रात सातारा में व्यतीत होती थी।

श्री गोडबोले अत्यन्त ही स्वाभिमानी थे। औंध राज्य की जब चारों सहधर्मिणी यज्ञ कर्म में अनुपस्थित रहीं, तो इन्होंने औंध संस्थान की नौकरी का परित्याग कर पुणे में नई नौकरी स्वीकार कर ली थी।

महाराष्ट्र की सुप्रसिद्ध पाण्डित्य और व्याकरण शास्त्र की परम्परा

---

८. (१) अर्वाचीन चरित्र कोश (मराठी) सम्पादक : सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव।
(२) वेदवाणी : मासिक : जून १९८४ तथा नवम्बर १९९२)।

का जैसे गजेन्द्रगढ़कर घराने से सम्बन्ध है, वैसे वह इनके घराने से भी सम्बद्ध है। व्याकरण के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों का भी आप अध्यापन कराते थे। संस्कृत भाषा में भी आप कविता बनाते थे पर उन्हें संजोकर रखने की प्रवृत्ति आप में नहीं थी। शुद्ध चरित्र, अखण्ड निष्काम भाव से अध्यापन और पाण्डित्य के कारण इचलकरंजी, औंध तथा मिरज के राजाओं पर आपका अच्छा प्रभाव था। पर याचक-प्रवृत्ति न होने के कारण ये किसी से कुछ भी नहीं माँगते थे। ट्रेन में न बैठने का इनका प्रण था। प्रातः-सायं नित्य-नियमित उपासना किया करते थे। आपकी यथोपलब्ध वंशावली इस प्रकार है—

रामभाऊ शास्त्री गोडबोले[९] (१८३७-१९१३) की क्रमशः तीन सन्तानें थीं—नागेश शास्त्री, गणेश शास्त्री और एक कन्या। गणेश शास्त्री निःसन्तान रहे। नागेश शास्त्री की इकलौती बेटी काशी में ब्याही गई। श्री गोडबोलेजी की अन्तिम तीसरी कन्या का पाणिग्रहण पुणे जनपद में स्थित बारामती से दस मील की दूरी पर वडगाँव के साठे घराने में सम्पन्न हुआ।

पं० भाऊ दीक्षित चिपळूणकर

श्री चिपळूणकर[१०] व्युत्पन्न पण्डित थे। आपने 'भारत चम्पू' और 'लक्ष्मी सहस्र नाम' पर टीका ग्रन्थ लिखे थे। सातारा के पुराने राजमहल की 'वास्तु शान्ति' आपने की थी और इस अवसर पर आपको राज परिवार की ओर से दो हजार रुपए की दक्षिणा दी गई थी।

मनुस्मृति में प्रक्षिप्त और फलित ज्योतिष

दयानन्द सरस्वतीजी के आधुनिक कालीन मराठी चरित्र लेखक श्रीपाद जोशी (१९२०-.....) के अनुसार पुणे में ढाई महीने बीत जाने के बाद महर्षि सातारा पधारे। वहाँ उनकी मिलने आने वाले व्यक्तियों से चर्चा हुई, जिसमें उन्होंने फलित ज्योतिष की आलोचना करते हुए अन्धविश्वास, भाग्यवाद और निष्क्रियता के मूल में फलित ज्योतिष को एक मुख्य कारण बतलाया। वेदों के बाद स्मार्त साहित्य

९. अर्वाचीन चरित्र कोश-सम्पादक : सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव।
१०. मराठी-ग्रन्थ-असा घडला जिल्हा सातारा—लेखक : श्री गो० रा० माटे, पृष्ठ-४०

कर चुके थे और अंग्रेजों का शासन चालू था, सतारे की मराठी रियासत पर पूर्णाधिकार कर अंग्रेजों को २७ वर्ष हो चुके थे, स्वामीजी के आगमन से एक वर्ष पूर्व सन् १८७४ में सातारा के अन्तिम मराठा शासक शाहू अप्पासाहब की तीनों रानियों का देहान्त हो चुका था।

महर्षि 'सातारा रोड' रेलवे स्टेशन से पश्चिम की ओर दस मील के अन्तर को तय करके सातारा शहर पहुँचे थे। उस समय सातारा की जनसंख्या २१ हजार के लगभग थी, जिसमें २० हजार हिन्दू तथा शेष एक हजार में ईसाई, मुस्लिम, पादरी, यहूदी इत्यादि का समावेश था। ढाई मील लम्बी और इतनी ही चौड़ी भूमि पर फौजी छावनी फैली हुई थी, जिसके दक्षिण किनारे पर पुराने रेसीडेंसी का क्षेत्र था। जिसके उत्तर फाटक के बाहर यूरोपियन सिपाहियों की लाइनें और दक्षिण में देशी सिपाहियों की लाइनें और मुख्य बाजार था। अंग्रेजी बारक के एक चतुर्थांश मील की दूरी पर पश्चिम में एक वृक्ष के चारों ओर अप्पासाहब शाहू के स्मरणार्थ एक शिलालेख भी लगा हुआ था। कसबे के बीचोबीच सातारा के राजा अप्पासाहब का बनवाया हुआ (पुराना) मकान था।

महर्षि प्राय: जहाँ भी जाते शहर की भीड़ में न ठहरकर शहर के निकट किसी बाग में ठहरते थे। सम्भव है सातारा के ऐसे ही किसी बाग (खेत) में वे एक महिना रहें होंगे, दयानन्दजी की पुणे-सातारा धर्म प्रचार-यात्रा उस समय हुई थी, जब यात्रियों की दृष्टि से पुणे-सातारा का मौसम बहुत अच्छा होता है। वर्षा के कारण खेत-खलिहानों और पहाड़ियों पर हरियाली का राज्य छाया हुआ था, पुणे से सातारा तक ट्रेन से यात्रा करते समय पर्वतों की एक के बाद एक हरे-भरे शिखर नजर आते हैं। स्वराज्य के लिए अनथक संघर्ष करने वाले महराणा प्रताप के चितौड़गढ़ क्षेत्र की तरह सातारा, उसके परिसर और दुर्ग का निरीक्षण करते हुए महर्षि को छत्रपति शिवाजी का निश्चत रूप से स्मरण हुआ होगा। महर्षि दयानन्द सरस्वती के वाङ्मय में छत्रपति शिवाजी का बड़े ही गौरव के साथ स्मरण किया गया है।

—ऐक्य : मराठी दैनिक : सातारा : ७ मार्च १९९४ : वैदिक गर्जना : हिन्दी-मराठी मासिक : जून २००३ से साभार।



(१०)

जुन्नर-परिसर, छत्रपति शिवाजी और महर्षि दयानन्द

मराठवाड़ा इतिहास परिषद् का २६वाँ अधिवेशन पहली बार मराठवाड़े से बाहर पुणे जिले की जुन्नर तहसील में सम्पन्न हुआ। जुन्नर परिसर में वह शिवनेरी दुर्ग है, जहाँ छत्रपति शिवाजी का जन्म हुआ था, अतः इतिहास प्रेमियों को जुन्नर का आकर्षण होना स्वाभाविक है। यह अधिवेशन २३, २४, २५ नवम्बर २००६ को सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर जुन्नर के सन्निकट स्थित शिवनेरी दुर्ग और नाणेघाट की अध्ययन यात्रा का भी आयोजन किया गया। डेक्कन कॉलेज-पुणे के पुरातत्त्व विभाग की ओर से जुन्नर स्थित ऐतिहासिक भवनों के छायाचित्रों की प्रदर्शनी भी आयोजित की गई थी।

लोकहितैषी स्वराज्य के दूरदर्शी संस्थापक छत्रपति शिवाजी महाराज का जन्म पुणे जनपद में, पुणे से उत्तर दिशा की ओर फैली हुई सह्याद्रि पर्वतमालाओं से २५ किलोमीटर के अन्तर पर १९ फरवरी १६३० को जिस दुर्ग में हुआ, उसका नाम 'शिवनेरी' है। यह दुर्ग पुणे से वायव्य दिशा में ९० किलोमीटर की दूरी पर तहसील जुन्नर के सन्निकट है। जुन्नर व्यापारियों का राजमार्ग नाणेघाट यहाँ से २७ किलोमीटर के अन्तर पर है। जुन्नर से नाणेघाट तक का लगभग ३० किलोमीटर का परिसर सृष्टि सौन्दर्य से विभूषित है। समुद्री सतह से जुन्नर ७०० मीटर की ऊँचाई पर स्थित है। यह जुन्नर कुकडी नदी के दक्षिण में है। सम्पूर्ण जुन्नर गाँव आठ-दस किलोमीटर के परिसर में २०० से ४०० मीटर ऊँची टेकडियों से घिरा हुआ है। गाँव के दक्षिण दिशा में पर्वत तो पश्चिम दिशा में शिवनेरी दुर्ग है।

प्रा० लहू गायकवाड के अनुसार—"जुन्नर का इतिहास प्राचीन और वैभवशाली है। इस परिसर में विद्यमान गुफाओं में उत्कीर्ण शिलालेखों से यह सिद्ध होता है कि जुन्नर यह सातवाहनों की राजधानी थी, अतः यहाँ के ऐतिहासिक संसाधनों की सुरक्षा करना

अत्यावश्यक है। नाणेघाट की गुफा में ३६ पंक्तियों का शिलालेख है, जो ब्राह्मी लिपि में अंकित है और जिसमें वैदिक संस्कृति का महत्त्व विशद किया गया है। सातवाहन काल में शिवनेरी पर ७८ गुफाएँ खोदी गईं थीं।'' —(सकाळ—मराठी दैनिक-२७-११-२००७, पृष्ठ-५)।

जुन्नर से २७ किलोमीटर की दूरी पर स्थित नाणेघाट में सातवाहन राजवंश की रानी नागनिका ने गुफा लेखों में उनके द्वारा किये गए अनेक यज्ञों तथा एतदर्थ पुरोहितों को मुक्त हस्त से दान दिये जाने का उल्लेख है। इस शिलालेख के प्रारम्भ में लोकपाल, प्रजापति, धर्म, इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि वैदिक देवताओं का वन्दन किया गया है। जो बीस शिलालेख मिलते हैं, उनमें से ११ में तो देवी नागनिका द्वारा किये गए यज्ञों का वर्णन है। दक्षिणा-पथपति सातकर्णी की सहधर्मचारिणी के नाते और उनकी मृत्यु के बाद स्वयं उसके द्वारा किये गए अनेक श्रौतयज्ञों का वर्णन शिलालेख में है। इन यज्ञों में दो अश्वमेध और राजसूय यज्ञ के अतिरिक्त अग्न्याधेय, अन्वारंभणीय, गवामयन, भगालदशरात्र, आप्तोर्याम, आंगिरस सामयन, गर्गत्रिरात्र, अंगिरसातिरात्र, छन्दोगपमानतिरात्र, शतातिरात्र, त्रयदेशराम, दशरात्र आदि श्रौत यज्ञ हैं। अनेक यज्ञों के नाम तो शिलालेखों के खण्डित हो जाने के कारण नष्ट हो गए हैं।

इन यज्ञों के समय ऋत्विक् पुरोहितों को गाय, हाथी, घोड़े, रथ, कार्षापण, सोने-चाँदी के अलंकार दान में दिये जाने का उल्लेख है। जिसमें एक हजार से बीस हजार तक कार्षापण, सौ से दस हजार तक गाय, सैकड़ों घोड़े, अनेक हाथी, गाँव और वस्त्र आदि का समावेश है। उपरोक्त यज्ञों में राजसूय और अश्वमेध यज्ञ राजनीतिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थे। दो अश्वमेधों का उल्लेख है। उस समय यह संकेत था कि *वर्ष में दस से बीस लक्ष कार्षापण कर-सम्भार प्राप्त करनेवाले राजा को ही राजसूय यज्ञ करना चाहिए और पचास लाख से एक कोटि कार्षापण प्राप्त करने वाले राजा को ही अश्वमेध यज्ञ करने का अधिकार है। पहले राजसूय यज्ञ में यह सिद्ध करना होता था कि—'हम अभिषिक्त राजा हैं और प्रजा की हमें मान्यता है, तो दूसरे अश्वमेध यज्ञ में यह प्रमाणित करना होता था कि, 'हम बलाढ्य शत्रु को पराजित करनेवाले विजयी सम्राट् हैं।'*

उपरोक्त शिलालेखों से हमें तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक स्थितियों का गहराई से परिचय मिलता है। इससे यह भी पुन: एक बार सिद्ध होता है कि **प्राचीनकाल में स्त्रियों को वेदाधिकार और यज्ञाधिकार भी प्राप्त था और स्त्रियाँ सुशिक्षिता और विदुषी हुआ करती थीं।**

ईस्वी सन् १६५७ में शिवाजी ने जुन्नर पर आक्रमण कर ३,००,००० स्वर्ण मुद्राएँ, २०० अश्व, महार्घ वस्त्र और अन्य मूल्यवान् सामग्री प्राप्त की थी, परन्तु वे जुन्नर व शिवनेरी पर पूर्णतया विजय हासिल नहीं कर पाए। सन् १६७० में जुन्नर और शिवनेरी पर फिर उन्होंने आक्रमण किया, पर वे अयशस्वी रहे। फिर एक बार सन् १६७५ में शिवाजी ने अपनी जन्मस्थली शिवनेरी पर आक्रमण किया, पर वह भी असफल हुआ। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादयि गरीयसी।' इसे दुर्दैव ही माना जायेगा कि छत्रपति शिवाजी महाराज (१६३०-१६८०) जिन्होंने तोरणा, राजगढ, सिंहगढ (कोंढाणा), पुरन्दर आदि दुर्गों पर विजय हासिल की थी, वे अपने जन्म स्थान शिवनेरी दुर्ग को अपने जीवन के अन्त तक जीत नहीं पाये। (सन्दर्भ—ग्रन्थ-'जुन्नर-शिवनेरी परिसर' लेखक—डॉ० सुरेश वसंत जाधव, प्रकाशक—संचालक-पुरातत्व व वास्तुसंग्रहालय विभाग, महाराष्ट्र शासन, मुम्बई, आवृत्ती-१९८२, पृष्ठ संख्या-७०, मूल्य-रुपये २-७० पैसे।

महर्षि दयानन्द अपने गौरवशाली इतिहास और ऐतिहासिक राष्ट्रीय महापुरुषों पर अनन्य श्रद्धा रखते थे। उनके पुणे प्रवचनों में पन्द्रह में से पाँच व्याख्यान तो इतिहास पर ही हैं, जो २४, २५, २६, २७, २९ और ३१ जुलाई १८७५ को दिये गए थे। पुणे में तांबडी जोगेश्वरी मन्दिर से संलग्न भिडेवाडे में सम्पन्न उनके व्याख्यानों में इतिहास विषयक व्याख्यानों की संख्या सर्वाधिक है। डॉ० भवानीलाल भारतीय के अनुसार—'स्वामी दयानन्द भारतीय इतिहास के तटस्थ विश्लेषण की क्षमता रखते थे।' (नवजागरण के पुरोधा—दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ २५४) महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिर मीमांसक के मतानुसार—'ऋषि दयानन्द की धारणा थी कि—'महाराज स्वायंभुव मनु से लेकर महाराज युधिष्ठिर पर्यन्त का इतिहास महाभारत आदि में लिखा है।' अतः आगे का इतिहास सुरक्षित रखने की भावना से उन्होंने महाराज युधिष्ठिर से लेके महाराज यशपाल पर्यन्त की वंशावली

सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास के अन्त में उद्धृत की है। साथ ही यह अपेक्षा भी की है कि—**'हमारे आर्य सज्जन लोग इतिहास और विद्यापुस्तकों का खोज कर प्रकाश करेंगे तो देश को बड़ा ही लाभ पहुँचेगा।'**

पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक के अनुसार—'इतिहास अन्वेषण की दिशा में प्रो० रामदेवजी और श्री पं० भगवद्दत्तजी के अतिरिक्त अन्य आर्य विद्वानों ने सदा उपेक्षा की है। (सत्यार्थप्रकाश—सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक, पृष्ठ-५९९) पंजाब केसरी लाला लाजपतरायजी और पं० भीमसेनजी विद्यालंकार ने छत्रपति शिवाजी के जीवन चरित्र लिखे हैं। इतिहासवेत्ता प्रा० राजेन्द्रजी जिज्ञासु ने भी 'शिवाजी का राज्याभिषेक' नामक एक लघु किन्तु महत्त्वपूर्ण पुस्तिका लिखी है। डॉ० य० दि० फडके के शब्दों में 'आर्यसमाजी चिंतक, प्रकाण्ड विद्वान् तथा महान् इतिहासकार *डॉ० बालकृष्ण ने छत्रपति शिवाजी महाराजजी का अंग्रेजी में 'शिवाजी द ग्रेट' नाम से चार खण्डों में विस्तृत जीवन चरित्र लिखा है, जो महाराष्ट्र के इतिहास लेखन क्षेत्र में बहुत बड़ा योगदान माना जाता है।'* (राजर्षी शाहू छत्रपती-एक मागोवा-सुमेरु प्रकाशन डी-६, राजहंस सोसाइटी, टिळक नगर, डोंबिवली (पूर्व) पिन-४२१२०१)।

असाधारण-अद्भुत शक्ति हासिल हो जाने के बाद जब पक्षपात, अहंकार और अन्याय बढ़ जाता है, तब उसकी अनिवार्य रूप से होनेवाली परिणती को समझाते हुए महर्षि दयानन्द सत्यार्थप्रकाश में छत्रपति शिवाजी और गुरु गोविन्दसिंहजी का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हुए लिखते हैं, **''जब युद्ध विभाग में युद्ध विद्या कौशल और सेना इतनी बढ़े कि जिसका सामना करनेवाला भूगोल में दूसरा न हो, तब उन लोगों में पक्षपात, अभिमान बढ़कर अन्याय बढ़ जाता है। जब ये दोष हो जाते हैं, तब आपस में विरोध होकर अथवा उनसे अधिक दूसरे छोटे (अल्प सामर्थ्यवान्) कुलों में ऐसा कोई समर्थ पुरुष खड़ा होता है कि उनका पराजय करने में समर्थ होवे। जैसे मुसलमानों की बादशाही के सामने [छत्रपति] शिवाजी और [गुरु] गोविन्दसिंहजी ने खड़े होकर मुसलमानों के राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया।''** (सत्यार्थप्रकाश—सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक, प्रकाशक—रामलाल कपूर ट्रस्ट, रेवली, जिला

सोनीपत, हरियाणा, पिन० १३१०३९, द्वितीय संस्करण सन् २०००, पृष्ठ संख्या-४०९)।

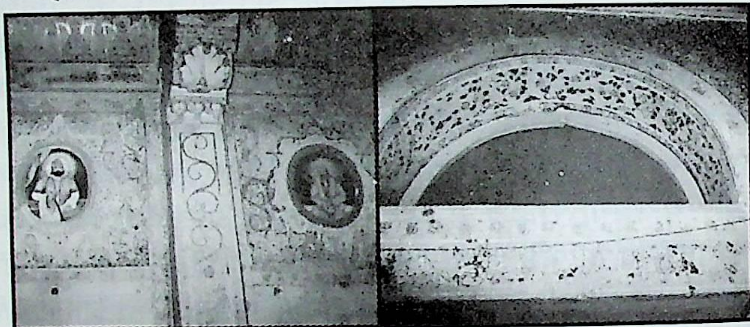
इसी प्रकार तत्कालीन राजपूताने में जब महर्षि इस्लाम का खण्डन कर रहे थे तो कहा गया कि—'मुगल शासन काल में आप इसी प्रकार खण्डन करते, तो उसके परिणाम भयंकर होते।' इस कथन पर महर्षि दयानन्दजी ने जो प्रतिक्रिया व्यक्त की, वह महर्षि के जीवनी लेखक डॉ० भवानीलाल भारतीय के शब्दों में प्रस्तुत है—"जोधपुर निवास काल में.....जोधपुर राज्य के मुसाहिब (मन्त्री) भैया फैजुल्ला खाँ दो-तीन बार स्वामीजी से मिले। मियाँ साहब राज्य के प्रमुख पद पर प्रतिष्ठित थे तथा सारा शासन तन्त्र उनकी ऊँगलियों के संकेत से संचालित होता था। जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह के वे पूर्ण कृपापात्र थे। अतः राज्य के अन्य जागीरदार तथा सरदार भी मियाँ साहब के कृपा के आकांक्षी रहते थे। अपने व्याख्यान में एक बार जब महाराज ने इस्लाम की अनेक अवैज्ञानिक तथा तर्कहीन बातों का उग्र खण्डन किया तो....एक दिन वार्तालाप के प्रसंग में मियाँ साहब ने कहा कि यदि आज मुसलमानों का शासन होता, तो आपके इस्लाम खण्डन को कदापि सहन नहीं किया जाता और आपका इस प्रकार का भाषण करना कठिन हो जाता। (तो इस पर) निर्भीकमना दयानन्द का उत्तर था—"**मैं यदि मुसलमान शासनकाल में होता, तब भी इसी प्रकार की बात कहता और यदि काई औरंगजेब की परम्परा का शासक मेरा अनिष्ट चिन्तन करता, तो मैं किसी (छत्रपति) शिवाजी, दुर्गादास (राठौर) अथवा राजसिंह जैसे क्षत्रिय को आगे कर देता, जो उसे मजा चखा देता।**" (नवजागरण के पुरोधा—दयानन्द सरस्वती पृष्ठ ५०५)।

—वैदिक गर्जना : संपादक : प्रा० डॉ० नयनकुमार विशारद : जुलाई २००७ से सभार।





जोधपुर महल में फैजुल्ला खाँ के बाग का वह महल
जो महर्षि का निवास स्थान रहा और जहाँ उन्हें विष दिया गया ।



जोधपुर महल : राजाओं की चित्रावली

जोधपुर महल : कलात्मक पच्चीकारी



जोधपुर स्मृति भवन का वर्तमान रूप



छत्रपति शिवाजी



गुरु गोविन्दसिंह



दुर्गादास राठौर



औरंगजेब



फैजुल्ला खाँ

(११)

लोकमान्य तिलक : महर्षि दयानन्द और स्वामी श्रद्धानन्द के सन्दर्भ में

आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध कवि और लेखक स्व० श्री सन्तोष जी कण्व (१९५२-२००२) ने दिनांक २९-३-१९८५ को मेरे नाम भेजे अन्तर्देशीय पत्र में लिखा था—"पुणे के तिलक हॉल में स्वामी श्रद्धानन्द और तिलकजी के मध्य हुआ पत्र व्यवहार है। उसमें तिलकजी ने अपने किसी पत्र में स्वामीजी को लिखा है कि 'जब महर्षि पुणे पधारे थे, तो नकली दयानन्द को गधे पर बिठा, नगर में घुमाने की घटना में वे स्वयं शामिल थे। बालपन था।' वह पत्र यदि मिल जाए तो गर्दभ वाली घटना की ऐतिहासिकता पुष्ट हो जावेगी। मुझको यह जानकारी प्रो० रामसिंहजी (जो हिन्दू महासभा के अध्यक्ष और गुरुकुल काँगड़ी के कुलपति भी रहे) ने एक भेंट के दौरान दी थी। गत दिनों उनका दिल्ली में निधन हो गया। इस आशय का पत्र भी उन्होंने मुझे लिखा था, वह मैंने डॉ० भवानीलालजी भारतीय को दे दिया। मेरा विचार है कि जो पत्र तिलकजी ने स्वामी श्रद्धानन्दजी को लिखे और जो स्वामीजी ने उन्हें लिखे, वे सब देखे जाएँ तो बहुत-सी ऐतिहासिक घटनाओं पर प्रकाश पड़ सकता है।"

५ सितम्बर, १८७५ को महर्षि दयानन्द के पुणे से विदा होने से पूर्व न्यायमूर्ति रानडे और श्री गंगाराम भाऊ म्हस्के आदि ने उनके सम्मान में जब शोभायात्रा निकालने का निश्चय किया तो इसके विरोध में रूढ़िवादी विरोधियों ने उसी दिन और उससे दो-तीन दिन पहले से ही स्वामीजी का उपहास करने के उद्देश्य से पुणे की गली-कूचे में 'गर्दभानन्द' का अशोभनीय जुलूस निकाला था, यह तथ्य श्रीमती रमाबाई महादेव रानडे के मराठी संस्मरण ग्रन्थ 'आमच्या आयुष्यातील कांही आठवणी' और 'ज्ञानप्रकाश', 'सत्यदीपिका' आदि मराठी पत्रों से तथा महर्षि दयानन्द विषयक जीवनियों से निर्विवाद रूप से पुष्ट है। इसे और अधिक पुष्ट करने के लिए

तिलकजी के पत्र की उतनी आवश्यकता भी नहीं है, पुनरपि उक्त पत्र की प्राप्ति से इतना जरूर होगा कि 'गर्दभ' वाली घटना को पुष्ट करने वाला एक और तथ्य जुड़ जायेगा।

महर्षि दयानन्द से सम्बन्धित चाहे वह घटना उनके अनुकूल हो या प्रतिकूल, ऐतिहासिकता की दृष्टि उसे सुरक्षित रखना प्रत्येक इतिहास प्रेमी का एक आवश्यक कर्त्तव्य है। इसी कर्त्तव्य को पूर्ण करने की प्रेरणा श्री सन्तोषजी कण्व ने उपर्युक्त पत्र द्वारा मुझे दी थी। श्री कण्वजी ने अपने पत्र में तथा अन्य कतिपय लेखकों ने भी यत्र-तत्र नकली दयानन्द को गधे पर बिठाने की जो बात लिखी है, उससे यह भ्रम होने की सम्भावना है कि गधे पर कोई व्यक्ति संन्यासी का वेश धारण करके बैठा था, पर ऐसी कोई बात नहीं थी। हाँ, गधे पर गेरुए और भगवा रंग के केवल वस्त्र डाल दिये गए थे और स्वामी दयानन्द का उपहास करने के लिए 'दयानन्द' नाम की तरह उसे 'गर्दभानन्द' नाम दे दिया गया था। पर इस प्रकार के गर्दभ पर किसी भी सामान्य या असामान्य व्यक्ति को बिठलाया नहीं गया था। आचार्य अत्रे ने 'महात्मा फुले' नामक मराठी फिल्म में भी स्वामी दयानन्द को हाथी पर विराजमान दिखलाया है और विरोधियों के 'गर्दभानन्द' नामक प्रति जुलूस को फिल्माते समय गर्दभ पर अन्य किसी व्यक्ति को बैठे हुए नहीं दिखलाया है। बस रूढ़िवादी विरोधियों के प्रतिजुलूस में गर्दभ को सबसे आगे चलते हुए दिखलाया गया है, जो ऐतिहासिक तथ्य के अनुकूल ही है।

लोकमान्य तिलक का जन्म २३ जुलाई, १८५६ को महाराष्ट्र प्रान्तीय रत्नागिरी जनपद के चिखल नामक गाँव में हुआ था। महर्षि दयानन्द सरस्वती के पुणे प्रवचन काल में (२० जून, १८७५ से ५ सितम्बर, १८७५ तक) वे उन्नीसवें वर्ष को पार कर बीसवें वर्ष में पदार्पण कर चुके थे। तिलक कट्टर रूढिवादी थे और अपने समानधर्मा तथा महर्षि दयानन्द के विरोध में उपहासात्मक लेखन कर रूढ़िवादियों को उकसाने वाले विष्णु शास्त्री चिपलूणकर के प्रभाव में भी आ चुके थे। तिलक उस समय तक समाज-सुधार के आन्दोलन को जनता में बुद्धिभेद उत्पन्न करने का कारण समझकर उसे हेय समझते थे। अतः बाल गंगाधर तिलक 'गर्दभानन्द' के जुलूस में यदि शामिल भी हुए हों तो कोई आश्चर्य नहीं। श्री तिलक ने वस्तुतः १८७६ में

'बी० ए०' और १८७९ में 'एल० एल० बी०' परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त स्पष्ट रूप से सार्वजनिक कार्यक्षेत्र में प्रवेश किया था।

सार्वजनिक क्षेत्र में पदार्पण करने के उपरान्त तथा इससे कुछ समय पूर्व ही महाविद्यालयीन विद्यार्थी-जीवन में युवा तिलक अपने समवयस्क श्री गोपाल गणेश आगरकर तथा उनके लिए गुरुवत् पूज्य और प्रेरक श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर के सम्पर्क में आ चुके थे। श्री चिपलूणकर अपने समय के सर्वोत्कृष्ट मराठी निबन्धकार समझे जाते थे। आपने अधिकारियों के व्यवहार से असन्तुष्ट हो सरकारी स्कूल की नौकरी से त्यागपत्र देकर स्वतन्त्र पाठशाला चलाने के विचार से पुणे को अपनी कर्मभूमि बना लिया था। सर्वश्री तिलक, आगरकर और चिपलूणकर ने मिलकर 'पूना इंग्लिश स्कूल' (जिसे न्यू इंग्लिश स्कूल भी कहा जाता है) नामक एक पाठशाला की स्थापना की थी और उसमें यह त्रिमूर्ति अध्यापन कार्य करने लगी थी। इन देशभक्ति से ओत-प्रोत युवकों के लिए केवल पाठशाला की सीमा पर्याप्त नहीं थी, अत: इन्होंने कालान्तर में केसरी (मराठी) और 'मराठा' (अंग्रेजी) नामक दो पत्र भी प्रारम्भ किए, जो श्री चिपलूणकर के 'आर्यभूषण' नामक प्रेस से ही छपते थे। विष्णु शास्त्री चिपलूणकर ने सचित्र प्रकाशन के लिए 'चित्रशाला प्रेस' की भी स्थापना की थी। इस 'चित्रशाला' मुद्रणालय से 'महर्षि दयानन्दजी सरस्वती' का चित्र भी प्रकाशित व प्रसारित किया गया था। इन समाचार पत्रों और मुद्रणालय को प्रारम्भ करने का अधिकतम श्रेय श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर को ही था। सन् १८८२ में चिपलूणकर का निधन हो गया। यह वियोग तिलक महाराज के लिए अपनी ही एक भुजा कट जाने के समान था। आर्यसमाज या आर्यसमाजियों में लोकमान्य तिलक के प्रति जो आदरभाव है, वह उनके स्वाधीनता के एक प्रखर योद्धा होने के कारण ही है। अन्यथा समाज-सुधार के क्षेत्र में तो वे प्रतिगामी ही थे।

स्वराज्य प्राप्ति हेतु किए जा रहे संघर्ष काल में समाज-सुधार के कार्यों की उपेक्षा ही नहीं, अपितु विरोध भी करने वाले लोकमान्य तिलक ने महर्षि दयानन्द के प्रति जो हार्दिक उद्‌गार व्यक्त किए हैं, वे भी यहाँ द्रष्टव्य हैं। स्वराज्य की महत्ता प्रतिपादित करने के साथ-साथ समाज-सुधार के कार्य को भी समान महत्त्व देने वाले दयानन्दजी

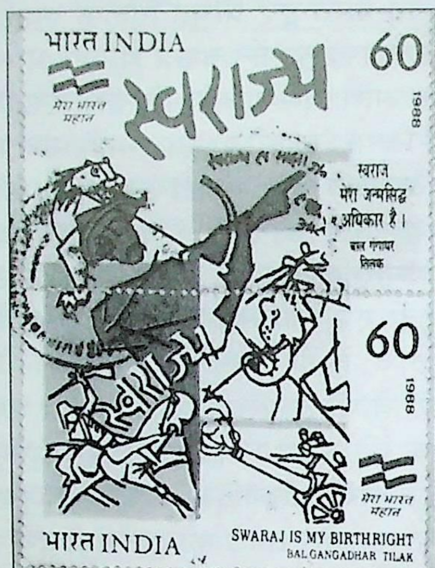
के प्रति अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करते हुए श्रीयुत तिलक कहते हैं, "महर्षि दयानन्द सरस्वती एक जाज्वल्यमान नक्षत्र थे, जो भारतीय क्षितिज पर तेजोमय प्रकाश के साथ चमके और जिन्होंने निद्राधीन भारत को जागृत करने का कार्य किया। स्वामीजी स्वराज्य के सर्वप्रथम सन्देशवाहक और मानवता के उपासक थे।" (लेखक—प्रा० (डॉ०) चन्द्रशेखर लोखण्डे-'स्वामी दयानन्द सरस्वती : संक्षिप्त चरित्र व विचार धन', प्रकाशक—विद्या भारती प्रकाशन, गीतांजली मार्केट के पास, मेन रोड, लातूर—४१३५१२, प्रकाशन काल—१५ जून, २००३)।

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' ने भी तेजस्विता की दृष्टि से महर्षि दयानन्द और लोकमान्य तिलक को अपने समकालीन अन्य राष्ट्रीय महापुरुषों की तुलना में अधिक तेजस्वी प्रतिपादित किया है। राष्ट्रकवि श्री दिनकर के शब्दों में "केशवचन्द्र और रानडे की तुलना में दयानन्द वैसे ही दिखते हैं, जैसे गोखले की तुलना में तिलक। जैसे राजनीति के क्षेत्र में हमारी राष्ट्रीयता का सामरिक तेज, पहले-पहल तिलक में प्रत्यक्ष हुआ, वैसे ही सांस्कृतिक क्षेत्र में भारत का आत्माभिमान स्वामी दयानन्द में निखरा।" (संस्कृति के चार अध्याय, संस्करण-१९५६, प्रकाशक—राजपाल एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६)।

क्रान्तिकारी एवं योगाभ्यासी श्री अरविन्द घोष ने भी सन् १९४० में प्रकाशित अपनी पुस्तक '**बंकिम, तिलक और दयानन्द**' में राजनीतिक प्रखरता की दृष्टि से ही इन तीनों तेजस्वियों को वैचारिक दृष्टि से एक दूसरे के निकट खड़ा पाया है।

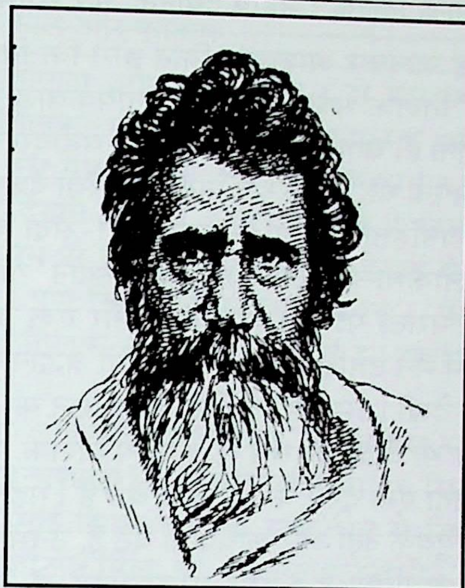
स्वामी श्रद्धानन्द और लोकमान्य तिलक

श्री सन्तोष कण्व लिखित पत्र प्राप्ति के लगभग दो वर्ष बाद मैं पुणे स्थित लोकमान्य तिलक के निवास स्थान 'गायकवाड़ वाड़ा' पहुँचा। उद्देश्य था—स्वामी श्रद्धानन्द और तिलक के बीच सम्पन्न पत्र व्यवहार को देखना। इससे पूर्व इच्छा होते हुए भी अपने महाविद्यालयीन, सामाजिक, सार्वजनिक तथा गृहस्थ जीवन की व्यस्तताओं के कारण पुणे के 'गायकवाड़ भवन' में मेरा जाना नहीं हो पाया। महाराष्ट्र का भौगोलिक क्षेत्र अतिशय विस्तृत है। नांदेड़ से तीव्रतम गति से यातायात करने वाली नांदेड़-पुणे बस में भी आने-जाने में कम से कम बीस घण्टे लगते हैं।

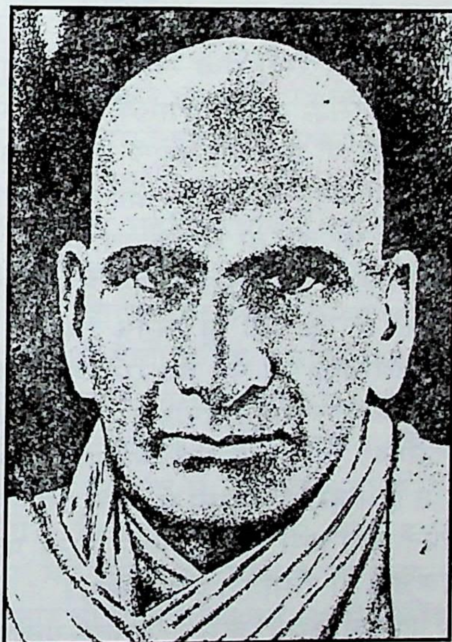

भारत INDIA
60
स्वराज्य
मेरा भारत महान
1988
स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है।
बाल गंगाधर तिलक
60
1988
मेरा भारत महान
भारत INDIA
SWARAJ IS MY BIRTHRIGHT
BAL GANGADHAR TILAK



लोकमान्य तिलक



महात्मा मुंशीराम



स्वामी श्रद्धानन्द

पाठक यह जानकर आश्चर्यचकित होंगे कि तिलक के निवास स्थान का नाम 'तिलक भवन' न होकर 'गायकवाड़ वाड़ा' क्यों है ? यहाँ पर अब इतना ही बता देना पर्याप्त है कि—वडोदरा नरेश सयाजीराव गायकवाड़ ने अपना यह पुणे स्थित प्रासाद तपस्वी देशभक्त लोकमान्य तिलक के सर्वजनहिताय कार्यों के लिए सदा-सदा के लिए समर्पित कर दिया था। लोकमान्य तिलक के निवास स्थान 'गायकवाड़ भवन' में ही 'केसरी' मराठी पत्र का कार्यालय और एक ग्रन्थालय भी है। इसी ग्रन्थालय में मैंने उपेक्षित-सी पड़ी स्वामी श्रद्धानन्द की अर्धाकृति (बस्ट) प्रतिमा देखी। अमृतसर कॉंग्रेस अधिवेशन का वह ऐतिहासिक सामूहिक फोटो भी देखा, जिसमें लोकमान्य तिलक, स्वामी श्रद्धानन्द आदि राष्ट्रीय नेता एक दूसरे के सन्निकट बैठे हैं। महापुरुषों के चरणों में धरती पर जो युवक नेता और कार्यकर्त्ता बैठे हैं, उनमें पं० जवाहरलाल नेहरू का भी समावेश है। इसी पुस्तकालय में स्वामी श्रद्धानन्द विषयक लोकमान्य तिलकजी का वह संस्मरण भी पढ़ा, जिसमें उन्होंने कहा है—*'गीता-रहस्य' में मैंने जिस निष्काम कर्मयोग का प्रतिपादन किया है, उसके साक्षात् साकार रूप तो स्वामी श्रद्धानन्द ही हैं।'* इसी ग्रन्थालय में रखी एक स्मारिका से मुझे यह भी पता चला कि पुणे की सुप्रसिद्ध वसन्त व्याख्यानमाला में आयोजकों ने स्वामी श्रद्धानन्दजी का भी एक व्याख्यान आयोजित किया था।

कालान्तर में २५ अक्टूबर, १९९० को जब मैं दुबारा 'केसरी-मराठा-ग्रन्थशाला' में पहुँचा, तो महर्षि दयानन्दजी का एक अज्ञात दुर्लभ संस्कृत पत्र भी प्राप्त हुआ, जो मुम्बई के छबीलदास, श्यामजी कृष्ण वर्मा आदि को लिखा गया था। ऋषि दयानन्द के संगृहीत एवं प्रकाशित पत्रों में तब तक इस पत्र का समावेश नहीं हो पाया था। हमने इस पत्र का प्रकाशन महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित दिसम्बर, १९९० के वेदवाणी मासिक में पादटिप्पणियों के साथ करा दिया है, जिससे भविष्य में ऋषि दयानन्द के पत्र संग्रहों के प्रकाशक अपने नवीनतम संस्करणों में अन्य पत्रों के साथ इस चर्चित दुर्लभ पत्र का भी समावेश कर सकेंगे।

गायकवाड़ भवन में स्थित 'केसरी-मराठा-ग्रन्थशाला' में महात्मा मुंशीराम (अर्थात् स्वामी श्रद्धानन्द) जी का केवल एक ही हस्तलिखित पत्र मुझे दिखलाई दिया जब कि श्री सन्तोष कण्व और प्रो० रामसिंहजी

के बीच हुए वार्तालाप और पत्र व्यवहार से इस तथ्य का संकेत मिलता है कि तिलक-भवन में स्वामी श्रद्धानन्द और लोकमान्य तिलक के बीच हुए पत्राचार के अनेक पत्र विद्यमान हैं। पर ये पत्र अभी तक हमारे देखने में नहीं आए। सम्भव है निकट भविष्य में गवेषकों के माध्यम से इन चर्चित पत्रों को देखने का हम सबको सौभाग्य मिलेगा। पुणे स्थित 'गायकवाड़ भवन', 'केसरी-मराठा-ग्रन्थशाला' तथा 'तिलक स्मारक मन्दिर' में इन पत्रों के मिलने की सम्भावना है।

मुझे पुणे के लोकमान्य तिलकजी के निवास स्थान में स्थित 'केसरी-मराठा-ग्रन्थशाला' में मुंशीरामजी द्वारा २६ सितम्बर, १८९३ को केवल मात्र 'माई डियर सर' के सम्बोधन से लिखा गया एक हस्तलिखित अंग्रेजी पत्र मिला था, जिसकी फोटोस्टेट मैंने १९८७ के वर्ष के 'परोपकारी' मासिक के आवरण पृष्ठ १ और २ पर प्रकाशित करवाई थी। इसी मूल अंग्रेजी पत्र का नागरी लिप्यन्तरण और हिन्दी अनुवाद पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के मुख पत्र 'आर्यमर्यादा' साप्ताहिक (२० से २७ दिसम्बर, १९८७) के स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान अङ्क में भी प्रकाशित करवाया था। इस पत्र को डॉ० भवानीलालजी भारतीय ने गोविन्दराम हासानन्द द्वारा प्रकाशित स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली (खण्ड-११, संस्करण १९८७, पृष्ठ १५१) में भी समाविष्ट किया है। पर इस पत्र में महर्षि दयानन्द की पुणे-शोभायात्रा या उससे सम्बद्ध किसी भी तथ्य या घटना का उल्लेख नहीं है। मुंशीरामजी द्वारा 'माई डियर सर' केवल इतना ही सम्बोधन लिखा होने के कारण यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि वस्तुतः यह पत्र किसे लिखा गया है। डॉ० भवानीलालजी भारतीय की यह धारणा रही है कि यह पत्र तिलक को नहीं, अपितु न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे को लिखा गया था, क्योंकि इस पत्र में पत्र प्राप्तकर्त्ता को लाहौर में होने वाले राष्ट्रीय काँग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर आयोजित 'परोपकारिणी सभा' की बैठक में उपस्थित रहने का अनुरोध किया गया है। उनके अनुसार श्री तिलक का इस सभा से कोई सम्बन्ध नहीं था, जबकि न्यायमूर्ति रानडे उक्त सभा के विश्वस्त थे।

चर्चित पत्र लेखन के तीन महिने बाद सन् १८९३ के दिसम्बर मास में सम्पन्न काँग्रेस के लाहौर अधिवेशन में महात्मा मुंशीराम और

न्यायमूर्ति रानडे की सर्वप्रथम भेंट हुई थी, जिससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि प्रस्तुत पत्र महात्मा मुंशीरामजी ने लोकमान्य तिलक को नहीं, अपितु न्यायमूर्ति रानडे को ही लिखा था। जबकि महात्मा मुंशीराम और लोकमान्य तिलक की प्रथम भेंट काँग्रेस के लखनऊ अधिवेशन के अवसर पर उपर्युक्त चर्चित पत्र लेखन-काल के छह वर्ष बाद सन् १८९९ में हुई थी। इस अवसर पर आयोजित 'अखिल भारतीय सामाजिक सम्मेलन' के अधिवेशन में न्यायमूर्ति रानडेजी की महात्मा मुंशीरामजी ने पर्याप्त सहायता की थी। (द्रष्टव्य—स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली खण्ड-५, इनसाइड काँग्रेस, अनुवादक—डॉ० भवानीलाल भारतीय, संस्करण—१९८७, प्रकाशक—गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली-०६, पृष्ठ संख्या-३२ तथा १७२)।

सन् १८९९ में सम्पन्न 'लखनऊ-काँग्रेस-अधिवेशन' के अवसर पर लोकमान्य तिलक विषयक अनुभूत संस्मरण को लिपिबद्ध करते हुए स्वामी श्रद्धानन्द ने लिखा है कि—"मैंने लखनऊ अधिवेशन के अवकाश काल में केवल आधे घण्टे के लिए लोकमान्य को देखा। इस आधे घण्टे के साक्षात्कार में उस दिवंगत देशभक्त के प्रति जो मेरी (आदरणीय धारणा बनी, वह यह कि)—*'वहाँ पर एकत्रित कुर्सी की शोभा बढ़ाने वाले सभी वीरों में भारत के स्वराज्य का वही एकमात्र योद्धा था।'*

अगले वर्ष सन् १९०० में लाहौर नगरी को काँग्रेस का अधिवेशन दूसरी बार लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। लोकमान्य तिलक भी इस अधिवेशन में शामिल हुए थे। उनसे सम्बन्धित तत्कालीन संस्मरणों को पुनः लिपिबद्ध करते हुए स्वामी श्रद्धानन्दजी ने लिखा है—*"वेदों का अनुयायी होने के कारण मैं लोकमान्य से व्यक्तिशः भेंट करना चाहता था। जब सभा भोजन के लिए स्थगित हुई, तो लोकमान्य वहाँ अकेले बैठे थे और मैंने इस अवसर का लाभ उनसे वार्त्तालाप करने में उठाया। मैंने वर्णव्यवस्था विषयक उस प्रसिद्ध वेदमन्त्र [यथेमां वाचं कल्याणीम्०] के विषय में उनसे चर्चा की और मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि उनके एतद् विषयक विचार आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द से मिलते हैं। तिलक ने अपने इन विचारों को बाद में अपने* ***'गीता-रहस्य'*** *नामक ग्रन्थ में उल्लिखित किया* है। इस आधे घण्टे में मैंने तिलक को निकट से देखा तथा उनसे

बातचीत भी की। मैंने अनुभव किया कि वे सदा किसी ऐसे गम्भीर विषय पर चिन्तन करते रहते हैं, जिसमें उनकी आत्मा सर्वतोभावेन डूबी रहती है। *मैंने पाया कि उनकी कोई निजी आकांक्षा नहीं है। वे अपनी मातृभूमि के प्रति किये गए अन्यायों का ही चिन्तन करते रहते हैं और देश को स्वतन्त्र कराने का उनका दृढ़ निश्चय है।*'' इसके पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द आगे लिखते हैं—''अगले छह वर्षों में मैं काँग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में कभी नहीं गया, किन्तु देश के राजनैतिक परिवर्तनों को सावधानीपूर्वक देख रहा था। अवसर आने पर मैं इन परिवर्तनों पर अपने साप्ताहिक पत्र 'सद्धर्म प्रचारक' में स्वतन्त्रतापूर्वक टीका-टिप्पणी भी करता था। उन दिनों गरम दल का संचालन बाल, पाल और लाल की त्रिपुटी से होता था। गरम और नरम दल के विवाद में मैंने (तिलक का नहीं, अपितु) श्री गोखले का समर्थन किया तथा अपने दृष्टिकोण को किसी से गोपनीय भी नहीं रखा। **मैं राजनीतिज्ञों द्वारा ब्रिटिश नौकरशाही के खिलाफ प्रदर्शनों में विद्यार्थियों का उपयोग करने के विरूद्ध था।**''

—आर्य सेवक : मासिक-संपादक-इंजीनियर आदित्यमुनि वानप्रस्थ : दिसम्बर-२००३ से साभार।



(१२)

मुम्बई आर्यसमाज के साप्ताहिक समारोहों से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण दस्तावेज

प्राच्यविद्या, इतिहास और शोध क्षेत्र के सुप्रसिद्ध अखिल भारतीय विद्वान् पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने 'ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण अभिलेख' में लिखा था कि—आर्यसमाज काकडवाडी (मुम्बई) के रजिस्टर में अंकित कार्यवाही का प्रथम भाग ३१ मार्च सन् १८७८ से आरम्भ होकर १९ मई १८७८ पर समाप्त होता है और दूसरा भाग ९ जनवरी १८८१ से आरम्भ होकर १९ अगस्त सन् १८८३ पर समाप्त होता है[१]। साथ ही मीमांसक जी ने यह भी स्पष्ट किया था कि प्रथम भाग और द्वितीय भाग के मध्यकालीन, अर्थात् २६ मई सन् १८७८ से लेकर २ जनवरी १८८१ तक का विवरण साप्ताहिक अधिवेशनों की कार्यवाही से लुप्त है[२]। इस लुप्त कार्यवाही विषयक सूचनाओं से सम्बद्ध यत्किंचित् विषय, स्थल, काल, वक्तादि का संकेत मात्र देने वाला विवरण अब हमें प्राप्त हो गया है, जो लगभग २ वर्ष ७ मास ७ दिन का है।

अब आर्यसमाज विषयक अध्येताओं को यह जानकर हर्ष होगा कि तत्कालीन अधिवेशनों की कार्यवाही तो नहीं, पर तद्युगीन कार्यक्रमों की अतिस्थूल रूपरेखा अब समकालीन प्रार्थनासमाज के मुखपत्र-मराठी 'सुबोध पत्रिका' साप्ताहिक के माध्यम से प्राप्त हो गई है। केवल अब उपरोक्त लुप्त कार्यवाही की लगभग त्रैवार्षिक कालावधि में से ५० दिनों का विवरण प्राप्त होना बाकी है। हमारा यह अनुमान है कि संशोधकों के लिए अवशिष्ट दिनों का विवरण भी प्राप्त करना सम्भवतः अब कठिन नहीं होगा।

२ दिसम्बर १८७७ से २६ दिसम्बर १८८० तक के अन्य जिन अवशिष्ट ५० साप्ताहिक अधिवेशनों का विवरण 'सुबोध पत्रिका' में

---

१. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण अभिलेख, पृष्ठ ६२।

२. तत्रैव, पृ० ६३।

पूर्व सूचना न दिए जाने के कारण या सम्भव है यथासमय पूर्व सूचना न होने के कारण, नहीं मिल पाया है, वह अन्य सम-सामयिक पत्रों के माध्यम से प्राप्त हो सकता है।

ये प्रस्तुत विवरण आज कल के दैनिक समाचार-पत्रों में प्रकाशित होने वाले 'स्थानीय कार्यक्रम' या 'आज के कार्यक्रम' नामक स्तम्भों के समान ही उपरोक्त दैनिक पत्र के 'मुम्बई समाचार' नामक स्तम्भ में प्रकाशित हुए थे, जो कि कार्यक्रम के आयोजकों ने दैनिक पत्रों में प्रकाशनार्थ निश्चित रूप से दो-तीन दिन पूर्व ही दिए होंगे।

मुम्बई आर्यसमाज के साप्ताहिक या नैमित्तिक सत्संगों के जो [दिसम्बर १८७७ से दिसम्बर १८८० तक के] विवरण हमें मराठी 'सुबोध पत्रिका' से प्राप्त हुए हैं, उन्हें पाठकों की सेवा में यथावत् अविकल रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। जिससे पाठकों को तत्कालीन समाज की साप्ताहिक सभाओं का यत्किंचित् स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा।

इस यथोपलब्ध विवरण के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि २ दिसम्बर १८७७ से १८ अगस्त १८७८ के सभी कार्यक्रम सायं ४ बजे आयोजित किये गए थे, केवल मात्र अपवाद बुधवार ३ अप्रैल १८७८ का है, क्योंकि उस दिन आर्यसमाज का तृतीय वार्षिकोत्सव था और उसका आयोजन अन्य दिनों की अपेक्षा ठीक डेढ़ घण्टे बाद, अर्थात् ५.३० बजे किया गया था, इन सभी कार्यक्रमों का स्थल मुम्बई आर्यसमाज ही था।

२५ अगस्त १८७८ से १६ दिसम्बर १८८० तक के प्रायः समस्त कार्यक्रम सायं ५ बजे आयोजित किये गए थे। केवल समय की दृष्टि से मात्र आठ दिनों का अपवाद रहा, जो कि निम्न प्रकार है—

८ व १५ सितम्बर १८७८ तथा ३० नवम्बर १८७९ के कार्यक्रम ४ बजे, १६ मार्च १८७९ का कार्यक्रम २ बजे, २३ व ३० मार्च के कार्यक्रम २.३० बजे तथा ९ व १६ मई १८८० के कार्यक्रम ५.३० बजे आयोजित किये गए थे।

उपरोक्त सभी कार्यक्रमों का एक स्थल मुम्बई आर्यसमाज ही रहा पर स्थल की दृष्टि से अपवाद केवल दो दिन का रहा। ६ अक्टूबर ७८ का कार्यक्रम आर्यसमाज में न होकर 'ज्ञानवर्धक मण्डली' की ओर से गिरगाँव कॉलेट कम्पनी के सामने के स्कूल में आयोजित

किया गया था तथा २३ मार्च १८७९ का कार्यक्रम 'फ्रामजी कावसजी हॉल' में सम्पन्न हुआ था।

आर्यसमाज की सभी सभाएँ रविवार को आयोजित की गईं, केवल तीन सभाओं का अपवाद रहा—३ अप्रैल १८७८ को आर्यसमाज का तृतीय वार्षिकोत्सव था, जो बुधवार को सम्पन्न हुआ था। २० तथा २७ नवम्बर ७९ को विशिष्ट शास्त्रीय विषयों पर 'वाद-विवाद' सभाएँ हुईं। ये दोनों वाद सभाएँ गुरुवार को ही आयोजित की गईं थीं।

अपवादों की बात छोड़ दी जाए तो सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत आर्यसमाज के समस्त अधिवेशन सायं ४ या ५ बजे प्रत्येक रविवार को आर्यसमाज में ही सम्पन्न होते थे।

प्रस्तुत विवरण में १८७७ की २ सभाओं, १८७८ की ८ सभाओं, १८७९ की १० सभाओं व १८८० की ३० सभाओं का कुल मिलाकर ५० सभाओं का विवरण 'सुबोध पत्रिका' में प्रकाशित न हो पाने से हम देने में असमर्थ रहे हैं।

इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि—

समय-स्थल आदि की सूचना हर सप्ताह स्थानीय समाचार-पत्रों में प्रकाशनार्थ भेजी जाती थी।

१ जून १८७९ से 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' का पाठ प्रारम्भ हो गया था, जो कालान्तर में हर १५ दिन बाद क्रमशः नियमित रूप से किया जाता था।

अन्य मतावलम्बी व्यक्तियों को भी उदारता के साथ आर्यसमाज के मञ्च से व्याख्यान देने के लिए निमन्त्रित किया जाता था। **मुन्शी शेख हुसेन वल्द शेख चाँद जुन्नरकर** के तीन व्याख्यानों का उल्लेख मिलता है। अनेक पारसी व्यक्तियों के व्याख्यान भी आयोजित किये गए हैं।

व्याख्यान हिन्दी के अतिरिक्त गुजराती, मराठी और अंग्रेजी भाषा में भी होते थे।

आर्यसमाज के सभासद भी समय-समय पर व्याख्यान देते थे। म० मो० कुटे, रघुनाथ बापूदाणी, साविता नारायण गणपति नारायण के एक-एक व्याख्यान, मूलजी ठाकरसी के तीन, आत्माराम बापू

दलवी के ९, उपमन्त्री अण्णा मार्तण्ड जोशी का १ और प्रधान गोपाल हरि देशमुख के १२ व्याख्यानों का उल्लेख मिलता है।

सम्प्रति आर्यसमाजों के सभासदों में स्वाध्याय की पद्धति गूलर के फूल के समान अदृश्य हो रही है। उक्त विवरण में महर्षि के भक्त सुप्रसिद्ध गुजराती साहित्यकार कवि नर्मद के भी पाँच व्याख्यानों का उल्लेख है।

थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापक कर्नल अल्काट के तीन व्याख्यानों का भी उल्लेख मिलता है, जिससे उनके भारत आगमन काल, महर्षि दयानन्द से भेंट और सम्बन्ध का भी संकेत मिलता है।

आर्यसमाज के ये प्रत्येक व्याख्यान-कार्यक्रम प्रकट व्याख्यान होते थे और प्रत्येक मतावलम्बी के लिए इसके दरवाजे खुले थे। जब कि प्रार्थनासमाज के कार्यक्रमों में आर्यसमाज के कार्यक्रमों की तरह सबको निमन्त्रित करने की प्रवृत्ति बिल्कुल भी नजर नहीं आती। आर्यसमाज-प्रार्थनासमाजों के विज्ञापनों को तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो आर्यसमाज के कार्यक्रम प्रकट और प्रार्थनासमाज के कार्यक्रम सीमित व्यक्तियों के लिए और लगभग गुप्त से ही थे। **आर्यसमाज के कार्यक्रमों में खुली बहस के लिए शुरू से ही स्थान रहा है।**

आजकल आर्यसमाजों में कुछ इने-गिने विषयों पर ही व्याख्यान होते हैं, पर उस समय अध्यात्म, कृषि, वैद्यक, पर्यटन, वाणिज्य, इतिहास, दर्शन, नगरों की अब और तब की स्थिति, व्यसनमुक्ति, गृहस्थ, साहित्य, अन्धश्रद्धा निर्मूलन, राज्यशास्त्र आदि विभिन्न विषयों पर व्याख्यान आयोजित किये जाते थे। वस्तुतः मुम्बई आर्यसमाज का यह तत्कालीन विवरण आज भी हम सब के लिये प्रेरक है।

मराठी 'सुबोध पत्रिका' से पता चलता है कि मुम्बई आर्यसमाज के ९९ प्रतिशत कार्यक्रमों का स्थल आर्यसमाज ही रहा है। पर यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि १८७५ से १८८१ तक आर्यसमाज की निजी स्वामित्त्व की कोई भूमि या भवन नहीं था। वर्तमान काकडवाडी स्थित मुम्बई आर्यसमाज की जगह १३-२-१८८२ को खरीदी गई थी। गोपाल हरि देशमुख 'लोकहितवादी' के अनुसार १८८२ में इस भूमि के खुले प्राङ्गण और खुली हवा में महर्षि के कुछ व्याख्यान हुए थे।

२२ सितम्बर १८७८ की 'सुबोध पत्रिका' में यह संकेत मिलता है कि आर्यसमाज के कार्यक्रम *पालवा [गिरगाँव] के शङ्करशेठ वाड़े में स्थित गोविन्द विष्णु की पाठशाला में सम्पन्न होते थे*। आर्यसमाज [काकडवाडी] मुम्बई की स्थापना शताब्दी स्मृतिग्रन्थ में भी इस तथ्य की पुष्टि करते हुए लिखा है कि आर्यसमाज मुम्बई के साप्ताहिक अधिवेशन गिरगाँव रोड पर श्री जगन्नाथ शङ्करशेठ के विशाल भवन के पास श्री गोविन्द विष्णु के प्राइवेट इंग्लिश स्कूल में होने लगे थे [पृष्ठ ३२]। पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक द्वारा सम्पादित 'आर्यसमाज मुम्बई के साप्ताहिक अधिवेशनों की कार्यवाही' से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। अतः इन सब आधारों पर यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन मुम्बई की जनता [१८८२ से पूर्व] आर्यसमाज कार्यक्रम स्थली के रूप में गोविन्द विष्णु की पाठशाला से इतनी अधिक सुपरिचित हो गई थी कि समाचार-पत्रों में आर्यसमाज के कार्यक्रमों हेतु कार्यक्रम स्थली का स्पष्ट निर्देश देने की जरूरत ही शेष नहीं रह गई थी।

सन् १८७७

दिनाङ्क	वक्ता	विषय
२ दिसम्बर*	–	–
९ दिसम्बर*	–	–
१६ दिस०	कवि नर्मदाशङ्कर लालशङ्कर [दवे]	अभिमान[1]
३० दिस०	महादेव मोरेश्वर कुंटे	जन्द अवस्ता और वेद

* 'मुम्बई समाचार' स्तम्भ में कोई समाचार प्रकाशित न होने से चिह्नांकित दिनों का विवरण हम दे पाने में असमर्थ हैं। निर्दिष्ट चिह्न सर्वत्र इसी तथ्य का सूचक है।

१. २ व ९ दिसम्बर को होनेवाले कार्यक्रमों के समाचार 'सुबोध पत्रिका' में प्रकाशित नहीं हुए। १६ दिसम्बर १८७७ के अङ्क में जो समाचार प्रकाशित हुआ, उसे यहाँ मराठी में ही यथावत् प्रस्तुत किया जा रहा है—'आज सायंकाळी चार वाजता आर्यसमाजात कवि नर्मदाशङ्कर लालशङ्कर हे 'अभिमान' या विषयावर व्याख्यान देणार आहेत। सर्वांना येण्यास मोकळीक आहे।'

सन् १८७८

७ जनवरी*	–	–
१३ जनवरी	खुशालभाई प्रागजी देसाई	स्वदेशी राज्य
२० जनवरी	मूलजी ठाकरसी	आपल्या देशाटनाचा अनुभव (मेरे देशाटन के अनुभव)
२७ जनवरी	कवि नर्मदाशङ्कर लालशङ्कर [दवे]	सत्य व असत्य, शान्ति व उत्साह
३ फरवरी	,, ,, ,,	पवित्रता व अपवित्रता
१० फरवरी*	–	–
१७ फरवरी	राव बहादुर गोपाल हरि देशमुख [लोकहितवादी]	भारतवर्षीय मुख्य दार्शनिक वाद
२४ फरवरी	करजी फकीर जी	कृषि विषयक
३ मार्च	श्री फरामजी खरसेठजी इंजीनियर	रोम व उसके आसपास के राज्य का इतिहास
१० मार्च	,, ,, ,,	आर्यधर्म
१७ मार्च	,, ,, ,,	आर्यधर्म-वाद-विवाद
२४ मार्च	मूलजी ठाकरसी	इंगलैण्ड की यात्रा
३१ मार्च	अण्णा मार्तण्ड जोशी	गर्भाधान संस्कार
३ अप्रैल (बुधवार)		आर्यसमाज का तृतीय वार्षिकोत्सव[1] (हमेशा का स्थान)
७ अप्रैल	आत्माराम बापू दळवी	मूर्त्तिपूजा
१४ अप्रैल*	–	–
२१ अप्रैल	कृष्णशास्त्री गोडबोले	वैदिक ज्योतिष
२८ अप्रैल	राजमान्य राजेश्री शोपुरजी लीमजीभाई तारापोरवाला	पैगम्बर जरदुस्त व [उसे बतलाया गया धर्म[2]]

---

१. ३१ मार्च की 'सुबोध पत्रिका' में निम्न प्रकार आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव का मराठी विज्ञापन प्रकाशित हुआ है—"येत्या बुधवारी सायंकाळी ५॥ वा० आर्यसमाजाचा तृतीय वार्षिकोत्सव नेहमीच्या स्थळी होणार आहे, सर्व देश हितेच्छु जणांनी येण्याची कृपा करावी।"

२. कोष्ठान्तर्गत वक्ता और विषय का भाग 'सुबोध पत्रिका' को घुन लगने और जीर्ण-शीर्ण होने के कारण नष्ट हो गया था—उसे युधिष्ठिर मीमांसकजी

५ मई	नारायण वासुदेव घुमरे	अन्न
१२ मई	मि० सदल ऐरलजी शोपुरजी कपर	खेती से होनेवाले लाभ
१९ मई	विष्णु भास्कर लेले	स्वदेशाभिमान
२६ मई	लक्ष्मीदास खीमजी	लग्न
२ जून	त्रिवेदी मूलशर्मा भोलानाथ	जुवान स्त्री-पुरुषांना स्वधर्म (युवा स्त्री-पुरुषों का स्वधर्म)
९ जून*	-	-
१६ जून	अण्णा मार्तण्ड जोशी	गृहस्थाश्रम
२३ जून	आत्माराम बापू दळवी	आर्य महिलाओं की आधुनिक महिलाओं से तुलना
३० जून	विष्णु भास्कर लेले	स्त्रियों की स्वतन्त्रता
७ जुलाई	आत्माराम बापू दळवी	अहिंसा अर्थात् मांसाहार निषेध
१४ जुलाई	पाण्डुरंग गोपाल मन्त्री	मांसाहार पासून क्रूरता इत्यादि तामस गुण उत्पन्न होतातच असे सिद्ध होत नाही याविषयी प्रमाणे[1]
२१ जुलाई*	-	*२८ जुलाई**
४ अगस्त	आत्माराम बापू दळवी	विधवा विवाह निषेध
११ अगस्त	कृष्णराव सुन्दरजी कीर्तिकर	गुरु
१८ अगस्त*	-	-
२५ अगस्त	अण्णा मार्तण्ड जोशी	उपवास और पर्व
१ सितम्बर	गोपाल हरि देशमुख [लोकहितवादी]	हिन्दू लोकांची कालगणना[2]

द्वारा सम्पादित 'ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण अभिलेख' से परिपूर्ण किया गया है।

१. मूल मराठीवत् अनवधान से लिखा गया, अतः उसका हिन्दी अनुवाद इस पाद-टिप्पणी में दिया जा रहा है—'मांसाहार से क्रूरता आदि तामस गुण उत्पन्न होते ही हैं, यह सिद्ध नहीं होता—इस विषय के अनुसार।'

२. हिन्दुओं की कालगणना।

८ सित० मूलजी ठाकरसी अमेरीकेतील खण्डात मुशाफरी (अमेरिका खण्ड की यात्रा)

१५ सित० गोपाल हरि देशमुख [लोकहितवादी] लोकभ्रम

२२ सित० गोपाल नरसिंह देशपांडे[१] भारतखण्ड के व्यापार की पूर्वकालीन उत्कृष्ट स्थिति व वर्तमानकालीन पतनावस्था और उसका पुनरुज्जीवन और मद्यपान से होनेवाली हानि या लाभ।

२९ सित० गोपाल हरि देशमुख [लोकहितवादी] आर्य लोगों का इतिहास

---

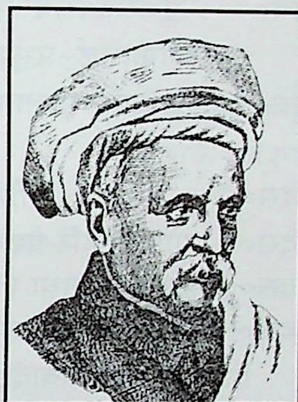
१. मुम्बई समाचार (स्थानीय कार्यक्रम-समाचार) के स्तम्भ के नीचे एक पाद-टिप्पणी दी गई है, जो कि इस प्रकार है—एक संवाददाता लिखता है कि देशहितेच्छु राजमान्य राजेश्री गोपाल नरसिंह देशपाण्डे नामक गृहस्थ 'स्वदेश' की निकृष्ट स्थिति के सम्बन्ध में अपने विचार परस्पर सभी बन्धुओं को ज्ञात करने के इस उद्देश्य से देशाटन करते-करते व स्थान-स्थान पर व्याख्यान देते-देते प्रस्तुत समय में मुम्बई पधारे हैं और उनका यह विचार है कि व्याख्यान के माध्यम से अपने विचार देशबन्धुओं तक पहुँचायें जाएँ। तदनुसार उनका पहला व्याख्यान यहाँ के आर्यसमाज की ओर से गत बुधवार को रात ८ बजे पालवा के शङ्करशेठ वाडे में स्थित राजमान्य राजेश्री गोविन्द विष्णु की शाला में हुए। उस समय उन्होंने 'बाल-विवाह निषेध व शरीर सम्पत्ति रक्षण' इस विषय का विवेचन किया था। दूसरा व्याख्यान कल रात ८ बजे राजमान्य राजेश्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि जी के गिरगाँव स्थित 'फोटोग्राफिक हॉल' में सम्पन्न हुआ। उस समय 'पंच न्यायालय व भूमि सुधार' यह वक्ता का विषय था। इनके व्याख्यान से यह प्रतीत होता है कि ये पुराने विचारों के हैं, फिर भी इनके विचार वर्तमानकालीन सुधारकों के मतों से बहुत कुछ अशों में मिलते-जुलते हैं और वे सुनने लायक हैं, इनके भाषण (निर्धारित) नियमित विषय पर सुसम्बद्ध रूप से यदि न भी होते हों, उसमें प्राचीन इतिहास-सम्बन्धी, शरीर-शास्त्र विषयक व अन्य विषयों से सम्बन्धित अनेक नाजुक बातें यदि विरोधात्मक होती हैं, फिर भी कुल मिलाकर उनकी भाषण करने की शैली, विषय का प्रतिपादन, वक्तृत्त्व शक्ति व भाषणान्तर्गत आवेश, प्रोत्साहन, ईर्ष्या व हावभाव प्रकटन की खूबी वर्णनीय और दर्शनीय है। इसलिए सर्वदेशकल्याणेच्छु लोगों को हमारी यह सूचना है कि वे उनका भाषण सुनने का अवसर गँवाएँ नहीं। इनका भाषण आर्यसमाज में फिर आज सायंकाल ५ बजे भी होने जा रहा है।



रावबहादुर गोपालराव हरि देशमुख (१८२३-१८९२)
(निवृत्त न्यायाधीश : नासिक)
विश्वस्त एवं मन्त्री : परोपकारिणी सभा
प्रधान : आर्यसमाज काकड़वाड़ी : १८७९-१८९२



नर्मदाशंकर दवे
(मुंबई आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध वक्ताओं में से एक।)



लोकहितवादी
(१८२३-१८९२)
(मुम्बई आर्यसमाज में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पर आधारित प्रवचनकर्त्ता।)



सागर किनारे बसा वसई किला
(इस किले की चार दीवारी में बसे वसई में महर्षि का चार दिन निवास रहा और दो व्याख्यान हुए।)

६ अक्तूबर	रघुनाथ बापू दाणी	व्यापार विषयक इंग्लैंड व हिन्दुस्तान की स्थिति
१३ अक्तू०	गोपाल हरि देशमुख [लोकहितवादी]	उद्योग
२० अक्तू०	अण्णा मार्तण्ड जोशी	नवस (मनौती)
२७ अक्तू०	नर्मदाशङ्कर लालशङ्कर [दवे]	नवा वर्ण
३ नव०	आंबुतलाल नारायणदास लेहेरी	देशी कारीगिरी
१० नव०	गोपाल हरि देशमुख	ऋषि
१७ नव०	'गुजरात मित्र' के सम्पादक कीकाभाई-प्रभुदास	देह शं कारीगिरी (विषय अस्पष्ट है)
२४ नव०	मूलशर्मा भोलानाथ त्रिवेदी	विद्वानों का सत्यविषयक प्रेम
१ दिस०*	–	–
८ दिस०	गोपाल हरि देशमुख	राज्यमीमांसा
१५ दिस०	रामदास लधा [लड्ढा]	स्वतन्त्रता
२२ दिस०	गोपाल हरि देशमुख [लोकहितवादी]	जडपदार्थ विज्ञान
२९ दिस०	रघुनाथ रामचन्द्र गोखले	शास्त्र विरुद्ध व्यवहार

सन् १८७९

५ जन०	आत्माराम बापू दळवी	मध्य हिन्दुस्तान में किये गए पर्यटन का वर्णन
१२ जन०	डॉ० पांडुरंग गोपाळ	गोआ के स्वाभाविक दृश्य व उसके आस-पास के विभाग
१९ जन०	आत्माराम बापू दळवी	मध्व सम्प्रदाय
२६ जन०	चुनीलाल लल्लुभाई	देशाटन
२ फर०	अण्णा मार्तण्ड जोशी	स्वामी और उसके कर्त्तव्य
९ फर०	मि० पेरोशा बरजोर जी	मद्यपान से मुक्ति
१६ फर०	शेठ फ्रामजी खरशेठ जी	मुम्बई पहले की और अब की
२३ फर०*		–

२ मार्च०	रामचन्द्र पुरुषोत्तम कामत	हमारी महिलाओं की शिक्षा आधी-अधूरी क्यों रह जाती है।
९ मार्च	अण्णा मार्तण्ड जोशी	ईश्वर प्राप्ति का साधन केवल स्वाभाविक ज्ञान ही है क्या ?
१६ मार्च (समाय-२ बजे[1])	गणेश रामचन्द्र लोटलीकर	अपने देश की वर्तमान निकृष्ट स्थिति
२३ मार्च	[स्थल—फ्रामजी कावस जी हॉल[2]] कर्नल हेलरी अल्काट-अमेरिकन-थियोसोफिकल सोसाइटी के अध्यक्ष	थियोसोफिकल सोसाइटी व उसके उद्देश्य
३० मार्च	श्रीनिवास रामचन्द्र सवंदी मराठी व कन्नड अनुवादक—हाईकोर्ट	लोकविषयक, राज्यविष्यक, ईश्वरविषयक अपने कर्त्तव्य कर्म

सन् १८७९

६ अप्रैल[3]	कृष्णशास्त्री गोडबोले	धर्म
१३ अप्रैल	चुनीलाल लल्लूभाई पारेख	स्त्री-पुरुष का धर्म
२० अप्रैल	नीलकंठ छत्रे, बी०ए०एल०सी०इ०	शास्त्रज्ञान से प्राप्त लाभ
२७ अप्रैल	दुलभदास हरिचन्दलाल	समाज में प्रचलित अनेक

---

१. इसके साथ ही समाचार में विशेष निर्देश के साथ यह भी छपा है कि आज सायं ४ बजे समाज के सन्निकट स्थित व्यायामशाला का वार्षिकोत्सव होने के कारण समय में परिवर्तन किया गया है।

२. इसके साथ समाचार में यह भी छपा है कि (कर्नल आल्काट के) व्याख्यान के बाद (इसी हॉल में) आर्यसमाज का चतुर्थ वार्षिकोत्सव होगा। सभी को आने की छूट है [प्रकट कार्यक्रम है]।

३. गत रविवार को रात ९ बजे **सेठ मथुरादास लवजी** को ५-६ आसामियों ने भरी सड़क पर लाठियों से पीटा और जख्मी किया। एक मारनेवाले ने

	कुप्रथाएँ (रीति-रिवाज) और उनसे मुक्त होने का उपाय	
४ मई	श्रीनिवास रामचन्द्र सवंदी हाईकोर्ट के आक्टिंग= मराठी व कन्नड अनुवादक	शरीर सम्पत्ति व आरोग्य
११ मई	आत्माराम बापू दळवी	मध्य आर्यावर्त्त की यात्रा और वहाँ की स्थिति
१८ मई	कर्नल अल्काट थियोसाफिकल सोसाइटी के प्रमुख	स्वामीजी के साथ सम्पन्न भेंट और सम्भाषण का वृत्तान्त
२५ मई	अण्णा मार्तण्ड जोशी	ब्रह्मचर्याश्रम
१ जून[1]	वक्ता व्याख्याता का नाम नहीं	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अन्तर्गत विषयों का निरूपण
८ जून	श्रीनिवास रामचन्द्र सौदि आपिलिटेड=साइड के आक्टिंग —मराठी व कन्नड अनुवादक	शास्त्रीय ज्ञान विरुद्ध अज्ञान
१५ जून	वक्ता-व्याख्याता का नाम नहीं	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदारम्भ[2] का निरूपण
२२ जून	इच्छाराम भगवान	आर्य देश की स्थिति
२९ जून	वक्ता-व्याख्याता का नाम नहीं	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के ईश्वर प्रार्थना विषय का निरूपण

बताया कि इस कार्यवाही की पृष्ठभूमि में केशव जी नाईक हैं (आणि हे बक्षीस केशव जी नाईक यांजकडील आहे असे मारेकरी बोलला)। ऐसे समय पुरानी प्रथा के अनुसार जब और जहाँ पुलिस होनी चाहिए तब और वहाँ वह पुलिस नहीं थी। क्या यह मुम्बई की चमत्कारपूर्ण और जंगली स्थिति नहीं है। यह समाचार ६ अप्रैल की 'सुबोध पत्रिका' से अनूदित किया गया है। इसका कारण यह है कि सेठजी महर्षि दयानन्द के अनन्य भक्त थे।

१. १ जून १८७९ से 'सुबोध पत्रिका' साप्ताहिक का आकार बड़ा किया गया और इसी के साथ इस पत्रिका का सातवाँ वर्ष प्रारम्भ हुआ।

२. यहाँ वेदारम्भ से तात्पर्य वेदोत्पत्ति विषय से है।

६ जुलाई	बाबुलजी सदाशिव सेंजीत	मुंबई की वर्तमानकालीन स्थिति (प्रेजेंट स्टेट आफ बोम्बे)
१३ जुलाई	वक्ता-व्याख्याता का नाम नहीं	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का निरूपण (प्रकरण विशेष का उल्लेख प्रकाशित नहीं हुआ)
२० जुलाई	रानिलाल [चुनीलाल] लल्लूभाई	आर्य सदुपदेश
२७ जुलाई*	–	–
३ अगस्त	अण्णा मार्तण्ड जोशी	आर्यसमाज का उद्देश्य
१० अगस्त	वक्ता-व्याख्याता का नाम नहीं	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'वेद नित्यत्व' विषय पर भाषण
१७ अगस्त	आत्माराम बापू दळवी	सुधार
२४ अगस्त	वक्ता व्याख्याता का नाम नहीं	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'वेद-विषय विचार' का निरूपण
३१ अगस्त	**मुन्शी शेख हुशेन वल्ल्दशेख चाँद जुन्नरकर** प्रसिद्ध उपदेशक	संगीत शास्त्र का महत्त्व और विद्या वृद्धि का लाभ
७ सित०	वक्ता-व्याख्याता का उल्लेख नहीं	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'वेद-विषय-विचार' का निरूपण
१४ सित०	भाई विश्राम जेठा	राजर्स कम्पनी के ओवरसियर द्वारा तैयार किये गए वाष्प से चलनेवाले स्टीम इंजिन बाईलर, पंपिंग मशीन, इत्यादि के प्रयोग करके बताएँगे
२१ सित*	–	–
२८ सित०	दुल्लभदास हरिश्चन्द्र	स्त्रीशिक्षण
५ अक्टू०*	–	–

* 'मुम्बई समाचार' स्तम्भ में कोई समाचार प्रकाशित न होने से चिह्नांकित दिनों का विवरण हम दे पाने में असमर्थ हैं। निर्दिष्ट चिह्न सर्वत्र इसी तथ्य का सूचक है।

१२ अक्टू०	इच्छाराम भगवानदास	आमचा स्वार्थ कोठे आहे [हमारा स्वार्थ किसमें है]
१९ अक्टू० *	–	–
२६ अक्टू०	**मुंशी शेख हुसेन वल्ल्दशेख चाँद जुन्नरकर** हितोपदेशक	वर्तमान आर्य देश की स्थिति
२ नव० *	–	–
९ नव०	गोपाल हरि देशमुख	आर्याश्रेयाभिवृद्धि
१६ नव० *	–	–

२० नव० (गुरुवार) [अग्रिम रविवारीय समाचार से पता चलता है कि गुरुवार के दिन आर्यसमाज की कोई विशिष्ट सभा हुई थी]।

२३ नव०	आर्यसमाज के अध्यक्ष रावबहादुर गो० ह० देशमुख [लोकहितवादी]	गुरुवार २० नव० को सम्पन्न सभा में जो अनेक विषय उपस्थित हुये थे उनकी तत्कालीन (शंकाओं का) समाधान करने का प्रयत्न करेंगे

२७ नव० (अग्रिम रविवारीय समाचार से पता चलता है कि गुरुवार के दिन भी आर्यसमाज की कोई विशिष्ट सभा हुई थी)।

३० नव० व्याख्याता-वक्ता का नाम नहीं : 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के 'ब्रह्मविद्या विषय' पर पठन करने के बाद गत गुरुवार को हुए वाद-विवाद पर पुनः भाषण होनेवाला है

७ दिस० *	–	–
१४ दिस० *	–	–
२१ दिस०[१]	बाबुलजी सदाशिव सेनजित	हिन्दू समाज के विवाह
२८ दिस० *	–	–

---

१. मराठी समाचार का एक यथावत् नमूना हिन्दी पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है—''आज सायंकाळी ५ वाजता आर्यसमाजात रा० रा० बाबुल जी सदाशिव सेनजित् हे हिन्दू लोकांच 'लग्न' या विषयावर इंग्लिश व्याख्यान देणार आहेत त्या समयी सर्वांस येण्यास मोकळिक आहे।'

सन् १८८०

४ जन० कवि सवितानारायण गणपतिनारायण — वाक्यालङ्कार

११ जन०[१]* – –

१८ जन० कर्नल अल्काट — **इलाहाबाद जिले में सम्पन्न यात्रा का विवरण और स्वामी दयानन्द से भेंट व उन पर [स्वामी जी द्वारा] किये गए प्रतिबन्ध विषयक सविस्तर हकीकत अंग्रेजी में बताएगे।**

२५ जन० * – –

१ फर० अण्णा मार्तड जोशी — साकार के अतिरिक्त ईश्वरोपासना का क्या अन्य कोई मार्ग नहीं है ?

८ फरवरी[२]* – –

१५ फरवरी[३] अण्णा मार्तड जोशी — साकार के अतिरिक्त ईश्वरोपासना का क्या अन्य कोई मार्ग नहीं है ? इस व्याख्यान पर शंका समाधान व चर्चा

---

१. व्याख्यान कार्यक्रम की सूचना देनेवाला—'मुम्बई' स्तम्भ प्रकाशित नहीं हुआ, पर 'वर्तमान सार' स्तम्भ में यह अग्रिम समाचार पृष्ठ १४७ पर प्रकाशित हुआ है—**स्वामी दयानन्द सरस्वती के भाषण पर बनारस के मेजिस्ट्रेट ने भाषण पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। यह अ० बा० प० (सम्भवतः—अमृत बाजार पत्रिका) से विदित होता है। इसका कारण इ० मि० (इण्डियन मिरर) यह लिखता है—स्वामीजी के मूर्त्तिपूजा विषयक भाषण से लोगों के क्षुब्ध होने और दंगे होने की सम्भावना थी।**

२. झेरोक्स या फोटोस्टेट जैसे मशीन मुम्बई जैसे शहर में लगता है १८८० में ही आ गई है, जो महाराष्ट्र के नांदेड जैसे जनपदों में चालू दशक [१९९१-१९९२] में आयी है। ८ फरवरी ८० की 'सुबोध पत्रिका' में एतद्विषयक समाचार इस प्रकार छपा था—ज्ञानमित्र प्रेस के मालिक नारायण वासुदेव घुमरे ने एक प्रति की सौ प्रति करने की एक अपूर्व कला विलायत से लाई है। [५ मई १८७८ को श्री घुमरे जी का आर्यसमाज में व्याख्यान हुआ था]।

३. म० मो० कुंटे स्वामी दयानन्द जी के पुणे प्रवचनों के दो लेखकों में से एक थे। १५ फरवरी १८८० के अङ्क में कुंटेजी के सम्बन्ध में लिखा है—प्रो० महादेव मोरेश्वर कुंटे जी की सेवानिवृत्ति के उपलक्ष्य में एल्फिन्स्टन कॉलेज के विद्यार्थियों ने पान-सुपारी का आयोजन किया था।

२२ फरवरी*	–	२९ फरवरी*
७ मार्च*	–	–
१४ मार्च	कृष्णशास्त्री गोडबोले	बाल संगोपन
२१ मार्च*	–	२८ मार्च*
४ अप्रैल*	–	–
११ अप्रैल	मुंशी शेख हुसेन वल्ल्दशेख चाँद जुन्नरकर प्रसिद्ध उपदेशक	यात्रा
१८ अप्रैल*	–	–
२५ अप्रैल	गोपाल हरि देशमुख [लोकहितवादी]	धर्मशास्त्र
२ मई*	–	–
९ मई	गोपाल हरि देशमुख [लोकहितवादी]	अर्थशास्त्र
१६[१]मई	वक्ता-व्याख्याता का नाम नहीं 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के 'प्रकाश्य प्रकाशक' विषय का विवेचन	
२३ मई*	–	३० मई*
६ जून	वेदशास्त्र सम्पन्न गणेश शास्त्री तरटे नासिककर	आर्य वैद्यक
१३ जून*	–	–
२० जून[२]	चुनीलाल लल्लुभाई	वर्तमानकालीन सुधार और सुधारक
२७ जून*	–	–
४ जुलाई	वेदशास्त्र [सम्पन्न गणेश शास्त्री] तरटे नासिककर	आर्य वैद्यक

१. वर्तमान सार-स्तम्भ में प्रथम समाचार यह छपा है कि—**पं० दयानन्द सरस्वती सम्प्रति लखनऊ में हैं। वहाँ उन्होंने ९ मई को आर्यसमाज की स्थापना की है।**

२. २० जून १८८० की 'सुबोध पत्रिका' के **स्वामी दयानन्द से तथाकथित वाद-विवाद करनेवाले और आर्यसमाज मुम्बई के प्रारम्भिक सदस्यों में से एक गणेश-श्रीकृष्ण खापर्डे** का वक्तृत्त्व कला के सन्दर्भ में निम्न समाचार 'वर्तमान सार' स्तम्भ में छपा है—"राजमान्य राजेश्री गणेश श्रीकृष्ण खापर्डे बी० ए०, एल्फिन्स्टन कॉलेज के फैलो, ये छुट्टी में यहाँ (धारवाड़) आए थे, वे मुम्बई वापिस चले गए हैं। इन्होंने पिछले सोमवार यहाँ के

११ जुलाई*	–	
		१८ जुलाई*
२५ जुलाई*	–	
		१ अग०[1]*
८ अग०*	–	
		१५ अग०*
२२ अग०[2]*	–	–
२९ अग०	रामकृष्ण बळवन्त नाईक भूत व उनसे पहुँचने वाली बाधा	[भूत व त्यांचा बाधा]
५ सित०*	–	–
१२ सित०[3]	अण्णा मार्तण्ड जोशी	गणपति [गणेशोत्सव के दिनों में गणपति पर व्याख्यान आयोजित किया गया]
१९ सित०*	–	–
२६ सित०	नारायण विष्णु बाम	वैद्यक
३ अक्टू०*	–	–
१० अक्टू०	रामचन्द्र गोखले	सत्याचार
१७ अक्टू०*	–	
		२४ अक्टू०*
३१ अक्टू०*	–	
		७ नव०*

ग्रन्थालय में 'स्वदेश और उसका सुधार' इस विषय पर मराठी में व्याख्यान दिया। अंग्रेजी की तरह मराठी में भी इनकी वक्तृत्व शैली बड़ी लोकप्रिय रही। सभा में पुष्कल लोग एकत्रित हुए थे। अध्यक्षता वेदशास्त्र-सम्पन्न राजमान्य राजेश्री रंगाचार्यजी ने की थी। [खापर्डे जी के] व्याख्यान के बाद इन्होंने भी बहुत ही मधुर व मार्मिक भाषण दिया—प्र० सि० [प्र० सि०—सम्भवतः किसी संवाददाता के नाम का संक्षिप्त रूप हो]।''

१. **२५ जुलाई रविवार को प्रसिद्ध देशाभिमानी गणेश वासुदेव जोशी का निधन हुआ। अग्नि संस्कार के समय महादेव मोरेश्वर कुंटे ने समयोचित भाषण दिया, जिससे सभी श्रोताओं के अन्तःकरण में (क्रमशः) शोक व सम्मान के भाव उदित हुए।**

२. २२ अगस्त की 'सुबोध पत्रिका' में पृष्ठ ६७ पर यह समाचार प्रकाशित किया गया है—रावबहादुर गोपाल हरि देशमुख को यहाँ (मुम्बई) की कानून सभा (कायदे कौंसिल) ने उन्हें अपना सभासद नियुक्त किया है।

३. १२ सितम्बर १८८० की 'सुबोध पत्रिका' में पृष्ठ ७९ पर प्रकाशित यह समाचार भी द्रष्टव्य है—आज सायं ६ बजे ,माधव बाग में 'आर्य सुधर्मोदय सभा' के तत्त्वावधान में महाराज गट्टूलाल ईशावास्य (ईशावास्योपनिषद्) पर व्याख्यान देंगे। (सम्भवतः यह गट्टूलाल वही हैं, जिनका ब्रह्मर्षि विरजानन्द और महर्षि दयानन्द से शास्त्रार्थ हुआ था)।

१४ नव०	वक्ता-व्याख्याता का नाम नहीं	'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' से 'मुक्ति' विषय का निरूपण
२१ नव०	आत्माराव बापू दळवी	ऐक्य
२८ नव०	वक्ता-व्याख्याता का नाम नहीं 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' से नौ विमान आदि विद्या का निरूपण व गत सप्ताह के विषय ऐक्य पर वाद-विवाद (शंका-समाधान)	
५. दिस०	रावबहादुर गो० ह० देशमुख [लोकहितवादी]	['सुबोध पत्रिका' में विषय प्रकाशित नहीं हुआ]
१२ दिस०	वक्ता-व्याख्याता का नाम नहीं	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका से नौ विमानादि विद्या का निरूपण
१९ दिस०	कृष्ण शास्त्री गोडबोले	आर्य काल गणना
२६ दिस०	व्याख्याता-वक्ता का नाम नहीं	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका से नौ विमानादि विद्या का निरूपण[१]

महर्षि के मुंबई प्रवचन

महर्षि दयानन्द सरस्वतीजी की पाँचवीं और अन्तिम मुंबई यात्रा ३० दिसम्बर १८८१ को शुरु होकर २४ जून १८८२ को सम्पन्न हुई। इस कालावधि में उनके द्वारा प्रदत्त प्रवचनों की विषय-सूची और समय सारिणी जिज्ञासु पाठकों के लिए प्रस्तुत है—

१. 'सुबोध पत्रिका' में प्रकाशित आर्यसमाज के इन कार्यक्रम समाचारों से पता चलता है कि साप्ताहिक अधिवेशनों में क्रमेण 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' का पठन और विवेचन किया जाता था। इन प्रकाशित समाचारों के आधार पर यह अनुमान भी लगाया जा सकता है कि इसी प्रकार 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के वेदसंज्ञा विचार, वेदोक्त धर्म, सृष्टि विद्या, पृथिव्यादि लोकभ्रमण, आकर्षणानुकर्षण, गणित विद्या, उपासना आदि विषयों का भी यथाक्रम पठन और विवेचन किया गया होगा। बस, किन्हीं अज्ञात कारणों के कारण इन तथा अन्य समाचारों को उक्त पत्रिका में स्थान नहीं मिल पाया है।

(१) विषय	(२) स्थान	(३) वार-दिनांक	(४) शुभारंभ	(५) विसर्जन
१. धर्मोन्नति	आर्यसमाज पालवा	रवि० १ जनवरी १८८२	१७.३०	१९.३०
२. धर्मोन्नति	आर्यसमाज पालवा	रवि. ८ जनवरी १८८२	१७.३०	२०.००
३. धर्मोन्नति	आर्यसमाज पालवा	रवि० १५ जनवरी १८८२	१७.३०	२०.००
४. अहिंसा और ईसाइयत	फ्रामजी कावसजी सभागृह	रवि० ३१ जन० १८८२	१७.३०	२०.००
५. अहिंसा और ईसाइयत	फ्रामजी कावसजी सभागृह	शुक्र० २७ जन० ८२	१७.३०	१९.००
६. अहिंसा	हालाई भाटिया महाजनवाड़ी	रवि० २९ जन० ८२	१६.३०	१९.००
७. मनुष्योन्नति	हालाई भाटिया महाजनवाड़ी	रवि० ५ फर० १८८२	१७.३०	१९.३०
८. मनुष्योन्नति	फ्रामजी कावसजी सभागृह	रवि० १२ फर० ८२	१६.३०	१८.३०
९. मनुष्योन्नति	फ्रामजी कावसजी सभागृह	रवि० १९ फर० ८२	१६.३०	१८.००
१०. अवतार	फ्रामजी कावसजी सभागृह	गुरु० २३ फर० ८२	१७.३०	१९.३०
११. पुनर्जन्म और सृष्टि विद्या	फ्रामजी कावसजी सभागृह	रवि० २६ फर० ८२	१६.३०	१९.००

थियोसोफिकल सोसाइटी की त्रिमूर्ति



कर्नल अल्काट



मैडम ब्लैवेट्स्की



लक्ष्मीदास क्षेमजी

(रेल्वे स्टेशन पर १८७४ में क्षेमजी ने और १८८१ में कर्नल ने महर्षि की अगवानी की)





एनी बेसेंट : युवा एवं वृद्धावस्था



श्री स्वामी समर्थ महाराज
(अक्कलकोट : सोलापुर : महाराष्ट्र)



श्री यशवंतराव महाराज
देवमामलेदार
(नासिक : महाराष्ट्र)

जालंधर शास्त्रार्थ (२४ । ९ । १८७७) में महर्षि ने इन दोनों तथाकथित चमत्कार बताने वाले बाबाओं की समालोचना की है।

१२. पुनर्जन्म और सृष्टि विद्या — फ्रामजी कावसजी सभागृह
रवि० ५ मार्च १८८२ — १७.०० — १९.००

---

१३. पुनर्जन्म और सृष्टि विद्या — फ्रामजी कावसजी सभागृह
शुक्र० १० मार्च १८८२ — १७.३० — १९.३०

---

१४. मादक द्रव्य निषेध — झबेर बाग
रवि० १२ मार्च ८२ — १७.३० — १९.३०

---

१५. वेद — आर्यसमाज के नये खरीदे गए स्थान पर (वर्तमान आर्यसमाज काकड़वाड़ी का स्थान)
सोम० २० मार्च ८२ — १७.०० — १९.००

---

१६. वेद — आर्यसमाज के नये खरीदे गए स्थान पर (वर्तमान आर्यसमाज काकड़वाड़ी का स्थान)
बुध० २२ मार्च ८२ — १७.०० — १९.००

---

१७. आर्यसमाज और थियोसॉफिकल सोसाइटी — फ्रामजी कावसजी सभागृह
रवि० २६ मार्च ८२ — १७.०० — १९.३०

---

१८. वेद — फ्रामजी कावसजी सभागृह
गुरु० ३० मार्च ८२ — १७.३० — १९.३०

---

१९. आर्यसमाज-ब्रह्मसमाज-प्रार्थनासमाज के नियम — फ्रामजी कावसजी सभागृह
रवि० ०२ अप्रैल ८२ — १७.३० — १९.३०

** वेद मुंबई से २२ मील की दूरी पर स्थित ठाणे (थाने) शहर में बुध० ५ अप्रैल ८२*

---

२० देशोन्नति — एस्प्लेनेड थियेटर
रवि० २८ मई १८८२ — १६.३० — १९.३०

---

२१. देशोन्नति — गेईटी थियेटर
शनि० ३ जून १८८२ — १६.३० — २०.००

---

२२. मूर्ति, मन्त्र, देव, ऋषि, पितृ उपासनादि कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य	फ्रामजी कावसजी सभागृह	
रवि० ११ जून ८२	१७.३०	१९.३०
२३ उपासना	फ्रामजी कावसजी सभागृह	
मंगल० १३ जून ८२	१७.३०	१९.००
२४. योग विद्या	फ्रामजी कावसजी सभागृह	
शनिवार १७ जून १८८२	१७.३०	–

—सन्दर्भ : ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण अभिलेख : वेदवाणी-विशेषांक (१९८२), संपादक : महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक।

—आभार एवं सौजन्य : पुस्तकालयाध्यक्ष-मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई / कैप्टन देवरत्नजी आर्य एवं समस्त पदाधिकारी, आर्यसमाज सान्ताक्रुज (पश्चिम) मुंबई।



(१३)

सागर किनारे : महर्षि दयानन्द

जीवन चरित्र और इतिहास लेखन में समकालीन व्यक्तियों के पत्र डायरी आत्म-कथा आदि अभिलेखों का प्रामाणिकता और विश्वसनीयता की दृष्टि से निर्विवाद महत्त्व है। अकस्मात् ऋषि दयानन्द की डायरी उपलब्ध होने पर, महर्षि के मूल हस्तलिखित पत्रों के अन्वेषकों में से एक परोपकारी के यशस्वी सम्पादक प्रा० डॉ० धर्मवीरजी ने यह लिखा था—'चौकानेवाली बात है, ऋषि दयानन्द की डायरी है, उसमें लिखा हुआ भी है।...बहुत न लिखा होने पर भी, जो लिखा है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। अधिकांश रूप में सम्बद्ध व्यक्तियों के नाम-पते आदि इनमें लिखे हुए हैं। ऋषि-जीवनी लेखकों का प्रारम्भिक समय में इन व्यक्तियों से सम्पर्क रहा होता तो स्वामीजी महाराज की जीवन सामग्री और इतिवृत्त संकलन में बहुत सहायता मिली होती, क्योंकि स्वामीजी महाराज से उनका व्यक्तिगत सम्पर्क और सहयोग रहा था।' ('परोपकारी' मासिक : सितम्बर १९९३; पृष्ठ ३२५)।

इस डायरी में विशेषरूप से महाराष्ट्र, गुजरात, उत्तरप्रदेश, दिल्ली, मध्यप्रदेश के अतिरिक्त लंदन के भी तीन-चार महनीय व्यक्तियों के पते हैं। महाराष्ट्र के जिन नगरों का स्वामीजी ने अपनी डायरी में उल्लेख किया है, मैं प्रायः उन सभी नगरों में जा चुका था, पर ठाणे जनपद में स्थित 'वसई' कभी जाना नहीं हो पाया था। अतः इस डायरी को पढ़कर सबसे पहले वसई जाने की इच्छा प्रबल हुई। जब आर्यसमाज सांताक्रुज के महामन्त्री श्री संगीतजी शर्मा आदि के प्रयासों से वसई में आर्यसमाज की स्थापना हुई, तब यह अभिलाषा और अधिक बलवती हो गई। माननीय श्री संगीतजी का एक बार आर्यसमाज वसई के वार्षिकोत्सव पर आने का निमन्त्रण भी मिला, पर तब जाना नहीं हो पाया। अब 'मान चाहे न मान मैं तेरा मेहमान' बनकर २३ सितम्बर २००८ और ४ जनवरी २००९ को वसई की दुबारा यात्रा

करके लौटा हूँ। आर्यसमाज वसई के प्रधान श्री ओम्प्रकाशजी शुक्ल, मन्त्री–श्रीमती राजारानी वर्मा, मूलतः फर्रुखाबाद निवासी–पुरोहित पं० शालिग्रामजी शास्त्री का इन दोनों यात्राओं में भरपूर सहयोग मिला।

'वसई' ईसाई बाहुल्य क्षेत्र रहा है। अतः वसई के पुराने इतिहास को जानने के लिए हमने सुप्रसिद्ध मराठी लेखक फादर फ्रांसिस दिब्रिटो और मराठी की प्राध्यापिका सिसिलिया कार्व्हालो से भी सम्पर्क किया, पर अत्यधिक व्यस्तता के कारण मुलाकात न हो सकी। पुराने वसई शहर के चारों तरफ किलानुमा दीवार है। उसके भीतर १४वीं और १५वीं सदी के बने हुए कई गिरजाघर उजड़ से रहें हैं। यह शहर अरबी समुद्र के किनारे बसा हुआ है। समुद्री किनारे से थोड़ी–सी दूरी पर ही वसई का जीर्णशीर्ण दुर्ग विराजमान है। सन् १५३४ में पुर्तगालवालों ने गुजरात के सुलतान बहादुरशाह से दमन द्वीप के साथ वसई को भी अपने अधिकार क्षेत्र में ले लिया था। उस समय यह शहर वैभव सम्पन्न था। अन्य नगरों के धनाढ्य लोगों को भी वसई के धनी लोगों की उपमा दी जाती थी। सन् १६९५ में महामारी से नगर के एक तिहाई लोग मौत के घाट पहुँच चुके थे। सन् १७६५ में इसे मराठों ने अपने अधिकार क्षेत्र में लिया, फिर १७८० में अंग्रेजों ने वसई को मराठों से छीन लिया और दो वर्ष बाद वापिस लौटा दिया। सन् १८१८ में पेशवा के परास्त हो जाने के बाद वह फिर से अंग्रेजों के हाथ में आ गया।

मुम्बई से शुरु हुए लोहमार्ग पर 'छत्रपति शिवाजी स्थानक' से ३३ मील दूर और 'मुम्बई सेण्ट्रल' स्थानक से ३० किलोमीटर की दूरी पर 'बोरीवली' रेल्वे स्टेशन है और बोरीवली से उत्तर में ६ मील की दूरी पर स्थित 'भाइंदर' स्टेशन के पास समुद्री नदी पर एक बड़ा रेल्वे पुल बना हुआ है। इसी पुल से रेल खड़खड़ाती हुई 'वसई रोड' स्टेशन पहुँचती है। बोरीवली से ११ मील उत्तर 'वसई रोड' है। स्टेशन से पाँच मील की दूरी पर पुराना वसई नगर कस्बा है। इस नगर को अंग्रेजों के काल में बसीन नाम से सम्बोधित किया जाता था। महर्षि दयानन्दजी के जीवनी साहित्य में बसीन शब्द का ही प्रयोग हुआ है। वर्तमान में एक–दो बैंकों के नामकरण के साथ ही बसीन शब्द का प्रयोग शेष है। सम्प्रति यत्र–तत्र–सर्वत्र वसई शब्द

ही बहु प्रचलित है। महर्षि दयानन्द बडोदरा, अहमदाबाद, भरुच, सूरत, बलसाड़ होते-रुकते हुए लोहमार्ग से वसई रोड पहुँचे थे। अहमदाबाद से बडोदरा की दूरी सौ किलोमीटर है। बडोदरा से भरुच सत्तर किलोमीटर है, भरुच से सूरत उनसठ किलोमीटर है, सूरत से बलसाड़ उनहत्तर किलोमीटर है और बलसाड़ से वसई रोड १४४ किलोमीटर है। मुम्बई-दादर की ओर से वसई रोड ४२ किलोमीटर है। महर्षि दयानन्दजी ने अपनी डायरी में अहमदाबाद, बडोदरा, बम्बई का गुजराती शैली के अनुसार 'अमदाबाद', 'वडोदरा' और 'मुंबई' के रूप में प्रयोग किया है। महर्षि दयानन्द तत्कालीन मुम्बई राज्य (गुजरात-महाराष्ट्र) के जब इन चर्चित शहरों में पधारे तो तत्कालीन इन नगरों की जनसंख्या का हम यत् किंचित् अनुमान लगा सकें इसलिए १८९१ की जनगणना के आधार पर इन शहरों की जनसंख्या के आंकड़े प्रस्तुत हैं। अहमदाबाद (कर्णावती) की जनसंख्या १४८४१२, भरुच की जनसंख्या ४०१६८, सूरत की जनसंख्या १०९२२९, बलसाड़ की जनसंख्या १४७७९ थी। पुराने जीर्ण-शीर्ण कागजों को दीमक लग जाने से हम यहाँ बडोदरा की जनसंख्या नहीं दे पा रहे हैं। वसई की जनसंख्या ११२९१ थी।

बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अनुसार—'बलसाड़ से स्वामीजी वसई रोड गए। वसई में बडोदरा के एक वेतन भोगी गोविन्दराव निवास करते थे। जो देशोन्नति और देशीय शिक्षा पद्धति आदि विषयों के उपदेशक थे। उन्होंने बडोदरा में स्वामीजी के दर्शन किये थे और उनसे वसई रोड पधारने का अनुरोध कर आये थे।' पं० महेशप्रसाद मौलवी आलिम फाजिल, महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक और पं० हरिश्चन्द्र विद्यालंकार के अनुसार बाबू देवेन्द्रनाथजी आदि के जीवन चरित्रों में यह वसई आगमन की घटना सन् १८७६ में घटित बतलानी चाहिए थी, पर १८७५ में बतलाने के कारण अस्थान में जुड़ गई है, शायद इसका यत् किंचित् आभास देवेन्द्रबाबूजी को भी हो गया था। इस तिथि की हेरा-फेरी के सम्बन्ध में स्वयं उन्होंने लिखा है—'बडोदरा आदि स्थानों में वैदिक धर्म का प्रचार करके स्वामीजी मुम्बई लौट आये। (इस 'आदि' में महर्षि के वसई पड़ाव का भी समावेश है) उनके आगमन की ठीक तिथि ज्ञात नहीं, परन्तु यह निश्चित है कि वे मार्च सन् १८७६ के आरम्भ में मुम्बई में थे।

रविवार ५ मार्च सन् १८७६ को स्वामीजी का 'वेदों की श्रेष्ठता और पवित्रता' पर एक अत्यन्त मनोरम व्याख्यान हुआ था। (पृष्ठ ३५४) महर्षि दयानन्द वसई के बाद सीधे मुम्बई पधारे थे, अत: यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सन् १८७६ के फरवरी मास के अन्तिम चार दिनों में या मार्च मास के प्रारम्भिक चार दिनों में महर्षि का वसई कार्यक्रम सम्पन्न हुआ होगा। इंजीनियर आदित्यपाल सिंह आर्य द्वारा सम्पादित दयानन्द जीवन काल पंचांग के अनुसार सन् १८७६ का फरवरी महिना २९ दिन का था और २९ फरवरी को मंगलवार था।'

स्वामी सत्यानन्दजी द्वारा लिखित 'श्रीमद्दयानन्द प्रकाश' में स्वामीजी के अहमदाबाद से बलसाड़ और वहाँ से वसई प्रस्थान करने का उल्लेख है। सत्यानन्दजी के अनुसार—'वसई में पधारकर स्वामीजी ने एक अत्युत्तम व्याख्यान दिया। यहाँ भी अनेक भद्रजनों ने नाना प्रकार के संशय मिटाये। वसई में धर्मोपदेश देकर महाराज मुम्बई जाने को प्रस्तुत हो गए।' (पृष्ठ २१५)। यहाँ सत्यानन्दजी ने वसई में स्वामीजी का एक व्याख्यान होने का उल्लेख किया है, पर अन्य जीवन चरित्रों में महर्षि के वसई में दो व्याख्यान होने का उल्लेख है। श्री देवेन्द्र बाबू लिखते हैं—'वसई रोड में स्वामीजी चार दिन ठहरे और दो व्याख्यान दिये।' सन् १८९१ की जनगणना के समय वसई की जनसंख्या ११,२९१ थी, जिसमें ७१४७ हिन्दू, ३०८९ ईसाई, १०३२ मुसलमान, १५ जैन और ८ पारसी थे। 'दयानन्द दिग्विजयम्' महाकाव्य के रचयिता मुनि मेधाव्रताचार्य के अनुसार—'बलसाड़ से यतिराज वसई वधारे, वहाँ बडोदा के वतेनभोगी गोविन्द राव रहते थे। उनके आग्रह से सद्गुरु ने चार दिन ठहरकर जनता को उत्तम उपदेश दिया और वहाँ से मुम्बापुरी चले गए। बडोदरा में स्वामीजी से जहाँ वसई के गोविन्दराव मिले थे, वहाँ मिलनेवालों में अन्य दो महाराष्ट्रीय प्रतीत होनेवाले बडोदा के दो शासकीय अधिकारी भी थे। बडोदा के दीवान सर० टी० माधवराव और नायब दीवान मिस्टर जनार्दन कीर्तनीय।' ऋषि दयानन्द की डायरी में वसई के दो नामों में जनार्दन का प्रयोग है—सर्वश्री राघोबा जनार्दन और मोरो जनार्दन।

वसई में घटित दयासागर दयानन्द की एक घटना का उल्लेख करते हुए स्वामी सत्यानन्दजी ने लिखा है—'वसई में स्वामीजी के

एक नौकर ने उनकी घड़ी चुरा ली। कर्मचारियों ने अनुसंधान करके अपराधी को पकड़ लिया और महाराजश्री के सामने उपस्थित किया। वह नौकर स्वामीजी को देखकर रोता हुआ श्रीचरणों में गिर पड़ा। कर्मचारी तो चाहते थे उसे राजदण्ड दिलाया जाये, परन्तु भगवान् ने ऐसा करने से अस्वीकार करते हुए कहा कि—'हमारा काम साँप को मारना है, न कि उसकी बिम्बी को कूटना-पीटना।' महाराज ने अपराधी को चोरी के ऐसे दोष और फल समझाये, जिनसे काँपकर उसने प्रण किया कि—मैं फिर कभी-भी इस पाप-पंक में नहीं पड़ूँगा।'

'परोपकारिणी सभा' अजमेर द्वारा संचालित ऋषि उद्यान में अनुसंधान विभाग के निर्माता, हरियाणा पुरातत्त्व संग्रहालय गुरुकुल झज्जर के संस्थापक इतिहासज्ञ स्वामी ओमानन्द सरस्वती के शिष्य प्रा० डॉ० धर्मवीरजी ने किसी प्रकार के लाभ की अपेक्षा न कर ऐतिहासिक तथ्यों के प्रकाशन और सुरक्षा की दृष्टि से ऋषि दयानन्द की सन् १८७३ की डायरी विवेकशील विज्ञ पाठकों को उपलब्ध करायी। उसका एक लाभ तो यह हुआ कि—महर्षि दयानन्द को वेद ज्ञान के प्रचार-प्रसार में किस शहर में किन-किनका सहयोग मिला था, यह अनुमान लगाना आसान हो गया। दूसरा महर्षि को सहयोग देनेवाले स्थानीय लोकनेताओं का वहाँ-वहाँ की जनता में कितना उदात्त आदरणीय स्थान था इसका अता-पता करने का द्वार खुल गया। तीसरे अपवाद रूप में क्यों न हो जीवन चरित्रों में जो नाम आधे-अधूरे हैं वे इस डायरी के कारण पूरे हो गए। महाराष्ट्र का खानदेश विभाग जो अब उत्तर महाराष्ट्र कहलाता है, उसमें एक जनपद-धुलिया है, जिसे मराठी में धुळे कहते हैं, इस धुलिया के एक व्यक्ति का नाम ऋषि दयानन्द की डायरी में पृष्ठ-४७ पर अंकित है, पर मनमाड़ से एक-दो घण्टे की दूरी पर स्थित धुळे जाने की पुष्टि ऋषि दयानन्दजी के जीवन चरित्रों और पत्रों से नहीं मिलती। परिव्राजक महर्षि दयानन्द की यायावरी में रेल मार्ग का अविस्मरणीय सहयोग रहा है। बस मार्ग के अतिरिक्त रेल से भी धुलिया जाया जा सकता था। ऋषि दयानन्द की डायरी में उल्लिखित दाजीबा श्री गोरे विनायक त्र्यंबक की जानकारी हेतु मैंने अनेक बार धुलिया की ख़ाक छानी, पर सफलता नहीं मिली। 'दाजीबा' यह खानदेश का आंचलिक

शब्द है जो श्रीमान् और माननीय के अर्थ में प्रयुक्त होता है। फिर भी मैं यह महसूस करता हूँ कि अन्वेषण के जो स्रोत मेरी जानकारी में हैं, अनेक कारणों से मैं उनका उपयोग करने में असमर्थ रहा हूँ। माना कि रक्तसाक्षी पं० लेखराम, बंगाली भाषी देवेन्द्रबाबू, स्वामी सत्यानन्दजी जैसी ऋषि दयानन्दजी की अज्ञात जीवनी को ढूँढ़ने की तड़प और प्रतिभा हमारे पास नहीं है, पर गिलहरी की भूमिका तो हम निभा सकते हैं। ये अन्वेषक बहुभाषाविद् होते हुए भी मराठी से अनभिज्ञ थे। १८७४ से १८८२ तक की महर्षि की महाराष्ट्र यात्रा का मराठी साहित्य और महाराष्ट्र-मानस पर जो प्रभाव पड़ा कुछ सीमा में वह इनकी पहुँच से बाहर था, ऐसे कुछ रिक्तस्थानों की पूर्ति यथाशक्ति हम तो करते ही रहेंगे। इतिहास में कुछ न कुछ छूट जाता है। आनेवाली पीढ़ी उसे पूरा करेगी। कालो ह्ययं निरवधि: विपुला च पृथिवी:। ऋषि दयानन्द की यह डायरी ऐसे अनेक रिक्त स्थानों की ओर संकेत करती है, जिसकी पूर्ति, विस्तार और व्याख्या हम सब इतिहास प्रेमियों को करनी है।

सन् १८७३ की ऋषि डायरी में पृष्ठ ३३ पर वसई के पाँच व्यक्तियों के नाम अंकित हैं। १. दामोदर कृष्णदास वकील, २. गोविन्द बाबाजी जोशी, ३. मास्टर त्र्यंबक केशव, ४. राघोबा जनार्दन, ५. मोरो जनार्दन। इस डायरी की एक उपलब्धि यह है कि महर्षि के जीवन चरित्रों में केवल इनका नाम ही लिखा हुआ था, जब कि महाराष्ट्रीय शैली में अपने नाम के साथ पिताजी का नाम और परम्परागत उपनाम भी जोड़ा जाता है, जैसे—गणेश वासुदेव मावलंकर, चिंतामणि द्वारकानाथ देशमुख आदि। पूरा नाम या अता-पता मिलने पर खोज करने में अनिर्वचनीय सुविधा हो जाती है। ऋषि की डायरी में गोविन्द रावजी का पूरा नाम लिखा है—गोविंद बाबा जोशी। सन् १९८१ में डॉ० अरुण जोशी ने श्री गोविन्द जोशी वसईकर की जीवनी लिखी है, पर प्रयास करने के उपरान्त भी अभी तक वह हमारे लिए दुर्लभ ही बनी हुई है। ऋषि जीवन चरित्रों में गोविन्दराव के सिवाय अन्य किसी वसई निवासी का नाम नहीं है, पर डायरी में उपरोक्त अन्य चार व्यक्तियों के भी नाम हैं। किसी भी काम में व्यक्ति की अपेक्षा समाज भी अपने उत्तरदायित्त्व को महसूस करते हुए जागृत होकर जुट जाता है तो इतिहास की सुरक्षा में आसानी

आखिर में खानदेश के अहमदनगर में बदली कर दी गई। कठोर अनुशासित प्रशासक के रूप में आप सुप्रसिद्ध थे। सन् १८७२ में आप सेवा निवृत्त हुए। तत्पश्चात् आपने २५ वर्ष तक पेंशन पाने का कीर्तिमान् स्थापित किया।

जबसे राघोबा जनार्दनजी की बदली बेलगाँव में हुई, उनका मुम्बई के सार्वजनिक जीवन से सम्बन्ध विच्छेद-सा हो गया, परन्तु मुम्बई वासियों के दिलोदिमाग में वे सदा बने रहे। 'नेटिव्ह जनरल लाइब्रेरी' के पचासवें वार्षिक महोत्सव के अवसर पर उन्होंने उन्हें सादर निमन्त्रित कर सश्रद्ध सम्मानित किया। आपने अपने सेवा निवृत्त जीवन के अन्तिम पच्चीस वर्ष शान्तिपूर्वक अपने वसई के गृह में ही बिताए। आपका घरेलू विशाल ग्रन्थालय ही आपके सन्ध्याकालीन जीवन का विश्राम स्थली सिद्ध हुआ।

आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती जब सन् १८७६ के फरवरी मास के अन्तिम चार दिनों में या मार्च मास के प्रारम्भिक चार दिनों में वसई पधारे तब भी आपका निवास वसई में ही था। महर्षि के वसई आगमन काल में आपकी आयु लगभग ६१ वर्ष थी और महर्षि की ५१ वर्ष थी। रावबहादुर महर्षि से दस वर्ष बड़े थे। महर्षि की वसई निवासियों से क्या चर्चा हुई और महर्षि ने वसई में अपने दो अत्युत्तम व्याख्यान किस विषय पर दिये, इस पर अभी विस्तार से खोज की आवश्यकता है। रावबहादुर राघोबा जनार्दन गव्हाणकर द्वारा वसई में बांधा गया भव्य प्रासाद आज भी विद्यमान है, जिसमें आपके वंशज निवास करते हैं। विष्णु शास्त्री चिपळूणकर द्वारा सम्पादित 'निबन्धमाला' (फरवरी १८७६) की ग्राहक सूची में प्रकाशित आपके समकालीन वसई के दो स्वाध्यायशील व्यक्तियों के नाम नजर आये, जिनमें से एक हैं श्री बापूराव कृष्णराव वसईकर और श्री बालकृष्ण वामनराव गव्हाणकर।

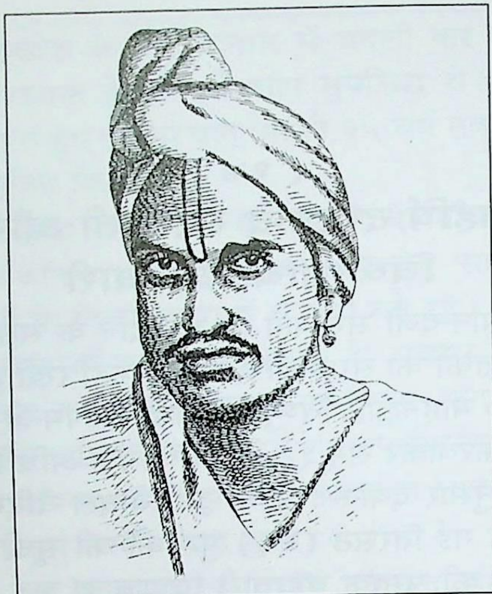


(१४)

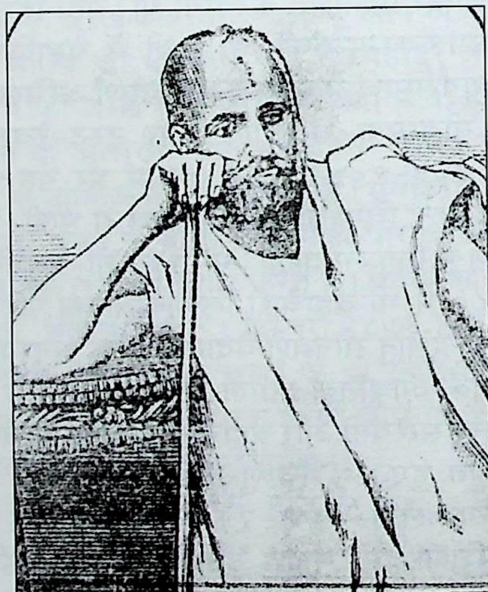
महर्षि दयानन्द सरस्वती और विष्णुबाबा ब्रह्मचारी

महर्षि दयानन्दजी सरस्वती के बलिदान के समय उनके पास किन-किन पुस्तकों का संग्रह था और वह कहाँ रखी हुई थी, इसका एक विवरण पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या-उपमन्त्री-परोपकारिणी सभा ने तैयार करवाकर सन् १८८५ के वार्षिक अधिवेशन में प्रस्तुत किया था। तदनुसार दयानन्दजी के द्वारा केवल वैदिक यन्त्रालय-प्रयाग में छोड़ी गई तिरसठ (६३) पुस्तकों की सूची में चालीसवें (४०) क्रमांक की पुस्तक ब्रह्मचारी विष्णुबाबा कृत वेदोक्त धर्म प्रकाश' थी। यह ग्रन्थ सबसे पहले सन् १८५९ में मराठी भाषा में प्रकाशित हुआ था। तत्पश्चात् सन् १८६९ में स्वयं उन्होंने इसे ब्रजभाषा में अनूदित करवाकर प्रकाशित करवाया था। यही हिन्दी ग्रन्थ महर्षि की प्रयाग से उपलब्ध पुस्तकों की सूची में समाविष्ट है। (ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण अभिलेख-संपादक-पं० युधिष्ठिर मीमांसक-रामलाल कपूर ट्रस्ट-रेवली-सोनीपत-हरियाणा-पृष्ठ १०३-१०४)। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि—स्वामी दयानन्द विष्णुबाबा के कृतित्व से भली-भाँति परिचित थे, उनके संरक्षण में निकलनेवाली 'भारत सुदशा-प्रवर्त्तक' पत्रिका—अप्रैल सन् १८८० में भी ब्रह्मचारी विष्णुबाबा का परिचय प्रकाशित हुआ था। डॉ० चन्द्रभानु सोनवणे वेदालंकार के अनुसार—'आश्चर्य इस बात का है कि आधुनिक आंग्ल शिक्षा के सम्पर्क के अभाव में भी स्वामी दयानन्द सरस्वती और ब्रह्मचारी विष्णुबाबा जैसे क्रान्तिकारी सुधारक आविर्भूत हुए।' ('विष्णु बुवा (संन्यासी) ब्रह्मचारी'—नामक हस्तलिखित लेख—पृष्ठ-२)। जो लोग कहते हैं कि वैदिक अथवा प्राचीन शिक्षा द्वारा मनुष्य उतना उन्नतमना नहीं हो सकता, जितना अँग्रेजी शिक्षा द्वारा होता है, महर्षि और ब्रह्मचारी इसके प्रत्यक्ष खण्डन हैं।

मराठी वाङ्मय के इतिहास लेखक प्रा० रा० श्री० जोग के



विष्णुबाबा ब्रह्मचारी : युवावस्था



विष्णुबाबा ब्रह्मचारी । वृद्धावस्था (१८२५-१८७१)



महर्षि दयानन्द सरस्वती
(एक काल्पनिक चित्र पर आधारित रेखाचित्र)



नाना मोरोजी त्रिलोकेकर
(जिनकी अध्यक्षता में महर्षि ने मुंबई में व्याख्यान दिया ।)

ग्रन्थ को 'वैचारिक विश्व की यात्रा करानेवाला ग्रन्थ' कहा है। (लोकमत-मराठी-दैनिक-अक्षर रंग-परिशिष्ट-ग्रन्थायन स्तम्भ : रविवार १ नवम्बर १९९८-पृष्ठ ५)।

महाराष्ट्र के प्रारम्भिक समाज-सुधारक लोकहितवादी ने जो यह कहा कि—ब्रह्मचारी विष्णुबाबा में स्वामी दयानन्द के सभी नहीं, अपितु आंशिक गुण थे, तो उसका तात्पर्य यह है कि—महर्षि दयानन्द की तरह उन्होंने वेदोक्त धर्म का प्रमाण मान्य किया था। उनका गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्ण-व्यवस्था में विश्वास था। भारतीय मत-मतान्तरों का खण्डन करनेवाले ईसाइयों का उन्होंने बाइबिल के गहन अध्ययन के बल पर सटीक जवाब दिया था। विधर्मियों को स्वधर्म में दीक्षित करने के वे पक्षधर थे। खान-पान और रहन-सहन आदि के क्षेत्र में स्पृश्यास्पृश्य का भेद उन्हें मान्य नहीं था। विधवा विवाह के वे समर्थक थे। आत्म-कल्याण की तुलना में लोक-कल्याण पर उन्होंने भी अधिक बल दिया था। प्रगतिशील विचारक होने के नाते वे पाखण्ड मतों का खण्डन कर वैदिक धर्म की स्थापना के प्रबल पक्षधर थे। आर्थिक और चिकित्सा विषयक दृष्टिकोण से वे गोपालन के वकील थे। वर्षेष्टि आदि यज्ञों में उनकी अनन्य आस्था थी। उनका साहित्य स्वाधीनता विषयक विचारों से ओत-प्रोत होने के कारण दासता-विरोधी विद्रोही विचारों से अनुस्यूत है। 'सुखद राज्य विषयक' निबन्ध में उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' के 'राजधर्म' की तरह राजनीति का विस्तार से प्रतिपादन किया है। स्वदेशी भाषाओं में निष्णात होने के बाद विदेशी भाषाओं में भी पारंगत होने पर बल दिया है। राजकीय और व्यावहारिक भाषा की दृष्टि से राष्ट्रीय ऐक्य के लिए वे नागरी लिपि और राष्ट्रभाषा के पुरस्कर्त्ता थे। व्यावहारिक जीवन में प्राय: वे ईस्वी सन् शकादि के प्रयोग की अपेक्षा स्वदेशी विक्रम संवत् का ही सदुपयोग करते थे।

महर्षि दयानन्द से इस प्रकार अधिकांश बातों में उनका साम्य होने के बावजूद वे देश को दुर्बल और विघटित करनेवाली मूर्तिपूजा में संलिप्त थे। अवतारवाद पर उनका विश्वास था। दत्तात्रेय पर उन्होंने अपनी बारम्बार आस्था प्रकट की है। शूद्रातिशूद्रों और कन्याओं की शिक्षा का विरोध करनेवालों को कोड़ों की सजा का विधान करनेवाले विष्णुबाबा का स्त्री विषयक मत अधिक प्रगतिशील नहीं था। उन्होंने लिखा था—'स्त्रियन ने स्वतंत्र रहनो नहीं, परतंत्र ही रहनो।' (वेदोक्त

धर्मप्रकाश-अनुवादक-रामबक्स-पृष्ठ-६९७)।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के सर्वप्रथम मुम्बई आगमन के कुछ समय बाद सोमवार १६ नवम्बर १८७४ को मुम्बई निवासी किसी 'हरि भक्तपरायण' ने 'प० ग० न०' इस गुप्त नाम से ज्ञान दीपक यन्त्रालय से प्रकाशक—स्वामी पूर्णानन्द का नाम अंकित कर २४ प्रश्नों के उत्तर महर्षि से चाहे थे, उनमें से चौदहवाँ प्रश्न 'वेदोक्त धर्म प्रकाश' के लेखक विष्णु बाबा ब्रह्मचारी से सम्बन्धित था, जिसका उत्तर देते हुए महर्षि दयानन्द ने लिखा था—'विष्णु स्वामी [विष्णु बाबा] आदि का जो सम्प्रदाय है, उनको मैं लेशमात्र भी प्रमाण नहीं मानता, प्रत्युत उनका खण्डन करता हूँ।' (द्रष्टव्य—ऋ० द० स० के पत्र और विज्ञापन-संपादक-पं० भगवद्दत्त बी०ए०, पृष्ठ ४६)। महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक के अनुसार—'विष्णु बाबा ब्रह्मचारी के 'वेदोक्त धर्म प्रकाश' (विक्रमाब्द १९१६) नामक ग्रन्थ में अवतारवाद और मूर्तिपूजा के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों पर ग्रन्थकार की दृष्टि उदार पायी जाती है। उन्होंने पाश्चात्य मत का खण्डन भी उक्त ग्रन्थ में किया है। इसके मराठी में दो संस्करण छपे हैं, और दोनों भी-मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय-दादर में विद्यमान हैं। हिन्दी (ब्रजभाषा) का प्रथम संस्करण विक्रमाब्द १९२६ (सन् १८६९) में छपा था, जो कि हमारे संग्रह में विद्यमान है।' (तत्रैव-द्वितीय भाग पृष्ठ ९००-९०१)। 'वेदोक्त धर्म प्रकाश' कर्त्ता विष्णु बाबा ब्रह्मचारी वेद विरूद्ध अवतारवाद और मूर्तिपूजा के पक्षधर थे, और महर्षि की दृष्टि में ये सब रूढ़िवादी आचार दुष्ट और वेद विरूद्ध थे। अतः महर्षि ने बहुत कुछ अर्थों में समानधर्मा होने के बावजूद भी विष्णु बाबा के सम्प्रदाय को प्रमाण मानने से इंकार कर दिया था।

विष्णु भिकाजी गोखले महाराष्ट्र में 'विष्णुबुवा ब्रह्मचारी' (१८२५-१८७१) के नाम से सुप्रसिद्ध हैं। स्वयं उनके द्वारा लिखा गया आत्मकथ्य यहाँ उन्हीं के शब्दों में यथावत् प्रस्तुत है—

विष्णुबाबा ब्रह्मचारी का आत्मकथ्य

"मैं चितपावन जाति के ब्राह्मण वंश [में] स्रवाली गाँव में श्रावण शुद्ध ५ सम्वत् १८८२ में पैदा हुआ। यह गाँव राजपुर तहसील

के निजामपुर पट्टे में सह्याद्रि पहाड़ के नीचे देवीघाट की तराई में है। और अब यह तहसील बम्बई प्रेसीडेंसी के ठाणे जिले में माणगाँव के नाम से प्रसिद्ध है।

मेरे परदादा का नाम रामचन्द्र पंत गोखले, दादा का महादजी पंत गोखले, पिता का भीकाजी पंत गोखले, माँ का रमाबाई पंत गोखले और मेरा विष्णु पंत गोखले है। मेरे छह भाई और पाँच बहनें थीं। मैं जो अपनी माता का दसवाँ लड़का हूँ, सो अब ब्रह्मचारी बाबा के नाम से प्रसिद्ध हूँ।

मेरा यह नाम होने का कारण यह है कि मैंने अपना ब्याह नहीं किया और न ऐसे किसी बुरे कामों में फँसा, जैसे कि बहुधा लोग वेश्यालंपट आदि हो जाते हैं।

मेरा यज्ञोपवीत सात बरस की उम्र में हुआ और आठ बरस की अवस्था में मैंने बहुत कुछ वेद शास्त्र पढ़ लिया [कण्ठस्थ कर लिया]। नवें बरस मैंने लिखने का अभ्यास किया और बतौर उम्मीदवार के सरकारी तहसील के मुहकमे में काम करने लगा। नौकरी करने के डेढ बरस बाद मेरी माता ने मेरे पिता के देहान्त हो जाने के कारण मुझे बुला लिया। यहाँ आकर मैं अपने घर की खेती-बाड़ी का काम दो बरस तक करता रहा। इतने में मेरी बारह बरस की आयु हुई, तब मैं महाड कस्बे में जो मेरी जन्मभूमि से करीब २४ मील के फ़ासिले पर रायघाट तहसील में है, एक दुकानदार के यहाँ गल्ला [अनाज] खरीदने और बेचने पर नौकर रहा। फिर कपड़े और हुंडी के लेन-देन का काम किया। इसके बाद मैंने सरकारी नौकरी करनी चाही, परन्तु मेरे मालिक ने मुझे रोका। इसलिए मैं भी उसके कहे बमूजिव [अनुसार] कुछ दिनों तक काम करता रहा।

इसके बाद चौदह बरस की उम्र में एक जहाज पर सवार होकर रत्नागिरि गया और संगमेश्वर में बतौर उम्मेदवार चुंगी के मुहकमे में काम करता रहा। फिर एक मुहर्रिर की एवज़ी पर डेढ़ महीना काम किया। बाद को फिर ठाणा चला गया। वहाँ मैं परीक्षा दे उत्तीर्ण हुआ। इसके बाद करीब सोलह वर्ष की उम्र में मेरी नौकरी ठाणा के सालसिट तहसील में चुंगी के मुहकमें में हो गई। मैं वहाँ सात बरस तक निहायत ईमानदारी के साथ काम करता रहा।

जो कि मैं लड़कपन से ही वेद पर विचार किया करता था और मेरा मन सदैव पापों की तरफ से काँपता रहता था। इसी बीच यानी

करीब बीस वर्ष की अवस्था में मुझे कुछ परिज्ञान हो प्रकाश-सा दिखाई दिया। मैंने जो अपने अनुभव से मालूम किया था, उसकी सत्यता की [ब] निस्बत ब्राह्मणों से पूछा। उन्होंने मुझसे कहा कि—'अगर तुम हमारी पूजा करोगे और मन्त्र सीखोगे, तो तुमको हम ईश्वर विषय में जो कुछ सत्य-सत्य होगा बतला देवेंगे।' तब मैंने उनके कहने बमूजिब उनके मन्त्र सीखे। इसके बाद मैंने उनसे कहा कि—'अब मुझको सत्य विद्या का उपदेश कीजिए।' इस पर उन्होंने जो उत्तर दिया, उससे मालूम हुआ कि वे पूरे पातकी और निरे स्वार्थी हैं। सत्य विद्या के बारे में आप ही नहीं जानते, तो दूसरों को क्या उपदेश कर सकेंगे? इसके बाद मैं और-और फिरकेवालों, अर्थात् सब प्रकार के सन्त, महन्त, पुजारी आदि के पास गया। वे भी ऐसे ही मद्यपी, परस्त्री व वेश्यागामी, स्वार्थी और परमदुष्ट पाए, तब मुझे अच्छी तरह से निश्चय हो गया कि—यह सारा जगत् ख़ुद गर्ज़ है और सत्य विद्या विषय में कोई कुछ भी नहीं जानता।

इसी कारण फिर मैं किसी के पास न गया। केवल बहुत-से मत सम्बन्धी प्रचारित ग्रन्थ देखता रहा। जब उनसे भी [सं] तोष न हुआ, तब ईश्वर के भरोसे पर सप्तशृंग पहाड़ के जंगलों में चला गया। जिस वक्त मैं दुनिया के सब जंजाल छोड़, केवल एक लंगोटी से सप्तशृंग की तनहा जगहों और जंगलों में ईश्वर की कारीगरी का ख़याल करने और अपने आप सत्य विद्या को जानने की कोशिश करने के लिए गया, तब मेरी अवस्था तेईस बरस की थी। मैं बरसों तक तनहा उन वीरान जगहों में ईश्वर की यादगारी करता रहा और अपनी दिली-चाह मुतवातिर [लगातार-अनथक] कोशिशों से ईश्वर के गुणादि जानने और उसे देखने तथा आत्मसाक्षात्कार में कि—जीव क्या है? भटकता रहा। आखिरकार कामयाब हुआ और ईश्वर ने मुझे जिस तरह दर्शन दिए उसका बयान नहीं कर सकता। और यह भी मैंने जाना कि—जीव नित्य है। मेरा सत्य गुरु ईश्वर है। उसका मुझे पूरा निश्चय है। वही मेरी जिंदगी का रक्षक है। इसी निश्चय पर मैं वहाँ वृक्षों और बेलों की जड़ों व फलों और झरनों के पानी से निर्वाह करने और दिगम्बर इधर-उधर फिरने तथा सूनी गुफाओं में रहने लगा। पश्चात् मैंने खूब ही ध्यान और धारणा की, जिससे परमात्मा की सत्य विद्या पाई।

इसके बाद ईश्वर की आज्ञा से मनुष्यों के अज्ञानरूपी अन्धकार मिटाने के लिए प्रति नगर घूमने और उपदेश करने तथा प्रत्येक मतावलम्बियों से वाद करने लगा। जो कोई मुझसे तर्क करता और मैं उसको परास्त कर देता। मेरे व्याख्यान देने के समय चाहे जैसा प्रश्न किया जाता, मैं तत्काल ही उसका उत्तर दे देता था। मेरे कहने को सहसा कोई झूठ नहीं कर सकता है और न मुझे अब किसी प्रकार का भय लगता है, न शंका होती है। यह सब शक्ति मुझे ईश्वर ने दे दी है। जो कुछ कहता हूँ, सब अपने तजुर्बे के मुताबिक़ कहता हूँ और मेरा कहना सब सत्य शास्त्रों और बुद्धि के अनुकूल होता है। इसलिए उसे कोई मिथ्या नहीं कह सकता।

मैं किसी की ख़ुशामद और झूठी तारीफ़ नहीं करता, इसी कारण ख़ुशामदी और ख़ुशामदपसंद और पाखण्डी लोग जो कि अपनी मिथ्या प्रसिद्धी चाहते हैं, प्रगट मेरी बुराई और ठट्ठा करते हैं, लेकिन मन में मुझे (यानी जैसा मैं कहता हूँ) अच्छी तरह जानते हैं। परन्तु वे लोग जो सत्य विद्या हासिल करना चाहते हैं, मेरी हर तरह तारीफ़ करते हैं। लेकिन मैं पक्षपात रहित दोनों, अर्थात् भला व बुरा कहनेवालों को सत्य ही उपदेश करता हूँ। यही मेरा जीवन वृतान्त है।''

[यह जीवन वृत्तान्त आर्यसमाज फ़र्रुखाबाद के मासिक मुख-पत्र 'भारत सुदशा प्रवर्त्तक' के अप्रैल १८८० ई० के अंक में पृष्ठ १२ से १६ पर प्रकाशित हुआ था। इस पत्र के सम्पादक थे पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा। जीवन वृत्तान्त के अन्त में दी गई सम्पादकीय टिप्पणी में यह लिखा गया है कि—''जब से इन ब्रह्मचारी बाबा ने ईसाई आदि को परास्त किया, तब से दक्षिण में कोई भी सुशिक्षित पुरुष ईसाई न हुआ। धन्य है इनका भी जन्म, ईश्वर ऐसे महात्माओं को जहाँ तक चिरायु रक्खे, वहाँ तक आर्यावर्त का परम सौभाग्य है, परन्तु है वही ठीक कि—जाने सो माने।'' यह मासिक मुंशी रामस्वरूप के प्रबन्ध से फतेहगढ़ कॅम्प की शिला प्रेस से मुद्रित हुआ करता था। २८ पृष्ठ के इस अंक में सम्पादक ने अपने नाम, पद और पते के उपरान्त—१५-५-१८८० ई०-तारीख अंकित की है]



(१५)

महाराष्ट्रीय समाज-सुधार आन्दोलन और महर्षि दयानन्द

महाराष्ट्र में **समाज-सुधार का पहिला प्रवाह** ब्राह्मणों के नेतृत्व में अर्थात् प्रार्थनासमाज के नेता न्यायमूर्ति महादेव गोविंद रानडे (१८४२-१९०१) और गोपाल हरि देशमुख लोकहितवादी की छत्रछाया में प्रवाहित हुआ। रानडे पुणे आर्यसमाज के प्रधान रहे तो लोकहितवादी (१८२२-१८९२) मुंबई आर्यसमाज के प्रधान रहे। दोनों भी महर्षि दयानन्द की एकमात्र उत्तराधिकारिणी ट्रस्ट 'परोपकारिणी सभा' के विश्वस्त थे।

समाज सुधार का दूसरा प्रवाह महाराष्ट्र में ब्राह्मणेतरों के नेता 'सत्यशोधक समाज' (१८७३) के संस्थापक महात्मा फुले (१८२७-१८९०) से शुरु होता है। महर्षि दयानन्द के सुप्रसिद्ध पुणे प्रवचनों के बाद जब ५ सितम्बर १८७५ को स्थानीय ऋषि-भक्तों ने स्वामीजी के सम्मानार्थ शोभा-यात्रा निकाली तो रक्षावाहिनी के रूप में महात्मा फुले अपने स्वयंसेवकों के साथ जुलूस में संमिलित हुए थे। इससे पूर्व स्वामीजी ने फुले जी के मुहल्ले में स्थित और उन्हीं के द्वारा संचालित पेठ जुना गंज की शूद्रातिशूद्रों की पाठशाला में शुक्रवार १६ जुलाई १८७५ को वेदोपदेश दिया था। स्वामीजी के पुणे-प्रवचनों में स्वयं महात्मा फुले भी बीच-बीच में उपस्थित होते रहे। वेद प्रामाण्यवादी महर्षि दयानन्द को मनसा-वाचा-कर्मणा समता तत्त्व का अनुसरण करते हुए देख 'वेद को भेद' माननेवाले महात्मा फुले मन्त्रमुग्ध थे।

महाराष्ट्र में **समाज-सुधार का तीसरा प्रवाह** क्षत्रिय (मराठा) वंश के राजर्षि शाहू महाराज (१८७४-१९२२) के नेतृत्व में प्रवाहित होता है। कोल्हापुर नरेश शाहू महाराज जोधपुर के युवराज प्रतापसिंह के साथ समुद्र-यात्रा करते समय सन् १९०२ में आर्यसमाज के सिद्धान्तों से परिचित होते हैं। तत्पश्चात् १९१८ में वे कोल्हापुर में

आर्यसमाज की स्थापना करते हैं। पुणे की नाना पेठ आर्यसमाज और अहमदनगर की आर्यसमाज को सुदृढ़ और स्वावलम्बी बनाने में उनकी विशेष भूमिका रही है। आर्यसमाज के उत्तुंग विचारों की महत्ता सर्वसाधारण लोगों तक पहुँचाने के लिए १० अगस्त १९०८ को अपने शासकीय परिपत्र 'करवीर गजट' में शाहू महाराज ने यह राजाज्ञा निकाली थी कि 'प्रत्येक पटवारी आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा लिखित 'सत्यार्थप्रकाश' नामक ग्रन्थ अवश्य पढ़े।' कोल्हापुर का राजाराम महाविद्यालय तो उन्होंने आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रांत (उत्तरप्रदेश) को सौंप दिया था। उनका यह विश्वास था कि—'आर्यसमाज की सामाजिक समता के सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार होने पर भारतवर्ष राजनीतिक दृष्टि से भी लोकतान्त्रिक (प्रातिनिधिक) उत्तरदायित्वों को वहन करने में समर्थ होगा।'

महाराष्ट्र में **समाज-सुधार आन्दोलन का चौथा प्रवाह** दलितों के संघर्षशील नेता माननीय डॉ० भीमराव अम्बेडकर (१८९१-१९५६) के नेतृत्व में प्रवाहित होता है। डॉ० अम्बेडकरजी ने स्वरचित साहित्य में अनेक स्थानों पर महर्षि दयानन्द की वेद प्रामाण्य आदि कतिपय धारणाओं से असहमति व्यक्त करते हुए भी उनके बुद्धिवादी उदारमतवादी दृष्टिकोण की प्रशंसा की है। पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय के अनुसार 'डॉ० अम्बेडकर को सबसे पहले आर्यसमाज की गोद में ही शरण मिली थी।' स्वामी दयानन्द की वैदिक वर्ण व्यवस्था के सन्दर्भ में डॉ० अम्बेडकरजी ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है, 'मैं वर्ण व्यवस्था का सिद्धान्त स्वीकार नहीं कर सकता, फिर भी महात्मा गाँधी की वर्ण व्यवस्था की तुलना में स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वैदिक कालीन वर्ण व्यवस्था मेरी दृष्टि में बुद्धिगम्य और उपद्रव रहित है, क्योंकि उसके आधार पर समाज के किसी भी व्यक्ति का स्थान जन्म पर आधारित न होकर गुणों पर आधारित होता है।'

समाज-सुधार आन्दोलन का महाराष्ट्र में **पाँचवाँ प्रवाह** हिन्दुत्व के अभिनव व्याख्याकार स्वातन्त्र्यवीर विनायक दामोदर सावरकर (१८८३-१९६६) के नेतृत्व में प्रारम्भ होता है। श्री सावरकर अण्डमान की जेल में रहते हुए भी आर्यसमाज द्वारा संचालित राष्ट्रभाषा अभियान और शुद्धि आन्दोलन से जुड़ गए थे। अपने तत्कालीन अनुभवों को

शब्दबद्ध करते हुए 'मेरा आजन्म कारावास' नामक ग्रन्थ में आपने लिखा है, ''हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा के रूप में सम्मानित और उसका यथासंभव साधनों से प्रचार करने का हमारा प्रयत्न वर्ष ईस्वी सन् १९०६ से सतत चालू था। उस समय हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने की कल्पना इतनी व्यापक नहीं थी। बड़े-बड़े नेता भी इस कल्पना का नाम निकालना बच्चों का खेल समझते थे।...उन दिनों नागरी प्रचारिणी सभा और आर्यसमाजी व्यक्तियों में से कुछ लोग ही विशेष रूप से इस आन्दोलन के पुरस्कर्त्ता थे। हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित करने का ही नहीं, अपितु उसमें राष्ट्रीय दृष्टि से ग्रन्थ लिखने का पहला श्रेय श्रीमद् दयानन्द सरस्वती को है। इस सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ के पठन-पाठन और स्वाध्याय के लिए हम विशेष रूप से बल देते थे। राजबंदियों को भी इस ग्रन्थ को बार-बार पढ़ने के लिये कहा जाता था।'' सावरकरजी ने हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द की स्मृति में 'श्रद्धानन्द' नामक पत्र का भी संचालन एवं सम्पादन किया था।

श्री सावरकर प्रथम भारतीय स्वाधीनता संग्राम की शताब्दी में भाग लेने हेतु मई १९५७ में दिल्ली पधारे थे, तब आपने आर्यसमाज और दयानन्द के प्रति श्रद्धाञ्जलि प्रस्तुत करते हुए कहा था— 'आर्यसमाज और महर्षि दयानन्द के सम्बन्ध में मेरी श्रद्धा किसी से छिपी नहीं है। महर्षि का 'सत्यार्थप्रकाश' पढ़कर मैं सन्तोष प्राप्त करता हूँ और जिस स्वाधीनता का चिन्तन करता हूँ, उसमें महर्षि का प्रकाश सहायक रहा है। इसलिए मैं स्वामी दयानन्द का पक्का शिष्य हूँ। इस समय आर्यसमाज ही ऐसी संस्था है, जो प्रत्येक प्रकार के राजनैतिक स्वार्थों और सन्देहों से ऊपर है, इसी से उसमें देश का कल्याण की अधिक क्षमता है। आर्यजन देशभर में चेतनता लाने के लिए निर्बुद्ध लोगों को प्रबुद्ध करें।' (आर्यसमाज का इतिहास : सातवाँ भाग : संपादक-सत्यकेतु विद्यालंकार-दत्तात्रेय तिवारी विद्यालंकार-पृष्ठ-२७३-२७४)।

समाज-सुधार आन्दोलन का छठा प्रवाह लौहपुरुष स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी (१८७८-१९५५) के नेतृत्व में निरंकुश तानाशाह निजाम के विरुद्ध किये गए हैदराबाद सत्याग्रह के माध्यम से महाराष्ट्र में प्रवाहित हुआ। हैदराबाद मुक्ति संग्राम का नेतृत्व स्वामी रामानन्द तीर्थ, पं० नरेन्द्र आदि अनेक नेताओं ने किया, पर इस सत्याग्रह के

प्रारम्भिक नेता स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी ही थे, जिनके नेतृत्व में महाराष्ट्र की विभिन्न सीमाओं से गुजरते हुए बारह हजार सत्याग्रहियों ने हैदराबाद रियासत की विभिन्न नगरों में सत्याग्रह कर हैदराबाद की जनता में नवचेतना और निर्भीकता का संचार किया। 'इस संन्यस्त एवं बाल ब्रह्मचारी के तपे हुए शरीर ने निजाम राज्य का मनोबल गिरा दिया।' (द्रष्टव्य-लौहपुरुष स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी महाराज : लेखक-प्रा० राजेन्द्र 'जिज्ञासु'-संस्करण-१९६६, प्रकाशक-दयानन्द मठ-दीनानागर (पंजाब) पृष्ठ-१४७१)।

सुदूर रावलपिण्डी से अन्याय विरोधी गीत गाते हुए सत्याग्रही हैदराबाद रियासत में पहुँचे। गुरुकुलों के ब्रह्मचारी देशभक्ति के तराने गाते हुए पराधीनता के अंधेरे को चीरकर निजाम की जेलों पर दस्तक देने लगे। सत्याग्रह में हिन्दुओं के साथ सिक्ख-जैन-मुस्लिम मतावलम्बियों ने भी भाग लिया। सत्याग्रही महाराष्ट्र के गाँव-गाँव और नगर-डगर से जो गीत गाते हुए गुजरते थे, उनमें से कतिपय गीतों के पद निम्न प्रकार थे—

'हम पुत्र हैं, भारतमाता के, माता पर संकट आया है।
हम उसके बंधन काटेंगे, और अपना सीस कटा देंगे।'

× × ×

'हे मातभूमि तेरे, चरणों में सिर नवाऊँ।
मैं भक्ति भेंट अपनी, सेवा में तेरी लाऊँ॥
माथे पे तू हो चंदन, छाती पे तू हो माला।
जिह्वा पे गीत तू हो, मैं तेरे गीत गाऊँ॥'

× × ×

'जहाँ पेड़ अन्याय का जन्म लेगा,
विषैले कटीले फलों से फलेगा।
वहाँ यह कुल्हाड़ी बनेगी नुकीली,
दयानन्द की यह पताका रंगीली।'

'हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पदार्थ से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे होगा, उसकी उन्नति तन-मन-धन से सब जने मिल के प्रीति से करें।' (सत्यार्थप्रकाश) इस प्रकार के देव दयानन्दजी के देशभक्ति से परिपूर्ण विचारों से

ओत-प्रोत होकर ये सत्याग्रही हैदराबाद सत्याग्रह-संग्राम में कूद पड़े थे। गुड़गाँव और जसबहादुर नामक हरियाणा के गाँवों से आकर निजाम रियासत में सत्याग्रह करनेवाले ब्र० इन्द्रदेव और स्वामी मंगलानन्द ने नांदेड़ के जेलर द्वारा पूछने पर अपने पिता के नाम क्रमशः महर्षि दयानन्द और स्वामी दयानन्द बतलाए थे। ब्रह्मचारीजी ने ११।७।१३४८ फसली को और स्वामीजी ने १।८।१३४८ फसली को नांदेड़ जेल में प्रवेश किया था।

मराठवाड़ा अंचल में स्थित नांदेड़ विश्वविद्यालय के प्रथम उपकुलपति और वर्तमान राज्यसभा सदस्य प्राचार्य डॉ० जनार्दनराव वाघमारेजी के अनुसार—'इतिहास के सूत्र समय के हाथ में होते हैं। सवा दो सौ सालों की निजामशाही चार-पाँच दिनों में ही नेस्तनाबूद—निर्मूल हो गई। इसका नेतृत्व तन-मन-धन से विरक्त स्वामी रामानन्द तीर्थ और पं० नरेन्द्रजी कर रहे थे। देशोद्धार के लिए दोनों भी आजन्म ब्रह्मचारी रहे। इसी समय मैं आर्यसमाज के अधिक सम्पर्क में आया। आर्यसमाज ने हमारे मानस में राष्ट्रीय भावना और सामाजिक चेतना निर्माण की और मुझे स्वामी दयानन्द के एक धर्म, एक राष्ट्र और एक भाषा के त्रिसूत्र महत्त्वपूर्ण प्रतीत होने लगे। पं० नरेन्द्रजी के ओजस्वी भाषाणों ने तो मुझे मन्त्रमुग्ध कर दिया था। आर्यसमाज का आन्दोलन काँग्रेस की तरह धर्मनिरपेक्ष तो नहीं था, पर वह विशुद्ध जाति निरपेक्ष जरूर था।' (मराठी-आत्मकथा-मूठभर माती : पद्मगंधा प्रकाशन पुणे, द्वितीय आवृत्ति-दिसम्बर-२००६-पृष्ठ-५३-५४)।

हैदराबाद मुक्ति-संग्राम के ओजस्वी एवं भावुक नेता और वक्ता बाबासाहब परांजपे के अनुसार—'आर्यसमाज ने धार्मिक जागरण के साथ-साथ समाज-सुधार के लिए सभी स्तरों पर विशेष पुरुषार्थ किया। आर्यसमाजी नेताओं के व्याख्यान एक प्रकार से प्रबोधन-पुनरुत्थान-पुनर्जागरण के शिविर का रूप धारण किए होते थे। इसी समय आर्यसमाज ने अंतर्जातीय विवाहों का भी क्रान्तिकारी अभियान छेड़ा। दलितों के साथ उनका व्यवहार सदैव ही न्यायपूर्ण और इंसानियत की भूमिका के अनुरूप था।' (मराठवाड्याचे मानकरी : तपस्वी बाबासाहब परांजपे-लेखक एवं प्रकाशक-कृष्ण मुकुंद उजळंबकर-पृ० २५)।

आर्यसमाज की भूमिका को स्पष्ट करनेवाले निजामाबाद में

दि०-२२, २३, २४ अप्रैल १९४३ को संपन्न द्वितीय आर्यसम्मेलन के दो प्रस्ताव यहाँ प्रस्तुत हैं—

(१)

"यह सम्मेलन घोषित करता है कि हैदराबाद स्टेट समस्त हैदराबादियों का है, तथा हजूर निजाम समस्त प्रजा के अधिकारों का प्रतिनिधित्व तथा संरक्षण करते हैं, आला हजरत कदापि केवल मुस्लिम इक्तेदार (प्रभुत्व) मुजहिर नहीं हो सकते, और न यह स्टेट मुस्लिम स्टेट है, जैसा कि मजलिस इत्तिहादुल् मुस्लिम कहती है, हम निःशंक और निःसंकोच होकर कहते हैं कि स्टेट समस्त हैदराबादियों की होने से उसका कोई धर्म नहीं है, हैदराबाद के हित के लिए यह आवश्यक है कि हुकूमत इस सम्बन्ध में घोषणा कर दे।" प्रस्तावक—पं० श्री नरेन्द्रजी/अनुमोदक पं० श्री एस० व्यंकट स्वामीजी वकील।

(२)

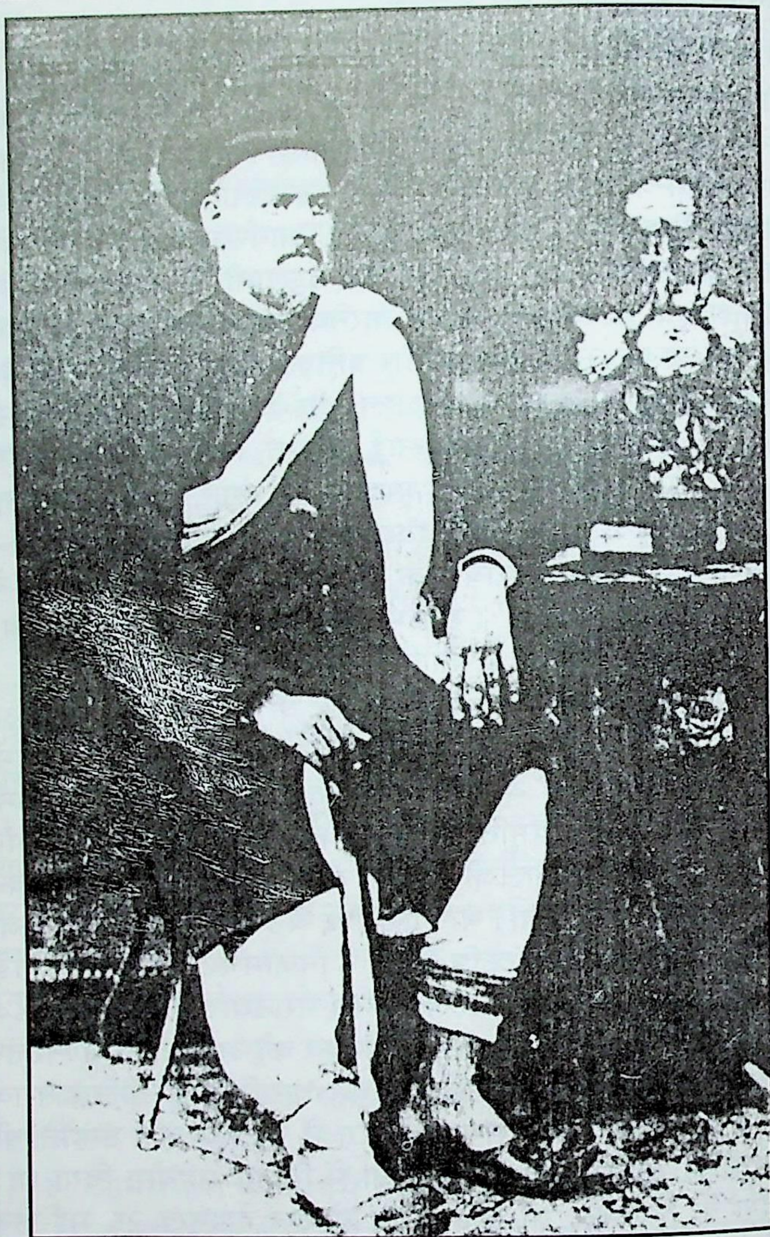
"उन महानुभावों के लिए जो आर्यसमाज को जातीय [साम्प्रदायिक] संस्था समझते हैं, यह निजामाबाद में सम्पन्न द्वितीय आर्य-सम्मेलन इस बात की घोषणा करना आवश्यक समझता है कि आर्यसमाज जातीय संस्था नहीं है, वह एक धार्मिक-राष्ट्रीय संस्था है। स्वदेशभक्ति, स्वदेशोन्नति, स्वराज्य व स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए प्रयत्न भी इसके धर्म का एक अंग है, इसलिए आर्यसमाज प्रत्येक उस कार्य को करना, जिसमें स्वदेश की उन्नति व स्वराष्ट्र का हित हो अपना कर्त्तव्य समझता है।" प्रस्तावक—पं० कर्मवीरजी (उदगीर)/अनुमोदक-पं० गोपालदेवजी (बसव कल्याण)/(द्रष्टव्य—'आर्यभानु' मासिक-जून-जुलाई-१९४३)।

महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध साहित्यकार एवं समीक्षक प्राचार्य नरहर कुरुंदकरजी का कहना है कि—

१. आर्यसमाज की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह कठोर राष्ट्रवादी संघर्षशील संगठन है। अपने मत और दृष्टिकोण को प्रस्थापित करने के लिए प्राणों की बाजी लगा देना इस शक्तिपूर्ण संगठन के लिए नित्य की बात रही है। २.आर्यसमाज हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानता है, इसलिए उर्दू के कृत्रिम महत्त्व से उसका विरोध रहा है। ३. आर्यसमाज समूचे भारत को एक राष्ट्र मानता है, इसलिए

हैदराबाद को पृथक् राष्ट्र बनानेवाले सभी विचारों से आर्यसमाज का विरोध रहा है। ४. आर्यसमाज भारत के स्वातन्त्र्य पर विश्वास रखनेवाला है, फलतः अँग्रेजी राज का कड़ा विरोधी रहा है, गणतन्त्र और लोकतन्त्र पर श्रद्धा रखनेवाला है। इसलिए सभी राजाओं और रियासतों से उसका विरोध रहा है। ५. आर्यसमाज स्वयं को हिन्दू समाज का संरक्षक मानता है, इसलिए इस्लामी आक्रमण से उसका विरोध था। ६. केवल प्रस्ताव पास करनेवाला और व्याख्यान देनेवाला संगठन न रहकर अन्याय का कठोर प्रतिकार करनेवाला संगठन है।' (द्रष्टव्य—लेख-हुतात्मा श्यामलाल और हैदराबाद मुक्ति संग्राम : अमृत पुत्र : मराठी त्रैमासिक जुलाई, अगस्त, सितम्बर १९७७, पृष्ठ ११-१२, सम्पादिका-सौ० डॉ० शारदा देवदत्त तुंगार, त्रिवेणी प्रकाशन-रेणापुर)। स्वाधीनता सेनानी दिगम्बरराव बिन्दु की दृष्टि में—आर्यसमाज के कारण हैदराबाद के आन्दोलन की प्रतिध्वनि भारत के कोने-कोने में पहुँच गई।' (सन्दर्भ-विनायकराव अभिनन्दन ग्रन्थ-लेख-हैदराबाद राज्य की राजनीतिक चेतना-पृष्ठ ११०)।

पश्चिमोत्तर महाराष्ट्र महर्षि दयानन्द के पद रजों से पावन हुआ है। पुण्यपत्तन और मुम्बापुरी के अतिरिक्त विदर्भ को श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द की श्रद्धामयी वाणी ने अभिभूत किया है। हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द के शिष्य न्यायमूर्ति केशवराव कोरटकर और रक्तसाक्षी पं० श्यामलाल और बंसीलालजी वकील की साधना ने मराठवाड़ा को आर्यसमाजमय बना दिया। बैलगाड़ी पर बैठकर स्वामी दयानन्दजी के पुणे प्रवचन सुननेवाले ऋषि भक्तों ने निजाम स्टेट और मराठवाड़े का सर्वप्रथम आर्यसमाज किल्लेधारूर (मराठवाड़ा) में सन् १८८० में स्थापित किया। विष्णुशास्त्री चिपळूणकर को अपने तर्कों से निरुत्तर करनेवाले आर्यफौजी से प्रभावित होकर धाराशिव के श्रीनिवासराव महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज के रंग में रंग गए और उन्होंने भी किल्लेधारूर आर्यसमाज की स्थापना में विशेष सहयोग दिया था। खानदेश के कलेक्टर श्री लक्ष्मणराव गोपाल देशमुख २६ मई सन् १८८३ को अजमेर पहुँचे थे और अजमेर से ही आपको योगविद्या सीखने के लिए स्वामी दयानन्दजी के साथ जोधपुर जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। देश-विभाजन (१९४७) के बाद पाकिस्तान से जो आर्यसमाजी महाराष्ट्र के विभिन्न स्थानों में बस गए उनके कारण भी इस प्रदेश में आर्यसमाज की जड़ें और भी अधिक सुदृढ़ हुईं। इन



लक्ष्मणराव देशमुख

(खानदेश (महाराष्ट्र) के जिलाधीश

जिन्होंने जोधपुर में महर्षि से योग विद्या की शिक्षा प्राप्त की ।)



लौहपुरुष स्वामी स्वतंत्रानंदजी (१८७८-१९५५)



पं० नरेन्द्र जी : हैदराबाद



प्रा० नरहर कुरुंदकर

सब विभिन्न कारणों से महाराष्ट्रीय समाजसुधार-आन्दोलन को विशेष बल प्राप्त हुआ है।

महाराष्ट्र में ज्ञान महर्षि के रूप में सम्मानित, मराठी विश्वकोश के सम्पादक (स्व०) तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी (१९०१-१९९४) ने महर्षि दयानन्द के तेजोमय व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, 'हिन्दुत्व के शतकानुशतकों से दुर्बल हो जाने के कारण भारतवर्ष बार-बार पराधीन हुआ, इसका प्रत्यक्ष दर्शन महर्षि स्वामी दयानन्द को हुआ, इसलिए उन्होंने जन्मगत जातिभेद और मूर्तिपूजा जैसे दौर्बल्यकारक परम्पराओं की अन्त्येष्टि करनेवाले विश्वव्यापी महत्त्वाकांक्षा युक्त आर्य धर्म का उपदेश दिया। इस कोटि के दयानन्द यदि हजार वर्ष पूर्व इस देश में उत्पन्न हुए होते, तो इस देश को पराधीनता के दिन देखने न पड़ते। इतना ही नहीं, अपितु विश्व के एक महान् राष्ट्र के रूप में भारतवर्ष देदीप्यमान रहता।' तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री के अनुसार—'समाज सुधारकों के आलोचक श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर को जैसा देशाभिमान या देशानुराग था, वैसा ही अनुराग महात्मा फुले और स्वामी दयानन्द इत्यादि समाज सुधारकों और धर्म सुधारकों को भी था, पर विष्णु शास्त्री का ध्यान परम्परागत हिन्दुत्व की दौर्बल्यकारक स्थानों की ओर गया ही नहीं था।' (महाराष्ट्र साहित्य पत्रिका अप्रैल-मई-जून १९८२ : महाराष्ट्र साहित्य परिषद् : पुणे का त्रैमासिक पत्र)।

मराठी साहित्यकार एवं पंजाब के भूतपूर्व राज्यपाल माननीय श्री नरहर विष्णु गाडगिल ने कहा था—''महाराष्ट्र में जो स्थान छत्रपति शिवाजी अथवा समर्थ गुरु रामदास का है वही स्थान भारत के राजनीतिक उत्थान में महर्षि दयानन्द का है।'' (विश्व वन्दनीय महर्षि दयानन्द : 'आर्य प्रेमी' मासिक का विशेषांक फरवरी-मार्च १९६६ : सम्पादक—वैद्य मोहनलाल : संग्रहकर्त्ता—पं० भगवान्देव शर्मा : अध्यक्ष—महर्षि दयानन्द आश्रम-टंकारा-गुजरात)।

—आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा का मुख पत्र 'आर्य जगत्' : साप्ताहिक (४ मार्च २००१, पृष्ठ-७), मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली, पिन-११० ००१ से साभार।



पंचम अध्याय

महर्षि और उनके चरित्र में चर्चित कतिपय व्यक्तियों की वंशावली

महर्षि दयानन्द सरस्वती

इतिहासाचार्य निरंजनदेव केसरी ने कहा था—'कोई प्रभुभक्त है तो विद्वान् नहीं, कोई विद्वान् है तो योगी नहीं, कोई योगी है तो सुधारक नहीं, कोई सुधारक है तो दिलेर नहीं, कोई दिलेर है तो ब्रह्मचारी नहीं, कोई ब्रह्मचारी है तो वक्ता नहीं, कोई वक्ता है तो लेखक नहीं, कोई लेखक है तो सदाचारी नहीं, कोई सदाचारी है तो परोपकारी नहीं, कोई परोपकारी है तो कर्मठ नहीं, कोई कर्मठ है तो त्यागी नहीं, कोई त्यागी है तो देशभक्त नहीं, कोई देशभक्त है तो वेदभक्त नहीं, कोई वेदभक्त है तो उदार नहीं, कोई उदार है तो शुद्धाहारी नहीं, कोई शुद्ध आहारी है तो योद्धा नहीं, कोई योद्धा है तो सरल नहीं, कोई सरल है तो सुन्दर नहीं, कोई सुन्दर है तो बलिष्ठ नहीं, कोई बलिष्ठ है तो दयालु नहीं, यदि कोई दयालु है तो संयमी नहीं, परन्तु यदि आप ये सभी गुण एक ही स्थान पर देखना चाहें तो देव दयानन्द को देखो, निष्पक्ष होकर देखो।'

महर्षि दयानन्द इतिहासवेत्ता भी थे। सन् १८७५ में उन्होंने जो पुणे में पन्द्रह व्याख्यान दिये, उनमें से छह व्याख्यान तो इतिहास विषय से ही सम्बन्धित थे। इतिहास को जानने के साथ-साथ जनाना भी वे आवश्यक मानते थे। उनकी दृष्टि में श्रीमान् महाराज 'स्वायम्भुव मनु' से लेकर महाराज युधिष्ठिर तक का इतिहास महाभारत आदि ग्रन्थों में लिखा है। तत्पश्चात् महाराज युधिष्ठिर से लेकर महाराज यशपाल तक के राजवंश का इतिहास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पादित 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'मोहन चन्द्रिका' से साभार 'सत्यार्थप्रकाश' के ग्यारहवें समुल्लास के अन्त में उद्धृत करते हुए उन्होंने लिखा है—'यदि ऐसे ही हमारे आर्य सज्जन लोग इतिहास और विद्या पुस्तकों की खोजकर प्रकाश करेंगे तो देश को बड़ा ही लाभ पहुँचेगा।' इन



महर्षि दयानन्द सरस्वती : १८८२ : शाहपुरा

महर्षि जी की बहन प्रेमबाई रावल के वंशज श्री पोपटलाल का वक्तव्य

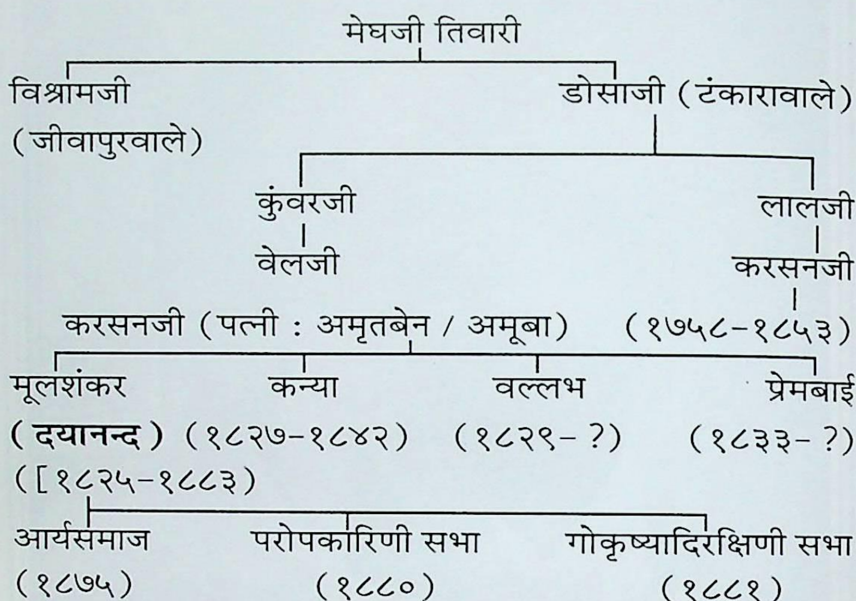


"मैं बीसवीं सदी के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष भगवान दयानन्द का निकट सम्बन्धी हूं–यह सोचकर मेरा हृदय अभिमान से भर उठता है। मैं अपने जीवन को कृतकृत्य तथा सफल समझता हूं। अनेक व्यक्ति ऋषि के जन्मस्थान के विषयमें संदिग्ध हैं। परन्तु मैं आज इस पवित्र वेदी पर उपस्थित होकर इस बातकी घोषणा करता हूं कि यह टंकारा ग्राम ही ऋषि दयानन्द की जन्मभूमि है। इसके लिये मेरे पास बडे बडे दो प्रमाण हैं। प्रथम यह कि ऋषि दयानन्द के पितृ महोदय ने बडी भक्ति पूर्वक जिस शिवमन्दिर की स्थापना की थी तथा जिसमें आसीन होकर मूलशंकर (ऋषि का बाल्यनाम) ने महाशिव रात्रि के पुण्यपर्व में संसार के कल्याण के लिये एक दिव्य, प्रतिमा विरोधी संदेश प्राप्त किया था–वह मन्दिर आज तक हमारे वंशमें परम्परा से चला आरहा है। द्वितीय प्रमाण यह है कि वह सौभाग्य शाली गृह भी हमारे ही पास है जिसमें ऋषि दयानन्द का जन्म हुआ था। आप इन दोनों वस्तुओं को कल अपनी आंखों से प्रत्यक्ष कर चुके हैं।

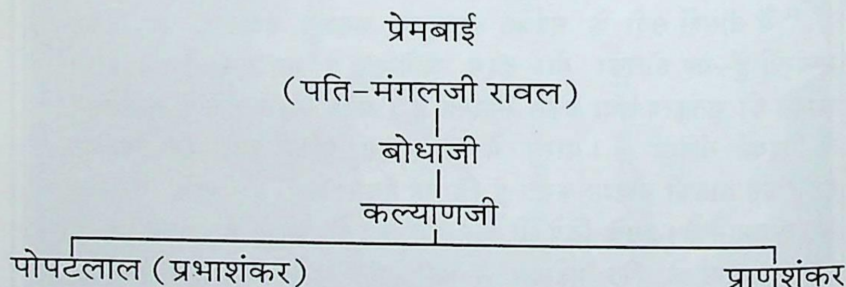
(करतलध्वनि : टंकारा जन्मशताब्दी महोत्सव : ११ फरवरी १९२६)

शब्दों के साथ यहाँ प्रस्तुत है—

महर्षि की वंशावली



महर्षि दयानन्दजी की बहिन की वंशावली



श्री पोपटलालजी की छह सन्तानों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं— १. मनु, २. मुकुन्दराय, ३. जयन्तीलाल, ४. हरसुख, ५. प्रवीण, ६. अरविन्द। श्री प्राणशंकरजी के दो सुपुत्र हैं—१. केशवलाल और दूसरे सुपुत्र का नाम हमें अभी तक पता नहीं चल पाया है।

सन्दर्भ—१. ऋषि दयानन्द की प्रारम्भिक जीवनी : लेखक-श्री दयालमुनि वानप्रस्थी (टंकारा), वेदवाणी मासिक (दयानन्द विशेषांक-३ / जनवरी १९८६) सम्पादक-पं० युधिष्ठिर मीमांसक, पृष्ठ ५ से ५० तक।





महर्षि दयानन्द : साथ में उनके शिष्य ब्र० रामानंद
(अप्रैल : १८८३ : शाहपुरा)

(श्री स्वामी जी महाराज के आज्ञापत्र की प्रति।

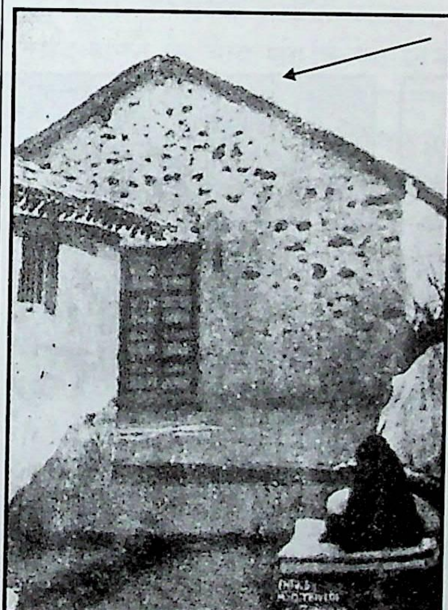
ओ३म्

मंत्री आर्यसमाज फर्रुखाबाद लाला काली
चरण रामचरण जी आनंदित रहो।
विदित हो कि रमानंद ब्रह्मचारी की माता मुहल्ला
जनिहाई साहु विहारीलाल जी की हवेली के पिछवाड़े
जो कि लाला बलदेवदास ने, मकान मोल लेकर इस
के पिता शंकरानंद जी को धर्मार्थ दिया, उसमें
रहती है। यदि जब कभी उसका शरीर छूट जाय तो
उसके अंत्येष्टि कर्म के लिए ५०) पचास रुपये
लाला निर्भयराम जी की कोठी से ले लेना, और
हमारे हिसाब में लिखा देना, और उन रुपयों
से, घृत और सुगंध्यादि पदार्थों को लेकर
जैसा विधान षोडश संस्कार विधि के पुस्तक
में लिखा है उसके अनुसार मृतक कर्म
करा देना, और इस काम के कराने में किसी
प्रकार आलस्य न करना, और इस बात को
प्रत्येक सभासद को विदित कर देना जिससे
समय पर सहायक होवें। ज्येष्ठ शुक्ल ? सं. ४०

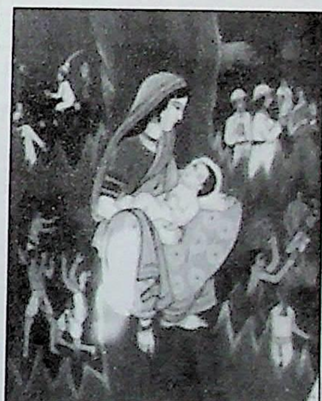
उदयपुर (दयानंद सरस्वती)

महर्षि जी का हस्तलिखित पत्र





मूलशंकर के जन्मगृह का कक्ष

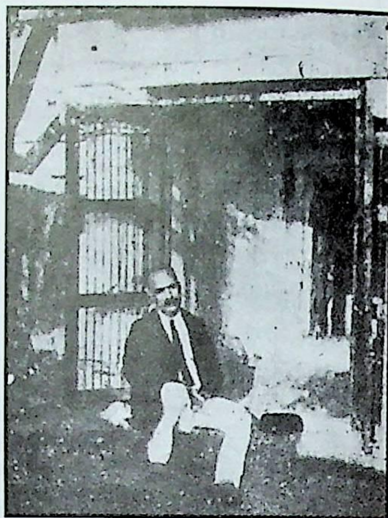


मूलशंकर के शैशव का कलाकार द्वारा निकाला काल्पनिक चित्र ।

टंकारा



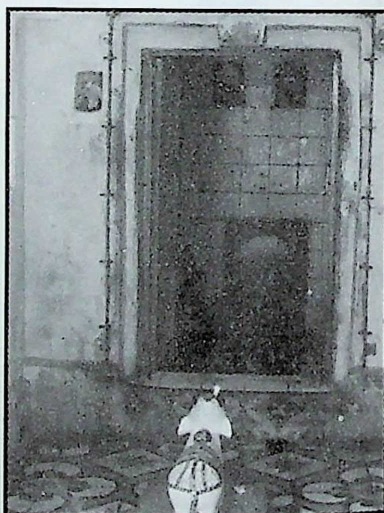
शिव मंदिर : १९३०



मंदिर का गर्भगृह : १९३०



शिव मंदिर : १९९२



मंदिर का गर्भगृह : १९९२

चौधरी गुरुचरणलाल उपाध्याय

वैदिक वाङ्मय के विद्वान् और आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती सन् १८७१ और १८७६ में क्रमशः उत्तरप्रदेश के मिर्जापुर नगर और सुप्रसिद्ध अयोध्यानगरी में पधारे थे। चौधरी गुरुचरणलालजी उसी समय उनके सम्पर्क में आकर वैदिक मतावलम्बी बन गए। उन्होंने मूर्तिपूजा छोड़कर सन्ध्योपासना प्रारम्भ कर दी। मिर्जापुर में लाल डिग्गी तालाब के पास बना अपना विशाल भवन उन्होंने महर्षि के वैदिक संस्कृत पाठशाला के स्वप्न को साकार करने के लिए उन्हें सौंप दिया। इसी प्रकार अयोध्या रेलवे स्टेशन से पौने दो किलो मीटर पर चौधरीजी का सरयू बाग है। यहाँ पर भी इन्होंने महर्षि की प्रेरणा से चारों ओर से हरित वृक्षों की घिरी ५० एकड़ भूमि के बीच वैदिक संस्कृत पाठशाला की स्थापना की। भवनादि बनने के बाद महर्षि को निमन्त्रित किया। १९ आगस्त से २७ सितम्बर १८७६ तक महर्षि इस बाग में रहे। इसी सरयू बाग में उन्होंने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' का प्रणयन प्रारम्भ किया था। प्रायः जिस प्रस्तर-शिला पर बैठकर महर्षि ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की, वर्तमान वैदिक संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य और चौधरीजी के वंशज आज भी पर्यटकों को उस शिला के दर्शन बड़े ही गौरव के साथ कराते हैं। वेदभाष्य, देशोन्नति और समाज-सुधार जैसे अनुष्ठानों में तल्लीन होने के कारण किसी व्यक्ति विशेष की सांसारिक उलझनों को सुलझाने के लिए महर्षि के पास समय नहीं था, पर संस्कृत एवं वेद विद्या के प्रचार के लिए उदारतापूर्ण सहस्रहस्त से दान देनेवाले अपने भक्त चौधरी गुरुचरणलाल की आर्थिक वाद-विवाद को हल करने के लिए महर्षि ने पंच बनना भी स्वीकार किया था। वैदिक पाठशाला के पं० रामानन्द को दान स्वरूप दी गई भूमि के फलस्वरूप उनके तथा उनके अनुज हरिहर के बीच उत्पन्न हुए भूमि-विवाद को महर्षि ने निपटाया था। पञ्चनामे पर चौधरी गुरुचरणलालजी के साथ (स्वामी) दयानन्द सरस्वतीजी के हस्ताक्षर डॉ० राजीव रञ्जन उपाध्याय से सम्पर्क (परिसर कोठी काके बाबू,

देवकाली मार्ग, फैजाबाद-पिन : २२४ ००१) कर आज भी देखे जा सकते हैं। श्री वैदिक आदर्श स्नातकोत्तर संस्कृत महाविद्यालय के वर्तमान प्राचार्य श्री वैष्णवदासजी हैं, जो ४४ साल से अयोध्या में हैं और इसी वैदिक आदर्श शिक्षा संस्था के स्नातक भी हैं। इसी पाठशाला में हमारी चौधरी गुरुचरणलालजी के ८० वर्षीय पौत्र श्री माधवप्रसादजी से २ जुलाई २००८ को मुलाकात हुई। उनसे तथा अन्य सन्दर्भों से प्राप्त यथोपलब्ध चौधरी गुरुचरणलालजी की वंशावली यहाँ प्रस्तुत है—

चौधरी की वंशावली

श्री जगन्नाथप्रसाद उपाध्याय
(१७८०-१८३३)
|
श्री शीतलप्रसाद उपाध्याय
(१८१२-१८६८

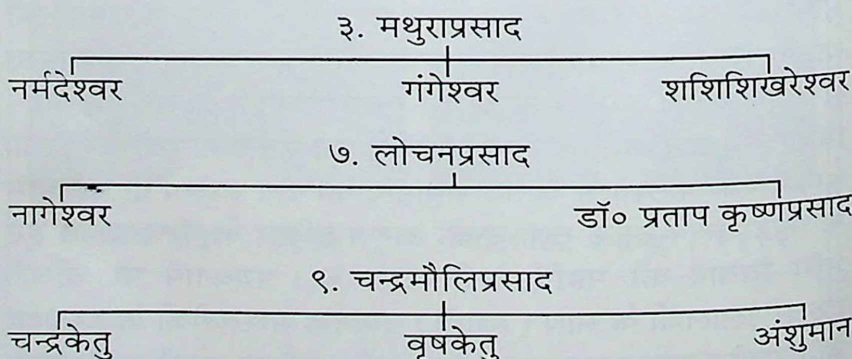
चौधरी गुरुचरणलाल उपाध्याय
(१८३९-१९१७)

(चौधरीजी की कुल ग्यारह सन्तानें थी)

१. बदरीनारायण प्रेमघन २. वासुदेवप्रसाद ३. मथुराप्रसाद ४. यदुनाथप्रसाद ५. हरिश्चन्द्र ६. अनन्तप्रसाद ७. लोचनप्रसाद ८. चन्द्रचूड़प्रसाद ९. चन्द्रमौलिप्रसाद १०. दुष्यन्तप्रसाद ११. श्री निवास

१. प्रेमघनजी के इकलौते सुपुत्र का नाम प्रभाकरेश्वर प्रसाद था।

२. वासुदेवप्रसादजी के क्रमशः दो सुपुत्र थे—ओंकारेश्वर तथा कृष्णदेव।



१०. दुष्यन्तप्रसाद

अभयप्रसाद लक्ष्मीकान्त माधवप्रसाद गोविंदप्रसाद दिवाकर

(प्रबंधक-वैदिक आदर्श संस्था)

११. श्री निवास

प्रद्युम्न गंगाप्रसाद

चन्द्रकेतु

उमाशंकर प्रेमशंकर ज्ञानशंकर

अंशुमान

रत्नेश योगेश लोकेश शैलेश देवेश

(उपप्रबन्धक-वैदिक आदर्श संस्था)

माधवप्रसाद

अखिलेश अविनाश अनूप

नीलमणि आस्था

गोविन्दप्रसाद

अजय अनिल

दिवाकर

दीपक पंकज

प्रद्युम्न

मधुकर शशिकर

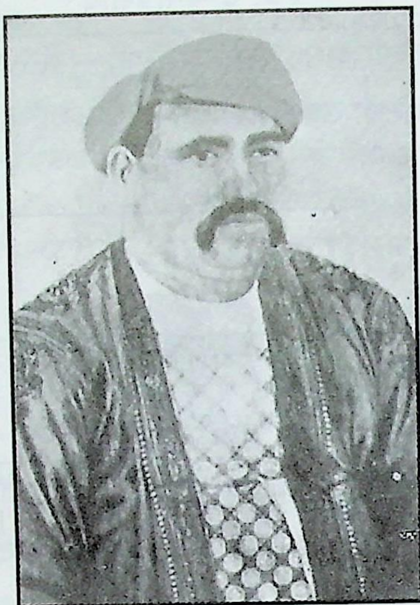
गंगाप्रसाद

सुजाता

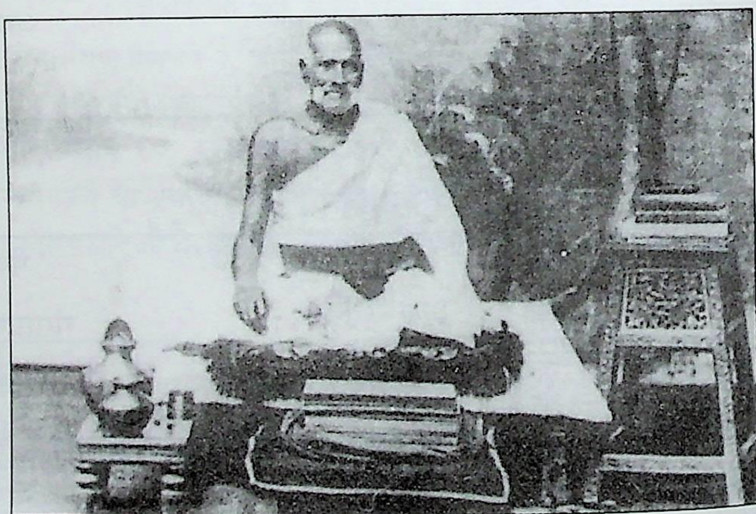
सन्दर्भ—१. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र, बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय।

२. प्रेमघन की वंश परम्परा, लेखक-श्री राजीव रञ्जन उपाध्याय। प्रथम संस्करण-२००१/ पृष्ठ संख्या-२३८/मूल्य-२००.००।





श्री गुरुचरणलाल : युवावस्था



श्री गुरुचरणलाल : वृद्धावस्था (१८३९-१९२७)

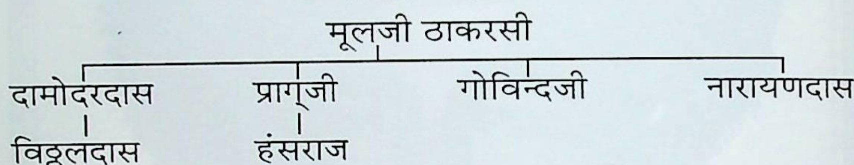


महात्मा फुले

श्री मूलजी ठाकरसी

वर्णानुक्रम से तैयार की गई मुम्बई आर्यसमाज की प्रारम्भिक सदस्य-सूची में २८वें क्रमांक पर नारायण ठाकरसी और ६०वें क्रमांक पर मूलजी ठाकरसी का समावेश है। नारायणजी ठाकरसी को मुम्बई आर्यसमाज का सर्वप्रथम उपप्रधान होने का श्रेय प्राप्त है। मूलजी ठाकरसी के आप चौथे सुपुत्र थे। थियोसोफिकल सोसाइटी के कर्नल अल्कॉट को स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज का परिचय मूलजी ठाकरसी ने ही दिया था। मूलजी की कर्नल से प्रथम भेंट सन् १८७० में हुई थी। ठाकरसीजी की वंशावली इस प्रकार है—

ठाकरसी वंशावली



मूलजी ठाकरसी के पौत्र विठ्ठलदास ने अपनी माता नाथीबाई दामोदर ठाकरसी की स्मृति में कर्वे कन्या विद्यालय को पन्द्रह लाख रुपये दिए थे। कालान्तर में जब इस विद्यालय ने व्यापक विश्वविद्यालय का रूप धारण किया, तब इस मुम्बई स्थित महिला विश्वविद्यालय का नाम—'श्रीमती नाथीबाई दामोदर ठाकरसी विश्वविद्यालय'— (एस० एन० डी० टी० यूनिवर्सिटी) रखा गया (सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव-अर्वाचीन चरित्र कोश-पृष्ठ-३३३)। लगभग एक दशक तक डॉ० बाबासाहब भीमराव अम्बेडकर का निवासस्थान मुम्बई स्थित मूलजी ठाकरसी हॉल ही रहा।

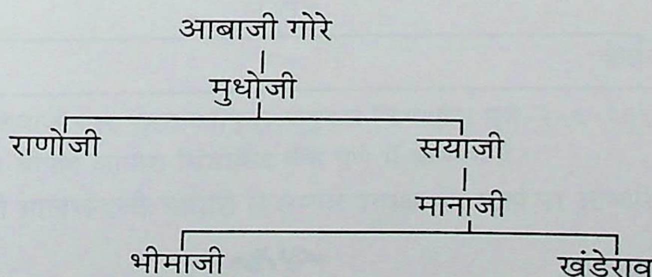
आर्यसमाज मुम्बई की सर्वप्रथम कार्यकारिणी में अन्तरंग सदस्यों के रूप में पहला नाम मूलजी ठाकरसी का है और दूसरा छबीलदास लल्लूभाई है। सेठ छबीलदास महर्षि दयानन्द की आज्ञा के अनुसार मूलजी ठाकरसी के पिताजी को सात रुपये प्रतिमास भोजन के लिए देते थे। (सन्दर्भ—मुम्बई आर्यसमाज के सर्वप्रथम कोषाध्यक्ष और तत्पश्चात् मन्त्री रहे सेवकलाल कृष्णदास द्वारा २० जनवरी १८८३ को दयानन्द सरस्वती को लिखे पत्र पर आधारित)। नासिक (महाराष्ट्र) में 'हंसराज प्रागजी ठाकरसी' के नामक सुप्रसिद्ध यशस्वी लोकप्रिय महाविद्यालय भी है।

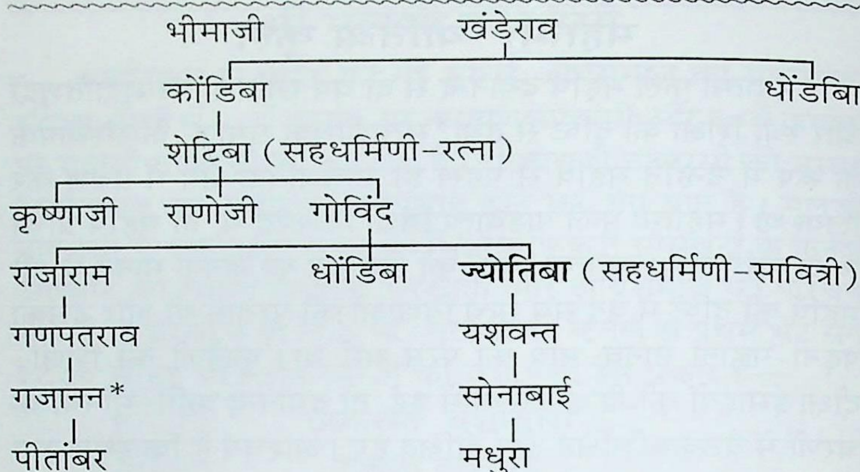


महात्मा ज्योतिबा फुले

महात्मा फुले महर्षि दयानन्द से दो वर्ष छोटे थे, पर शूद्रातिशूद्रों और स्त्री शिक्षा की दृष्टि से तथा 'सत्यशोधक समाज' के संस्थापक के रूप में उन्होंने महर्षि से पहले ही सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश कर लिया था। महात्मा फुले पाश्चात्य विद्या विशारद थे, तो महर्षि प्राच्य विद्या पारंगत थे। महात्मा 'वेद' को भेदभाव का जनक मानते थे, तो महर्षि की दृष्टि में वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक थी और उसका पढ़ना-पढ़ाना मानव-मात्र का परम धर्म था। फुलेजी की शिक्षा-दीक्षा ईसाइयों की शिक्षा संस्था में हुई, तो दयानन्द ऋषि-मुनियों के चरणों में बैठकर शिक्षित और दीक्षित हुए। आश्चर्य है कि स्थूल रूप में विरोधी दिखनेवाले ये महापुरुष पुणे में सन् १८७५ में एक दूसरे का सहयोग करते हैं। महर्षि ने सत्यशोधक-समाज (१८७३) के कार्यालय को भेंट दी है, तो महात्मा महर्षि का व्याख्यान सुनने पुणे के भिडेवाड़े में जाते दिखाई देते हैं। महात्मा फुलेजी के मोमिनपुरा स्थित शूद्रातिशूद्रों के स्कूल में महर्षि का वेदोपदेश भी होता है। मुठा नदी के किनारे भांबुर्ड्या गाँव में महर्षि का व्याख्यान करवानेवाले कृष्णराव पांडुरंग भालेकर और पुणे के छावनी विभाग में महर्षि के ३५ व्याख्यानों का आयोजन करनेवाले श्री गंगाराम भाऊ म्हस्के महात्मा फुलेजी के अनन्य सहयोगी थे। न्यायमूर्ति रानडे द्वारा आयोजित महर्षि की शोभायात्रा में जब उपद्रव होने का संकेत मिला तो महात्मा फुले अपने अखाड़ों के पहलवानों और अनुयायियों के साथ केवल शोभा की दृष्टि से नहीं, अपितु सुरक्षा की दृष्टि से भी पधारे थे। प्रस्तुत है महात्मा फुलेजी की वंशावली—

फुले वंशावली





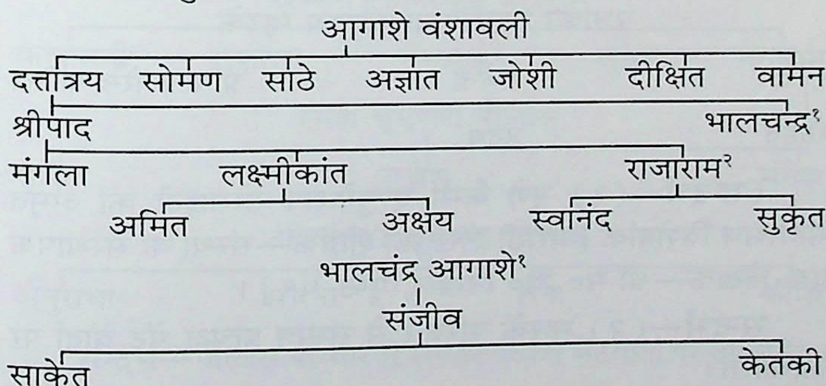
* राष्ट्र सेवा दल के सक्रिय कार्यकर्त्ता एवं मराठी चरित्र अभिनेता दिवंगत नीळू फुले गजानन फुले के ही वंशज थे।

सन्दर्भ—लोकमत : मराठी दैनिक : रविवार २५ नवम्बर १९९०, पृष्ठ तीन।



श्री गणेश जनार्दन आगाशे

श्री गणेश जनार्दन आगाशे ने सन् १९०४ में अपने संस्मरण आपबीती जगबीती सुनाते हुए महर्षि दयानन्दजी के पुणे जुलूस विषयक एक तथ्य का रहस्योद्घाटन करते हुए पुणे में कहा था कि—'जुलूस निकलने से एक दिन पहले न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे ने मुझसे कहा था—समाज-सुधार की ध्वजा के पीछे चलने के लिए कितने बहादुर पुणे में कटिबद्ध हैं, इस जुलूस के माध्यम से वे सब पूरी कसौटी पर कसे जायेंगे। यदि सुधार पक्ष इस कसौटी में उत्तीर्ण हुआ तो प्रतिगामी समाज की शक्ति-सामर्थ्य का भी अन्दाज आ जायेगा। वस्तुत: आज तक कोई भी सुधार छल-प्रपंच की भट्टी से निकले बिना यशस्वी नहीं हुआ है। छल-प्रपंच व अपमान सहन करने का समय भी आये तो सुधारकों को तैयार रहना चाहिए। जुलूस पर पत्थरों या गंदी नाली का पानी भी फेंका जाए, तो भी किसी प्रकार का ननु-नच न करते हुए वह सब चुपचाप सहन करने की मेरी तैयारी है। आप सबसे मेरी यही प्रार्थना है कि—आप सभी मेरी तरह ही आचरण करें।' श्री महादेव मोरेश्वर कुंटे के अतिरिक्त श्री गणेश जनार्दन आगाशे (१८५२-१९१९) भी महर्षि दयानन्द सरस्वती के पुणे प्रवचन लिपिबद्ध कर्त्ताओं में शामिल थे। तत्काल एक दिन बाद इन प्रवचनों को मराठी में अनूदित कर प्रकाशित रूप में वे अपने मित्रों में बाँट देते थे। आपने ही इन पुणे-प्रवचनों की मराठी प्रति महर्षि की जीवनी लेखक-बंगाली बाबू श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को सौंपी थी। प्रस्तुत है आगाशेजी की यथोपलब्ध वंशावली—



१. ८९७-शिवाजीनगर पोस्ट ऑफिस-डेक्कन जिमखाना पुणे-२५६५२६९६

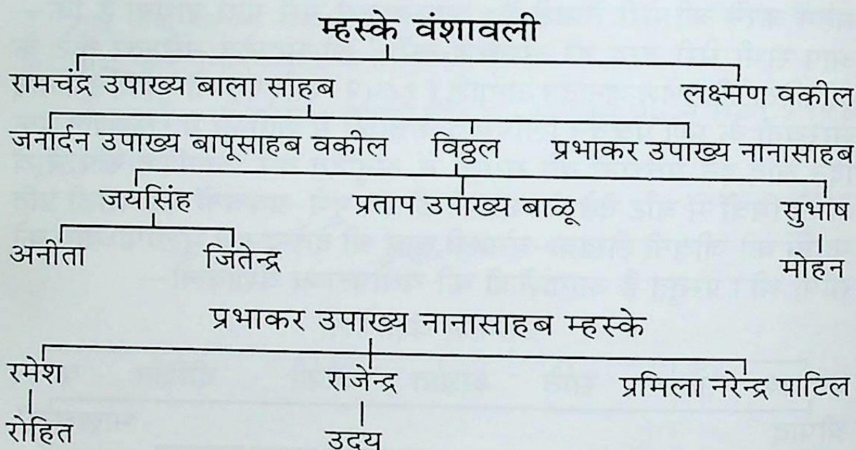
२. राजाराम श्रीपाद आगाशे सिंडीकेट बैंक पुणे में कार्यरत हैं।

सन्दर्भ—श्री भालचन्द्रजी आगाशे से सम्पन्न प्रत्यक्ष भेंट वार्ता पर आधारित।



श्री गंगाराम भाऊ म्हस्के वकील

श्री गंगाराम भाऊ म्हस्केजी ने छावनी के पुणे विभाग में ३५ व्याख्यानों का आयोजन किया था। आपके घर के विशाल हॉल में महर्षि दयानन्दजी सरस्वती ने छावनी विभाग का अन्तिम प्रवचन दिया था। आपके घर के सामने से ही शोभा-यात्रा का शुभारम्भ हुआ था। शोभा-यात्रा में रूढ़िवादियों की संकीर्णता के कारण जो दंगा हुआ। तत्सम्बन्धी न्यायालयीन अभियोग में सुधारक (महर्षि) पक्ष की ओर से आप एक वकील थे। श्री म्हस्के के अतिरिक्त राजन्ना लिंगू वकील को इस दिशा में कार्य करने की प्रेरणा न्यायमूर्ति रानडेजी ने दी थी। उस समय इन दोनों ने प्रशंसनीय कार्य किया था। प्रस्तुत है माननीय म्हस्केजी की वंशविवरण—



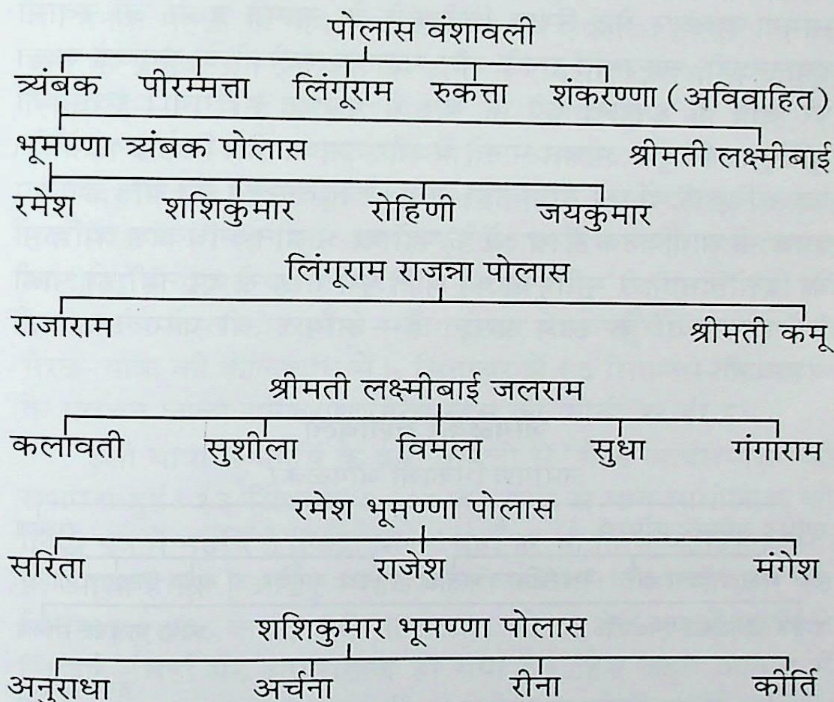
(**सन्दर्भ**—(१) पुणे कैम्प एज्युकेशन सोसाइटी का अमृत महोत्सव विशेषांक [मराठी लेख का शीर्षक—संस्था के संस्थापक द्वय-लेखक—श्री म० वि० निखळ, पृष्ठ-५९]।

सन्दर्भ—(२) म्हस्के परिवार से सम्पन्न प्रत्यक्ष भेंट वार्ता पर आधारित।



श्री राजन्ना लिंगू पोलास

श्री गंगाराम भाऊ म्हस्के वकील और राजन्ना लिंगू पोलास वकील दोनों भी पुणे छावनी में रहते थे, और दोनों के घर भी एक दूसरे से काफी दूर न थे। ५ सितम्बर १८७५ के दिन महर्षि दयानन्द की शोभा-यात्रा के दौरान सुधारक दल और पौराणिक दल के अनुयायियों के आमने-सामने आने पर जो उपद्रव और दंगा हुआ। तत्सम्बन्धी अभियोग में सुधारक दल की ओर से श्री म्हस्के के अतिरिक्त आप भी एक वकील थे। श्री पोलास मूलतः तेलुगु भाषी थे। आपकी यथोपलब्ध वंशावली निम्न प्रकार है—



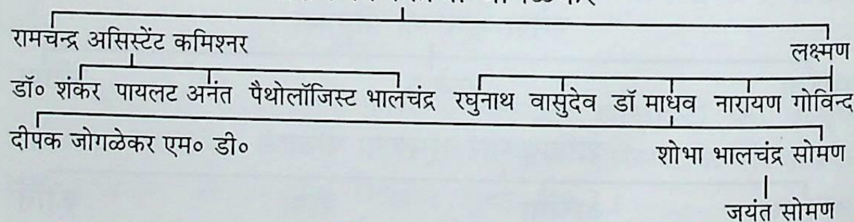
सन्दर्भ—पोलास परिवार से सम्पन्न प्रत्यक्ष भेंटवार्ता पर आधारित।



श्री नारायण भिकाजी जोगळेकर

संसार में प्रगतिशील और रूढ़िवादी सदा से रहते आये हैं। ये व्यक्ति तत्कालीन प्रवृत्ति के प्रतिनिधि होते हैं। अत: व्यक्ति विशेष या वंश विशेष से किसी प्रकार का द्वेष भाव रखने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। न्यायमूर्ति रानडे ने जब ५ सितम्बर १८७५ को स्वामीजी की शोभा-यात्रा निकालने का निश्चय किया तो प्रतिगामी व्यक्तियों ने महर्षि का अपमान और उपहास करने के लिए पुणे के काले हौज के पास स्थित जोगलेकरजी के घर से प्रतीकात्मक रूप में 'गर्दभानन्द स्वामी' का प्रति जुलूस निकाला। इन दोनों जुलूसों का आमना-सामना बुधवार पेठ स्थित भिड़ेवाड़े के सामने हुआ जो स्वामी दयानन्दजी, न्यायमूर्ति रानडे और महात्मा फुलेजी के प्रवचन स्थल पर जाने के उपरान्त दंगे के रूप में परिणत हो गया। स्वामीजी मूर्तिपूजा को दुष्ट आचार मानते थे और उसका तीव्र विरोध करते थे। यह रूढ़िवादियों को ठीक नहीं लगा। रूढ़िवादियों की बात छोड़िए आज भी सार्वजिनक संस्थाओं के पदों पर आसीन अधिकांश व्यक्तियों के दिलोदिमाग से मूर्तिपूजा की वृत्ति पूरी तरह से दूर नहीं हो पायी है। इन शब्दों के साथ प्रस्तुत है—आयुक्त श्री जोगलेकर की वंशावली—

जोगळेकर वंशावली



सन्दर्भ—श्री जोगळेकर परिवार से सम्पन्न प्रत्यक्ष भेंटवार्ता पर आधारित।



लाला रामशरणदास रईस

महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनन्य भक्त लाला रामशरणदास रईस मेरठ के निवासी थे। सन् १८६६ से १८८० तक की कालावधि में महर्षि का सात बार मेरठ पधारना इस तथ्य का द्योतक है कि अपने सर्वहितकारी कार्यों को लक्ष्य तक पहुँचाने की दृष्टि से उन्हें मेरठवालों से सदैव ही विशेष आशा रही। मेरठवासियों में ही नहीं अपितु समस्त आर्यवर्त्तवासियों में लाला रामशरणदास महर्षि के विशेष विश्वासपात्र थे। महर्षि ने उन्हें 'परोपकारिणी सभा' का सर्वप्रथम मन्त्री बनाया था। वे महर्षि के अत्यन्त श्रद्धालु परम भक्त तथा विश्वस्त थे। उनके महर्षि के नाम भेजे जो तीन पत्र उपलब्ध होते हैं, वे इस बात के प्रतीक हैं। इन पत्रों के अन्त में रामशरणदासजी ने क्रमशः लिखा है—१. मैं हूँ आपका सेवक और आर्यसमाज का मन्त्री, २. आपका दास—समाज का उपमन्त्री, ३. आपका चरण सेवक।

महर्षि जब चौथी बार मेरठ पधारे तो २६ अगस्त से ३ अक्तूबर तक मेरठ में ही रहे। २५ अगस्त १८७८ के दिन लाला मूलराज को अलीगढ़ से प्रेषित पत्र में महर्षि ने लिखा था—'विदित हो कि हम कल २६ अगस्त को यहाँ से सवार होकर मेरठ पहुँचेंगे।' इस चौथी मेरठ-यात्रा की कालावधि में ५ सितम्बर से १३ सितम्बर तक महर्षि के प्रवचन लाला रामशरणदासजी रईस की कोठी पर ही हुए।

इसी यात्रा में महर्षि के कर-कमलों से 'मेरठ आर्यसमाज' की स्थापना हुई। १३ सितम्बर १८७८ को मेरठ से बाबू माधोलाल को लिखे पत्र में महर्षि ने लिखा था—'यहाँ पर भी नित्य व्याख्यान होता है, आशा है कि [आर्य] समाज भी हो जावेगा।' फिर सोमवार २३ सितम्बर १८७८ के दिन श्री माधोलाल को ही भेजे पत्र में महर्षि ने लिखा—'यहाँ पर आर्यसमाज हो गया है।...हम बहुत आनन्द में हैं।' आर्यसमाज की स्थापना श्री रामशरणदास कोठी पर ही हुई थी।

इससे यह स्पष्ट होता है कि रविवार २२ सितम्बर १८७८ को या १४ सितम्बर से २३ सितम्बर १८७८ तक मेरठ आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में महर्षि का आप्त प्रमाण होते हुए भी ऐतिहासिक तथ्यों के विरूद्ध अनैतिहासिक ढ़ंग से ६ दिन बाद २९ सितम्बर १८७८ को 'मेरठ आर्यसमाज स्थापना दिवस' मनाने की जो रूढ़ि चल पड़ी है, वह सर्वथैव परित्याज्य है। प्रायः जब

कहीं, जहाँ कहीं आर्यसमाज की स्थापना होती थी, तो दयानन्दजी का प्राय: अत्यानन्द की स्थिति में पहुँच जाना स्वाभाविक था। मुम्बई में आर्यसमाज की स्थापना होने पर भी महर्षि ने लिखा था—'मुम्बई में चैत्र शुद्ध ५ शनिवार के दिन सन्ध्या के साढ़े पाँच-बजे आर्यसमाज का आनन्दपूर्वक आरम्भ हुआ। ईश्वरानुग्रह से बहुत अच्छा हुआ।'

महर्षि जब सातवीं बार मेरठ पधारे तो मेरठ छावनी में स्थित लाला रामशरणदास की कोठी पर ही ठहरे थे। मेरठ से ८ जुलाई १८८० को लिखित पत्र में महर्षि ने लिखा था—'हम आज मेरठ पहुँचे। लाल कुर्त्ती बाजार में रामशरणदास के बंगले में ठहरे हैं, और यहाँ महीनाभर ठहरने का विचार भी है। जो कुछ चिट्ठी-पत्रादि भेजो मेरठ में इसी पते पर भेजना।' मेरठ आर्यसमाज के प्रारम्भिक सत्संग शहर के मध्य भाग में स्थित लाला रामशरणदास के भवन में लगते थे। रईस रामशरणजी की मेरठ शहर के अतिरिक्त छावनी में भी भव्य हवेली थी। ऋषि दयानन्द के पत्रों के अन्वेषक खतौली (मुजफ्फरनगर) के श्रद्धेय मामराजसिंह ने इन हवेलियों में जाकर उनके वंशजों सर्वश्री लाला धनपतराय, पुरुषोत्तम प्रसाद और परमात्माशरण आदि से सन् १९२६ से १९४६ के बीच ऋषि से सम्बन्धित अनेक पत्रों के अतिरिक्त महर्षि के चित्र भी प्राप्त किए थे। उनमें महर्षि के उन चित्रों का भी समावेश था जो मेरठ में ही निकाले गए थे।

स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा लाला रामशरणदास रईस को लिखे दस पत्र उपलब्ध हैं। महर्षि और लालाजी के आपसी विश्वसनीय सम्बन्धों को स्पष्ट करने के लिए इनमें से कुछेक पत्रों के अंश यहाँ प्रस्तुत हैं—

'आर्यसमाज के छापेखाने के लिए हरेक का हिस्सा मुब्लिग सौ रुपया मुकरिर हुआ। लिहाजा हमारे भी उसमें दो सौ रुपए के दो हिस्से शामिल कर लेवें। और जब आप चाहें रुपया मजकूर हमसे ले लेवें।' (पत्र-पूर्ण संख्या-२८४)।

'वैदिक यन्त्रालय काशी के कार्य के लिए किसी पुरुष को भेजो, जो तीन भाषाओं में यथायोग्य काम करे और हमेशा छापाखाने में रहे।' (पत्र-पूर्ण संख्या-४७६)।

'मुन्शी इन्द्रमणि के मामले के खर्च में तुमको अखतयार है। जो

मुनासिब समझो सो दो। अपील जरूर हाईकोर्ट में जाए और पाँच जजों के बीच यह मामला हो। इसके खर्च के लिए जहाँ तुम योग्यता जानो लिखो। मेरठ समाज में पहले ही बहुत खर्च हो चुका है। इसलिए तुम वहाँ चन्दा न करना।' (पत्र-पूर्ण संख्या-४८४)।

लाला रामशरणदास रईस ने महर्षि द्वारा इन्द्रमणि के विषय में भेजे पत्र की 'इन्द्रवज्र' से तुलना की है (द्रष्टव्य—पूर्ण संख्या-३८१)।

'वाजेह [विदित] हो कि कल यहाँ [आगरा] से रवाना होकर भरतपुर पहुँचेंगे। हमने आर्यसमाज के नियम यहाँ छपवाए थे। वे ज्यादा नहीं। लिहाजा थोड़े आपके पास रवाना होते हैं। रसीद भरतपुर में हमारे पास रवाना कर देना।' (पत्र-पूर्ण संख्या-५६२)।

'अब छापाखाना प्रयाग में आ गया। सब काम दुरुस्ती से चलने लगा। यहाँ (जयपुर) से हम अजमेर जावेंगे। जयपुर के लोगों के भाग्य मंद हैं। कुछ भी धर्म की उन्नति कहने-सुनने को उद्यत नहीं होते।' (पत्र-पूर्ण संख्या-५७१)।

महर्षि अपवाद रूप में एक दो स्थल पर रईस रामशरणदास को दान के पैसे यथासमय जमा न करने और अध्ययन में प्रमाद करने पर लताड़ते हुए भी दिखलाई देते हैं। जैसे—'दो सौ पचास रुपए लाला वल्लभदास गोरखपुर ने भेजे थे। आपने जमा क्यों नहीं किये?' (पूर्ण संख्या-५३८)। 'अब आप लोग पढ़ने-पढ़ाने का आरम्भ क्यों नहीं करते?' (पूर्ण संख्या-५७१)।

लाला रामशरणदासजी नागरी लिपि से अपरिचित थे। अतः महर्षि उन्हें नागरी लिपि सीखने हेतु अपने पत्र में सीख दी थी। दक्षिण भारत की तुलना में उत्तर भारत पर मुगलों का प्रदीर्घकाल तक आधिपत्य रहा। प्रशासकीय क्षेत्र में फारसी, अरबी, उर्दू का दबदबा था। सन् १९६५-६६ के गोरक्षा आन्दोलन काल में हमने दिल्ली की तिहाड़ जेल और पंजाब की फिरोजपुर जेल में इस बात को गहराई से अनुभव किया कि हमारी बुजुर्ग पीढ़ी पंजाबी और हिन्दी समाचार पत्रों की अपेक्षा उर्दू अखबारों को बड़े चाव और प्रधानता के साथ पढ़ रही है। लाला रामशरणदास का जमाना तो इससे भी लगभग एक सदी पुराना था। अतः उनको नागरी लिपि पढ़ने का अभ्यास नहीं था, तो इसमें आश्चर्य की ऐसी कोई बात नहीं थी। मसूदा

(जिला-अजमेर) से १९ जुलाई १८८१ को मेरठ के ही बाबू छेदीलाल को लिखे पत्र में महर्षि ने लिखा है—'जो [वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धक] बख्तावरसिंह के कर्म देखे जाएँ तो, जितना उस पर दण्ड करें, उतना ही थोड़ा है। आप लोग वहाँ जाँच कर लीजिए। इससे उसकी बहुत-सी चोरियाँ पकड़ी जायेंगी। ये कागजात आपके पास इसलिए भेजे हैं कि लाला रामशरणदासजी नागरी नहीं पढ़े हैं। इनको आप देख के उनको समझा दीजिए।'

महर्षि आर्थिक क्षेत्र में किसी प्रकार का विलम्ब या प्रमाद ठीक नहीं समझते थे। इसलिए उन्होंने लाला रामशरणदासजी से ढाई सौ रुपए जमा न होने का कारण पूछा है। इसका मतलब यह नहीं कि वे उन पर अविश्वास करते थे। वस्तुतः वे उन पर जितना विश्वास करते थे, शायद ही उतना अन्य किसी पर करते हों। स्पष्टीकरण हेतु महर्षि के पत्रों के ही कतिपय अंश यहाँ प्रस्तुत है—

८ सितम्बर १८८० को बाबू दुर्गाप्रसाद को प्रेषित पत्र में महर्षि ने लिखा है—'जो आपने मुन्शी इन्द्रमणिजी के विषय में एक सौ रुपए इकट्ठे किए हैं वे मेरठ आर्यसमाज के उपप्रधान लाला रामशरणदासजी के पास भेज दीजिए। उन्हीं के नाम से। क्योंकि सब जगह का यहीं जमा होता है और यहीं से खर्च होता है।' (पूर्ण संख्या-४५८)।

१५ सितम्बर १८८० को मुन्शी बख्तावरसिंह को लिखे पत्र में महर्षि ने बड़ी स्पष्टता के साथ यह लिखते हैं कि—'यन्त्रालय [मुद्रणालय] की आमदनी और बिक्री जितनी हो तिलभर का हिसाब साफ लिखकर भेजा करो और अगले महिने से हिसाब हमारे पास मत भेजा करो। किन्तु परोपकारिणी सभा के मन्त्री जो लाला रामशरणदास हैं, उन्हीं के पास एक नक्शे में सब हिसाब यथावत् लिखकर भेजा करो।' (पूर्ण संख्या-५५१)

९ फरवरी १८८१ को सेठ कालीचरण रामचरण को प्रेषित पत्र में महर्षि ने वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धक मुन्शी बख्तावरसिंह के गबन के सम्बन्ध में चर्चा करने के उपरान्त यह लिखा है कि—लाला रामशरणदास मेरठवाले मेरे पंच रहेंगे। जो वह यहाँ आ गया और पंचायत करके हिसाब का फैसला कर दिया तो अच्छा है, नहीं तो यह मामला अदालत में अवश्य जायेगा। आप फिर हमको कोई दोष

न देना। क्योंकि हमने केवल परमार्थ और स्वदेशोन्नति के कारण अपने समाधि और ब्रह्मानन्द को छोड़कर यह कार्य ग्रहण किया है। जो यह केवल हमारा ही धन होता तो कुछ परवाह न थी। परन्तु यह सब संसार का धन है। फिर भी चोरी से लेना, सो यह कैसे पच सकता है। आप भी इसका उत्तर शीघ्र लिख भेजिए। (पूर्ण संख्या-५९१)

केवल आर्थिक ही नहीं, महर्षि की सर्वविध गतिविधियों में लाला रामशरणदास का उल्लेखनीय एवं अविस्मरणीय सहयोग था। 'शास्त्रार्थ का नियम' बनवाने और उसकी व्यवस्था करने में वे महर्षि के प्रतिनिधि रहे। मेरठ शहर के वेदभाष्य के ग्राहकों का शुल्क लेने का अधिकार भी महर्षि ने उन्हें प्रदान किया था। परोपकारिणी सभा की प्रथम रजिस्ट्री के समय १८ विश्वस्तों में उनका क्रमांक नौवाँ था। द्वितीय रजिस्ट्री में परोपकारिणी सभा के जब पहली बार पदाधिकारी बनाये गए तो महर्षि ने उन्हें परोपकारिणी सभा का सर्वप्रथम मन्त्री होने का श्रेय प्रदान किया था। १५ सितम्बर १८८० को महर्षि ने मुन्शी बख्तावरसिंह को इस बात की सूचना दी थी कि—लाला रामशरणदास के वेदभाष्य मासिक के चार वर्ष के कुल बीस रुपये जमा हो गए हैं। १२ मार्च सन् १८८२ को मुम्बई से मन्त्री आर्यसमाज दानापुर को संप्रेषित पत्र में महर्षि ने यह लिखा था कि—'गोरक्षा के विषय में अधिक [हस्ताक्षर पत्रों की] प्रति भेजने का प्रयोजन यह है कि—'जहाँ-जहाँ आप उचित समझें वहाँ-वहाँ भेजकर सही करा लीजिए। पुनः निम्नलिखित स्थान में रजिस्ट्री करा के भेज दीजिए—'लाला रामशरणदास रईस मन्त्री, आर्यसमाज मेरठ, [मोहल्ला कानूनगोयान]।'

लाला रामशरणदासजी ने मेरठ आर्यसमाज के मन्त्री होने के नाते अपने पत्र द्वारा महर्षि से यह जानना चाहा था कि—''कर्नल अल्काट ने मेरठ में थियोसॉफिकल सोसाइटी की शाखा स्थापित की है। अब सम्भव है कोई मेम्बर आर्यसमाज का थियोसॉफिकल सोसाइटी में जाना चाहे या थियोसॉफिकल सोसाइटी का सदस्य आर्यसमाज में प्रविष्ट होना चाहे तो ऐसी अवस्था में क्या किया जावे? अगर नहीं तो क्यों? आप इसका उत्तर लिखते समय इस बात का भी ध्यान रखें कि—इन दोनों सोसाइटियों के नियमों में यह बात है कि—'एक का

मेम्बर दूसरी जगह शामिल न हो।' (पूर्ण संख्या-२९८) इस शंका का समाधान करते हुए महर्षि ने लिखा है—'जो आपने थियोसॉफिस्ट... भेजा, सो देखा। क्या किया जाय ? जिनके लिए उपकार करते हैं, वे ही उलटे विरोध करते जाते हैं। अच्छा जो दुष्ट दुष्टता को नहीं छोड़ते तो श्रेष्ठ श्रेष्ठता को क्यों छोड़ें ?' (पूर्ण संख्या-५८४) 'थियोसोफिस्टों की गोलमाल पोलपाल' पत्र छपवाने के विषय में जो लाला रामशरणदास ने लिखा है, वह ठीक है।'' (पृष्ठ ६६१)

आर्यसमाज लाहौर के मन्त्री जवाहरसिंह ने श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य दयानन्द सरस्वती महाराज को ११ मई १८८३ को जो पत्र भेजा था उसमें लाला रामशरणदासजी की असाध्य बीमारी की चर्चा करते हुए लिखा है—'मेरठ आर्यसमाज के प्रधान लाला रामशरणदास इतने बीमार हैं कि जान का रहना भी दुर्घट प्रतीत होता है। तार पर तार चली आती है और चली जाती है। इससे बहुत शोक हो रहा है। **ऐसा 'भद्र पुरुष' 'आर्य' 'सर्वगुणयुक्त' बहुत ही कठिनता से मिलेगा।** ईश्वर उनको बचावे।' मेरठ से आर्यसमाज के मन्त्री श्री आनन्दीलालजी यहाँ डॉक्टरों के बुलाने हेतु आये थे, पर पीछे से तार आ गई कि—'डॉक्टरों को न लाओ। वापिस चले आओ।' इससे और भी दुःखी हो रहे हैं। इन दिनों महर्षि शाहपुरा में थे। लगता है—इस बीमारी से तो रामशरणदासजी ठीक हो गए, क्योंकि २५ सितम्बर १८८३ को उनका स्वामी दयानन्दजी के नाम लिखा जो अन्तिम पत्र मिलता है वह इस प्रकार है—

श्रीमत् स्वामी दयानन्द सरस्वती समीपेषु

महाशय नमस्ते !

भाई जवाहरसिंह प्राइवेट सेक्रेटरी-महाराज शाहपुर के लिखने से विदित हुआ कि आप मसूदा होते हुए कलकत्ते की नुमाइश में जायेंगे। इस समाज का उत्सव ७ अक्तूबर १८८३ ईस्वी का है, जिसके लिए आपकी सेवा में निवेदन पत्र भी भेजा है—जहाँ तक संभव हो मेरठ होते हुए जाएँ। क्योंकि आपको इधर आये हुए दो वर्ष से अधिक हुआ। सभ्यगण आपके दर्शनाभिलाषी हैं।

आप कलकत्ता अवश्य जायें, वहाँ जाने से समाज स्थित होगा और लोगों का बड़ा उपकार होगा। चिरकाल से वहाँ के लोग आपके [दर्शन-श्रवण] के लिए उत्कंठित हो रहें हैं। यहाँ के बहुत से

सभासद् और मुंशी लक्ष्मणस्वरूप वकील—प्रधान समाज और मैं [तथा अन्य] कई लोग भी आना चाहते हैं। परन्तु जब तक कोई स्थान पहले से निश्चित न हो तो जाना कठिन पड़ जाता है। यदि आपने स्थानादि का प्रबंध किया हो तो, सूचित कीजिए। जो हम लोग और अन्य सभासद् आने का प्रबंध करें।

फर्रूखाबाद में जो लाला जगन्नाथदास और बाबू दुर्गाप्रसाद में कुछ परस्पर विरोध हो गया है। उसकी निवृत्ति के लिए एक पत्र अवश्य भेजिए। नहीं तो समाज की हानि होगी।

आप मसूदा कब तक जायेंगे। इससे भी सूचित कीजिए।

—आपका चरण सेवक—रामशरणदास

लाला रामशरणदासजी ने रोमन लिपि में जो लैटर पैड बनवाया था—उस पर लिखा था— ॥ ओ३म् तत्सत् ॥ आर्यसमाज मेरठ ॥ इस्टेबलिश्ड इन १८७८, ए० डी० बाय द वेनरेबल पण्डित दयानन्द सरस्वती स्वामी, वैदिक रिफॉर्मर ऑफ इंडिया, इन द पार्लर ऑफ लाला रामशरणदास, लैंड होल्डर एंड रेसिडेंट ऑफ मेरठ, कानून-गोयान लेन सिटी, नं०-440, २१ जनवरी सन् १८८३ (पूर्ण संख्या-३८१)।

लैटर पैड से ऊपर उद्धृत किया लाला रामशरणदासजी का पत्र २५ सितम्बर १८८३ का है। इस समय महर्षि जोधपुर में थे। २५ सितम्बर से ही जोधपुर में महर्षि विरोधी षडयन्त्रकारियों के कुचक्र शुरु हो गए थे। २५ सितम्बर को ही शाहपुरवासी महर्षि का सेवक कल्लू कहार सात सौ रुपयों की सामग्री चुराकर लापता हो गया। २७, २८ को जुखाम होने के कारण वे अस्वस्थ रहे। २९ सितम्बर की रात शाहपुर निवासी धौड मिश्र द्वारा दिये दूध को पी लेने के बाद ३० सितम्बर की प्रातः तक महर्षि को विष दिए जाने का सन्देह हुआ। सन् १८८३ का इसके बाद का काल जहाँ महर्षि की इहलीला की इतिश्री करने का कारण बना, वहाँ वह महर्षि भक्त लाला रामशरणजी रईस का भी किसी व्याधि विशेष के कारण प्राण हरण करनेवाला सिद्ध हुआ। लालाजी के निधन की तिथि डॉ० भवानीलालजी भारतीय ने १० जून १८८३ लिखी है, वह तो निश्चित रूप से गलत है, क्योंकि लालाजी का अंतिम २५ सितम्बर १८८३ को लिखा पत्र उपलब्ध है। प्रस्तुत है महर्षि के परम भक्त एवं

विश्वस्त लालाजी का वंशवृक्ष—

रईस वंशावली*

लाला घासीराम
|
नित्यानन्द

दयानतराय — कृपाराम — हीरानन्द

रामलाल — चुन्नीमल — अलखराय — अर्जुनसिंह

मोहनलाल — लालजीराम — चरणसिंह — फिरोतीराम

बस्तीराम

नन्दराम — गुमानीलाल — शिवजीराम — लक्ष्मणसिंह — साहबसिंह

जयसीराम — जमनादास

लाला रामशरणदास (दत्तक)

धनपतराय — नारायणदास — बनारसीदास

श्यामसुंदरदास — पुरुषोत्तमप्रसाद — रमेशचन्द

शान्तकुमार — विपिन — आनन्द — विजयकुमार

अंशुल (विपिन) — रजत (आनन्द)

बनारसीदास

परमात्माशरण — जगदीश

अनिल — अरुण — अशोक

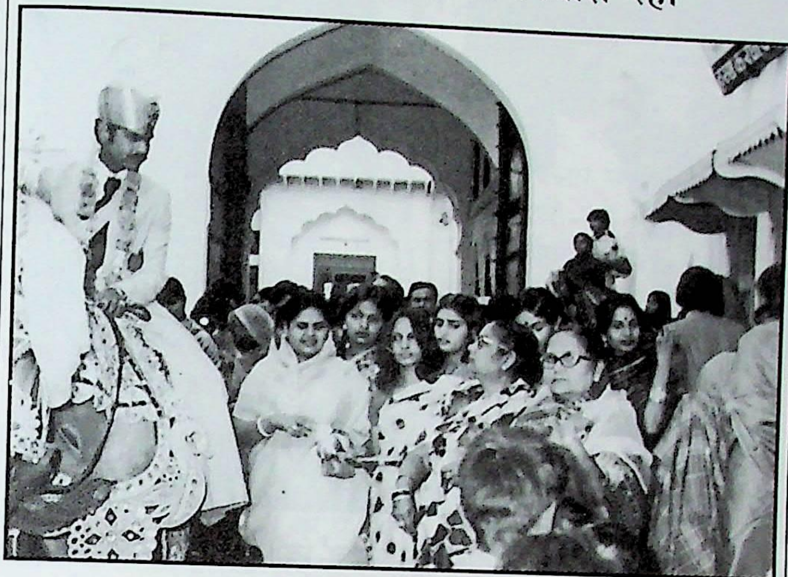
गौरव (अनिल)

---

* यह वंशावली मेरठ निवासी डॉ० वेदपालजी, श्री सत्येन्द्रसिंहजी आर्य, श्री यशपालसिंहजी आर्य एवं आर्यमुनिजी वानप्रस्थी तथा आर्यसमाज शास्त्रीनगर, आर्यसमाज सूरजकुण्ड, और आर्यसमाज थापर नगर-मेरठ के सहयोग से प्राप्त हुई। इन्हीं सबके सहयोग से श्री यशपालसिंहजी आर्य व मुझे लाला रामशरणदासजी रईस के वर्तमान वंशज लाला विपिन पुरुषोत्तमप्रसादजी का पता चला और हमारे सत्प्रयासों से प्रसन्न होकर उन्होंने हमें अपने वंशवृक्ष के साथ लाला रामशरणदास रईस कालीन अपनी हवेली का पुराना नक्शा भी सहर्ष फरवरी २००८ को प्रदान किया। लालाजी के वंशजों को 'उपदेश मंजरी' आदि आर्य साहित्य भेंट कर सम्मानित करने का श्रेय प्राप्त किया आर्यसमाज सूरजकुण्ड मेरठ ने।



मेरठ में जहाँ महर्षि का निवास रहा



लाला रामशरणदास भवन
के मुख्य प्रवेशद्वार का बाहर से लिया गया चित्र



उपरोक्त भवन के मुख्य प्रवेश द्वार का अन्दर से लिया गया चित्र



लाला रामशरणदास के प्रपौत्र विपिन अग्रवाल



अग्रवाल दंपति को आर्यसमाज सूरज कुण्ड मेरठ ने
महर्षि दयानन्द विरचित साहित्य प्रदान कर सम्मानित किया ।

बाबू रामविलास शारदा

बाबू रामविलास शारदा (१८६४-१९३१) यद्यपि रेलवे विभाग में कार्यरत थे, पर अपना अवकाशकालीन सारा समय आर्यसमाज के कार्यों में लगाते थे। महर्षि के निधन के पश्चात् आप आर्यसमाज के सदस्य बने। आर्यसमाज के देशव्यापी प्रचार-प्रसार में आपने ब्रह्मचारी स्वामी नित्यानन्दजी तथा महात्मा मुन्शीरामजी को विशेष सहयोग दिया। लोकैषणा से दूर रहकर मौन रूप से सार्वजनिक और साहित्यिक कार्य करनेवाले आप विलक्षण पुरुष थे। आपने लगभग ढाई सौ पृष्ठों का सर्वप्रथम विस्तृत-विशद महर्षि का जीवन-चरित्र 'आर्य धर्मेन्द्र जीवन' नाम से सन् १९०० से १९०३ के बीच लिखा था, जिसके अब तक पाँच संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। आप आर्य प्रतिनिधि सभा राजपूताना और मालवा के अनेक वर्षों तक मन्त्री रहे। सन् १९०६ में आप महर्षि की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा के सभासद् बने। आप प्रायः सभा द्वारा संचालित सर्वविध गतिविधियों का प्रमुख रूप से संयोजन व संचालन करते थे। अजमेर स्थित वैदिक यन्त्रालय को सुव्यवस्थित करने तथा उसे राजपूताने के सर्वश्रेष्ठ मुद्रणालय के रूप में विकसित करने का श्रेय आपको दिया जाता है। 'परोपकारिणी सभा' के व्यवसाय तथा वित्तीय सम्बन्धी समस्याओं का निराकरण भी प्रायः आप ही किया करते थे। आप उर्दू, अँग्रेजी और हिन्दी भाषा के जानकार थे। सभा के माध्यम से आपने महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों के प्रकाशन में उल्लेखनीय सहयोग दिया। शारदा एक्ट के जनक हरविलास शारदा आपके चचेरे अनुज तथा हैदराबाद सत्याग्रह के द्वितीय अधिनायक देशभक्त चांदकरण शारदा आपके द्वितीय सुपुत्र थे।

जिस समय ३० अक्तूबर १८८३ को भिनाय कोठी में महर्षि का देहावसान हुआ उस समय १९ वर्षीय रामविलास शारदा ने उस युगपुरुष के बलिदान का वह अन्तिम करुणापूर्ण दृश्य अपनी आँखों से देखा था। जब निधन से पूर्व महर्षि ने ये अंतिम वाक्य कहे—'हे दयामय! हे सर्वशक्तिमन् ईश्वर! तेरी यही इच्छा है। तेरी इच्छा पूर्ण हो। अहा!!! तैने अच्छी लीला की।' तब आप भी अन्य जनों के साथ महर्षि के सिरहाने के पीछे खड़े थे। आपके कथनानुसार—'महर्षि ने 'अहा' ऐसे कहा था जैसे कोई मनुष्य कई वर्षों से बिछुड़े हुए प्यारे मित्र को मिलने पर हर्षातिरेक में कहा करता है और उस समय की वह दशा उनकी आन्तरिक प्रसन्नता को प्रकट करती थी।'

रावसाहब रामविलास शारदा के अनुसार—"महर्षि का कद छह फीट लम्बा था। उनका शरीर सुदृढ़ एवं स्थूल था, उनके बाल मुंडे हुए होते थे। एक चादर उनके ऊपर की पोशाक थी और एक धोती नीचे का लिबास। वे एक कंबल पर बैठा करते थे। उनके शरीर का रंग गेहुआँ सफेदी लिये हुए था। उनकी आँखें न बड़ी, न छोटी, शांत और तेजस्विता से भरी हुई थीं। चेहरा गंभीर था। वे भूमि पर पद्मासन से बैठना पसंद करते थे। उनका मुख किसी कदर फैला हुआ था। आवाज सुरीली, उच्चारण स्पष्ट, वक्तव्य सरल-मधुर एवं प्रभावोत्पादक था। उनकी उपदेश शैली प्रेरक और तर्क शैली युक्तियुक्त एवं विचित्र होती थी। बुद्धि तीक्ष्ण और स्मृति बढ़ी हुई थी। गद्य-पद्य के अनेक लम्बे प्रमाण मुखाग्र होने से उनकी स्मरणशक्ति का अद्भुत परिचय मिलता था।"

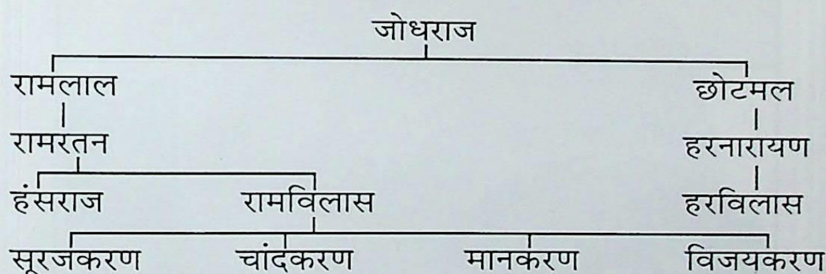
"विरोधियों के क्रोध से महर्षि का हृदय कभी विचलित नहीं होता था। अपशब्दों के बदले उन्होंने भी अपशब्द नहीं कहे। उनकी मधुरभाषिता से अभिभूत हो उनके विरोधी भी उनकी प्रशंसा के लिए विवश हो जाते थे। उनकी आकृति प्रत्येक दशा में सौम्य और गम्भीर होती थी। उनके प्रगाढ़ पाण्डित्य पर भारतवर्ष के पण्डितगण मन्त्रमुग्ध थे। उनकी प्रबल युक्तियों से ईसाई-मुसलमान धराशायी हो जाते थे। प्रत्येक विषय पर उनकी सम्मति सुनिश्चित होती थी, उनकी भाषा भावानुसारिणी और सर्वसाधारण की दृष्टि से बोधगम्य थी। उनकी कथनशैली मनमोहक और आश्चर्योत्पादक थी। उनके व्याख्यानों में श्रोताओं को लोटपोट करनेवाला हास्य रस का पुट होता था, परन्तु ऐसी स्थिति में भी उनके चेहरे पर किसी प्रकार का अभिमान प्रकट नहीं होता था। उनकी भावाभिव्यक्ति सदैव गम्भीर और प्रगल्भ होती थी। दुनिया की कोई भी प्रबल कामना उनको सच्चाई से नहीं हटा सकती थी। श्रोताओं के कथ्य एवं आशय को एकाग्रचित्त हो सुनने के कारण वे शीघ्र और ठीक-ठीक समझ जाते थे। साधारण मनुष्य भी उनकी लोकप्रियता के कारण उनसे बोलने के लिए उद्यत हो जाते थे। वे स्वभाव में बड़े ही सरल और मिलनसार थे। संसार की चमक-दमक उनके मन को जरा भी नहीं लुभा सकती थी। जब कभी उनको अँग्रेजी पढ़ने की सम्मति दी जाती थी तो वे शुभचिंतकों से कहते थे कि जो कुछ मुझमें कमी है उसको तुम पूरा कर लेना। वे अपनी प्राच्य आर्ष संस्कृत विद्या पर पूर्णतया सन्तुष्ट थे।"

महर्षि दयानन्द विषयक जीवनी लेखन की अपनी भूमिका को

स्पष्ट करते हु श्री रामविलासजी शारदा ने कहा है—'स्वामी दयानन्द जैसे महान् विद्वान्, योगी, ज्ञानी, कर्मकाण्डी, ध्यानी, अद्वितीय, जितेन्द्रिय, त्यागी महान् पुरुष का जीवन-चरित्र लिखना साधारण मनुष्य का काम नहीं है, पर जब मैंने देखा कि उस महर्षि को परमपद प्राप्त हुए आज १७ वर्ष व्यतीत हो गए और किसी भी विद्वान् ने उनका देवनागरी लिपि और आर्य भाषा में जीवन नहीं लिखा, तब मैंने धरती की आत्माओं के कल्याणार्थ तथा सत्य रक्षणार्थ यही उचित समझा कि ऋषि-चरित्र को उसके शुद्ध स्वरूप में सर्वसाधारण के सन्मुख रखूँ। यद्यपि मैं जानता हूँ, मैं ललित भाषा में अपनी बात नहीं कह सकूँगा और न ही ऋषि के भावों को भली प्रकार प्रकट कर सकूँगा। पुनरपि अन्तर्मन से यह विचार आया आकि—महर्षि का स्वर्णिम जीवन स्वयं ही अपनी चमक बतलायेगा, फिर क्या हुआ वह यदि सुडौल ढाँचे में सर्वसाधारण के सन्मुख न भी रक्खा गया हो।'

इस उदात्त भावना से महर्षि का विशद—'आर्य धर्मेन्द्र जीवन' नामक चरित्र निष्पन्न करनेवाले रावसाहब रामविलास शारदा का वंशानुक्रम प्रस्तुत है—

शारदाजी की वंशावली

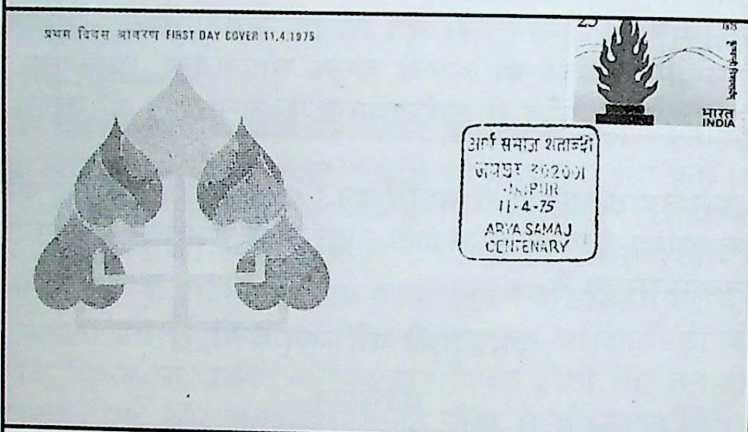


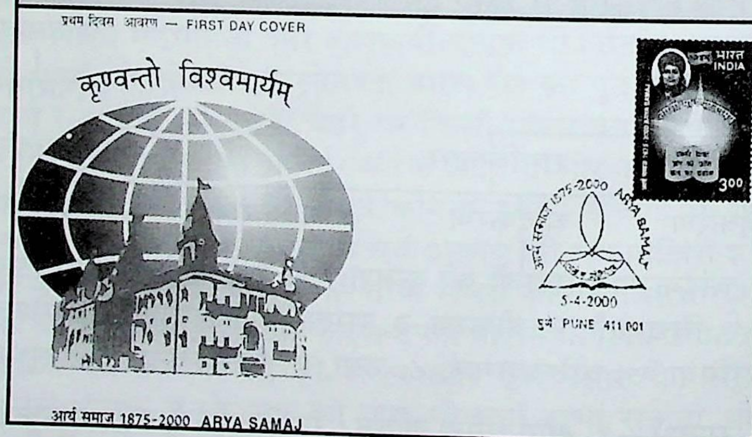
चांदकरण शारदाजी की क्रमशः दस संतानों के नाम इस प्रकार हैं—१. विद्यावती, २. श्रीकरण, ३. सरला, ४. लीलावती, ५. रमेशचंद्र, ६. सुमित्रा, ७. वीरेन्द्रकुमार, ८. उषा, ९. दिनेशचन्द्र, १०. सुधा।

सन्दर्भ—१. आर्य धर्मेन्द्र जीवन : रामविलास शारदा, परोपकारिणी सभा। २. देशभक्त कुंवर चाँदकरण शारदा : डॉ० भवानीलाल भारतीय, परोपकारिणी सभा-अजमेर।

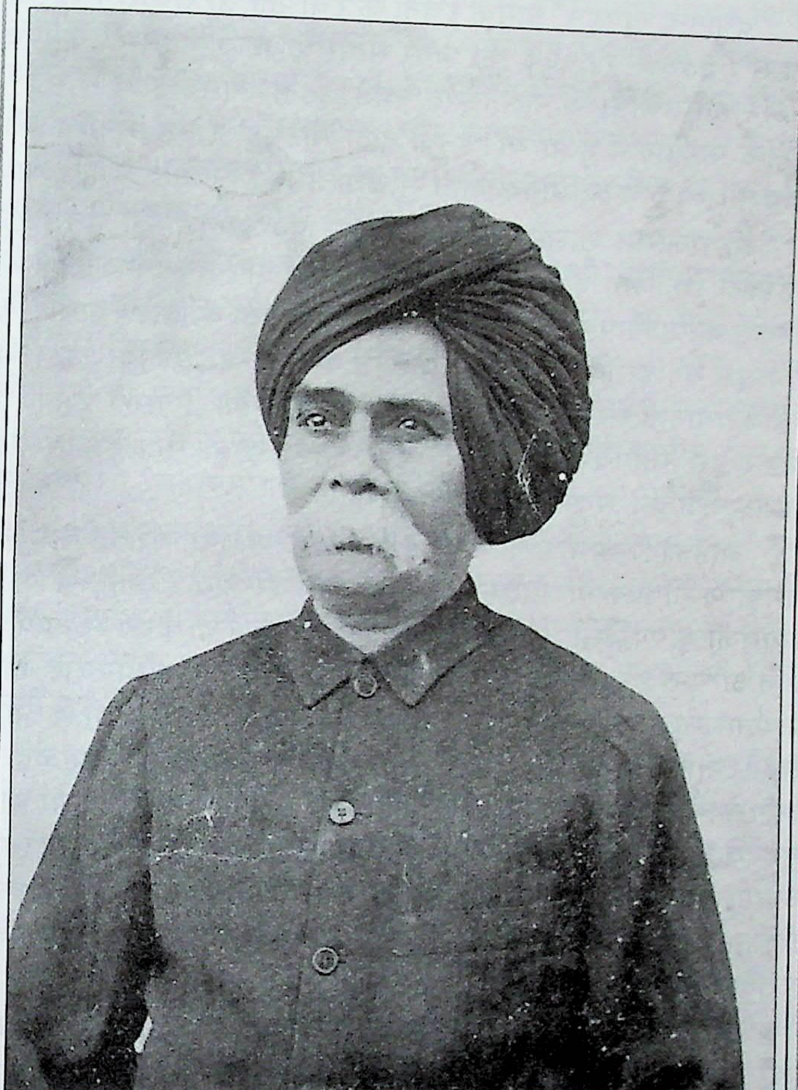








भारत सरकार द्वारा प्रसारित महर्षि और आर्यसमाज से सम्बंधित डाक टिकट और प्रथम दिवस आवरण ।



बाबू रामविलास शारदा (१८६४-१९३९)

राजाराम शास्त्री बोडस

'दयानन्द खण्डन' नामक रचना के रचयिता श्री राजाराम शास्त्री बोडस (१८३७-१८९६) का जन्म महाराष्ट्र में 'रत्नागिरि' जनपद के अन्तर्गत राजापुर के पास स्थित 'वाडे पडेल' नामक गाँव में भट्ट-भिक्षुक परिवार में हुआ था। इनके दादा मोरभट्ट ने उन दिनों काशी यात्रा की थी जब वर्तमानकालीन सुविधाओं का नितान्त अभाव था।

श्री राजाराम शास्त्री सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० बालशास्त्री रानडे के सहपाठी रहे। सन् १८७२ में आप मुम्बई के एल्फिन्स्टन कॉलेज में संस्कृत के प्राध्यापक के रूप में नियुक्त हुए। आप व्याकरण शास्त्र के प्रोफेसर थे। इसी एल्फिन्स्टन कॉलेज में सन् १८७४ के अन्त में महर्षि दयानन्द सरस्वती का भी व्याख्यान हुआ था। जिससे प्रभावित होकर इस महाविद्यालय के नौ (९) युवा छात्रों ने सहर्ष मुम्बई आर्यसमाज की सदस्यता ग्रहण की थी।

आपकी शिष्यमण्डली में पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा, यशवंत वासुदेव रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर, भास्कर दामोदर पाळंदे आदि थे। पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा और यशवंत वासुदेव के अन्तःकरण में आपके प्रति अत्यन्त ही सम्मान और श्रद्धाभाव था। संस्कृत के प्रोफेसर और प्रार्थनासमाज के अध्वर्यु श्री रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकरजी ने आप से परिभाषेन्दु शेखर आदि ग्रन्थ पढ़े थे। श्री भास्कर दामोदर पाळंदे ने आपसे कौमुदी, उपनिषद् और वेदान्त भाष्य का अध्ययन किया था। गुरुदेव बोडस के प्रभाव के कारण आपकी विचारधारा में परिवर्तन आया, जिसके कारण आपने प्रार्थनासमाज से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। आप मुम्बई विश्वविद्यालय में वेदान्त विषय के सात वर्ष तक परीक्षक रहे।

श्री बोडस के प्रारम्भिक गुरुदेव थे—वेदोपाध्याय विष्णुभट्टजी खरे। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में ही आपने वेदाध्ययन का पाठ्यक्रम पूर्ण कर लिया था। आपके एक अन्य गुरुदेव आपके ही नामधारी श्री राजाराम शास्त्री कार्लेकर थे, जो कालान्तर में क्वीन्स कॉलेज-काशी में संस्कृत के प्राध्यापक रहे। कार्लेकरजी से आपने व्याकरण, न्याय, ज्योतिष, अलंकार और वेदान्त का अध्ययन किया था।

श्री राजाराम शास्त्री बोडस व मोरेश्वर भट्ट के विषय में यह

आख्यायिका थी कि—'आप दोनों की कोटि का—आपस्तंब वैदिक-सम्पूर्ण काशी में नहीं था। सन् १८५७ में बायजाबाई साहब शिंदे ने ग्वालियर छावनी में सोमयाग का आयोजन किया था। तब अन्य ब्राह्मणों के साथ श्री बोडसजी को भी निमन्त्रित किया गया था, पर १८५७ के विद्रोह [स्वातन्त्र्य वीर सावरकर के शब्दों में—प्रथम भारतीय स्वाधीनता संग्राम] के कारण सोमयाग स्थगित हो गया और इन्हें वापिस काशी आना पड़ा।'

श्री रावराजा दिनकरराव राजवाड़े ने आपको अपने राज्याश्रय में रखना चाहा, पर आप नहीं माने। पंजाब (मंडी) के राजा का भी आपको निमन्त्रण आया था, पर अनुज के कहने पर आपने राज्याश्रय में रहने से इंकार कर दिया। सन् १८८७ में, जुबली महोत्सव के अवसर पर गवर्नर की उपस्थिति में वायसराय लॉर्ड डपरिन द्वारा पुणे में आपको 'महामहोपाध्याय' की उपाधि प्रदान की गई थी।

श्री बोडस द्वारा लिखित कतिपय रचनाओं के नाम हैं—'शब्द व्युत्पत्ति कौमुदी', 'शिवपुराण टीका' पातञ्जल योग सूत्र पर 'योगमणि प्रभा' नामक टीका ग्रन्थ का मराठी भाषांतर, तथा 'दयानन्द खण्डन'। अन्तिम रचना अभी तक हमें किसी भी व्यक्ति या ग्रन्थालय से प्राप्त नहीं हुई है।

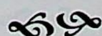
२८ नवम्बर १८९६ को आपका पक्षाघात के कारण मुम्बई में निधन हो गया। आपकी यथोपलब्ध वंश परम्परा प्रस्तुत है—

बोडस-वंशावली

मोर भट्ट
|
गणेश भट्ट
|
नारायण — कृष्ण (उपाख्य : राजाराम शास्त्री बोडस) — मोरेश्वर

सन्दर्भ—१. 'बाळबोध' : मराठी मासिक : दिसम्बर १८९७, पृष्ठ-१९३-१९९ : सम्पादक-विनायक कोंडदेव ओक।

२. अर्वाचीन मराठी वाङ्मय सेवक : चौथा खण्ड, पृष्ठ ३०-३३, सम्पादक : गं० दे० खानोलकर।



डॉ० अण्णा मोरेश्वर कुंटे

महर्षि द्वारा सन् १८७५ में स्थापित मुम्बई आर्यसमाज की वर्णानुक्रम से बनायी गई प्रारम्भिक सदस्य सूची में डॉ० अण्णा मोरेश्वर कुंटे का समावेश है। क्रमांक दो पर उनका विवरण देते हुए लिखा है—वे शिक्षा-दीक्षा की दृष्टि 'एम० डी०' उपाधि से विभूषित थे और डॉक्टरी व्यवसाय में पदार्पण कर चुके थे। यह एक संयोग ही था कि वे जाति की दृष्टि से ब्राह्मण कुलोत्पन्न थे।

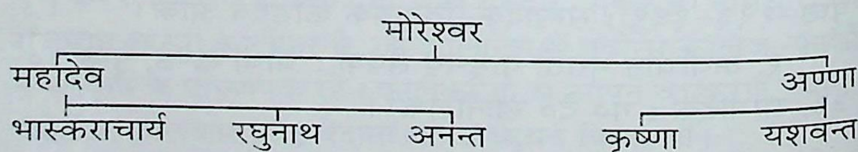
डॉक्टर कुंटेजी ने सितम्बर १८७६ में 'पुरातन वैद्यक ग्रन्थ संग्रह' नामक मराठी मासिक शुरु किया था, जिसका वार्षिक मूल्य छह रुपए था। अक्तूबर १८७६ के 'दंभहारक' मराठी मासिक में पृष्ठ १२१ पर इनके विषय में यह समाचार प्रकाशित हुआ था कि—'हमारे मुम्बई विश्वविद्यालय के कठोर अनुशासनात्मक वातावरण में सही सलामत समुत्तीर्ण हुए चिकित्सा क्षेत्रीय विद्वानों में ये तृतीय स्नातक सज्जन हैं।'

स्व० प्रा० एकनाथ नाणेकर के अनुसार—'कुंटेजी ने 'वेदशास्त्र की उत्कृष्टता' पर तीन व्याख्यान दिए थे।' (द्रष्टव्य—पश्चिम महाराष्ट्र में आर्यसमाज आन्दोलन की गतिविधियाँ-पुणे विश्वविद्यालय की ओर से स्वीकृत टंकित लघु शोध-प्रबन्ध, पृष्ठ ६६)। अर्वाचीन चरित्र कोश, पृष्ठ १३६ के अनुसार—महर्षि को पूणे निमन्त्रित कर उनके व्याख्यानों को लिपिबद्ध करनेवाले श्री महादेव मोरेश्वर कुंटे से डॉ० अण्णा कुंटे नौ वर्ष छोटे थे। नवयुग : मराठी मासिक : अगस्त १९२० तथा 'निर्णय सागर की अक्षर साधना—सेठ जावजी दादाजी का चरित्र' नामक ग्रन्थ में पृष्ठ ९३, १८० और २१६ पर इनका सचित्र परिचय देखा जा सकता है।

'महाराष्ट्र परिचय' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ २५ से इस बात की सूचना मिलती है कि—आपको मुम्बई की उच्चतम मानद उपाधि 'जे० पी०' से भी विभूषित किया गया था। अंक क्रमशः आपके इन निर्दिष्ट घर के पतों पर जाया करते थे—१, घर नं० १४४, कांदावाड़ी, मुम्बई। २. घर नं०-१६२, अनन्ताश्रम, गिरगाँव, बैंक रोड, मुम्बई।

प्रस्तुत है यथोपलब्ध डॉ० अण्णा मोरेश्वर कुंटे की वंशतालिका—

कुण्टे वंशावली





उपसंहार एवं ऋणनिर्देश

'महर्षि दयानन्द : काल और कृतित्व' यह ग्रन्थ महर्षि और उनके समकालीन महापुरुषों के माध्यम से उस युग को समझने का एक प्रयत्न है। सर्वांगीण रूप से उस युग और युगीन महापुरुषों के तह में जाने का प्रयत्न एक प्रकार से 'तितिषुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्' कविकुलगुरु कालिदास की इस उक्ति के समान एक छोटी-सी नाव से प्रचण्ड महासागर को पार करने जैसा है। हमारा प्रयास तो महर्षि दयानन्द और उनके समकालीन अन्य महापुरुषों के व्यक्तित्व और कृतित्व को समझने और समझाने से आयी हुई वैचारिक सम्पदा को यथा सामर्थ्य पाठकों तक पहुँचाने का है। खुशी इस बात की है कि इस बहाने उन्नीसवीं सदी के महापुरुषों के वैचारिक सहवास में रहते हुए हमारा यह समय बहुत ही आनन्द पूर्वक व्यतीत हुआ। यदि मेरे इस प्रयास से महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज के जीवन एवं इतिहास के कुछ अप्रकाशित पृष्ठ पाठकों के समक्ष आते हैं तो इसी में लेखक अपने श्रम की सार्थकता समझेगा।

डॉ० स्वामी सत्यप्रकाशजी, डॉ० चन्द्रभानुजी सोनवणे वेदालंकार प्रा० ओम्प्रकाशजी होळीकर विद्यालंकार, डॉ० सूर्यनारायणजी रणसुभे, महाराष्ट्र आर्य प्रतिनिधि सभा के परामर्शदाता डॉ० ब्रह्ममुनिजी वानप्रस्थी, डॉ० गणेशराजजी सोनाळे प्राचार्य डॉ० सुरेन्द्रकुमारजी (झज्जर) प्रा० डॉ० नयनकुमार विशारद, नांदेड़ आर्यसमाज के मन्त्री श्री नारायणजी कुलकर्णी आदि से ग्रन्थ लेखन काल में की गई चर्चाओं के कारण तथा उनके बहुमूल्य परामर्शों से मैं अत्यधिक लाभान्वित रहा हूँ। अत: इन सबके प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

प्रा० राजेन्द्र जिज्ञासुजी ने इस ग्रन्थ की भूमिका ही नहीं लिखी, अपितु भूमिका के साथ ग्रन्थ में प्रकाशनार्थ फादर नेहेम्या गोरे का दुर्लभ चित्र प्रदान कर मुझे निहाल कर दिया। विश्वास है कि इसी

प्रकार आपका स्नेह और आशीर्वाद सतत मुझे प्राप्त होता रहेगा। प्रगतिशील विचारक, शिक्षा शास्त्री और सांसद माननीय डॉ० जनार्दनजी वाघमारे ने वस्तुतः अत्यधिक व्यस्त होते हुए भी प्रस्तावना लिखकर मुझ पर महती कृपा की है। उनकी प्रस्तावना से इस ग्रन्थ का महत्त्व द्विगुणित हो गया है। ग्रन्थ को इस रूप में प्रस्तुत करने में विभिन्न व्यक्तियों, संस्थाओं तथा पत्र-पत्रिकाओं का आत्मीयता और तत्परता से हमें परिपूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ऐसे समस्त सहयोगियों के प्रति हम यहाँ हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

यह वर्ष महामहोपाध्य, अनन्य ऋषि भक्त पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक का जन्म शताब्दी वर्ष है। पं० मीमांसकजी ने 'मेरी दृष्टि में ऋषि दयानन्द और उनका कार्य' ग्रन्थ की एक पादटिप्पणी के माध्यम से ऋषि दयानन्द विषयक साहित्यिक कार्य में आजीवन समर्पित रहने की मुझे प्रेरणा दी थी। कुछ दिनों पूर्व इस ग्रन्थ की भूमिका के लेखक आर्यसमाज के तेजस्वी शोध विद्वान् प्रा० राजेन्द्रजी जिज्ञासु ने अपने एक पत्र में मुझे लिखा था कि—तुम्हारे इस महत्त्वपूर्ण कार्य को गहराई से समझने की क्षमता तो मीमांसकजी में थी। काश! यह ग्रन्थ उनके समक्ष प्रकाशित होता तो कितना अच्छा होता।

दिल्ली विश्वविद्यालय के डॉ० कमलकिशोर गोयनकाजी से सन् १९९३ में डॉ० बाबासाहब अम्बेडकर मराठवाड़ा विश्वविद्यालय-औरंगाबाद में मुलाकात हुई थी, तब उन्होंने मेरे इस लेख संग्रह को देखकर अपने परिचय से किसी प्रकाशक द्वारा 'प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य' की तरह, इस रचना को मौखिक और फिर लिखित पत्र द्वारा प्रकाशित करने की हार्दिक अभिलाषा व्यक्त की थी। अब इसके प्रकाशन से पूर्व ही वे इस संसार से विदा हो चुके हैं। प्रकाशन के क्षेत्र में विशेष कीर्तिमान् स्थापित करनेवाले श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास के संस्थापक श्री प्रभाकरदेवजी आर्य का २६ फरवरी २००७ को लिखा पत्र मुझे १६ मार्च २००७ को मिला। जिसमें लिखा था—'सम्मान्य अग्रज, आप हमें कोई पुस्तक प्रकाशन हेतु दे सकें तो प्रसन्नता होगी। पुस्तक ३०० से ६०० पृष्ठ तक हो सकती है। यह पुस्तक देव दयानन्द या वैदिक सिद्धान्तों के किसी भी विषय पर हो सकेगी।'

वैदिक विद्वान् कीर्तिशेष पं० मदनमोहनजी विद्यासागर, हरियाणा पुरातत्व संग्रहालय के निदेशक श्री विरजानन्दजी दैवकरणि, राजर्षि शाहू महाविद्यालय-लातूर (महाराष्ट्र) के हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रा० नरदेव गुडे आदि अनेक मनीषी लोग मेरे अनुसंधात्मक लेख-संग्रह को ग्रन्थ रूप में चिरस्थायी बनाने का अनुरोध कर रहे थे। मैं यह चाहता था कि मेरे इस ग्रन्थ को व्यवसायिक प्रकाशक की अपेक्षा कोई महर्षि दयानन्द, रक्तसाक्षी लेखराम, पं० गुरुदत्त विद्यार्थी और हुतात्मा राजपाल की तड़पवाला प्रकाशक छापे। अजमेर में हर साल आयोजित होनेवाले आर्यों के कुम्भ-ऋषि मेले में प्रतिवर्ष नियमित रूप से जानेवाले लब्धप्रतिष्ठ प्रकाशक श्री प्रभाकरदेवजी आर्य से सन् २००७ में पहली बार प्रत्यक्ष मुलाकात हुई। यह ग्रन्थ उसी मुलाकात का शुभ परिणाम है। उनके द्वारा इसका प्रकाशन मेरे लिए गौरव की बात है। एतदर्थ मैं उनका अतिशय कृतज्ञ हूँ। सुरुचिपूर्ण मुद्रण तथा आकर्षक साज-सज्जा के लिए आर्य लेजर्स प्रिंट्स हिण्डौन सिटी के श्री अभयकुमारजी मिश्र साधुवाद के पात्र हैं।

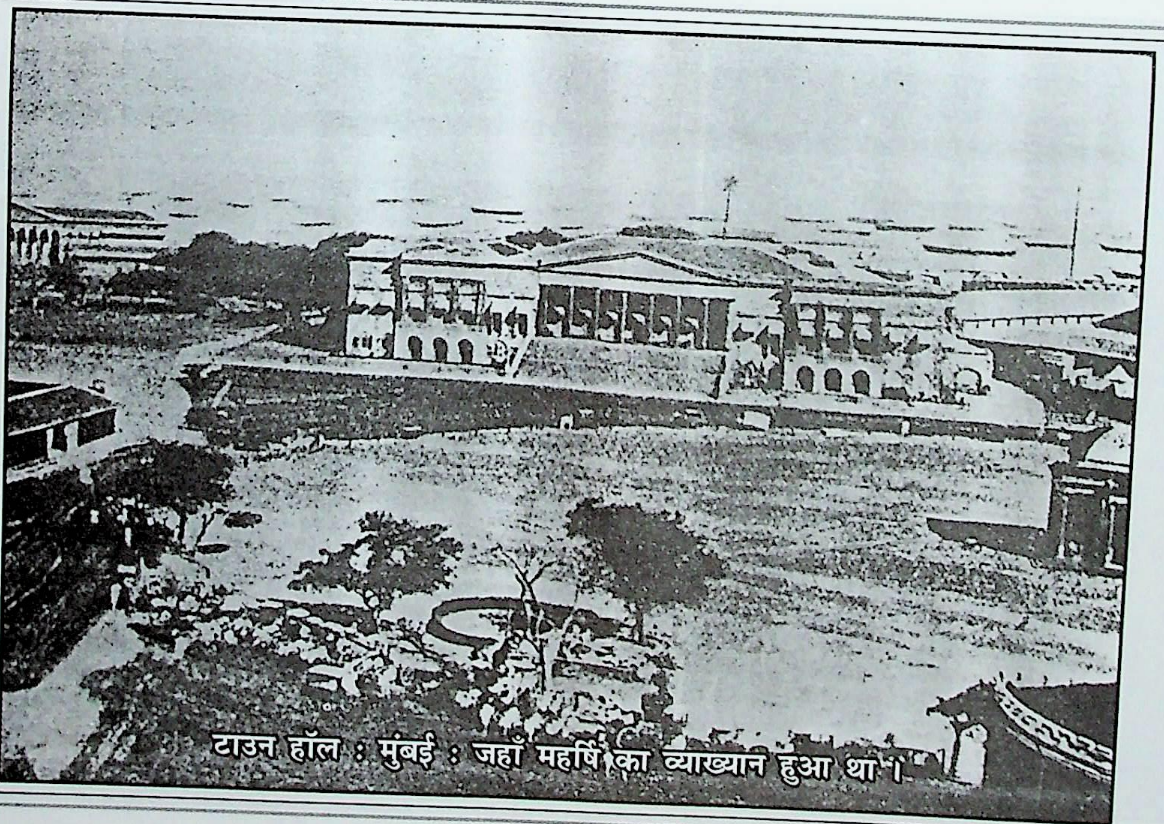
इस कार्य को निष्पन्न करने में सहधर्मिणी वेदवती शास्त्री, सुपुत्र प्रा० राजवीर शास्त्री, पुत्रवधू प्राध्यापिका अपर्णा, सुपुत्री विद्युल्लता, दामाद श्री अरुणकुमार रखमाजी कंगले का निरन्तर प्रोत्साहन एवं सहयोग मिलता रहा, अतः मैं इन सबके मंगलमय भविष्य की परमात्मा से कामना करता हूँ।

अन्त में स्वाध्यायशील पाठकों से यही विनम्र प्रार्थना है कि ग्रन्थ में यदि न्यूनता हो तो उसे परिपूर्ण कर लें और यदि कहीं किसी प्रकार की अति हो गई हो तो उसे सन्तुलित कर लें।

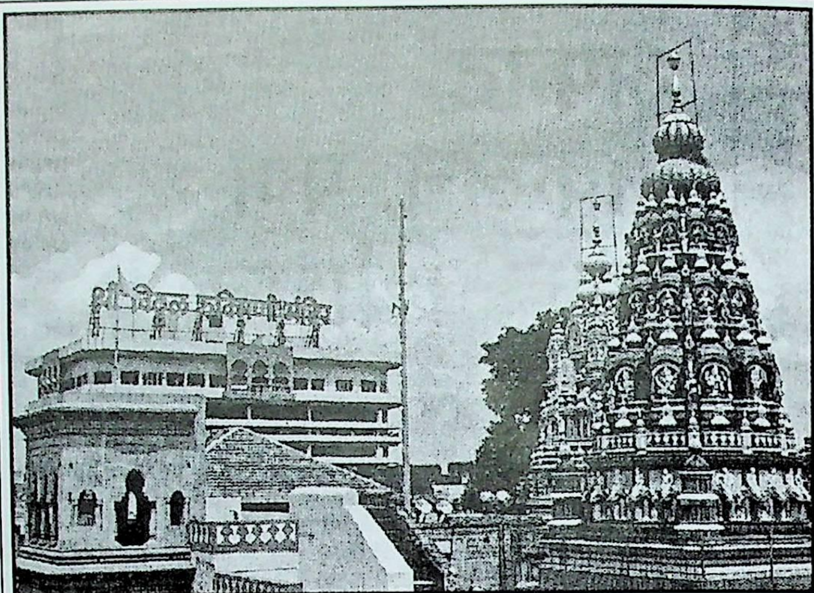


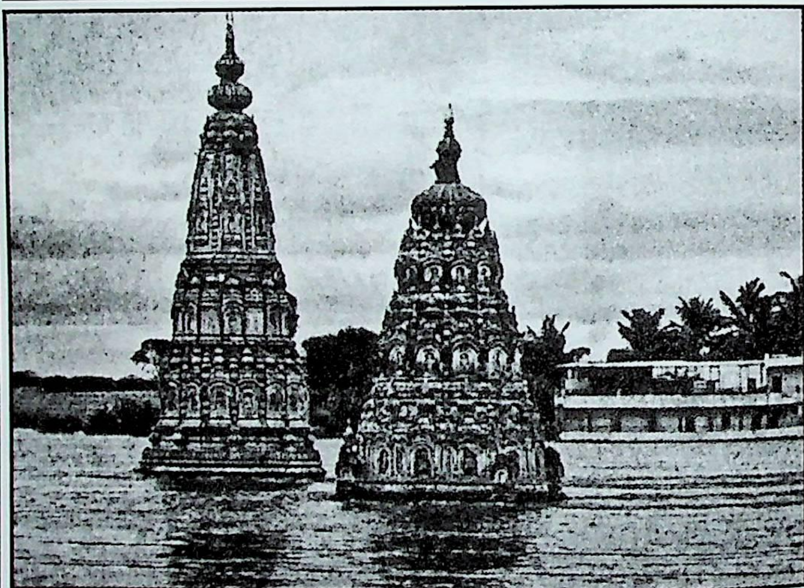


वालुकेश्वर मन्दिर मुबई का वर्तमान रमणीक परिसर
महर्षि का निवास प्रस्तुत मंदिर के पृष्ठ भाग में रहा ।



टाउन हॉल : मुंबई : जहाँ महर्षि का व्याख्यान हुआ था।

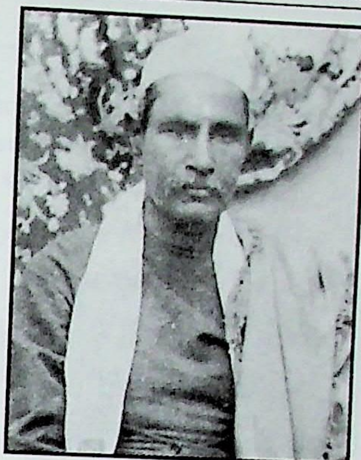




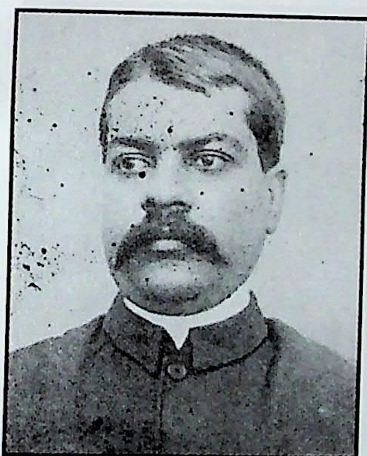
महर्षि की पंढ़रपुर (जिला सोलापुर-महाराष्ट्र) के
वारकरियों के मेले में वेद प्रचार करने की हार्दिक अभिलाषा थी।
पर वहाँ हैजा फैलने के समाचार के कारण
यात्रा स्थागित कर दी गई ।



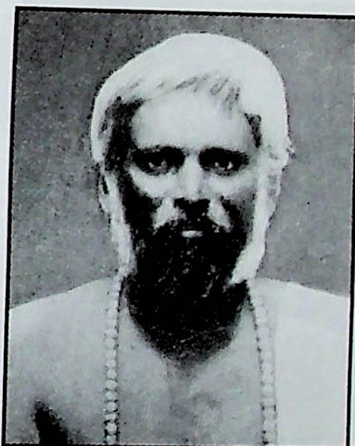
राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द'
(महर्षि ने 'भ्रमोच्छदन' में आप द्वारा वेदभाष्य पर किये भ्रमों का छेदन किया है।)



पं० बालकृष्ण भट्ट
(महर्षि को श्रद्धांजलि देते हुए आपने लिखा था-'वेद का खेद मिटाने वाला सद्वैद्य लुप्त हो गया')



ठाकुर गदाधरसिंह
(आप कृष्णोपासक कुल में उत्पन्न हुए, पर महर्षि के ग्रन्थों को पढ़कर उनके अनुयायी बन गए)



पं० राधाचरण गोस्वामी
(आपको महर्षि से साक्षात् प्रश्नोत्तर करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आपकी उन पर विशेष श्रद्धा थी।)



पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या
(१८५२-१९१२)
(सर्वप्रथम उपमंत्री
परोपकारिणी सभा)



पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा
(१८६३-१९४७)
(एल्फिन्स्टन हाईस्कूल मुंबई
में (१८८१-८२)
महर्षि के व्याख्यान सुनने का
आपको सौभाग्य प्राप्त हुआ।)



पं० अंबिकादत्त व्यास
(१८५८-१९००)
(महर्षि कृत 'संस्कृत वाक्य प्रबोध' पर
आपने कुछ शंकाएँ प्रस्तुत की थीं।)



पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र
(१८५२-?)
(सनातनधर्मियों के प्रतिनिधि लेखक)



डॉ० स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी ने नेताजी महाविद्यालयीन नांदेड के प्राध्यापकों को संबोधित किया । उस अवसर पर प्राचार्य डॉ० गंगाधर देशपांडे, स्वामीजी और लेखक ।

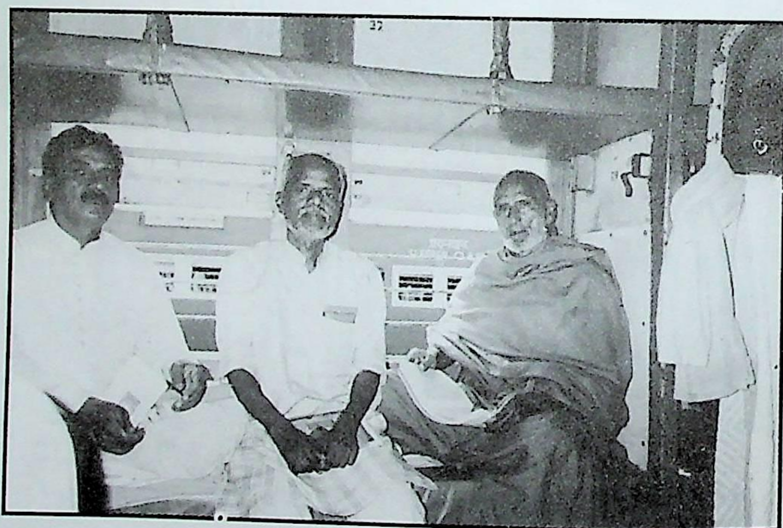
वैदिक विद्वान् एवं याज्ञिक त्रिमूर्ति



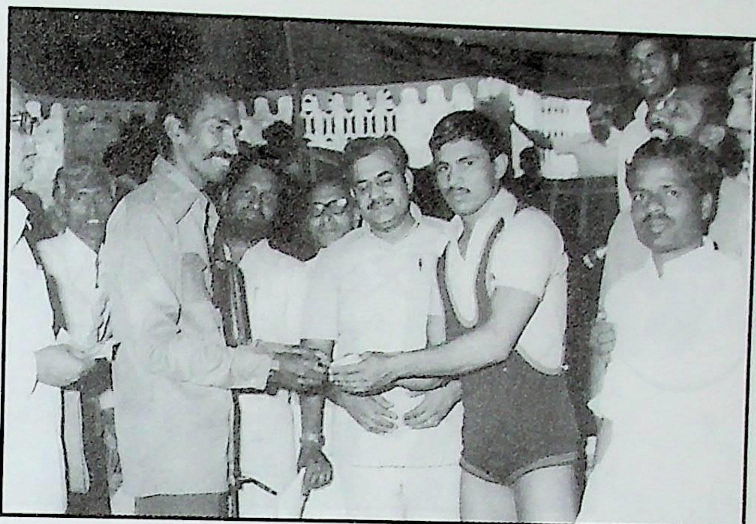
नांदेड में आयोजित सोमयाग यज्ञ के अवसर पर क्रमश : पं० वीरसेन जी वेदश्रमी, पं० मदनमोहन जी विद्यासागर, महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी के साथ लेखक



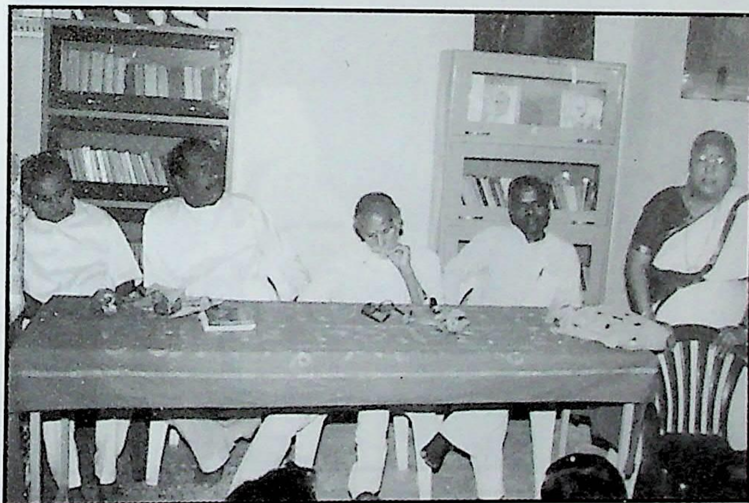
आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश विदर्भ एवं छत्तीसगढ़ के सभा प्रधान : श्री ऋतस्पति परिव्राजक एवं सभा मंत्री श्री लक्ष्मीनारायण भार्गव एवं आर्येतिहास के अनुसंधाता ब्र० नन्दकिशोर जी आचार्य लेखक को 'संपादक श्री' की उपाधि से सम्मानित करते हुए ।



हरियाणा आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान गुरुदेव आचार्य बलदेव जी एवं दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान ब्र० राजसिंह जी सचखण्ड एक्सप्रेस से महाराष्ट्र वेद प्रचार यात्रा के लिए जाते हुए ।



महाराष्ट्र प्रान्तीय प्रथम आर्य महासम्मेलन के अवसर पर योगाचार्य प्रा० सत्यकाम पाठक का उत्साहवर्धन करते हुए माननीय वापूसाहब जी वाघमारे, प्रा० ओम्प्रकाश विद्यालंकार, प्रा० नरदेव विद्याभास्कर, श्री सत्यव्रत शिवराम जिंदम, श्री धर्मसिंह जी कोठारी, सम्मेलन स्वागताध्यक्ष श्री कॅप्टन देवरत्न जी आर्य, प्रा० चन्द्रशेखर विद्याभास्कर, श्री रामचन्द्र गरड़, प्रा० विजय शिंदे आदि के साथ लेखक ।

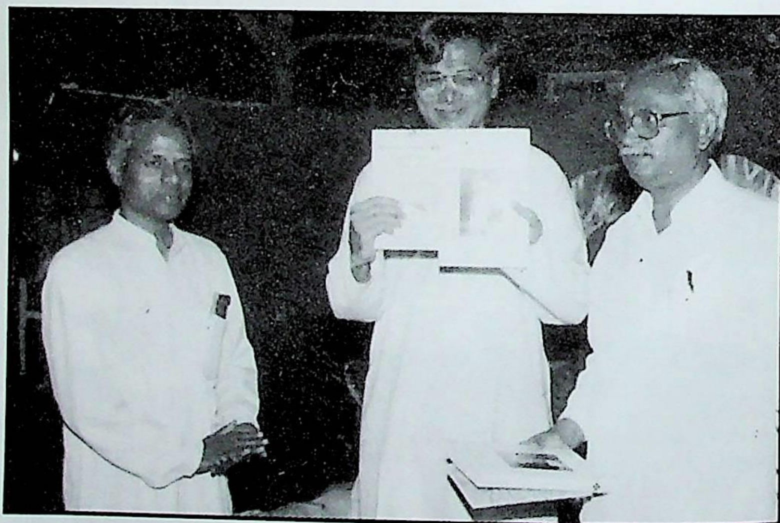


स्वातंत्र्यवीर सावरकर पर आयोजित परिसंवाद में क्रमशः प्रा० सुनील आड़गांवकर, डॉ० दीपक कासराळीकर, डॉ० सुधाकर देशपांडे, लेखक एवं सौ० अरविन्द एकताटे ।





शोध निर्देशक : डॉ० चन्द्रभानु वेदालंकार सोनवणे एवं डॉ० बाबासाहब अम्बेडकर मराठवाडा विश्वविद्यालय : औरंगाबाद के दीक्षान्त के अवसर पर हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० चन्द्रदेव कवडे, डॉ० कमलाकर गंगावणे, कैप्टन भारती जाधव के साथ लेखक ।



विधायक श्री दस्तूरकर डॉ० काशीनाथ कावळे और लेखक के शोध ग्रन्थों का विमोचन करते हुए ।

लेखक ने 'इन्द्र विद्यावचस्पति कृतित्व के आयाम' पर अनुसंधान कार्य किया है ।



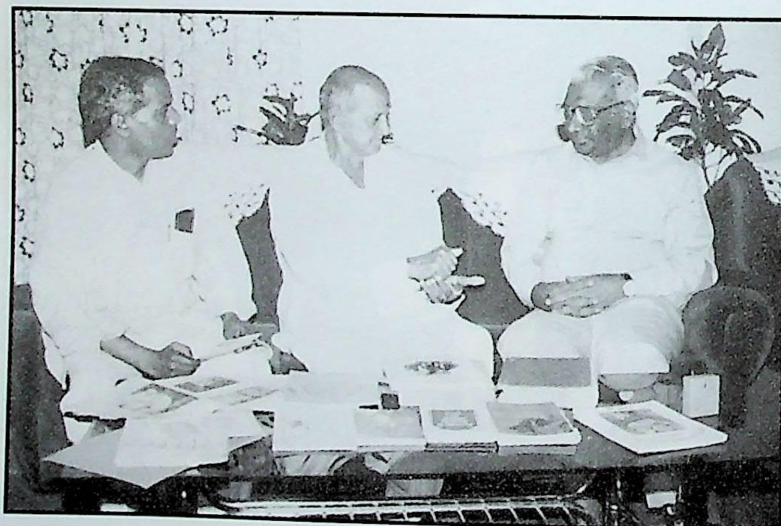
आर्यसमाज नांदेड़ में आयोजित प्रेमचन्द जन्म शताब्दी के अवसर पर माननीय जिलाधीश श्री रामानन्द जी तिवारी तथा हिन्दी और उर्दू के साहित्यकारों के साथ लेखक



क्रान्तिकारी समाजसवेक एवं प्रेरणाप्रद मराठी साहित्य के लेखक माननीय बाबा आमटेजी का आर्यसमाज नांदेड की ओर स्वागत करते हुए लेखक ।



भूमिका लेखक प्रा० राजेन्द्र जी 'जिज्ञासु' के गांव अबोहर (पंजाब) में लेखक



स्वामी रामानंद तीर्थ मराठावाडा विश्वविद्यालय : नांदेड के उपकुलपति डॉ० जनार्दनराव वाघमारे एवं हैदराबाद मुक्ति संग्राम के स्वाधीनता सैनिक श्री किशोर शहाणे के साथ लेखक ।



आर्यसमाज सांताक्रुज : मुंबई द्वारा आयोजित 'आर्य लेखक संमेलन के अवसर पर मंचासीन आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट के श्री धर्मपाल जी आर्य, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती, डॉ० भवानीलाल जी 'भारतीय,' श्री ओंकारनाथ जी एवं आर्य वीर दल के प्रधान संचालक : पं० देवव्रत 'विद्याभास्कर'।



महर्षि दयानन्द विषयक मराठी अभिलेखों के साथ
डॉ० भवानीलाल जी 'भारतीय' और लेखक ।

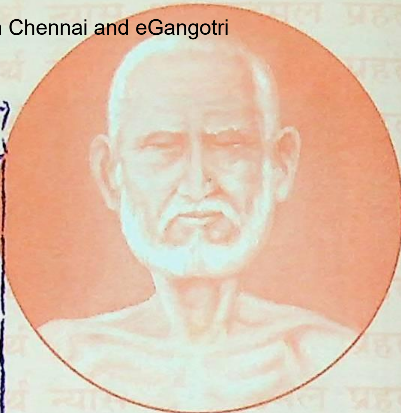


आर्यसमाज गंगानगर (राजस्थान) में 'महर्षि दयानन्द और महाराष्ट्र' विषयक व्याख्यान देते हुए लेखक । मंचासीन हैं – दिल्ली आर्य केन्द्रीय सभा के प्रधान श्री धर्मपाल जी, मनुस्मृति भाष्यकार एवं 'सुधारक' संपादक प्राचार्य डॉ० सुरेन्द्रकुमार जी ।

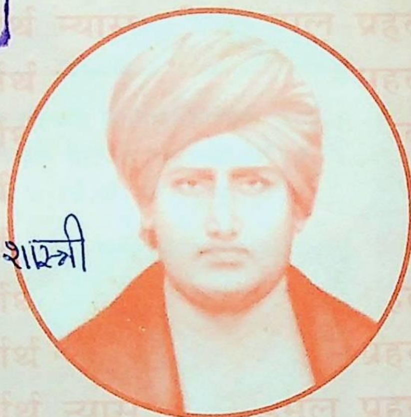


स्वामी ब्रह्मानन्द जी सरस्वती (आन्ध्र) के करकमलों से १२५वें बलिदान महोत्सव के उपलक्ष्य में परोपकारिणी सभा की ओर से 'श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास' को प्रदत्त 'सर्वोत्तम प्रकाशन पुरस्कार' का स्वीकार करते हुए न्यास प्रतिनिधि के रूप में लेखक ।

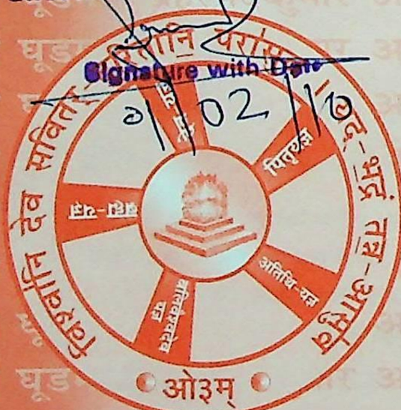




गुरुवर्य विरजानन्दजी



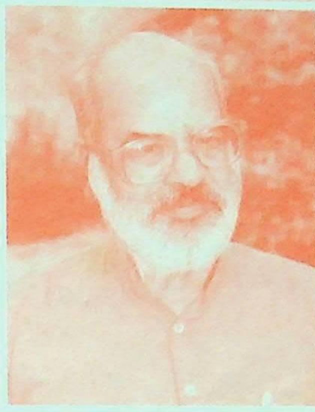
ऋषिराज दयानन्द



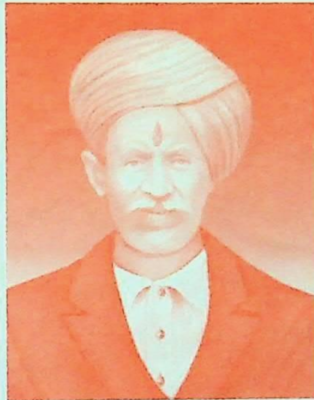


पं० गुरुदत्त विद्यार्थी

हमारे प्रेरक एवं सहयोगी



स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती



स्मृ० श्री घूडमल आर्य



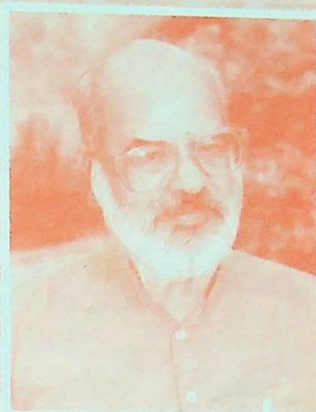
स्मृ० श्री प्रहलाद आर्य

ओ३म्

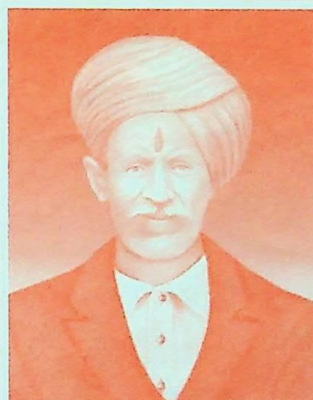
ओ३म्

ओ३म्

हमारे प्रेरक एवं मार्ग...



स्वामी जगदीश्वरानन्द सर...



स्मृ० श्री घूडमल आर्य



स्मृ० श्री प्रहलाद आर्य

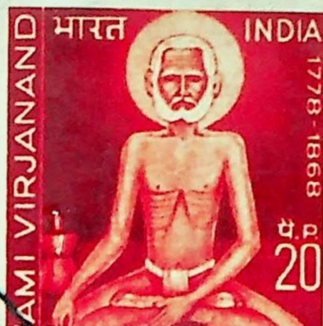


"मराठी भाषा में जो कुछ स्वामी दयानन्द के संबंध में लेख प्राप्त हो सकें, उनका एकत्रीकरण नान्देड़ निवासी नेताजी सुभाषचन्द्र बोस महाविद्यालय के प्रा० कुशलदेव शास्त्रीजी ने किया और अब भी पूरे प्रयत्न से इस कार्य में तल्लीन हैं।

मैंने उन्हें इस कार्य को करने का सुझाव सन् १९७९ में दिया था। उनके उर्वर मस्तिष्क में मेरे सुझाव ने अंकुर रूप में उदित होकर काफी कार्य किया है। मैं उन्हें शुभाशीर्वाद देता हूँ कि वे इसी प्रकार से आजन्म लगे रहेंगे। उनकी खोजबीन का कार्य समय-समय पर छपता रहा हैं।"

—'मेरी दृष्टि में स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके कार्य' लेखक : महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिर मीमांसक : संस्करण : सन् १९९१ : पृष्ठ संख्या – १४-१५।











'हिन्दुत्व के शतकानुशतकों से दुर्बल हो जाने के कारण भारतवर्ष बार-बार पराधीन हुआ, इसका प्रत्यक्ष दर्शन महर्षि दयानन्द को हुआ, इसलिए उन्होंने जन्मगत जातिभेद और मूर्तिपूजा जैसे दौर्बल्यकारक परंपराओं की अन्त्येष्टि करने वाले विश्वव्यापी महत्वाकांक्षा युक्त आर्यधर्म का उपदेश दिया। इस कोटि के दयानन्द यदि हजार वर्ष पूर्व इस देश में उत्पन्न हुए होते, तो इस देश को पराधीनता के दिन ही देखने न पड़ते। इतना ही नहीं, अपितु विश्व के एक महान् राष्ट्र के रूप में भारतवर्ष दैदीप्यमान् रहता।'

—तर्कतीर्थ : पं० लक्ष्मण शास्त्री जोशी













